सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : एक

सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड : एक

हार वीणा ग्रन्थि

पल्लव गुंजन ज्योत्स्ना

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

यह ग्रंथावली

युग को वाणी देने के क्रम में युग-युग का मौन भंग कर जानेवाले युगान्तरकारी कवि सुमित्रानंदन पंत की कृतियों में आधुनिक हिन्दी कविता का एक सुदीर्घ और सम्पूर्ण युग प्रतिबिम्बित है। कविता के प्रांगण में उनकी सर्जनशील प्रतिभा लगातार छः दशकों तक नवीन आलोक-रश्मियाँ बिखेरती रही। प्रकृति और मानव-अन्तर की सारी सौन्दर्यमयता उनकी रचनाओं में जैसे जीवन्त हो उठी है। जीवन के प्रति जो उनका सहज दृष्टिकोण था, मानव के उज्ज्वलतर भविष्य के प्रति जो उनकी अगाध आस्था थी उसकी झलक अन्यत्र दुर्लभ है। इसी विशिष्टता ने उनके काव्य को शाश्वत जीवन्तता और जीवन को मोहक काव्यात्मकता प्रदान की, तथा इसी के चलते उनकी काव्य-साधना के प्रत्येक चरण को ऐतिहासिक अर्थवत्ता और गरिमा प्राप्त हुई। उनका समस्त रचनात्मक साहित्य चिर-आह्लादक अनुभूतियाँ जगाने में समर्थ है तथा वर्तमान ही नहीं आगामी पीढ़ियों के लिए भी सृजन-प्रेरणा का अक्षय स्रोत है।

पंतजी का रचना-संसार गुण और परिमाण, दोनों दृष्टियों से विस्तृत है। यह समय की माँग थी कि उनके सम्पूर्ण कृतित्व को एक साथ प्रस्तुत करने के लिए 'पंत ग्रंथावली' की परिकल्पना की जाती। ग्रंथावली-योजना उसी का परिणाम है। पाठकों को यह जानकर सुखद विस्मय होगा कि इस योजना की पूरी रूपरेखा अपने जीवनकाल में स्वयं पंतजी ने तैयार की थी। आरम्भ से ही वे इसमें गहरी रुचि ले रहे थे और प्रेस में देने के लिए अधिकांश पुस्तकों का पुनर्संशोधन भी उन्होंने कर डाला था। जिन पुस्तकों का संशोधन वे नहीं कर पाये थे, उनका संशोधित रूप सुश्री शान्ति जोशी ने तैयार किया। उन्होंने जिस तत्परता के साथ इस ग्रंथावली के मुद्रण-प्रस्तुतीकरण में सहयोग दिया है, उसके लिए धन्यवाद के शब्द हमारे पास नहीं है। हम यही कह सकते है कि इस ग्रंथावली के वर्तमान रूप मे प्रस्तुतीकरण का पूरा श्रेय शान्ताजी को है, और पूरी सावधानी बरतते हुए भी अगर उसमे कहीं कोई दोष रह गये हों तो उनका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर है।

इस ग्रंथावली की मुद्रण-प्रस्तुति में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि पंतजी की प्रत्येक पुस्तक का स्वतन्त्र अस्तित्व यथावत बना रहे, प्रथम प्रकाशन-वर्ष तक का यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। कुछ ऐसी सामग्री भी इसमें समाविष्ट है जो पुस्तक के रूप में पहले प्रकाश में नहीं आयी थी।

ग्रंथावली के सातों खण्डों का एक साथ प्रकाशन अपने-आपमें एक महत् आयोजन था जिसे सम्पूर्णता प्रदान करने के लिए पर्याप्त श्रम और समय की अपेक्षा थी। यही कारण है कि अन्ततः योजना फलीभूत तो हुई, किन्तु योजना के जनक ही हमारे बीच नहीं रहे। स्वर्गीय पंतजी की यह तीसरी पुण्यतिथि है, जब इस ग्रंथावली के प्रकाशन द्वारा हम उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं।

प्रकाशक

अनुक्रम

गुंजन २३५-२७७

ज्योत्स्ना २७९-३५२

हार

मेरी सर्व-प्रथम रचना

रचना उसे कहते है जिसमें किसी प्रकार का विधान, संयमन अथवा तारतम्य हो। इस दृष्टि से मेरी सर्वप्रथम रचना कविता न होकर उपन्यास ही थी। वैसे मैं छोटी-छोटी तुकबन्दियाँ बहुत पहले से कर लेता था, पर उन्हें रचना कहने का साहस नही होता। मेरे बडे भाई जब बी० ए० की परीक्षा देकर गर्मियों में घर लौटे तो वह हिन्दी, उर्दू, संस्कृत के अनेक काव्यग्रन्थ, हिन्दी के मासिक पत्र आदि, तरह-तरह की रस सामग्री अपने साथ ले आये थे। मैं तब १०-११ साल का रहा हूँगा, मुझे ठीक याद नहीं पडता। भाई साहब कभी-कभी बडी भाभी को मेघदूत अथवा शकुन्तला सुनाते, तो कभी सूर-तुलसी अथवा रीतिकालीन कवियों के मधुर पद, सवैये और कवित्त; और कभी सरस्वती पत्रिका से आधुनिक खडी बोली की कविताएँ। भाई साहब का कण्ठस्वर बड़ा भावपूर्ण होता और वह बहुत तन्मय होकर मन्द मधुर लय में अपनी मुग्धा पत्नी के मनोरंजन के लिए प्राय. सन्ध्या समय कविता-पाठ किया करते थे। बाहर हिमालय के ऊँचे स्वच्छ शिखरों पर तथा चीड और देवदारु की हरी-भरी घनी वनानियों मे छायी हुई मौन मनोरम पहाडी साँझ अपने सुनहली छायाओं के निष्कम्प पंख सिमटाये हुए, अवाक् होकर, जैसे उस एकान्त कविता-पाठ को मेरे मन की अज्ञात गहराइयो में उड़ेलती रहती थी और मैं तल्लीन एवं आत्मविस्मृत होकर किवाडों की आड मे खडा उस प्रणय-निवेदन से भरी मधुर छन्द-ध्वनि का पान किया करता था। धीरे-धीरे मैं भी जैसे उन्हीं छन्द-ध्वनियों की प्रेरणाओं से प्रेरित होकर शब्दों की मालाएँ पिरोने लगा और कभी-कभी ग़ज़ल की धुन पर लडखडाती हुई कुछ पंक्तियाँ भी जोड लेता। किन्तु सर्वप्रथम रचना के, उस समय के लिए व्यवस्थित रूप मे, मेरी लेखनी से पहले उपन्यास ही का प्रणयन हुआ, जिसकी चर्चा मैं संक्षेप में पहले भी कर चुका हूँ।

मुझे बहुत अच्छी तरह याद है, मैं तब अल्मोड़े के गवर्नमेंट हाई स्कूल में आठवी कक्षा मे पढ़ता था और जाडों की लम्बी दो-ढाई महीनों की छुट्टियों में अपने पिताजी के पास कौसानी गया हुआ था। कौसानी तो सौन्दर्य का स्वर्ग है ही। मेरे पिता सरकारी मकान मे रहते थे। मकान बहुत बड़ा नहीं था, सब मिलाकर सात-आठ कमरे रहे होंगे। उत्तर की ओर चहारदिवारी से घिरा हुआ आंगन था, जहाँ से अन्तरिक्ष में दूध के समुद्र की तरह उफनाई ऊँची ऊँची हिमालय की चोटियाँ दिखाई पड़ती थी। आंगन मे एक पत्थर का चबूतरा बना था जो सन्ध्या

के एकान्त मे मुझे किसी अदृश्य ऋषि के ध्यान-मौन आसन की तरह पावन एवं विचार-मग्न लगता था। आँगन के भीतरी बरामदे मे खूब चहल-पहल रहती थी और परिवार के सभी लोग सवेरे-शाम प्रायः वहीं जुटा करते थे। तीन-चार कमरे पार करने पर पश्चिम की ओर एक छोटा-सा बरामदा था जो सड़क की ओर खुलता था। सड़क पर उतरने को तीन-चार पत्थर की सीढ़ियाँ थी। सामने पहाड़ी पेडों का मर्मर करता हुआ हँसमुख क्षितिज दिन-रात कुछ न कुछ गुन-गुनाता रहता था। यह बरामदा ही मेरा छुटपन का सृजन-कक्ष था। उसमे एक कोने पर पिताजी की आफ़िस की मेज़ रहती थी और दूसरी ओर मेरी छोटी-सी डेस्क। पिताजी दिन-भर आफिस में रहते थे, इसलिए उस छोटे-से एकाकी बरामदे का मैं ही एकछत्र अधिकारी था। यहीं बैठकर मैंने अपनी सर्वप्रथम रचना का सूत्रपात किया था। जाड़े की अलस मधुर दुपहरी में उस चढ़ावदार सँकरी पहाड़ी सडक पर न जाने नीचे की किन हरी-भरी तलहटियो और मख-मली घाटियों मे निकलकर उस छोटे-से उपन्यास के लिए मन्द मन्थर गति से आगे बढ़ते हुए नायक-नायिका और क़रीब आधे दर्जन पात्र-पत्रियाँ मेरी अध-खुली स्वप्न-भरी आँखो के सामने कैशोर प्रेम की मुग्धता, ममता तथा तन्मयता से भरा उस कथानक का सौन्दर्य पट बुन गये, मुझे अब ठीक-ठीक स्मरण नही। सम्भवतः अपने किशोर मन की कुछ अस्फुट भावनाओं एवं अस्पष्ट विचारों को कथा के रूप में [illegible] ही मैंने उस लघु उपन्यास की काग़ज़ की नाव को साहित्य व [illegible] के रूप मे छोड़ने का दुःसाहस किया हो। उस काग़ज़ की नाव [illegible] आधे दर्जन लोग बिना मानव मन की गहराइयों को छुए, [illegible] पुरुषार्थ या अनुभव के डाँड चलाये किस प्रकार ऊपर ही [illegible] सीते हुए पार हो सके, मै आज भी उस नाव को [illegible] हूँ। ख़ैर, किशोर मन ढीठ नहीं तो दुःसाहसी तो होता ही है।

[illegible] उस उपन्यास की पाण्डुलिपि इस समय मेरे पास नहीं है, वह मेरे [illegible] छोटी मित्र की आल्मारी या सन्दूकची मे दूसर नगर में सुरक्षित रक्खी है—सम्भवतः मेरे बाल-चापल्य के उदाहरण के रूप मे। पर अपने उस बाल-प्रयास के बारे मे मुझे जो कुछ स्मरण है उसे आपके मनोरंजन के लिए निवेदन करता हूँ। उपन्यास का नाम मैंने रखा था 'हार'। हार का अर्थ पराजय तथा माला—दोनों ही उस उपन्यास के कथ्य से सार्थक हो जाते थे। इस प्रकार 'हार' शब्द मे एक प्रकार का श्लेष था जो मुझे तब बड़ा व्यंजना-पूर्ण प्रतीत होता था। कथानक छोटा ही था पर लिखने का ढंग अथवा अभि-व्यक्ति अलंकार-पूर्ण होने के कारण—जोकि उस अवस्था के लिए स्वाभाविक ही था—उपन्यास मानव-चरित्र एवं मनोविज्ञान से अधिक मेरे शाब्दिक ज्ञान का ही परिचय देता था। उसकी पृष्ठ-संख्या सम्भवतः २०० के लगभग होगी। कथानक कुछ इस प्रकार था : एक भावुक युवक एक नवयुवती के रूप मे आकृष्ट होकर, उसे बिना अपना प्रणय निवेदन किये, चुपचाप अपने हृदय के आँगन पर बिठा लेता है। युवती अपने माँ-बाप के साथ ग्रीष्म ऋतु मे एक-दो महीनों के

लिए किसी पहाड़ी प्रान्त में घूमने-फिरने के लिये आयी हुई है। प्राकृतिक सौन्दर्य के उस मनोरम प्रदेश में अबोध युवक और युवती प्रतिदिन परस्पर के सम्पर्क में आकर भद्रता और शील का अभिनय करते हुए अज्ञात रूप से एक-दूसरे की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते जाते हैं। किन्तु युवती को वस्तुस्थिति का बोध पहले हो जाने के कारण वह धीरे-धीरे सतर्क हो जाती है और युवक को प्रणय निवेदन का अवसर न देकर, उसके हृदय में प्रेम की अतृप्ति का नैराश्य एवं विषादपूर्ण अन्धकार भरकर, एक दिन बिना उसे पूर्व-सूचना दिये अपने माता-पिता के साथ उस पर्वत-प्रदेश को छोड़कर चली जाती है। युवक इस अप्रत्याशित मूक विछोह से क्षुब्ध होकर विरक्त हो उठता है और उसे मानव-जीवन का समस्त व्यापार तथा व्यवहार खोखला एवं आस्थाशून्य लगने लगता है। वह प्रेम की मृग-मरीचिका से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न कर मानव-जीवन के उचित ध्येय की खोज करता है और अपने अध्ययन तथा चिन्तन से इस परिणाम पर पहुँचता है कि निःसंग रहकर लोक-सेवा करने से ही आनन्द तथा आत्म-कल्याण की उपलब्धि सम्भव हो सकती है। वह अपने कुछ नवयुवक साथियों को लेकर नैतिक जीवन बिताने के लिए शायद एक आश्रम की स्थापना करता है। मानव-जीवन का गहरा अनुभव न होने के कारण मैंने तब 'हार' और 'ग्रन्थि' दोनों गद्य-पद्य कथाओं के नायकों को प्रेम-सन्यास दिलाकर, विरक्त बनाकर छोड़ दिया है।

जब मैं अपनी उन दिनों की मनोदशा का विश्लेषण करता हूँ तो मुझे स्मरण आता है कि 'हार' लिखने के समय मैं अपने भाई से सुनी हुई रीतिकालीन कवियों की शृंगार-भावना, शकुन्तला की प्रेमकथा तथा मेघदूत की वियोग-व्यथा से ज्ञात-अज्ञात रूप से काफी हद तक प्रभावित था। मैंने भाई साहब की पुस्तकों में से बिहारी सतसई तथा तिलक की गीता का भी तब अपनी किशोर बुद्धि के अनुसार अध्ययन अवश्य कर लिया था, क्योंकि 'हार' में यत्र-तत्र एकान्त प्रणय-निवेदन अथवा रूप वर्णन के रूप में बिहारी के नावक के तीरों का यथेष्ट प्रयोग हुआ है और प्रेम-कातर हृदय को सान्त्वना देने के लिए मैंने लोकमान्य की गीता के कर्मयोगी भाष्य का भी प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। उन दिनों अल्मोड़े में स्वामी सत्यदेव आदि बड़े लोगों के जो भाषण होते थे, उनमें देश-भक्ति एवं लोक-सेवा का ही स्वर मुख्य रहता था। उन सब परिस्थितियों एवं बौद्धिक वातावरण से लाभ उठाकर मैंने अपने विचारों तथा भावनाओं को व्यवस्थित वाणी देने के अभिप्राय से ही सम्भवतः 'हार' नामक उपन्यास की रचना की होगी, क्योंकि छन्द में तब अपनी गति उतनी न होने के कारण, अपने चंचल किशोर मन को नित्य बढ़ती हुई भाव-राशि के बोझ से मुक्त करने के लिए, मुझे गद्य का ही माध्यम अपनाना पड़ा होगा। सम्भवत, मुझे अब स्मरण नहीं पड़ता, मैंने भाई साहब के पुस्तकालय से दो-एक उपन्यास भी तब छिपाकर अवश्य ही पढ़ लिये होंगे, क्योंकि तब, मुझे याद है, हम बच्चे ही समझे जाते थे और हमें उपन्यास-कहानी आदि पढ़ना मना था। भाई साहब के कभी घर से बाहर घूमने-फिरने के लिए निकलने पर मैं जिस क्षुधा एवं उत्साह के

साथ उनकी पुस्तकों की ग्रालमारियों पर टूटकर कविता, कहानी, उपन्यास की पुस्तकों को जल्दी-जल्दी उलट-पलटकर पढ़ा करता था, वह मुझे याद है। ग्रौर कभी-कभी ग्रपनी एक-ग्राध पुस्तक भाई साहब को मेरे सिरहाने तकिये के नीचे दबी हुई भी मिल जाती ग्रौर तब उनकी लाड़-प्यार की भर्त्सना को सहना मेरे लिए बड़ा कठिन हो जाता था। मै कई दिन तक उन्हे मुंह दिखाने में शरमाता था।

मैंने ग्रपने ऐसे ही किशोर स्वभाव तथा घर-बाहर की परिस्थितियों के वातावरण से प्रेरणा तथा बल पाकर ग्रपना खिलौना उपन्यास 'हार' लिखा था—जो मेरी सर्वप्रथम रचना कही जा सकती है।

सुमित्रानंदन पंत

प्रथम पुष्प

हार

बसन्त-पंचमी का दिवस है। आराम-वन की शोभा कहते नहीं बनती है। इस बन में अतीत काल से श्री दुर्गादेवीजी का वास है। इसीलिए यह बन अत्यन्त पवित्र समझा जाता है। प्रातःकाल का सुहावना समय है। एक चारण का बालक आराम की शोभा का इस प्रकार वर्णन कर रहा है—

ऋतुराज-राजगृह दृगभिराम-आराम-रम्य
सन्मुख रखता है ऋतुपति की सम्पति-असाम्य।
ऊषा सुवर्ण सा वर्ण लिये वर्णनातीत
फूले फूलों में फूल रही है झूल झूल।
शुचि-सुमन-मनोरम मनोरमा के रम्य रूप
मन रमा रहे हैं पद्मा के पद-पद्मों में।
सु-रसाल-शाल हैं खड़े विशाल - रसाल अहा।
रस सरसाते हैं विरस - रसा में सरस-सदा।
मृदु मन्द गन्धमय गन्धवह - वहन मन बहला,
मुदमय करता है मनोमलिनता मिटा महा।
है मधुर-रस-रसन लेता मधुप - प्रिय मधुप-पुंज
फूला न समाता, समुद समाता फूलों में।
कल सकल-कमल-दल खिले खिलौने से लोने
सज सहज सजल हैं खेल रहे ऊषा-कर में।
आभास अरुण की आभा का सु-अरुण जिनमें
लालिमा सलज्जा के मुख की है लजा रहा।
अवलोक लोक में फिर से नव-आलोक-कला
हैं गुणातीत के विहग गहन-गुण-गण गाते।

सचमुच में आज आराम-बन की प्रातःकालीन शोभा अत्यन्त सुन्दर हो रही है। इस बन में एक बहुत विस्तृत सरोवर भी है। इस सरोवर में तरंगिणी नदी गिरती है। तरंगिणी आराम की उत्तरी पहाड़ियों से प्रसूत होती है। इस नदी के प्रवाह के कारण इस सरोवर की तरल-तरंग-क्रीड़ा देखने के योग्य होती है। इसी के कारण इस सरोवर का नाम तरलंग भी पड़ा। तरलंग के जल का निकास दक्षिण की ओर है।

श्री दुर्गादेवीजी का मन्दिर तरलंग के पश्चिमी तट में है। तरलंग पूर्व

तथा पश्चिम की ओर विस्तार में अधिक है। इसके तट में बैठने के लिए स्वच्छ शिलाएँ रक्खी हैं। इस सरोवर के कारण आराम की शोभा और भी बढ़ गयी है।

विजया आज श्री दुर्गादेवीजी के दर्शन के लिए आयी है। उसके एक हाथ में अर्चन के उपकरण से सज्जित चाँदी का एक स्वच्छ थाल है। 'मृदु कमल माल है द्वितीय कमल-कोमल कर में।' विजया के साथ एक बालिका भी आयी है। बालिका की अवस्था प्रायः सात वर्ष की होगी। वह विजया से विविध प्रसूनों के नाम पूछती जाती है। विजया उसे फूलों के नाम बताती हुई तरलंग के किनारे-किनारे दुर्गादेवीजी के मन्दिर में पहुँची।

> है पौर पर टँका घण्ट चित्र - चर्चित - अर्चित
> जो शान्ति शान्ति कह बजा आगमन जतलाने।
> तब श्रीदेवी के गले कमल की माल डाल
> वह हाथ जोडकर मूर्ति-सी रही मूर्ति निकट।
> फिर लता-सी लिपट गयी चरण-द्वय में शिर धर
> है भक्ति शक्ति का मेल अपूर्व अमोल अहा!

विजया ने श्रीचरणों का चरणामृत लिया तथा श्रीदेवीजी के पद-पद्मों से एक पद्म उठाकर बालिका के शिर में रक्खा। विजया ने एक फूल उसके हाथ में भी दे दिया। बालिका इस फूल को लेकर अत्यन्त प्रसन्न हो गयी। विजया घण्टा बजाकर मन्दिर से बाहर आ गयी। बाहर आने पर बालिका उससे विविध प्रकार के प्रसून तोडने के लिए अनुरोध करने लगी। विजया इधर-उधर से विविध पुष्प चयन कर उसे देने लगी।

"आआ आशु, तुम्हारे लिए मैं अच्छे से प्रसून तोड दूंगा"– कहता हुआ भविष्य भी दौडकर आशा तथा विजया के पास आया। आशा उसे देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। भविष्य की अवस्था भी छोटी थी। वह तथा आशा सदा इस बन में खेलने को आया करते थे। भविष्य आशा से कुछ बड़ा होने के कारण तथा पुरुष होने के सबब भी वृक्षों से चढ़कर फूल तोड के आशा के लिए विविध प्रकार के सुन्दर-सुन्दर गहने गूँथ देता था। इसीलिए आशा का भी उससे अच्छा स्नेह हो गया था। आशा बोली—भविष्य, हमारे लिए पारिजात के फूलों का एक सुन्दर हार गूँथ दो।

भविष्य पेड पर चढ़कर पारिजात के पुष्पों का एक सुन्दर हार गूँथ लाया और उसने वह बड़े चाव से आशा के गले में डाल दिया। आशा बडी प्रफुल्लित हो गयी। पारिजात के फूलों के बीच में उसके मुख की सुन्दरता और भी बढ़ गयी। विजया को भी आशा का यह शृंगार अत्यन्त सुन्दर लगा। वह भविष्य से बोली—भविष्य, आशा भी तुम्हें भविष्य में हार पहनावेगी।

आशा इसका कुछ भी तात्पर्य न समझ सकी किन्तु भविष्य समझ गया। वह आशा के मुख की ओर देखकर हँसने लगा।

तदुपरान्त विजया गृह-कार्य की चिन्ता से घर को चली गयी। उसका विवाह हो गया था। उसकी अवस्था सोलह वर्ष की होगी। आशा भविष्य के साथ इसी

बन में रही। उन दोनों में बहुत काल तक खेल होते रहे। भविष्य ने आशा के लिए और भी फूलों के गहने बना दिये। आशा बाल-बन-देवी-सी प्रतीत होने लगी। भविष्य ने अपने लिए भी एक लम्बी माला बना ली।

दोनों में अपार मित्रता थी। दोनों स्नेह के सुखमय-सूत्र में गुँथे हुए थे। दोनों खिलाड़ी थे।

द्वितीय पुष्प

तिरस्कार

संसार में सौन्दर्य कहाँ कम है? कोई वस्तु तो दृष्टि-पथ में सौन्दर्य-हीन विचरती ही नही। इन नयनों का न जाने कैसा स्वभाव है! ये कभी बालुका राशि में विलीन हो जाते है, कभी वृक्ष-छाया मे छिप जाते हैं, कभी जल की तुतली तरंगों के साथ उछलते है, कभी जल के तुतले बिम्ब के साथ विहार करते हैं, और कभी ओस के निर्मल बिन्दुओं में ही डूब जाते हैं। इनका न जाने कैसा विश्व है! कैसा आनन्द है! मैं इन्हें निकालती-निकालती रह जाती हूँ, सुलझाती-सुलझाती थक जाती हूँ, समझाती-समझाती ऊब जाती हूँ, किन्तु ये फिर उलझ जाते हैं! मेरा समझाना सब व्यर्थ जाता है!

मा! तुम्हारा विश्व इतना सुखद क्यों है, तुम्हारी कृति इतनी रमणीय क्यों है, तुम्हारी आभा इतनी आनन्ददायिनी क्यों है, तुम्हारी विधि इतनी नवीन क्यों है, तुम्हारा शृंगार इतना सुन्दर क्यों है?—तुमने यह कभी नहीं बतलाया। कभी नही समझाया।

मैं नित्य तुम्हारे पास बैठती हूँ, आँखें मूंद लेती हूँ, हाथ जोडती हूँ। तुम्हें आह्वान देती हूँ, विजन स्थान में बैठकर बुलाती हूँ, मन ही मन पुकारती हूँ—आओ मा! इन नयनों के सन्मुख! आओ, अम्ब! मन्द मुसकाती हुई! वीणा बजाती हुई! मधुर गाती हुई!

तुमसे विनय करती हूँ—आओ, मात! मुझे मेरी बातों का उत्तर दो, मुझे अपनी लीला समझाओ। किन्तु तुम कभी नहीं बोलती हो! कभी नहीं आती हो! मैं तुम्हारा ध्यान करती हूँ, तुम्हारे अंगो को दृष्टि के सन्मुख निर्माती हूँ। सुन्दर मुख बनाती हूँ, दिव्य-मणि-मण्डित मुकुट पहनाती हूँ, श्वेत वस्त्र पहनाती हूँ, गले मे श्वेत-मुक्ताओं की माला डालती हूँ, मसृण-मृणाल-सी बाँहों में वीणा देती हूँ, तुम्हें हंस के ऊपर बैठाती हूँ! फिर प्यार के साथ तुम्हें पुकारती हूँ—मा! जननि! अम्ब!—पर तुम कुछ भी उत्तर नहीं देती हो!

मैं तुम्हारे गीतों को गाती हूँ—'जगमग मणि मोतिन सुमुकुट-शिर, चारु चार कर बर हारन छबि; हारक तारक तारक-पाँत द्युति, तारक तारक कर जग जाना'—गा-गाकर तुम्हें रिझाती हूँ, किन्तु तुम फिर भी नहीं बोलती हो। बतलाओ मा! तुम्हारी सृष्टि इतनी सुन्दर क्यों लगती है? तुम्हारा स्मरण

इतना सुखद क्यों प्रतीत होता है ? तुम्हारा ध्यान इतना अभिराम क्यों लगता है ? जिस समय मैं अत्यन्त विकल हो जाती हूँ, उस समय तुम्हारा ध्यान आते ही मेरी आकुलता क्यों नष्ट हो जाती है ? कहो मा ! आज मुझसे अपनी सब बातें कहो। आज मुझे मेरे प्रश्नों का उत्तर दो। बतलाओ मा ! क्या तुम इसी सौन्दर्य में हो ? क्या तुम इसी आनन्द में हो ? इसी सुख में हो ? क्या—

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति,
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।"

—का यही अर्थ है ? कहो मा, तुम कहाँ छिपी हो ? क्या तुम मेरी पूजा की दीपावलि के मंजुल मेल में हो ?—आज मुझे अपनी सब बातें बतलाओ।

सुफला अपनी खिड़की के पास बैठी इसी प्रकार ध्यानमग्ना थी। उसकी खिड़की से आराम का एक भाग अच्छी प्रकार दिखायी देता था। आराम अस्तासन्न-रवि की अन्तिम किरणों से स्वर्ण-वर्ण हो रहा था। सुफला कहने लगी—अहा ! श्रेष्ठ पुरुष अन्तिम समय तक परोपकार का महामन्त्र नहीं भूलते !

इतने में सुफला ने देखा कि आराम का मृग उसकी खिड़की के पास ही हरी-हरी दूब चर रहा है। मृग के बदन में भी रवि की सुनहली किरणें पड़ रही थीं। उसने अपनी सुन्दर-सुन्दर आँखें एक बार सुफला की ओर डाली। सुफला कुछ भयभीत होकर साथ ही हँस पड़ी। उसे मारीचि का स्मरण हो आया। वह कहने लगी—यह कनक-मृग कौन ?

सुफला को समस्त मृग-वाली बातें याद आ गयी। उसे सोचते-सोचते प्रतिभा के मृग-शावकों की स्मृति आयी। एक बार प्रतिभा ने उन्हें बुलाया था, वे उसके पास नहीं गये थे। सुफला को मीना की याद आयी। उसकी मधुर गाने की ध्वनि एक बार प्रतिभा के कानों में पड़ी थी। मीना ने एक बार प्रतिभा से कहा था—"बाई, तुम तो बडे घर की बेटी हो, तुम पहाड़ों में कैसे चढ सकोगी ? हमारा तो वही घर है।"—यह याद आते ही सुफला की आँखें सजल हो आयीं। वह कहने लगी—हाय ! मा, यह तुम्हारा कैसा न्याय है ? क्या मेरी प्यारी मीना को पहाड़ों पर चढ़ने में कष्ट न होता होगा ? क्या उसके पाँव नहीं दुखते होंगे ? मीना ! तुम्हारे इन बचनों में कितनी सूक्ष्म सरलता भरी है ? कितना महत् औदार्य अन्तर्हित है ? बहिन, तुम अपने पाँवों को प्रतिभा के पाँवों से इतना कठोर क्यों समझती हो ? "हमारा तो वही घर है" कहने में तुम्हारे हृदय को किस अज्ञात आनन्द ने छुआ ? मेरे मन की मीना ! तुम अपने को इतनी दीना क्यों समझती हो ?

सुफला के हृदय में धीरे-धीरे मीना के सरल हृदय का चित्र खिच गया। वह उसके उस अलभ्य स्वतन्त्र जीवन की आलोचना करने लगी, सुफला का हृदय आनन्द से गद्गद हो गया। उसके ध्यान में आया – मीना का वंशी-सा मीठा गाना ! वंशी-सा सीधा जीवन !

इतने में ही उसके कमरे में आशा आ पहुँची। आशा के हाथ में 'प्रतिभा' थी। सुफला को मानो उसका अभीष्ट प्राप्त हुआ। वह आशा के हाथ से पुस्तक

लेकर इस प्रकार पढ़ने लगी—"राजकुमार प्रतिभा का हाथ पकड़े पर्वत-शिखर पर जा रहे थे। किन्तु प्रतिभा को अत्यन्त कष्ट होने लगा तथा उसने अपना हाथ छुड़ा लिया।" सुफला रुक गयी और आशा से कहने लगी—क्यों सखी, प्रतिभा को कैसा कष्ट हुआ होगा ? क्या उसके कोमल करों से राजकुमार के हाथ अत्यन्त कठोर थे ?

आशा अपनी सखी के मुख से ऐसी बेतुकी बातें सुनकर जोर से हँसने लगी। और सुफला को कितनी ही स्नेह-भरी गालियाँ देने लगी। सुफला फिर पढ़ने लगी—"राजकुमार प्रतिभा के इस व्यवहार से कुछ असन्तुष्ट होकर बोले—क्यों प्रतिभा ! क्या मैं तुम्हारे हाथ पकड़ने के योग्य नहीं हूँ ? प्रतिभा ने इसका उत्तर कुछ भी न दिया।"—सुफला फिर ठहर गयी तथा अपनी सखी से बोली—देखो आशु, क्या कुमार को प्रतिभा के इस व्यवहार से असन्तुष्टि प्रकाशित करनी थी ? पुरुषों का हृदय भी न जाने किस द्रव्य का बना होता है ! वे एक साधारण-सी बात को न समझकर अपनी स्त्रियों के ऊपर रोष प्रकाशित करते हैं। स्त्रियाँ लज्जावश कई बार अपने स्वामियों की आज्ञा-पालन करने में सक्षम नही हो सकती है। किन्तु वे इसे नही समझते। और देखो सखी, प्रतिभा कितनी सलज्जा है ? वह कुमार को इसका उत्तर तक न दे सकी।

आशा—सखी, तू प्रतिभा होती तो क्या कहती ?

सुफला—यही कहती कि आपके छूने से मेरे हाथों से लज्जा का कंकण गिरा जा रहा है। मेरे हाथ बिना इस अलंकार के कल आप ही की दृष्टि में शोभाहीन जँचेंगे।

आशा—क्या प्रतिभा का मौन रहना ही यह प्रकट नहीं करता ?

सुफला ने इसके उत्तर में केवल हँस दिया। वह फिर 'प्रतिभा' के पन्ने लौटाती हुई इस प्रकार पढ़ने लगी—"उमा के दोनों कपोलों पर एकाएक ललाई झलक आयी, ऐसा जान पड़ता था कि वह ललाई कुमार की कौतूहल-पूर्ण किन्तु शीलता-रहित दृष्टि का तिरस्कार कर रही है। बालिका का वक्षःस्थल जोर से धड़कने लगा मानो कुमार के वहाँ ठहरने का प्रतिवाद करने लगा।"

सुफला इतना पढकर हँसने लगी। आशा के दोनों कपोलों पर भी ललाई झलक आयी थी। सुफला इसका रहस्य न जान सकी। आशा के गोरे तथा गुलाब से मुख में अस्ताचल-गाभी सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। देखने से प्रतीत होता था मानो कमलों में ऐसा सौन्दर्य न पाकर रवि की किरणें इस पद्मिनी के मुख की श्री-सुषमा देख इसी के मुख में अटक रही थीं।

सुफला ने आशा के मुख का अरुण वर्ण देखकर हँसते-हँसते पूछा—क्यों आशु, तेरे मुख की अरुणिमा किसका तिरस्कार कर रही है ?

आशा ने भी हँसते हुए उत्तर दिया—उस सुवर्ण-कान्ति सूर्य का।

आशा के मुख से ऐसा नवीन उत्तर पाकर सुफला जोर से हँस पड़ी। उसके पीछे से आवाज आयी—झूठ, भविष्य का !

सुफला ने विजया की आवाज पहिचान ली। वह पीछे को फिरकर कहने लगी—क्यों दिद्दी, तू यहाँ कब से हमारी बातें सुन रही है ? आशा की अरुणिमा

किस भविष्य का तिरस्कार कर रही है ?

विजया—स्मृति-पट पर अंकित भविष्य का, दृष्टि-सन्मुख अदृश्य भविष्य का—उस आशामय भविष्य का ! और किसका ? क्या तू—

आशा ने विजया का मुख अपने हाथ से बन्द कर दिया। और तरह-तरह की बातें कह उसका सस्नेह खूब तिरस्कार किया। सुफला हंसने लगी। जब आशा ने विजया का मुख छोड़ दिया तो सुफला फिर पूछने लगी—क्यों सखी, तूने यह कैसे जाना ? आशा भविष्य दद्दा का तिरस्कार क्योंकर करने लगी ?

विजया—कल तूने ही तो पढ़कर सुनाया था कि हृदय की भाषा तथा मुख की भाषा भिन्न नहीं होती है। मुख हृदय के भावों का दर्पण है। देखती क्यों नहीं, आजकल बिचारी का किसी कार्य में चित्त नहीं लगता।

सुफला—भविष्य दद्दा ने क्या किया जो यह उनका यह तिरस्कार करती है ?

विजया—ये तो वे या यह जानें। मैं तो इनकी भाव-भंगी से ही यह सब अनुमान करती हूँ। सुन, आज नौ वर्ष की बात है कि—तब यह आशा छोटी सात वर्ष की थी—मैं इसे लेकर बसन्त-पंचमी के दिवस आराम में पूजा करने के लिए गयी थी। वहाँ कुछ काल बाद भविष्य भी आ पहुँचा था। उस दिन भविष्य ने इसको पारिजात के पुष्पों का हार गूँथकर पहनाया था। मैंने उससे कहा था कि आशा भी भविष्य में तुझे हार पहनावेगी। किन्तु उसे तब से यह बात याद है। अब उसका स्नेह इसके लिए और भी बढ़ गया है। और आजकल मैं देखती हूँ कि यह उससे बोलने में भी सकुचाती है। तभी तो मैंने कहा कि आशा की अरुणिमा भविष्य का तिरस्कार कर रही है।

आशा यह सुनकर अत्यन्त लज्जित हो गयी। और वहाँ से जाने को उद्यत हुई। किन्तु सुफला ने यह जानकर तुरन्त उसका पक्ष ले लिया। वह कहने लगी—दिद्दी, इसका अर्थ यह भी तो हो सकता है कि आशा उस भविष्य का तिरस्कार कर रही है जिसमें यह भविष्य दद्दा को हार पहनाती। वह अब बड़ी हो गयी है इसीलिए भविष्य दद्दा से नहीं बोलती होगी।

आशा ने सुफला के हाथ को धीरे-धीरे दबाया। सुफला चुप हो गयी। उसे मन ही मन बड़ा आनन्द हुआ कि आशा भविष्य को चाहती है। वह फिर 'प्रतिभा' के पृष्ठ लौटाकर इस प्रकार पढ़ने लगी—"प्रतिभा राजकुमार के साथ बड़ी सावधानी, लज्जा, विनय तथा सम्मानपूर्वक बातें किया करती थी। अब उसमें बालकपन के समान-चपलता, सरल हंसी, और संकोच-रहित व्यापार न रहा था। अब वह कुमार से साक्षात् न करती थी। प्रायः अस्वस्थता का बहाना बना देती।"—सुफला इतना पढ़कर आशा की ओर देखकर हँसने लगी। आशा ने मुँह फिरा लिया। सुफला फिर पढ़ने लगी—"राजकुमार प्रतिभा का यह व्यापार समझने पर भी नहीं समझे ! उसके इस व्यवहार से उनका प्रेम प्रतिभा की ओर बढ़ने के बदले उलटा कम होने लगा।" सुफला ने पुस्तक बन्द कर दी। आशा से वहाँ और न रहा गया। उसने सुफला के हाथ से पुस्तक ले ली और वह किसी कार्य का मिस बतलाकर चली गयी।

आशा के हृदय में प्रतिभा के उस अन्तिम वाक्य से क्या प्रभाव पड़ा, यह यथासमय मालूम हो जावेगा।

आशा के चले जाने के बाद विजया भी दीपक-बाती का समय निकट जानकर चली गयी। सुफला फिर एकाकी रह गयी। भास्कर-भगवान अब डूब गये थे। सुफला भी धीरे-धीरे अपने विचारों में डूब गयी। वह आशा तथा भविष्य के सम्बन्ध की आलोचना करने लगी। वह सोचने लगी कि—आशा तथा भविष्य का पहिले ही से सम्बन्ध है। आशा सदा भविष्य में ही लीन रहती है तथा वह भविष्य की ही होती है। भविष्य ही आशा का जीवन है। आशाहीन भविष्य भी शुष्क तथा निष्प्रभ लगता है। आशा ही अदृश्य भविष्य की पथ-प्रदर्शिका समुज्ज्वल दीपशिखा है। वही अन्धकारमय भविष्य के हृदय में सुन्दर आलोक है—सुफला इसी प्रकार कई बातें सोचने लगी। वह मानो भविष्य और आशा की भविष्य तथा आशा से तुलना करने लगी। अन्त में वह यह विचारने लगी कि आशा तथा भविष्य का सम्बन्ध सदा सुखमय ही नहीं होता। आशा अत्यन्त आकर्षणीया है सही किन्तु भविष्य के हृदय-मरु में सलिल-स्रोतस्विनी-सी है जो मोह की प्यासी आंखों को प्रलोभन दे, जीवन को जीवन दिखला, अन्त में निर्जीव कर देती है। सुफला के हृदय में सहसा इस प्रकार का भावोदय न जाने कैसे हो गया! उसने फिर इस विषय में कुछ नहीं सोचा। वह खिड़की से अनन्त आकाश की ओर देखने लगी। उसे एक टिमटिमाता हुआ तारक दिखलायी दिया। वह सोचने लगी, सगुन बुरा है! उसे सहसा "एक तारो मया दृष्टः" याद आया। वह कहने लगी—अनन्त-विस्तृत नभ-मण्डल में केवल एक क्षुद्र दीपक? इतने बड़े भारतवर्ष में केवल एक नेता? इसीलिए एक तारक को देखने में दोष मान रखा है। इतने विस्तृत व्योम के लिए एक तारक को धारण करना भी अपमान-कारक है! इसीलिए इसको देखना अनिष्टकारी बतला रखा है। सुफला बार-बार नारदादि ऋषियों को प्रणाम करने लगी। वह फिर सोचने लगी कि तारक से भारत-नेता की उपमा देना ठीक नहीं। उसका उपमान चन्द्र है। उसे याद आया—

> "कुलहि प्रकासै एक सुत, नहिं अनेक सुत निन्द
> एक चन्द्र सब तम हरै, नहिं उडगण के वृन्द।"

सुफला उस क्षुद्र तारक का और भी तिरस्कार करने लगी। वह कहने लगी, मेरे दृग-तारक तक दो हैं। एक नहीं। और मेरे हृदय-तारक तो तारकों से भी अगण्य है। मैं एक ही तारक को क्यों अपनाऊँगी? मा की सारी सृष्टि मेरी ही तारक है। एक तो मुझे मा ने अपने से स्वयं भिन्न कर रक्खा है। तिस पर भी मै अपना हृदय-तारक किसी एक को बनाकर मा की सुन्दर सृष्टि से क्यों भिन्न हूँगी? अहा! यह संसार कितना सुन्दर है! एक केवल संसार-तारक ही है। उसी सर्व-शक्ति को अनन्तता शोभा देती है।

इतने ही में दासी हाथ में दीपक लिये हुए सुफला के कमरे में आयी। सुफला को दीपक देखकर भी अत्यन्त आश्चर्य होता था। उसे दीपक को देखते ही याद आ जाती थी—"……तले अँधेरो दीप।" सुफला की दृष्टि दीपक के तले

अन्धकार में ही विलीन हो जाती थी। उसकी जिज्ञासा, उसकी उत्कण्ठा मानो उस अन्धकार में किसी को ढूंढ़ती थी। उसकी अन्वेषण भरी कातर दृष्टि के प्रभाव से दीप की शिखा भी चंचल हो जाती थी। सुफला कभी उस अन्धकार से पूछती थी—तम ! क्या तुम मेरी अनन्त शान्तिदायिनी मा के पदों की छाया हो ? तिमिरवर ! एक बार मुझे अपना अदृश्य-अंचल टटोलने दो ! क्या मेरी मा के पद तुम्हारे ऊपर अनन्त छत्र की तरह छाया करते हैं ? क्या तुम्हारी गोद से शीश उठाते ही मुझे मा के दर्शन हो जावेंगे ? क्या मैं खड़ी होते ही मा के पद-पद्मों के पास पहुंच जाऊँगी ? किन्तु तिमिरबन्धु ! कहीं तब मैं उसके पदों की छाया से भी हाथ न धो दूं ! कहीं मैं तुम्हारे लिए कृतज्ञता प्रकट करना भी न भूल जाऊं !

आओ प्रिय ! एक बार मैं तुम्हारे अंचल को स्वच्छ कर दूं। तुम्हारे मलिन दुकूल को मा के स्नेहाश्रुओं से धो दूं ! एक बार मैं उस स्वच्छता की ज्योति में अपनी मा के पद-पद्मों को देख लूं ! यह कहते-कहते सुफला कभी रोने भी लगती थी। और फिर कभी सोचती थी कि मेरा बन्धु इस दीपक के तले क्यों छिपा रहता है ! क्या अँधेरे के पास ही आलोक भी रहता है ? क्या मुझमें और मेरी मा में थोड़ी-सी ही दूरी है ? अल्प ही अन्तर है ? हाय ! यह प्रदीप अपने प्रकाश का तो गर्व नहीं करता ? और इसीलिए क्या यह तम को पाँवों तले कुचलता है ! ऐसा सोचते ही वह कभी प्रकाश का तिरस्कार करने लगती थी। उसे धिक्कारती थी कि अरे क्षुद्र दीप ! तुझे अपने इस क्षीण प्रकाश का गर्व है ? तू अपना हृदय उज्ज्वल समझकर तिमिर को अपने पैरों कुचलता है ? किन्तु दुष्ट ! तेरा हृदय कृष्णता से भी कृष्ण है ! तू प्रेम का मिस ले दीन प्रेमी पतंगों को स्वाहा कर अपनी तामसी तृषा तृप्त करता है ? निर्मल पय पीकर कज्जल-कूट प्रसूत करता है ? मूर्ख ! इससे अधिक कालापन तुझमें क्या हो सकता है ? इसमे घोर कालिमा और क्या हो सकती है ? तू चाहता है कि अन्धकार प्रकाश का स्वच्छ जामा न पहने ! दुर्बल सशक्त न हो ! नीच न उठने पावे ! अदूरदर्शी ! तू भारत के इस घोर पतन को देखकर भी शिक्षा ग्रहण न कर सका ! भारत ने भी अपनी अछूत जातियों से उनसे उच्च जातियों की सेवा कराकर उन्हें कुचलना चाहा था ! उनकी शिक्षा तथा उनकी उन्नति की ओर ध्यान नहीं दिया था ! इसी से भारत की उच्च जातियाँ भी गिर पड़ीं। जब नींव ही वसन्त की मलय वायु में खड़खड़ाती हुई हिलती हो तो प्रासाद की दीवारें दुर्विपाक की आँधी में कहाँ टिक सकती हैं ? सुफला दीप की शिखा को चंचल देखकर समझती थी कि वह मेरी धुत्कार से काँप रही है। जब कभी-कभी प्रदीप शिखा कुछ क्षीण हो जाती तो वह समझती थी कि दीपक अपने अपराधों के लिए पश्चात्ताप कर रहा है। पर जब सुफला की दृष्टि प्रदीप के तले पर पड़ती थी और जब वह तम को वहीं पाती तो वह दीपक को फिर धमकाती थी कि---अधम ! तेरे पैर भी तेरे ही अंग हैं। उन्हें भी उज्ज्वल कर, उन्हें अछूत समझकर अटल अन्धकार में न डाल दे ! किन्तु सुफला दीप की शिखा को फिर उज्ज्वल होती देखकर समझती थी कि दीपक मुझे उत्तर दे रहा है। मुझसे निर्भय होकर कह रहा है कि मैं दोषी नहीं

हूँ। मैं निरपराध हूँ। मुझे वृथा तुच्छ न समझो। मैं अन्धकार का अतीत से कृतज्ञ हूँ। अन्धकार ही में मुझे सदा आदर मिलता है। इसी की गोद में मुझे सम्मान प्राप्त होता है। दिन में मुझे आलोकित करने तक का कोई कष्ट नहीं करता है। मैं जानता हूँ कि अन्धकार रात्रि देवी का श्यामल शरीर है। और रात्रि शीत-रश्मि की सहचरी है। इसीलिए मैं तम को शीतलता का इच्छुक जानकर अपने शीतल तले में सादर स्थान देता हूँ। मैं कज्जल कूट अवश्य प्रसूत करता हूँ। किन्तु क्या वह यथार्थ में काला है? नहीं, वह कालिमा नहीं है। उसमें एक दिव्य द्युति अन्तर्हित है। वह जब आँखों में लगाया जाता है तो उन्हें नवीन ज्योति देता है। उसमें प्रकाश भरा है। संसार में प्रकाशवान सदा अदृश्य ही रहते हैं। गुणवाले अपने को छिपाना चाहते हैं। अपने गुणों को अव्यक्त रखते हैं। सूर्य की रश्मि स्वयं तो अदृश्य रहती है किन्तु क्षुद्र रज-कणों को प्रकाशित कर उन्हें जीवन प्रदान करती है। मैं मूर्ख नहीं हूँ। मैं एक मंजुल मेल हूँ! अत्यन्त पवित्र मेल हूँ। मैं तुम्हें बतलाता हूँ—घोर अन्धकार में भी शिक्षा देता हूँ—कि ऐक्य में कैसा सुखमय आलोक है! एक क्षुद्र तूल-वातिका का पय के साथ ऐक्य होने से कैसी सुन्दर प्रभा प्रकट होती है। मैं तुम्हें अपने क्षीण ज्योति में भी अनुपम शिक्षा का अति उज्ज्वल आलोक दिखलाता हूँ!

सुफला मन ही मन "तले अँधेरो दीप" के लिए तर्क-वितर्क किया करती थी। दासी प्रदीप को दीप-दान में रखकर चली गयी। सुफला 'जीवन-प्रभात' पढ़ने लगी।

तृतीय पुष्प

तरलंग-तट

प्रातःकाल का मनोहर समय है। सारा आराम स्वर्ण-वस्त्र विभूषित दिखलायी देता है। वसन्तु-ऋतु का अनुपम विभव, आराम की मन्द-मन्द सुरभि-सिंचित अनिल, अलि-दल की मृदुल गुंजन, विहंगों की कल-कण्ठ ध्वनि—सभी हृदय हर रहे हैं।

भविष्य तरलंग के तट में एक स्वच्छ-शिला के ऊपर अकेले बैठे हैं। आज नौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं जब हम एक बार पहिले भी इस बन में आये थे। अब भविष्य भी युवा हो चुके हैं। अब आशा उनके साथ खेलने को नहीं आया करती। अब भविष्य उसे पुष्पालंकारों से विकसित कर बनदेवी-सी नहीं बनाते। अब वह क्रीड़ा-कौतूहलमयी तथा मनोहर बाल्यावस्था बीच चुकी है। अब वह निष्काम-स्नेह, वे अकपट विचार, वह निर्भीक हृदय, वह सरल चितवन, वह मादक बोली आदि सभी बाल्यावस्था के अनुगामी हो चले गये हैं। अब आशा का स्नेह भविष्य के हृदय में अधिक प्रबल हो प्रणय में परिणत हो गया है। क्यों न होता? बाल्यावस्था यौवन की मादक सुरा चढ़ा चुकी थी, सौन्दर्योपासना का नशा कब न वृद्धि पाता? शैशव युवावस्था का चटकीला जामा पहन चुका था, स्नेह का रंग अधिक

चटकीला क्यों नहीं दिखलायी देता ? जीवन का स्रोत यौवन के जीवन से परिपूर्ण हो चुका था। प्रणय के दृढ़ बाँध की कब आवश्यकता न थी ? आशा के स्नेह ने भी भविष्य के हृदय में प्रणय का पुरट-पट पहिन लिया था। प्रेम का पवित्र पट-परिधान कर लिया था।

आज भविष्य ने प्राय: एक मास से आशा को नहीं देखा था। उसका मृदुल स्वर नहीं सुना था। अब आशा भविष्य से बातें करने में सकुचाती थी। भविष्य के दृग-खंजनों ने जब से आशा के रुचिर रूप-सरोवर में यौवन का प्रिय पद्म प्रफुल्लित देखा तब से वे उसी कमल में बैठ गये थे। भविष्य इस सगुन के सु-फल की आशा में ही दिवस व्यतीत कर रहे थे। उनके दृग-मीन आशा के लीला-सलिल के लिए सदा तड़फते थे। श्रवण-चातक आशा के वचन-स्वाति के लिए उत्कण्ठित रहते थे। उनकी आकांक्षाचकोरी आशा के स्नेह-सुधानिधि को निर्निमेष ताकती रहती थी। उनकी व्याकुलता उसके दर्शनों के लिए दिन पर दिन बढती जाती थी। उन्हें आशा ही का ध्यान सुख देता था। वे आज आराम के विविध सुन्दर प्रसूनों से आशा के रम्य-रूप की तुलना कर चुके थे; किन्तु उन्हें उस रूप का उपमान कहीं नहीं मिला था। उनको वह सजीवता कहीं नहीं दिखलायी दी थी। भविष्य अन्त में थककर तरलंग के तट पर बैठ गये थे। तरलंग का जल ऊषा के आलोक में अरुण दिखलायी देता था। उसके हृदय में पवन के वेग से लोल तरंगें उठ रही थीं। भविष्य तरलंग का यह सजीव सौन्दर्य देख मुग्ध हो गये। वह कहने लगे—संसार में सौन्दर्य किसे मुग्ध नहीं करता ? तरलंग ! तुम भी आज प्राची से मुसकाती हुई ऊषा की अनुराग-भरी अर्ध-खुली आँखों के अरुण राग में अपने को रंजित किये हो। आज तुम भी अपने निर्मल हृदय में अर्ध-विकसित कमल-दल की दिव्य अंजलि सज्जित कर उस चरम सौन्दर्य का सम्मान कर रहे हो। आज तुम्हारा मानस-सा विमल मानस भी उस रम्य रूप से मिलने के लिए चंचल हो रहा है। तुम्हारा सरल हृदय वायु के अदृश्य करों को ग्रहण कर उस अपूर्व सौन्दर्य की ओर बढ़ रहा है। तुम मानो फेन-रूपी मुक्ता-हार लिये अपने तरंग-रूपी अगणित पतले-पतले करों को उस परम सुषमा की ओर बढ़ा रहे हो। तुम मानो दन्तद्युति-युक्त अगणित सस्मित मुखों से 'कल कल' रव कर उस रूप-राशि के गुण गा रहे हो। उसकी अलभ्य छवि में मुग्ध हो तरंगोत्थित कल्लोल कर 'टुल टुल कुल कुल' शब्दों में कविता रच उसकी सुषमा को सजीव कर रहे हो।

तरलंग ! मैंने तुम्हारे विशद हृदय का ऐसा रुचिर चित्र पहिले कभी नहीं देखा। तुम्हारे हृदय में—इस शीतल मानस में भी —यह वाडवाग्नि कब से अगोचर थी—यह अनुराग की—विशुद्ध अनुराग की—अरुण ज्वाला कब से तिरोहित थी यह मैं नहीं जानता था। आज मैंने इसे स्वीय दृगों से ही देख लिया है।

कौन जाने, इसी प्रकार कितने हृदय अपने में इसी विशुद्ध परीक्षक अग्नि को छिपाये हुए हैं ? उन्हीं में से—

"भविष्य !"

भविष्य ने तुरन्त मुँह फेरकर देखा तो निमेप।

भविष्य—क्यों दद्दा, आज इतने प्रात: यहाँ कैसे आ गये ? क्या भाभी से

रात में कुछ तकरार हुआ जो उठते ही भाग आये ?

निमेष तथा भविष्य बाल-सहचर थे। निमेष अवस्था में भविष्य से बहुत बड़े थे। इसीलिए भविष्य उन्हें दद्दा कहकर पुकारते थे। निमेष का भी भविष्य से अच्छा स्नेह था। वे सदा भविष्य के ही ध्यान में रहते थे। उन्होंने भविष्य के मुख से ऐसे परिहास-प्लावित वचन सुनकर हँसते हुए कहा—हाँ भवि, भाभी को छोड़कर भाग आया था किन्तु भविष्य ने फिर पकड़ लिया।

भविष्य—तुम्हें ही क्या, दद्दा, भविष्य सभी को पकड़ लेता है। प्राय: सभी भावी में लीन होकर कष्ट पाते है। तुम्हें भी भावी ने बुरा पकड़ा।

निमेष—किन्तु मुझे तो इस समय वर्तमान ही ने पकड़ लिया है।

भविष्य तथा निमेष में इसी प्रकार बातें ही रही थीं कि इतने में सुफला तथा आशा भविष्य के पास आ पहुँचे। आशा आज अनुरोध कर सुफला को देवी-दर्शन के लिए ले आयी थी। वे इस समय दर्शन कर घर को लौट रहे थे। किन्तु सुफला आशा को बाध्य कर भविष्य के पास ले आयी थी। यथार्थ में आशा आज देवी-दर्शन का मिस कर भविष्य को ही देखने के लिए यहाँ आयी थी। वह भविष्य की आदतों से परिचित थी। उसे विश्वास था कि भविष्य निश्चय तरलंग के तट में बैठे हुए मिलेगे। आशा के हृदय में प्रतिभा के अन्तिम वाक्य ने कल पूरा प्रभाव डाला था। इसलिए अति संकोच होने पर भी आज उसने भविष्य से मिलना निश्चय कर लिया था।

भविष्य को इस प्रातः अचानक चन्द्रोदय-सा प्रतीत हुआ। उसके नयन-चकोर संकोच का जाल तोडकर आशा के चन्द्रानन पर अड ही गये।

"लाज लगाम न मानही, नैना मो बस नाहिं,
ये मुँहजोर तुरंग लों ऐंचत हूँ चलि जाहिं।"

भविष्य का दाहिना दृग-खंजन आशा के मुख-कमल में वास करने को मानो फडफडाने लगा। आज उसे कितने ही महीनों मे अपना परिचित पुष्प मिला। हृदय-चातक को स्वाति-सलिल मिला। भविष्य को आज अपने दृग-खंजन का आशा के यौवन-पद्म में बैठने के सगुन का फल मिला। उसकी आशा आज सुफला हुई।

भविष्य ने एक बार बड़े कष्ट से आशा के मुख से दृष्टि हटाकर तरलंग की ओर डाली। उसे प्रतीत हुआ मानो तरलग का हृदय भी चन्द्रानन को देख समधिक चपल हो आया है। उसने एक बार तरलंग की तरल व पतली-पतली तरंगों से आशा के सुकुमार व कोमल अंगों को मिलाया, किन्तु भविष्य को वह सौन्दर्य ढूंढने पर भी उनमें न मिला। उसे तरलंग के निर्जीव अंग आशा के सुन्दर अंगों के सामने बिलकुल ही कान्तिहीन तथा नीरस लगे। भविष्य का मुख आन्तरिक भावोच्छ्वास से सहसा खिल उठा। मानो कि वह उसके मनोगत भाव आशा को जतलाने के लिए ही प्रफुल्लित हुआ हो।

इन सब बातों को लिखने में इतना समय लगा, किन्तु यह काम अत्यन्त अल्पकाल का था।

आशा की भी यही दशा हुई। किन्तु वह लज्जाधिक्य से भविष्य के मुख-कमल पर अपने लोचन-भृंग न अड़ा सकी।

"छुटी न लाज न लालचौं, प्यो लखि नेह गिरेह,
सटपटात लोचन खरे, भरे संकोच सनेह।"

आशा पृथ्वी की ओर दृष्टि डालकर अपने कोमल पद-नखों से मिट्टी खुरचने लगी। वह मानो मन-ही-मन कह रही थी—

"इन दुखिया अँखियान को, सुख ही सिरज्यो नाहिं
देखै बनै न देखिबो, बिन देखे अकुलाहिं।"

आशा की मुख की अरुणिमा इस समय सचमुच भविष्य की अशिष्ट-दृष्टि का तिरस्कार कर रही थी। किन्तु सुफला यह सब न देख सकी। उसकी आँखें न जाने विधि ने किस द्रव्य से बनायी थीं कि वे प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य अनुभव करती थी। उसके लिए सारा संसार ही सौन्दर्यमय था। वह जब से यहाँ आयी थी तब से तरलंग ही की ओर टकटकी लगाकर खडी थी। उसके हृदय को तरलग ने मानो अपने किसी अदृश्य गुण से बाँध लिया था। वह अधिक समय तक चुप न रह सकी और भविष्य से बोली—

देखो दद्दा, तरलंग की तरल-तरंग-क्रीड़ा आज कितनी अपूर्व तथा सुन्दर प्रतीत हो रही है। इसके हृदय में जो लोल-तरंगें उठ-उठकर विलीन हो रही हैं वे मेरे हृदय मे बड़ा आन्दोलन मचा रही हैं। एक प्रकार से तो मैं आनन्दित हो रही हूँ कि ये तरंगें आज तरलंग ही के हृदय में समुत्थित होकर विलीन नहीं हो जा रही हैं प्रत्युत मेरे निर्निमेष नयनों में विश्राम ले रही हैं। मुझे प्रतीत हो रहा है मानो ये मेरी आँखो को भी अपने ही साथ डुबा ले जा रही हैं। इनका सौन्दर्य व्यर्थ नष्ट न होकर मेरे हृदय को भी अपने अदृश्य सूत्र में गूँथ ले रहा है।

किन्तु मुझे यह सोचकर बडा कष्ट हो रहा है कि प्रत्येक तरंग इतने अल्प-काल में ही दुर्बल होकर क्यों सुप्त हो जा रही है। हर एक तरंग मानो वायु से कह रही है—"गिरी जाती हूँ बालम पकड मेरा हाथ।" किन्तु पवन उसकी प्रार्थना स्वीकार नही कर रहा है। और वह तरंग निराश होकर निज सुषुप्तिमय-भविष्य की चिर-विश्राम-दायिनी क्रोड़ में अनन्त काल के लिए सो जा रही है। दूसरी तरंग उसे देखकर भी शान्त नही हो रही है। वह भी रजत-पट-परिधानित भविष्य के हृदय-मरु में मायाविनी आशा की मृग-मरीचिका के प्रलोभन में पड एक बार कुटिल नियति का कृश सूत्र ग्रहण कर उठना चाहती है और वायु से मृदु स्वरों मे कहना चाहती है कि—

"गिरी जाती हूँ बालम पकड मेरा हाथ!"

किन्तु उसके उठते ही कुटिल नियति का कृश सूत्र छिन्न हो जा रहा है। और वह भग्न-हृदया भी अपनी पूर्व-आशाहता सखी की अनुगामिनी बन उसी निर्दिष्ट स्थान में—अन्धकारमय भविष्य की अदृश्य गोद में—तप्त-निःश्वास से फेन उठाती हुई सदा के लिए सो जा रही है।

प्रिय दद्दा! मुझे कभी ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो यह प्रत्येक तरंग एक-एक आकांक्षा है, जो कि तरलंग के हृदय में उठते ही नष्ट हो जा रही है। अहा! इस तरलंग का हृदय सचमुच विशद है। इसका मानस गीता की उपदेश-

सुधा से सरसित है। यह भलीभाँति जानता है कि—

"यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते,
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।"

और इसीलिए यह इच्छाओं को उठते ही नष्ट कर दे रहा है।

ऐसा कहते-कहते सुफला के लोचनों से एक-दो अश्रु-बिन्दु टपककर तरलंग के निर्मल जल में लुप्त हो गये। उसके हृदय में तरलंग के असामान्य चरित्र से अत्यन्त गहन प्रभाव पड़ा।

सुफला ने जब देखा कि मैंने जिन अश्रुबिन्दुओं के साथ अपने मानस की दुर्बलता तिरस्कार के साथ बहा दी थी, उन्हीं अश्रुबिन्दुओं को तरलंग के उदार हृदय ने अपने में मिला लिया है और जब उसे अन्वेषण करने पर भी नहीं मिले कि मेरे अश्रु-बिन्दु तरलंग के द्रवित हृदय में किस स्थान पर गिरे थे, तब उसकी दशा और भी विचित्र हो गयी। वह सहसा कह उठी—

तरलंग! तुम्हारा हृदय धन्य है। तुम धन्य हो! प्रत्येक वायु के अदृश्य स्पर्श का भी तुम्हारा हृदय इतनी उत्सुकता से स्वागत कर रहा है! तुम सहृदयता के सरोवर हो! तुम विशद हो। तुम्हारे निर्मल हृदय में अपने बड़े होने के अभिमान का कहीं पर एक काला छींटा भी नहीं है। तुमने मेरे तिरस्कार के साथ फेंके अश्रुबिन्दुओं को भी इतना सम्मान दिया। इतने बड़े हो जाने पर भी नहीं भूले कि मेरा हृदय इन्हीं क्षुद्र बिन्दुओं से बना है।

निमेष अभी तक निर्निमेष नयनों से सुफला के मुख को देख रहे थे। वह सुफला के इन वाक्यों को सुनकर अपने को न संभाल सके। और सहसा "वाह! वाह!" कह उठे। किन्तु वे साथ ही अपनी इस अशिष्टता पर अत्यन्त लज्जित हुए। सरला सुफला ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उसकी दृष्टि इस समय तक भ्रमण करती हुई तरलंग के दूसरे भाग में जा पहुँची। उसने देखा कि तरलंग के हृदय से चंचल पीतप्रभा निकल रही है। सुफला को प्रतीत हुआ मानो स्वयं कमलालया कमला कमल-दल से उतरकर तरलंग के निर्मल जल में स्नान कर रही है, जिसके शरीर की कांचन-कान्ति जल के गर्भ में अत्यन्त सुन्दर जान पड़ती है। किन्तु वह इतने में समझ गयी कि यह देवीजी के द्वार के दीप-शिखा का प्रतिबिम्ब है। सुफला ही इस दीपक को वहाँ जला आयी थी। उसे सहसा याद आ गया—

"परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं—
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।"

सुफला कहने लगी—तरलंग! तू भी ऐसे "सन्तः कियन्तः" में से एक है, तेरे गुणग्राही हृदय में उस क्षुद्र शिखा का बिम्ब इतना वृहत् दिखलायी दे रहा है मानो "बालार्क कोटि प्रभा" स्नान कर रही हो।

निमेष की रही सही सुधि भी इन बातों को सुनकर जाती रही। उनका हृदय सुफला के "छुटी न शिशुता की झलक, झलक्यो यौवन अंग" की "दीपति देह दुहून मिलि" में फिसल गया। बिचारी विजया का प्रेम उनके मन से सुफला के "दिपति ताफता रंग" की शिखा में कर्पूर के सदृश उड़ गया, बिचारी का चिर-

सिंचित स्नेह का बाँध उस रूप-राशि की प्रबल-धारा के सामने न ठहर सका ! टूट ही गया ! निमेष सुफला के रंग में निमेष निमेष में घुलने लगे, उन्हें सुफला तरलंग से भी एक सुन्दर सरी प्रतीत होने लगी—

"यौवन महासर में रूप को सलिल भरो,
तरल तरंग हाव भावन को भाव है।"

निमेष के "अंग अंग सब भौंर में भयो भौंर की नाव।" उनके नयन निर्मिमेष हो गये। और स्वतन्त्र हो सुफला के मुखकमल पर अबोध "अलि-छौनों" के सदृश बँध गये। उड़ न सके। निमेष का कोई बल न चला।

इतने ही में आशा ने सुफला की अँगुली दबायी। सुफला इस संकेत से समझ गयी कि आशा की इच्छा घर जाने की है। वह आशा से कहने लगी—

क्यों आशु, तू आज अलग खड़ी होकर अपने पद-नखों को क्या गिन रही है ? भविष्य दद्दा से आजकल क्यों नहीं बोलती ?

आशा मन-ही-मन न जाने सुफला को कितनी गालियाँ देने लगी। उसके आँखों की सुफला तथा लज्जा के बीच में—"इचें खिचें इत उत फिरें" यह दशा हो रही थी। किन्तु उसे अपने को सुफला के व्यंग-वाणों से बचाने के लिए लाज की बेड़ी तोड़नी ही पडी। वह अपने निर्गुण भ्रू-धनुषों को खींचकर सुफला की ओर देखने लगी। और अत्यन्त दबे स्वर में बोली—

मैं कहाँ नहीं बोलती ?

रँगीले नारंगी सदृश रसीले अधरों के भीतर मुस्कान की मधुरिमा के बीच में उसके सित-दन्त बीजों-से छिपे दिखलायी दिये। तरलंग का जल वायु के एक तीव्र झोंके के साथ उछल पड़ा। मानो प्रकृति ने ईर्ष्या से भविष्य के हृदय के आनन्द की अनन्वयता भंग करने ही के लिए यह नवीन उपमान प्रस्तुत किया ! तरलंग सित-फेन के कणों से भर गया। भविष्य को प्रतीत हुआ कि तरलंग के हृदय में मानो चपला स्नान कर रही है। उन्हें जान पड़ा मानो तरलंग के ऊषा-रंजित अरुण हृदय में श्वेत कमलावलि हँस रही है। भविष्य को ज्ञात हुआ कि मानो तरलंग के भीतर श्वेत वस्त्रविभूषिता सरस्वती अपनी मधुर वीणा बजा रही है। उन्होंने उस तरंगोत्थित श्वेत-फेन-कणावलि को आशा की दन्तावलि का प्रतिबिम्ब समझा ! वे सोचने लगे कि तरलंग का हृदय आशा की अधर अरुणिमा के प्रतिबिम्बित होने ही से अरुण हो रहा है।

आशा सुफला से बार-बार गृह को लौटने के लिए अनुरोध करने लगी। आशा की लता-सी कोमल देह लाज के बोझ से दबती जा रही थी। सुफला उसका अनुरोध न टाल सकी। दोनों सखियाँ गृह को चली गयीं।

निमेष भी उनके चले जाने पर वहाँ नहीं ठहरे। और भविष्य को किसी कार्य का मिस बतलाकर चलते बने—भविष्य वहाँ अकेले ही रह गये। निमेष आज 'तरलंग-सरोवर' के तट में अपना 'मानस' खो गये।

आशा ने जाते समय भविष्य की ओर एक दृष्टि डाली थी। भविष्य के हृदय में अभी तक उसी का घाव लगा था। वे उस मधुर वेदना से फड़फड़ाते हुए मन-ही-मन कहते थे—
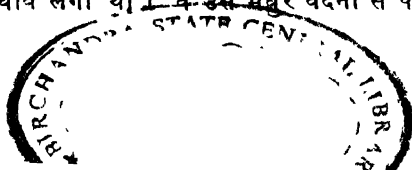
आशे ! तुम्हारा स्वरूप सचमुच अत्यन्त सुन्दर तथा सुखद है। तुम मेरे जीवन रूपी मरु में शीतल-जल-परिप्लुता अनन्त-वाहिनी तरंगिणी हो ! तुम मेरे कुहू रूपी हृदय में सदा रहने वाली एक अचंचल दीप-शिखा हो । तुम्हारा ध्यान सोम-रस से भी मादक तथा सोम-रस से भी शक्तिमय है। तुम्हारे ध्यान में वर्ष पल के सदृश व्यतीत होते हैं। तुम्हारा ध्यान मेरे मृत शरीर को पुनः जीवन प्रदान करता है। तुम्हारी आकृति सदा दृष्टि के सन्मुख रहने पर भी नवीन तथा मधुर प्रतीत होती है। उसकी मनोरमता से मन नहीं भरता । तुम्हारी आकृति अयस्कान्त-मणि से भी शक्तिमती है । अयस्कान्त-मणि सार ही को खींचती है किन्तु यह असार विचार तथा निस्सार स्वप्नों को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है । धन्य आशे ! तुम्हारी अनन्त महिमा है !

तुम्हारा आभास अनन्त तारक-राशि के झिलमिल में, तुम्हारी लीला जल की तुतली तरंगों में, तुम्हारा बोलना अलिदल के मृदु गुंजन में, तुम्हारी छवि "शरदेन्दु" में, तुम्हारी मनोरमता वसन्त के बाल-विकास में, तथा तुम्हारा गाना कोकिल के कल-कण्ठ में क्रीड़ा-सा करता है ! सुमुखि ! तुम त्रिभुवन-विजया हो । मेरी अमित कल्पनाओं की कल्पलता हो !

भविष्य इसी प्रकार सोच रहे थे कि इतने में आराम का मृग ग्रीवा मटकाता हुआ भविष्य के सामने आकर खड़ा हो गया । मानो वह भविष्य से कहने आया हो कि—

भविष्य, अवश्य, आशा मायामयी मृग-मरीचिका होने पर भी अत्यन्त पवित्र है। मृग, मृगनयनी तथा मृग-मरीचिका देखने में सुन्दर दिखलायी देती हैं तथा आशा-जनक प्रतीत होती हैं किन्तु इनसे सुख की प्राप्ति कठिन है ! इनके ऊपर अधिकार जमाना असम्भव है !

मृग चला गया । भविष्य भी अपने घर को चले गये ।

चतुर्थ पुष्प

विरहिणी

आज विजया सर्व प्रकार पराजिता है। हाय ! मैं विरह-व्याकुला होकर इतनी रोती हूँ, किन्तु सब अरण्य-रोदन के सदृश है। मेरी कोई नहीं सुनता ! मेरी वियोग की रात !—हाय ! मेरी वियोग की रात बडी विलक्षण है। इसका प्रबन्ध स्वयं जगद्धात्री-प्रकृति के यहाँ से भी नहीं हुआ है। यह कितनी बडी है, इस यामिनी में कितने याम हैं,—इसका अनुमान कौन कर सकता है ?

"युग सम घटिकाएँ बार की बीतती हैं,
सखि ! दिवस हमारे हाय ! कैसे कटेंगे ?"

राधे ! तुम्हारे दिवस तो अब कट ही गये हैं, तुम्हारे बार तो अब किसी न किसी प्रकार बीत ही चुके है, किन्तु तुम यह कहना मेरे लिए छोड़ गयी हो !

अब इसे मैं रटती हूँ—

"युग सम घटिकाएँ बार की बीतती हैं,
सजनि ! रजनि मेरी हाय ! कैसे कटेगी ?"

ओह ! इस जड़ प्रकृति की कठोरता का क्या ठिकाना है ? कितनी ही बार मैं इसकी नीरवता को भंग कर उच्च स्वर में पुकार चुकी हूँ—"विरह रजनि मेरी हाय ! कैसे कटेगी।" किन्तु यह शून्य-हृदया कुछ भी उत्तर नहीं देती। इसके अदृश्य उदर में मेरा सब रुदन स्वर विलीन हो जा रहा है। मेरी विरह-ज्वाल में यह दोषा पतंगिनी के सदृश नहीं जल जाती, मेरा अविरल अश्रुपात इस काल भुजंगिनी का विष बहाने में सक्षम नहीं होता। मेरा दीर्घ-रुदन-स्वर भीषण वज्र नाद की तरह इस करालिनी की कठोरता को कँपा नहीं सकता। मेरी प्रत्येक वांछा, प्रत्येक उत्कण्ठा इस अहिनी के मणिस्वरूप चन्द्र की उत्तप्त किरणों को छूते ही एक विषम वेदना बन जाती है। आज मैं सर्व-प्रकार असहाया हूँ।

पार्श्ववर्ती निर्झर का प्रपात !—मेरे हृदय की आग ! किन्तु वह इसे क्यों बुझायेगा ? वह आहुति है। हाय ! ठीक कहा है—

"दिन देख नहीं सकते सविशेष—
किसी जन का सुखभोग कभी ॥"

वेदने ! क्या तू ब्रह्मा से अक्षय वर पा चुकी है ? यदि तू इस निर्झर-प्रपात से प्रसून विद्युत के सदृश मेरी दृष्टि-सन्मुख प्रकट हो जाती तो मेरी अश्रु-जल-धार तुझे बहा देने में अवश्य कृतकार्य हो जाती ! विद्युत एक कठोर दिल की आग है, तू मेरे इस दुर्बल दिल की। विद्युत किसी दो पदार्थों के मेल तथा संघर्षण से उत्पन्न होती है, और मेल की वह्नि किसी प्रकार सही भी जा सकती है, किन्तु तू दुष्टा तो विश्लेष तथा वियोग से पैदा होती है। तू किस प्रकार सहन की जा सकती है ? विद्युत की विभा केवल चक्षुओं को ही चकाचौंध करती है किन्तु तू तो सारे शरीर को दुखदाई है ! तेरी ज्वाला तो सारी देह भस्म कर डालती है।

हाय ! इस पंचशर के पंचशरों की पंचाग्नि सहते-सहते इस पंचभूत शरीर को आज पाँच मास हो गये हैं। कितनी प्रबल पंचाग्नि है। हाय ! क्या इस कठोर तपस्या का परिणाम केवल जल-जलकर भस्म होना होगा ? जब से प्राणनाथ विमुख हुए तब से मेरे लिए सारा संसार ही विमुख हो गया है।

"तडित तरर, त्यों इम्मरद भरर,
घनघोर की घरर, झनकार झिंगुरन की।
पौन की लहक त्यों कदम्ब की महक लागी,
दाहक दहन लै लै सीमा उरगन की।"

हाय ! आज मेरे ऊपर इस वर्षा ऋतु को भी दया नहीं आ रही है। "धूम से धुँवारे कहुँ काजर से कारे ये निपट विकरारे घन" मेरे प्राणों के ग्राहक बन बैठे है। "गरज गरज अह ! तरज तरज" मेरे दिल को सता रहे हैं। "दामिनी दमंकनतें झिल्ली की झमंकनतें दादुर असंकनतें" कलेजा काँप उठता है। "मोरन

को सोर सुनि पिक की पुकार सुनि चातक चकार सुनि" हृदय फट जाता है !

हा जीवनेश ! इस दासी से क्या अपराध हुआ जो आप इसकी सुधि नहीं लेते हैं ? आपने मुझ दीना की कुटी में आना भी छोड़ दिया है। इस सेविका को न भूलो नाथ ! इस पद-परिचारिका का अपराध क्षमा करो।

विजया को इसी प्रकार प्रलाप करते-करते रात्रि बीत गयी। उसे आज चार मास से नींद नहीं आती थी। जब से निमेष अपने हृदय को सुफला के हाथों का खिलौना बना चुके थे, जब से वे अपना 'मानस' 'सरोवर' के तट में खो आये थे, तब से वे विजया के कमरे में एक बार झाँकने भी नहीं गये थे। बिचारी विजया इस बात का कुछ भी कारण नहीं जानती थी। वह इसमें अपना ही अपराध समझती थी। वह दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती थी। उसके देह की सब कान्ति उड़ गयी थी। हाथ-पाँव सूखकर काँटे-से हो गये थे। विजया कई बार अपने स्वामी से क्षमा माँग चुकी थी किन्तु निमेष उसे धत्कार बताते थे। अपने पास तक न फटकने देते थे।

हाय ! आसक्ति भी कैसी बुरी वस्तु है। इसके पाश में फँसकर किसका नाश नहीं हुआ ? इसके राज्य में नीति, न्याय, शान्ति तथा सुख किसे मिला ? किसने अपना सर्वस्व इस राक्षसी के उदर में नहीं डाला ? कुन्दनन्दनी राह-राह भटकी, द्वार-द्वार की भिखारिणी बनी। विलास कुमारी ने अपना सब विलास त्यागकर भस्म रमाया। मालती ने अपना सर्वस्व खोया। यहाँ तक कि अपने प्राण तक इस दुष्ट दैत्यिनी को समर्पण कर दिये। चंचलकुमारी ने राजसिंह तथा औरंगजेब बादशाह के बीच उतना बडा संग्राम खड़ा किया। गुलाब अविवाहिता रही। विहारी ने इस मायाविनी के उद्यान में विहार कर तथा कुंज के कंटक से विद्ध हो करुणा के लिए आजन्म अपना विवाह नहीं किया ! कश्यप के आश्रम में पवित्र-जल-सिक्त कुन्तला शकुन्तला ने इस पिशाचिनी के हाथ पड उतना कष्ट सहा। कहाँ तक कही जाय, इस दुरन्त दानवी की महिमा अपार है ! ईश्वर इसके हाथों किसी का प्राण धन न सौंपें ! यह सब अनर्थों की मूल है।

विजया अपने शोक के वेग में यह भी नहीं जानती थी कि रात बीत गयी है। वह पलँग में सोयी-सोयी करवटें लेती रही। किन्तु कुटिल नियति को यह भी स्वीकार न हुआ। विजया की चचेरी सास विजया के उठने में विलम्ब देखकर द्वार से बाघिनी की तरह गरजी—क्यों री मुँहजली, क्या अब सोयी ही रहेगी ? तेरे करम में सोना ही बदा है, चोट्टी को दस-दस बजे तक सोने में लाज भी नहीं आती। मैं क्या अब चाय बना सकती हूँ ? उठ, निमी को चाय बना के दे। उसके घूमने का समय आ गया है।

विजया चटपट पलँग से उठकर खडी हो गयी। वह लज्जा के मारे मर गयी। उसे अपने ऊपर अत्यन्त घृणा हुई। वह शीघ्रता से स्नानादि कर चाय बना के निमेष के कमरे में गयी। उसने आज अपने मन में दृढ संकल्प कर लिया था कि एक बार अपने स्वामी से और क्षमा के लिए प्रार्थना करूँगी। उसने चाय का प्याला मेज पर रख दिया, और वह साहस के साथ एक कोने में खडी हो गयी। उसने चाय पीने के पूर्व कुछ कहना उचित न समझा। जब निमेष ने

चाय का प्याला मेज़ पर रख दिया, विजया तब बोलने का अवसर ढूंढ़ने लगी। पर उसका मुख लाज तथा भय के मारे नहीं खुला। उसने कई बार साहस किया कि मुँह खोलूँ किन्तु उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकल सका। होंठ पत्तों की तरह खड़खड़ाने लगे।

अन्त में विजया सर्व भाँति पराजिता हो निमेष के चरणों में पड़कर बड़े कष्ट से रोते-रोते कहने लगी—

नाथ, इस दासी को क्षमा करो। इसे न घिनाओ। यह आपके सिवाय और किसी की होकर नही रह सकती। इसका दूसरा इस संसार में और कोई नहीं है। यह अन्य को नही जानती। नाथ! इसे न भुलाओ। आज चार मास हो गये आपने इस दासी के कमरे को अपने पादारविन्दों से पवित्र नहीं किया। एक बार प्रसन्न मुख से इससे बोले भी नहीं। इससे दो बातें भी नहीं कीं। प्राण! इस दासी से ऐसा कौन अपराध हुआ जिससे आपको इतना कष्ट दिया? यह दासी अभी तक उस अपराध से अपरिचिता क्यों रक्खी गयी? क्षमा करो नाथ! इसे क्षमा करो। यह भिखारिणी आपसे भिक्षा माँगती है। इसे विमुख न करो।

विजया के इस रुदन को सुनकर प्रस्तर भी रो उठते। कुलिश भी शीतल हो जाता। मणि भी द्रवित हो जाती! किन्तु निमेष का हृदय नहीं पिघला। वे मानो हृदयहीन थे। उन्हें विजया की कातरता से कुछ भी असर नहीं हुआ। उस निर्दोषा पर लेश भी दया नहीं आयी। उन्होंने झटका देकर अपने पाँव छुड़ा लिये और झल्लाकर बोले—जाओ, मुझे व्यर्थ तंग न करो। मेरा स्वास्थ्य आज-कल ठीक नहीं है। अपना काम करो।

विजया छिन्न-मूल लतिका की तरह फिर उनके पाँवों में पड़कर रोने लगी। उसने आज निमेष के चरण अपने अश्रुओं से 'फिर' धो डाले। किन्तु हाय! उसे प्रेम-पुरस्कार कुछ भी न मिला। विजया गिड़गिड़ाकर कहने लगी—नाथ, आपकी आज्ञा उल्लंघन करने का साहस इस दासी को नहीं है। किन्तु जीवनेश! आपकी अस्वस्थता में आपकी सेवा से अधिक आवश्यक कार्य इस दासी का और क्या हो सकता है? इस सेविका से अपनी बीमारी का हाल क्यों नहीं कहते? इसका जन्म ही किसलिए है? यह पद-परिचारिका आपकी सेवा करेगी। नाथ! स्त्रियों के लिए पति-सेवा से अधिक बढ़कर और सुख ही क्या है? उनका यही धर्म है। इससे बढ़कर उनके लिए और कोई काम नहीं हो सकता।

निमेष—मैं कह चुका हूँ, जाओ, अपना काम करो। तुम मुझे धर्म का उप-देश देने नहीं आयी हो। मेरी आज्ञा पालन करना ही तुम्हारा धर्म है। तुम मेरी कुछ सेवा नहीं कर सकती।

विजया—किन्तु नाथ! स्वामी की अस्वस्थता में उनकी सेवा न करना क्या पाप नहीं है? आप कुछ बतलायें भी तो, ऐसी आपको कौन-सी बीमारी है जिसमें यह दासी आपकी सेवा नहीं कर सकती? इस दासी की धृष्टता क्षमा करें, यह आपका विश्लेष अधिक नहीं सह सकती। आप इसे अपने चरणों से न हटावें। वह स्थान आप इसे पहिले दे चुके है। स्त्री-जाति का पति के सिवा

संसार में अन्य नहीं है । वह अपने पति का मलीन मुख नहीं देख सकती । पति का प्रफुल्लित मुख ही उसके सब सुखों का सार है । पति के ही सुख में उसका सुख है । उसके ही दुःख से वह भी दुखी है ।

निमेष—मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि तुम मेरे योग्य नहीं हो । मैं सती का धर्म तुमसे अधिक समझ सकता हूँ । पति की आज्ञा उल्लंघन कर चिड़चिड़ाना स्त्री का धर्म नहीं है । वेश्याओं की तरह पति से लड़ना सती का धर्म नहीं है ।

विजया के शिर में मानो अनभ्र वज्रपात हुआ । उसके तले से धरती खिसक गयी । उसके प्रेम का आकाश फट गया । उसके सुख-सूर्य को केतु ने ग्रस लिया । वह निराधारा वेलि की तरह निमेष के चरणों में गिर पड़ी । बिचारी का दारुण दुख कुछ काल के लिए विस्मृति के गहन गर्भ में विलीन हो गया । विजया मृत्यु की सहचरी मूर्छा की विरामदा गोद में सो गयी ।

किन्तु उसके भाग्य मे यह सुख कहाँ था ? वह कुछ काल के बाद फिर उठ गयी । उसकी मूर्छा भंग हो गयी । उसकी आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं । मानो सती सीता ने काली जी का रूप धारण कर रक्खा हो । विजया का शरीर काँप रहा था । उसने इधर-उधर देखा किन्तु निमेष को न पाया । वे घूमने को चले गये थे । विजया आवेग के वश फिर मूर्छित हो गयी । एक तो बिचारी विषम वियोग से दुखी थी, द्वितीय निद्रा न आने से दुर्बला हो गयी थी, तिस पर यह अघोर लांछन वह न सह सकी ।

"ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, ता पर बीछी मार ।
ताहि पिलाई वारुणी, कहहु कौन उपचार ?"

जब विजया को चेत हुआ तो वह अपने क्रोध को न रोक सकी । वह यह नारकी लांछन, यह कठोर कलंक न सह सकी । उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहा । समय-असमय का विचार न रहा । उसके होंठ काँपने लगे । वह अत्यन्त आवेग के साथ कहने लगी—हाय ! मुझे वेश्या बतलाने में तुम्हारी जीभ कट न गयी ! मेरे लिए ऐसा अघोर शब्द प्रयोग करने में तुम्हारा मुंह बन्द नहीं हो गया ! मेरे लिए ऐसा कठोर व्यवहार करने में तुम्हारा हृदय फट न गया ! तुम सती धर्म को जाननेवाले बने और मैं वेश्या ? तुम मुझे उपदेश दोगे ? मैं कुछ नहीं हूँ तो स्त्री अवश्य ही हूँ, इसमें ब्रह्मा भी दूसरी जबान नहीं कर सकता । मैं अपने धर्म को—स्त्री के धर्म को, सती के कर्तव्य को अच्छी प्रकार जानती हूँ । तुम इसे बतलानेवाले कोई नही हो ! तुम इसे नहीं जान सकते । तुमसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं । तुम इसके साधन में निमित्त-मात्र हो । मैं तुम्हें नहीं पूजती, तुममें सती-धर्म को पूजती हूँ । मैं तुम्हारे योग्य न सही, किन्तु मैं अपने धर्म में सच्ची हूँ ! अग्नि-शिखा-सी पावन हूँ । मैं अपने धर्म पालन करने के लिए पूरी-पूरी उपयुक्त हूँ ।

विजया का क्रोध बकते-बकते कम हो गया । उसका ज्ञान लौट आया । सुधि ने उसके हृदय में फिर पदार्पण कर लिया, सत-असत के विवेक ने उसका अंचल पकड़ लिया । विजया मानो सोते से जगी । वह डर से ठिठुर गयी । उसका कलेवर

कदम्ब का-सा कुसुम हो गया। वह बार-बार ईश्वर से क्षमा-प्रार्थना करने लगी। अपने कहे पर अत्यन्त पछताने लगी। उसकी आँखों में आँसू न रुक सके। वह फूट-फूटकर रोने लगी। बार-बार अपने पतिदेव का स्मरण करने लगी। वह मन ही मन सोचने लगी—हाय ! मैंने यह क्या किया ? मेरी जीभ अपने पति के लिए ऐसे कठोर वचन निकालने में शतधा क्यों न हो गयी ! मेरे शरीर में त्रिशूल क्यों नहीं चुभे ! मेरा पाषाण का हृदय चूर-चूर क्यों नहीं हो गया ! धर्म क्यों नहीं रो उठा ! हाय ! हाय ! मैंने घोर पाप किया। मेरे लिए नरक मे भी स्थान नही रहा ! मैंने अपने स्वामी की अशुभ चिन्तना की। उनका तिरस्कार किया। अपने शुभ-सतीत्व पर कालिमा की कुच्ची फेरी। अपने धर्म की हत्या की। हाय ! इस घोर पाप का प्रायश्चित्त क्या हो सकता है ? इसके सामने सहस्र गोदान भी कम हैं। ढेरों रत्न लुटा देना भी कुछ नहीं है। शत-लक्ष वर्तिका व्रत भी कम है। यह अघोर अघ है ! अक्षम है ! इसका मार्जन नही हो सकता। हाय ! आज स्वर्ग में सतियाँ रो रही होंगी। पुण्य चेतना-रहित हो गया होगा। शुभकर्म दुःख से व्याकुल हो रहे होंगे। कर्तव्य काँप रहा होगा !

भगवन् ! मुझ अबोध बाला का अपराध क्षमा करो। मैं तब अपनी चेतना में नहीं थी। भले-बुरे का ज्ञान मेरा साथ छोडकर चला गया था। स्मृति ने मेरी ओर आँखें मूँद ली थीं। सुधि ने मेरी सुधि नही ली थी। मैं तब अज्ञानावस्था में थी। नाथ ! मुझे क्षमा करो। हाय ! इसका दण्ड मृत्यु से भी कठिन है। हे विधि ! तू मेरे लिए एक नया दण्डविधान कर दे जिससे कि मेरे माथे से यह कलंक का टीका हट जाये !

अहा ! दण्ड भी कैसी सुन्दर वस्तु है ! कितना दिव्य द्रव्य है ! कितना पवित्र तथा निर्मल है ! इस-सा निरपेक्ष संसार में कौन है ? इस-सा पवित्र करने-वाला अन्य कौन है ? हे दण्ड ! तुम धन्य हो। तुम स्वयं ईश्वर की शास्ति हो। हाय ! मैं तुम्हारा व्यर्थ भय करती थी, तुमसे वृथा डरती थी। तुम-सा शिक्षक ईश्वर की सृष्टि में कोई नहीं है। तुम-सा सर्वव्यापी, हितैषी, अभयदान देनेवाला, तथा तुम-सा सद्गुरु अन्य कोई नहीं है। हे निठुर ! आज मेरे इस अपराध को मार्जन करो। मेरे कलंक को मिटाओ !

विजया इसी प्रकार अनुताप के अश्रुओं से अपना कलंकित वक्ष धो रही थी। उसकी चचेरी सास उसे ढूँढती हुई आ पहुँची। उसने फिर अपनी काली की-सी हुंकार छोड़ी—क्यों री नकटी, तुझे बार-बार कहने पर भी लाज नहीं आती ? लाज खो आयी है लुच्ची ! अभी तक सोयी-सोयी खुर्राटें भर रही थी। अब उठी तो यहाँ बैठी है। चाय बना के दे आ कहा तो मेरे ललुये को न जाने क्या-क्या खरी-खोटी सुनायी। वह बिचारा तमतमाता हुआ चला गया। मैंने उसका मुख जाती समय देख लिया था मुँहझौंसी ! मैं तुझे जानती थोड़ी नहीं हूँ ! आज-कल मेरा ललुआ न किसी से बोलता है, न चालता है, न खाता है, न पीता ही है, न जाने चोट्टी उसे क्या-क्या सुनाती है ! कहती होगी मेरे लिए चन्द्रहार बनाओ, ऐसा लाओ, वैसा लाओ। वह बिचारा कहाँ से लावे ! उसकी तलब तो तुझी डायिन का पेट भरने को चाहिए। आजकल छुट्टियों में घर आ

रहा है। चोट्टी उसे सुख से नहीं रहने देती। जा, उठ, दाल-चावल सुधार। काम करने के लिए कोई तेरी अम्मा थोड़ी आयी है जो तू बैठ-बैठ के खाये! मेरे घर में बहू नहीं चाण्डालिन आयी है।

विजया कुछ न बोली। करुणा रोने लगी। वह मानो विजया से कहने लगी—देवि, तू धन्य है, तेरी सहनशीलता को धन्य है। तू सती है।

विजया की सास चली गयी। विजया भी अत्यन्त लज्जित होकर अपने काम को चली गयी। आज उसकी आँखों के आगे अन्धकार छा रहा था। उसके स्वामी ने वह अपने अयोग्य बतला दी थी। स्त्री के लिए इससे अधिक दुख और क्या हो सकता है? विजया को यह बात रह-रह के याद आ जाती थी। उसका कलेजा शोक से जर्जर हो रहा था। उसका तरुण मुख-कमल मुरझा गया था। वह मन ही मन कहने लगी—हाय! आज मैंने उठते ही किसका मुँह देखा!

विजया अन्नागार में जाकर चावल सुधार रही थी। उसके आँखों से अविरल अश्रुधार बह रही थी। उसकी सास बापी में नहाने को चली गयी थी। इतने ही में बाहर से आवाज आयी—दिद्दी! विजया ने सुफला की सरस आवाज पहिचान ली। उसने आवाज दी—आओ बहिन, मैं अन्नागार में हूँ।

सुफला अन्नागार में आ पहुँची। विजया उसे पाकर बडी प्रसन्न हुई। उसका दुःख कुछ घट गया। सुफला उसकी बडी प्यारी सखी थी। यद्यपि वह वय में विजया से बहुत छोटी थी तथापि वह गुण तथा बुद्धि-बल में उससे कम नहीं थी। सुफला आते ही अपनी सखी से कातर स्वर में पूछने लगी—क्यों बहिन, तेरा अंचल आज भीगा क्यों है? मैं देखती हूँ कि आजकल तू दिन पर दिन कृश तथा दुर्बल होती जाती है। तुझे ऐसा क्या दुःख है? मैं कितने ही दिनों से सोचती थी कि तुझसे तेरी क्षीणता का कारण पूछूँ, किन्तु उचित अवसर न मिलने से आज तक नहीं पूछ सकी। सखी, तेरे हाथ-पाँव सूख-से गये हैं। मुख का रंग उड़ गया है। हाय! तुझे यह क्या हो गया?

विजया—बहिन, मेरे दुःख को क्यों पूछती है। मुझे ऐसा कोई दुःख नहीं है। जब अपना ही भाग खोटा है तो दुःख करके क्या होता है?

सुफला—दुःख तो संसार में लगा ही है। यहाँ सुखी कौन है? हम समझते हैं कि राजाओं को दुःख नहीं होता। किन्तु सारी प्रजा का भार उन्हीं के शिर पर रहता है। रिआया दुःखी हुई तो उन्हें और भी दुःख होता है। सखी, संसार [illegible] ऐसा है, जो संसार में आता है उसे समझ लेना चाहिए कि दुःख [illegible] के लिए मेरा जन्म हुआ है। 'सुखाद्बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः।' मनुष्य को कटि परिकर होके सर्व दुःखों का सामना करना चाहिए। किन्तु दिदी, अपनों से कहके दुःख कम होता है।

विजया—बहिन, तुझसे अपना दुःख क्या छिपाऊँ? तुझ-सी सखी का मिलना मेरे किसी भारी पुण्य का ही फल होगा। सुन सखी, स्त्रियों के लिए पति से वियुक्त रहने से बढ़कर और क्या दुःख हो सकता है? तिस पर भी यदि पति रुष्ट होकर अपनी स्त्री से न बोले तो स्त्री इस आपत्ति को कैसे ठेल सकती है? स्वामी ही सती का सर्वस्व है। जब पति ने ही त्याग दिया हो तब स्त्री का रहा

ही कौन ? वह किस आशा से बच सकती है ?

तुझे इस बात का अनुभव नहीं है बहिन, तू मेरे दुःख को नहीं समझ सकती। मेरे हृदय की शत-शत वृश्चिका-दंशन की-सी पीड़ा तू नहीं जान सकती। मेरे शरीर में खर-त्रिशूलों के आघात की वेदना तू नहीं अनुभव कर सकती। हाय ! किसी का क्या दोष ?

सुफला—तेरा कहना सत्य है दिद्दी, मैं यहाँ पर अनुभव-शून्या अवश्य हूँ। किन्तु इस वेदना को अच्छी प्रकार समझ सकती हूँ। मेरे शरीर में यह पीड़ा न हो तो न सही किन्तु मेरा हृदय इसको अच्छी तरह अनुभव कर सकता है। जब कसाई हत्या करता है, खड्ग उठाकर निर्बल पशु पर वार करता है तो दर्शक का कलेजा क्यों काँप उठता है ? जब कोई रोता है तो सुननेवाले का हृदय क्यों पिघल जाता है ? उसके हृदय में क्रन्दन करनेवाले का करुण स्वर आघात क्यों पहुँचाता है ? उसके चित्त में चोट क्यों लगने लगती है ? मन में मर्म-भरी वेदना क्यों होती है। सखी, जीव की व्यथा जीव भली भाँति जानता है ! हृदय की भाषा हृदय पहिचान लेता है, हम उसे नहीं सुन पाते। तू कहेगी फिर एक मनुष्य दूसरे पर अत्याचार क्यों करता है ? दूसरे को सताने में सुखी क्यों होता है ? तो इसका कारण यह नहीं कि उस अत्याचारी मनुष्य को परवेदना अनुभव न होती हो। प्रत्युत उस मनुष्य में एक राक्षसी शक्ति होती है, एक तामसी तृषा रहती है, उसके हृदय में एक कुटिल विष की अग्नि रहती है, द्वेष की ज्वाला होती है जो कि प्रबल हो जाने पर यह अत्याचार कराती है, जो कि परपीड़न से शान्त होती है। यदि मनुष्य दूसरे के दुःख से दुःखी होना सीख जाते तो संसार सुखागार हो जाता। यहाँ दुःख न रहता। बहिन, मैं तेरे कष्ट को खूब समझ सकती हूँ। जिसके हृदय मे करुणा नहीं हो, जिसका चित्त चीते के चमड़े का बना हो, जो कल्पना-शून्य हो, जो किसी के रोने में न रोता हो, जिसकी सूखी आँखों से कभी आँसू न आते हों, वही दूसरे के दुःख को नहीं जान सकता। किन्तु उसे जीव नहीं कहते, पाषाण-प्रतिमा कहते हैं।

मैंने कल आशा के मुख से सुन लिया था कि आजकल जीजाजी तेरे लिए रुष्ट हैं, किन्तु इसमें तेरा क्या दोष बहिन, वे ही वैसे हैं। तुझ जैसी लक्ष्मी को दुःख देते हैं।

विजया—नहीं बहिन, ऐसा न कहो ! मैं उनकी बुराई नही सुन सकती। उनका इसमें कुछ दोष नहीं, मेरा ही भाग फूटा है। मैं ही नियति के कर से वंचिता हूँ। मैं ही अपराधिनी हूँ बहिन, मैं ही दोषी हूँ। हाय ! यदि हम पति का मनोरंजन ही न कर सकीं तो हमारा स्त्री जाति में होना वृथा है। तब हमारा जीवन ही किस काम का रहा ? हमारा होना न हो—

विजया अधिक न बोल सकी। वह अपने अंचल में मुंह छिपाकर रोने लगी। उसके आँसू रुकने पर भी न रुके। शोक की बाढ़ से साहस तथा धैर्य के उभय-तट टूट गये ! दुःख का सलिल आँखों से छलछलाकर बहने लगा। विजया अपने को न सँभाल सकी। उसकी यह दशा देखकर सुफला को अत्यन्त दुःख हुआ। वह भी अपनी सखी के अंचल में मुंह छिपाकर रोने लगी। रोते-रोते

दोनों के दुःख का वेग कुछ कम हो गया। शोक की बाढ़ का जल नयन-नहरों से बह निकला। पीडा का प्रवाह कम हो गया। सुफला अपनी सखी से बोली—सखी, तुम अपने जीवन से इतनी निराश क्यों होती हो! दुःख-सुख अनित्य हैं। संसार में किसी का समय सदा एक-सा नहीं रहता।

"है निशि-दिवा-सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा।"

तुम्हारी यह विपत्ति शीघ्र ही नष्ट हो जावेगी। तुम्हारे सुख के दिन द्रुत लौट आवेंगे—

"कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥"

धीरज धरो बहिन, तुझ-जैसी सती के पास दुःख कहाँ फटक सकता है। विपत्ति में धैर्य रखना ही मनुष्य का कर्तव्य है। दुःख का समय परीक्षा काल है! ईश्वर अपने लाड़िलों को सदा कष्ट ही देता है। ईश्वर को कष्ट ही प्यारा है। सती-शिरोमणि सीताजी को भी अपने स्वामी से वंचिता हो दानवपति रावण की लंका में रहना पड़ा। ईश्वर अपने प्रेमियों को कष्ट-सहिष्णु बनाता है। उन्हें अनुभवी करता है। उन्हें सिखलाता है कि दुःख को किस प्रकार पराजित करते हैं। विपत्ति में भी अपना कर्त्तव्य किस प्रकार पालना चाहिए। संकट में भी धर्म की रक्षा किस भाँति होनी चाहिए।

अहा! सखी, दुःख भी कैसा सच्चा सुहृद् है! हम इसे वृथा घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इस-सा शुद्ध परीक्षक और कोई नहीं है। इस-सा सहिष्णुता सिखलाने वाला और कोई नहीं है। अगर यह नहीं होता तो मनुष्य कोई भी काम नहीं करता। दया, क्षमा, उदारता आदि सात्विक गुण सभी इसी दुःख से जीवित हैं। यदि दुःख नहीं होता तो मनुष्य अपने को इन गुणों से अलंकृत करने का कष्ट भी नहीं उठाता। उसे अपने स्वार्थ के लिए ही इन गुणों से अपने को विभूषित करना पड़ता है। वह सोचता है कि कभी मुझ पर भी विपत्ति पड़ जावेगी तो अन्य भी मेरी सहायता इसी प्रकार करेगा। मेरे ऊपर दया करेगा। मेरे अपराधों को क्षमा करेगा। दुःख ही से वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है। "नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते।" यही मनुष्य को सतर्क रखता है। नहीं तो मनुष्य आलसी बनकर अपने भोग-विलास ही में लिप्त रहता। यह संसार कभी डूब जाता। दुःख ही कच्छप-रूप बन इसे डूबने से बचाता है। कच्छप-सा कठोर बन मनुष्यों को अपना धर्म पालन करने के लिए बाध्य करता है। दुख ही से सारे प्रयत्न प्रसूत होते हैं। इसके बिना मनुष्य निश्चेष्ट हो जाता। अहा! दुःख ही सत्य है! सुख नहीं। इस क्षणिक सुख में मनुष्य दूसरे की ओर तक नहीं देखता। अपने ही विभव-विलास-भवनों में सड़कर अपना सत्यानाश करता है। सुख कितना ही हो किन्तु तृप्ति नहीं होती। सदा अधिकाधिक का लालच बना ही रहता है। अतः दुःख ही तृप्तिकारक है! यह सुख भारी छल है! गहन प्रवंचना है!

हाय! सखी, संसार भी कैसा विचित्र है! इसमें दुःख का अपमान होता है, और क्षणिक सुख का सम्मान! सत्य का निरादर, असत्य का आदर! संसार

में सत्य सदा वक्र दृष्टि से देखा जाता है। सच्चे मनुष्य को अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। उसके निष्कपट व्यवहार से कोई सन्तुष्ट नही रहता! सच्चा व्यवहार सदा तीखा लगता है। जो "पेट कपटी मुख मीठे" होते हैं, जो "विषकुंभं पयोमुखम्" होते है, जो "विषरस भरे कनक घट" होते हैं, इस कपटी संसार में उन्ही की चलती है! उन्हीं के गले में दिखलावटी विजय-हार पड़ता है। वे ही सबके प्यारे होते हैं। सच्चे मनुष्यों का इस "माया कानन" में ठिकाना नहीं! उन्हें कोई भी नहीं पूछता!

धन्य मा! तेरी कैसी विचित्र सृष्टि है। कपट, छल, मोह, मद, द्रोह, क्रोध काम, झूठ आदि को तूने अत्यन्त सुन्दर रूप दिया! उन्हें देखते ही मनुष्य इनके ऊपर मोहित हो जाता है। इनको तूने अमित आकर्षण शक्ति प्रदान की!

सुखद सुरभि दी जिनको तूने सखि! जिनको छवि दी सुन्दर,
मैं उनके ढिग गयी व्यग्र हो तुझे ढूंढने को सत्वर।
भ्रवरी बन उनके ढिग मैंने गाये तेरे गुण गुरुतर—
अह! मैंने अपने को तुझसे अधिक दूर सखि, पाया पर!

तूने इन सबके अदृश्य 'निर्गुण' जाल में मनुष्य को डालकर उसे क्षमा, दया, शौच, उदारता, संयम, सत्प्रेम, सत्य, धर्मादि-से अमूल्य रत्न रक्षा करने को दिये! और उन रत्नों को मणियों-सा कठोर, अमूख-सा अनाकर्षणीय, तथा कर्तव्यपालन-सा कुरूप बनाया। तेरी महिमा अनन्त है। तेरी परीक्षा अत्यन्त कठिन है। तूने सत्य को कठोर किन्तु असत्य को कोमल बनाया! सद्गुणों को कुरूप तथा निराकर्षणीय दुर्गुणों को 'खूबसूरत' और महाकर्षक बनाया। 'कठोर प्रस्तर अपने हृदय मे स्थान देता है, किन्तु द्रवित सलिल पाँव रखते ही डुबा देता है।' तूने भले-बुरे की पहिचान बडी कठिन रखी!

दिद्दी, संसार ऐसा विचित्र है! किन्तु तेरा कोई बाल भी बाँका नही कर सकता! तेरा धर्म पावक-सा उज्ज्वल तथा पवित्र है! तेरा शृंगार सत्य-सा अटल है! अब जीजाजी का क्रोध शीघ्र शान्त हो जायगा। वे तुम्हें अवश्य क्षमा करेंगे।

रसोई बनाने का समय आ गया था। कमला का दुःख भी सुफला की बातों को सुनकर कम हो गया। वह रसोई बनाने को चली गयी। सुफला भी अपने घर को चली गयी।

संसार में मित्रता भी एक दुर्लभ द्रव्य है। समवेदना भी अपूर्व शक्तिमती है। धैर्य भी एक अनुपम अलंकार है। दुःख भी एक परीक्षक है!

पंचम पुष्प

शरद-शशि

सायंकाल का सुहावना समय है; शरद ऋतु का आकाश अत्यन्त निर्मल हो रहा है। आराम में अस्तासन्न रवि-किरणों ने कनक-जाल-सा डाल रखा है। न

जाने भास्कर भगवान आज किसे फँसाने को यह जाल डाले हुए हैं। आराम की "अरुणिमा विनिमज्जित" वृक्ष-राशि में बैठा विहग-वृन्द गेरुए पट पहने ब्रह्मचारियों के दल की तरह श्री दुर्गादेवीजी के गुण गा रहा है। आराम का निर्मल सुरभि-सिंचित अनिल अपने मृदु कर-तलों से ताली बजाता हुआ इधर-उधर घूम रहा है।

तरलंग आजकल जल से लबालब भरा है। उसके कूल में खिला कमल दल एकाग्र दृष्टि से अस्तासन्न रवि को देख रहा है। भविष्य भी एक शिलोपरि बैठे एकटक एक ओर को देख रहे हैं। उन्हें यह सायंकालीन शोभा कुछ भी आनन्द नहीं दे रही है। सच है, "विपदि हन्त सुधापि विषायते!" उन्हें आशा के विरह ने विकल कर रखा है। वे मन-ही-मन प्रलाप कर रहे हैं—आज आशा को देखे एक मास हो गया है। वह आजकल अपनी सखी के साथ नौका-विहार करने भी नहीं आती है। हाय! एक ही वर्ष बीता है कि मैं और वह पहिले से इन दिनों में सदा नौका-रोहण कर शरद ज्योत्स्ना में तरलंग की अपूर्व शोभा देखते थे। मैं चन्द्र-कमल तोड़कर आशा के जूड़े में बाँध देता था। उसकी फणि उठायी नागिन-सी वेणी में वह कमल मणि-सा अत्यन्त सुन्दर दिखलायी देता था। पर अब वे दिन स्वप्नवत हो गये हैं! हा! संसार में किसी के दिन सदा एक से नहीं रहते है!

"जिन दिन देखे वे कुसुम बीती चली बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार॥"

जिस दिन से आशा ने मेरे मानस में विहार करना आरम्भ किया, जिस दिन से मैंने उसके जूड़े में अपना प्रणय-पद्म गूँथ दिया, उस दिवस से वह तरलंग-सरोवर में घूमने नहीं आती है। जिस दिन से वह मेरे अनुराग की नाव में बैठी उस दिन से उसने नौकारोहण करना छोड़ दिया है।

आशु! क्या तुम भी मुझे इतना ही प्यार करती हो? क्या तुम भी मेरे लिए इतनी ही उत्कण्ठिता रहती हो? क्या तुम भी मुझे अपने प्रणय के सूत्र में गूँथ चुकी हो? अपना हृदय मेरे ऊपर न्यौछावर कर चुकी हो? प्रिये! क्या तुम भी मेरा ध्यान करती हो? क्या तुम्हें भी मेरी स्मृति चंचल कर डालती है, मेरी याद उत्कण्ठा के पाश मे बाँध देती है? क्या तुम्हारे दृग-सन्मुख भी स्वर्णमय भविष्य मुसकाता है? वह भविष्य—जिसमें सुरभे कमल खिल उठते हैं, अलि मधुर वीणा बजाते हैं, विहग सुन्दर गाने लगते हैं, कोक शोकमुक्त हो जाते हैं, पथ भूले दृग मार्ग पकड़ लेते हैं, तम का मुख उज्ज्वल हो जाता है, संसार आलोकित हो उठता है, आशा मन्द मन्द मुसकाती है, भविष्य उसका मुख चूमता है और सुख निर्निमेष उनकी ओर देखता है?

कहते हैं कि प्रेम परस्पर होता है। प्रेयसि, यह क्या सत्य है? क्या तुम भी मुझे चाहती हो? मेरे हृदय की उत्सुकता से अभिज्ञ हो? मेरे प्रेम से परिचिता हो?

अहा! एक दिन जब हम ऐसे ही समय तरलंग में नौका-विहार कर रहे थे तब तुमसे सुफला ने पूछा था कि तुम किसे बरोगी? प्रिये! तुम नहीं समझी

थी। तब तुम्हारी सखी ने तुम्हें समझाया था कि तुम किसके साथ विवाह करोगी ? किसके गले में हार डालोगी ? प्राण, तब तुमने अपनी पतली अँगुली मेरी ओर उठायी थी। तुम पीछे सकुचाई थी कि कहीं मैंने तुम्हारा यह संकेत न देख लिया हो। पर यह बहुत वर्षों की बात है, तुम्हें इसकी स्मृति नहीं होगी।

हाय ! अब तुम उसी प्रकार आकर निर्भय मेरे पास क्यों नहीं बैठती ? मुझसे अपने लिए हार क्यों नहीं गुँथवाती ? अब तो मैं उन दिनों से अच्छा हार बनाने लग गया हूँ। "मेरी साडी काँटों में उलझ गयी है"—कहकर अब तुम मुझे क्यों नहीं पुकारती ? जब कभी तुम्हारा जूड़ा खुल जाता था तो मैं उसे फिर बाँध देता था। प्रिये, अब मैं बहुत अच्छा जूड़ा बाँध सकता हूँ—अब तुम मेरे पास क्यों नही आती ? क्या तुम मुझे अब प्यार नहीं करती ? नहीं, सचमुच नहीं करती हो। नही तो तुम मेरे पास क्या नहीं आती ? ठीक है, मुझमें ऐसा कौन-सा गुण है जो तुम्हें बाँध सके ! तुम्हें मुझसे अच्छे जूड़े बाँधनेवाले मिल सकते हैं, मुझसे अच्छे साड़ी सुलझानेवाले मिल सकते हैं; किन्तु मुझे—मुझे तुम-सा मन बाँधनेवाला कोई नहीं मिल सकता। तुम-सा ग्रन्थि सुलझानेवाला कोई नहीं प्राप्त हो सकता।

प्रियतमे ! तुम्हें मुझ-सा सुमन-शृंगार करनेवाले अनेको मिल सकते हैं, तुम्हारे लिए मुझसे खेलनेवालों का भी अभाव नहीं है। किन्तु सुमुखि ! मेरे लिए तुम्हारी जैसी सुमना का पाना कठिन है ! तुम जैसी खिलौने की प्राप्ति असम्भव है।

पर हाय ! तुम मेरी चिन्ता क्यों करोगी ? मुझमें क्या है ? "नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहि विकास !" न गुण, न रूप, न विद्या-बल ! किन्तु मैं तुम्हारी उस मादक छवि को नहीं भूल सकता ! तुम्हारी "वह चितौनि और कछू" नही भूल सकता ! तुम्हारी "दीप-शिखा सी देह" के लिए मेरा मन-पतंग सदा भटकता रहता है। मै तुम्हारे चन्द्रानन को अपने हृदय से नही हटा सकता ! जब-जब वायु के झोंकों से तरलंग का जल अधिक चपल हो उठता है तब-तब मै अपने चारों ओर देखता हूँ कि कही से मेरी चन्द्रानना तो नही आ रही है। मैं दिन में भी चाँद ढूंढता हूँ, किन्तु तुम कभी नही आती हो !

हाय ! क्या मेरी आशा निराशा मात्र है ? क्या मैं अभी तक विधि-विधान के मरु में व्यर्थ भटक रहा हूँ ? क्या मैं मृग-मरीचिका के लिए उत्कण्ठित हो रहा हूँ ? क्या मेरी आशा कल्पित है ? नही, ऐसा नही हो सकता।

"जाको जापर सत्य सनेह, सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू।"

मेरे हृदय की आशा-कलि अवश्य फूटेगी ! मेरा चाहा धन मुझे अवश्य प्राप्त होगा। वह छवि के बन की रसाल-रूप-मंजरी मेरी अवश्य कहलावेगी।

मै दिन-दिन विह्वल होता जाता हूँ, किन्तु मुझे उस विह्वलता के बीच अपनी प्रियतमा की मूर्ति मिलती है। प्रस्थर के भीतर जल छिपा मिलता है। मिट्टी के मन्दिर में अनन्त-शक्तिमती की प्रतिमा स्थापित दृष्टिगत होती है। "श्याम घन-मण्डल में दामिनी की धारा" दिखलायी देती है। किन्तु हाय ! यह आशंका फिर भी साथ नही छोड़ती है।

प्रेम, क्या तुम्हारी लीला इतनी विचित्र है ? क्या तुम्हारे यहाँ दुःख ही दुःख मिलता है ? क्या तुम जान-बूझकर किसी को लुटाने ही में आनन्दित होते हो ? क्या तुम्हें अचल को चंचल करने में ही सुख मिलता है ? क्या तुम दोनों को लड़ाना ही अपना कर्तव्य समझते हो ? किन्तु तिस पर भी तुम सबके आराध्य क्यों हो गये हो ? तुम्हारे यहाँ दु:ख ही में सुख क्यों मिलता है ? लुटने ही से जुटाव क्यों होता है ? चंचलता ही में शान्ति क्यों मिलती है ? लड़ने ही से मेल क्यों अधिक होता है ?

"दृग उरझत टूटत कुटम जुरत चतुर-चित प्रीति,
गाँठ परत दुरजन हिए दई ! नयी यह रीति !"

प्रेम ! तुम्हारी रीति इतनी न्यारी क्यों है ?

"कानन चारी नैन मृग नागर-नरन शिकार"—

तुम्हारे यहाँ यह कैसा आखेट खेला जाता है ? हे शक्तिमन् ! तुम दुर्बलों पर ही अपना वार क्यों करते हो ? क्या तुम मेरी प्रेयसी के भ्रू-भंगों से भय खाते हो ? उन निर्गुण धनुषों के बाणो से डरते हो ? जो तुम "यतस्तन्नेत्र संचार सूचितेषु प्रवर्तते ।" जाओ, प्रेम, एक बार अपने कुसुम शर से मेरी प्रियतमा का हृदय भी छिन्न कर आओ ! यदि तुम उसके "उपलेन चेतः" से भय खाते हो तो एक बार अपनी मधुर मुरली बजाकर उसके मृग-दृगों को इधर फेर दो। प्रेम, मेरा इतना उपकार कर दो ।

"पीड़ा खो के प्रणत-जन की पुण्य होता बड़ा है ।"

भविष्य इसी प्रकार विचार-मग्न थे । इसी समय निमेष भी मन बहलाने के लिए यहाँ आ पहुँचे । भविष्य निमेष की आन्तरिक दशा से परिचित न थे। वे अपने मन के भाव छिपाकर निमेष से परिहास करने लगे। किन्तु निमेष उनकी दशा को भली-भाँति जानते थे । वे भविष्य से पूछने लगे—क्यों, आज उदास से क्यों हो रहे हो ?

भविष्य—दद्दा, उदासी कुछ नहीं है । शिर-पीड़ा हो रही है इसी से मुख मलीन हो रहा है ।

निमेष—हाँ, 'शर-पीड़ा' अवश्य सताती है ।

भविष्य के सुनने में निमेष का व्यंग भरा 'शर' नहीं आया । वे निमेष की अधिक छेड़छाड़ से बचने के लिए उनसे गाना सुनाने के लिए अनुरोध करने लगे। निमेष संगीत-शास्त्र में बड़े निपुण थे । उनका स्वर भी बड़ा मधुर था, किन्तु अब वे और दिनों के से निमेष नहीं रह गये थे । वे अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । उनका स्वर भी क्षीण हो गया था । उन्हे तो आज सोये पूरे चार मास हो गये थे । वे भविष्य से बोले--गाने के लिए तो आज स्वर ठीक नहीं है, किन्तु तुम कहते हो तो एक-दो गत वंशी में बजाऊँ ।

भविष्य--वाह ! यह तो गाने से भी अच्छा हुआ । तुम्हारी वंशी के लिए कान अकुला रहे हैं ।

निमेष-- क्या मेरी वंशी की-सी मीठी आवाज और किसी की नहीं ?

निमेष इतना सुनाकर जेब से वंशी निकालकर बजाने लगे । उनके वंशी

की ध्वनि वायु में मिलकर सारे आराम में फैल गयी। भविष्य एक बार अपने सब दुःख भूल गये। निमेष ने वंशी बजाना बन्द कर दिया। भविष्य फिर अनुरोध करने लगे। निमेष इसी प्रकार कितनी ही गत बजा चुके थे किन्तु भविष्य का मन नहीं भरता था।

भविष्य के हृदय का दुःख उड़कर हवा में मिल गया। संसार में एक मलीन कालिमा छा गयी। भविष्य के हृदय में परिवर्तन देख प्रकृति ने भी अपना पट बदल लिया। किन्तु भविष्य उस सुनहले सायंकाल को नहीं भूले थे। वह वायु की मन्द-मन्द गमन-ध्वनि, वह विहग-बालाओं का कलरव ! वह तरलंग का तरंगोत्थित कल्लोल, वह निमेष की मुरलिका का मधुर-सुर ! — भविष्य ने और सुनी थी इन सबकी मिश्रित मृदु प्रतिध्वनि ! भविष्य सोचने लगे, संगीत का कैसा मधुर मेल हो रहा था !

निमेष बजाते-बजाते थक गये थे। इसीलिए वे कुछ विश्राम लेने को रुक गये। भविष्य कहने लगे—अहा ! सन्ध्या का समय भी कैसा अपूर्व मेल है ! कैसा मंजुल ऐक्य है !—दुःख का, सुख का ! कमलिनी कुम्हलाने लगती है, कुमुदिनी खिलने लगती है। सारे दिवस के कार्य-कष्ट नष्ट होने लगते हैं, तथा निद्रा की विरामप्रदा क्रोड में सोने की आशा उत्पन्न होने लगती है।—कैसा अनुपम मेल है ! आतप का, शीतलता का। चण्डकर के प्रचण्ड-कर-शर अस्त हो जाते हैं। तथा शीत रश्मि के स्वागत का शुभ सम्वाद मन्द-मारुत देने लगता है।—कैसा नवीन मेल है ! आकाश का, तम का ! कैसा अपूर्व ऐक्य है ! द्युति व तिमिर एक नव्य-रूप धारण कर लेते हैं ! कैसा सुन्दर-स्वरूप है ! कैसा सुखद स्वर्ण-वर्ण है। 'कनक' सा द्युतिमय, 'कनक' ही-सा मादक ! किन्तु अब यह निशा ने अपने काले अंचल में छिपा लिया है।

मानो भविष्य की इस सुन्दर उक्ति का प्रतिबिम्ब अनन्त नभ में पड़ा ! तारक-राशि धीरे-धीरे झलमलाने लगी। निमेष ने वंशी हाथ में लेकर फिर 'यमन कल्याण' की गत छेड़ी। सारा आराम गूंज उठा। भविष्य संगीत-सरोवर में तैरने लगे। तरलंग का जल चंचल हो आया। दुर्गादेवीजी के मन्दिर का प्रदीप जल उठा। भविष्य ने देखा पूर्व में दिव्य-पीत-आलोक कोटिदीप की शिखाओं-सा समुज्ज्वल ! वह आलोक धीरे-धीरे दिशाओं में फैलने लगा। मानो रम्या-रमणी का विवाह हो रहा हो और वह अपने श्यामल शरीर में हरिद्रा लगा रही हो ! तारक-दल मानों अभ्यागतों का संघ हो ! भविष्य ने देखा एक उज्ज्वल कांचन कान्ति पूर्व-दिशा में हँस रही है। भविष्य सोचने लगे मानो कनक-कान्तिमनी दुर्गादेवीजी अपनी सहचरी शक्ति को लेकर मन्दिर की सीढ़ियों से तरलंग के निर्मल-जल में विहार करने को उतर रही हैं। भविष्य ने देखा धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ रहा है। भविष्य ने देखा पूर्व-दिशा में शरद ऋतु का राकापति अपने सहचर पीयूष के साथ मुसकरा रहा है। भविष्य को याद आया—

> "ये पूर्वः यवसूचिसूत्रमुहृदो ये केतकाग्रच्छद—
> च्छायासाम्यभृतो मृणाललतिका लावण्यभोजोऽपये

ये धाराम्बुविडम्बिनः क्षणमथो ये तारहारश्रिय—
स्तेऽमी स्फटिकदण्डमम्बरचितो जातास्सुधांशो कराः।"

भविष्य ने देखा तरलंग में धीरे-धीरे पूर्व मे एक नाव आ रही है, भविष्य को यही धारणा हुई कि दुर्गादेवीजी अपनी सहचरी शक्ति के साथ तरलंग की शोभा देख रही हैं। भविष्य बोल उठा—

धन्य तरलंग ! तू बड़ा पवित्र है !

निमेष की 'यमन कल्याण' की गत अभी पूरी नहीं हुई थी। नाव धीरे-धीरे उनके पास ही आ गयी। तरलंग के तरल-जल में अगणित तारकों का प्रतिबिम्ब "दुहरे तिहरे चौहरे" पड रहा था। पूर्ण चन्द्र का प्रकाश था। दोनों चकोरों ने अपने-अपने "शरदशशि" पहचान लिये। आशा तथा सुफला ने भी उन्हें देख लिया। वे दोनों देवी-दर्शन करके लौटी आ रही थी। निमेष के 'यमन कल्याण' की गत छेड़ते समय सुफला ने ही देवी-द्वार का दीपक प्रज्ज्वलित किया था। भविष्य तथा निमेष को अपार आनन्द हुआ। एक को दूसरे की सुधि नहीं रही। दोनों के "पलकन हू परिहरिय निमेषी।" तरलंग का जल समधिक चंचल हो आया। नाव हिलने लगी। प्रतीत हुआ मानो राकेश्वर की अदृश्य रश्मिराशि ग्रहण कर रूप तथा यौवन तरल-तरंगों में झूल रहे हैं। पीयूष तथा प्रभा हिलोरें ले रहे हैं। तारकों का बिम्ब तरलंग के जल में चपल हो गया। भविष्य तथा निमेष के दृग-तारक भी चपल हो गये !

सबसे तो अद्भुत पर यह था आज चकोरों के दृग-द्वय
तृप्त नहीं होते थे सन्मुख देख चारु-त्रय-चन्द्र-उदय !

निमेष अपने को न सँभाल सके। उनके अधरों की वंशी अधरों में ही रह गयी। उन्हें आज सुफला का रूप और भी असामान्य मालूम पड़ा ! शरदेन्दु के आलोक से उसकी छबि का मेल अत्यन्त मधुर लगा ! सुफला का अंचल वायु के झोंके के साथ उसके शिर से खिसक पड़ा। वह अपने जूड़े में देवी-प्रसाद का पुष्प लगा आयी थी। निमेष के लोचन-भृंग मँडराते हुए उस सुमन पर अड गये ! निमेष का हृदय सुफला की नागिन-सी वेणी की प्रसून-मणि के आस-पास पतंग-सा भ्रमण करने लगा। उनका मन हाथ में न रहा ! उन्होंने एक आह छोड़ ही दी !

भविष्य को इस सबकी कुछ खबर नहीं थी। उनकी भी वही दशा हो रही थी। वे दो ही घण्टे पूर्व जिससे मिलने के लिए उतने अकुला रहे थे वही उन्हें इस समय मिल गयी थी। वे आशा के अनन्त रूप-सुधा-निधि मे तैरने लगे।

इतने ही में अनिल मानो गाने लगा ! सुफला आशा से कहने लगी—सखी, अब तो नाव किनारे लग चुकी है।

आशा का ध्यान सहसा भंग हुआ। वह भय के मारे ठिठुर गयी। आज वह अनर्थ कर चुकी थी। शरद-शशि का कलंक आज उसके चन्द्राकार-भाल पर लग गया था। उसने आज भविष्य का सर्वस्व लुटा दिया था। आज वह "ह्वै मुरली सुर लीन" अपनी कुल-गली तज चुकी थी। आशा आज अपना सर्व-नाश कर चुकी थी। उसने आज स्त्रियों के उज्ज्वल धर्म को तिलांजलि दे दी थी।

उसके दृग-मृगों ने आज निमेष की वंशी पर मुग्ध हो आशा के हृदय को कुसुम-बाण से बिंधवा दिया था। वह भविष्य का ध्यान भूल गयी। भविष्य का चिर-सिंचित स्नेह का राग आज उस विषैली वंशी की फुफकार से काला पड़ गया। आज आशा को निमेष की वंशी ने कील दिया।

आशा बड़ी लज्जित हुई कि सुफला ने मेरे मन का भाव जान लिया है! उसे बड़ा भय हुआ! उसे सुफला की बात का कुछ उत्तर न सूझा। सुफला समझी कि आशा की यह दशा भविष्य दद्दा को देखकर हो रही है। वह हँसती हुई बोली—नाव से तो उतर जावें, फिर दद्दा ही के मुख को ताकती रहना।

आशा की जान में जान आयी। वह सकुचाती हुई नाव से उतर गयी। सुफला भी नाव से उतर गयी। नाव किनारे बाँध दी। सुफला आकर भविष्य की दाहिनी ओर खड़ी हो गयी। आशा भी सकुचाती हुई सुफला के पीछे खड़ी हो गयी और छिपे-छिपे निमेष की ओर प्रहार करने लगी। निमेष भविष्य से तीन हाथ की दूरी पर दूसरी शिला पर बैठे थे। आशा आज भविष्य के लिए अपना सब प्यार खो चुकी थी। हाय! सहसा ऐसा परिवर्तन संसार मे कहीं नही हुआ! सुफला भविष्य से बातें कर रही थी। किन्तु आशा का ध्यान उस ओर न था। उसके नयन-मीन निमेष के असामान्य रूप-सागर में विहार कर रहे थे।

"चख ले चातक स्वाति-सलिल छिप-छिप के चख ले।"

निमेष की अवस्था २८ वर्ष की थी। वे भविष्य से अधिक सुन्दर थे। इसी-लिए आशा का अनुराग पल-पल में उनकी ओर बढ़ रहा था। उसके लालची लोचन पराये धन के लिए तड़फ रहे थे। उसने आज लाज तथा संकोच को तिलांजलि दे दी थी। ठीक कहा है—

"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।"

निमेष को इसकी कुछ भी खबर नहीं थी। वे अपनी घात सुफला की ओर लगाये थे। धैर्य पल-पल में उनका साथ छोड़ रहा था। उन्होंने यहाँ अधिक ठहरना उचित नहीं समझा। वे भविष्य को किसी आवश्यक कार्य का बहाना बतला के घर को चले गये। किन्तु निमेष का हृदय उनके साथ गया या नहीं — कौन जाने?

आशा को बड़ा दुःख हुआ। उसके दृगों को शरदेन्दु का हास फीका लगने लगा। उसके नयन-चकोर अपने चाँद के लिए तड़फने लगे। उसे पल-पल व्यतीत करना कठिन हो गया। वह सुफला को घर लौटने के लिए बार-बार ठसकाने लगी। सुफला भविष्य की आज्ञा लेकर आशा के साथ घर को चली गयी। आज आशा सुफला के ही यहां रही।

भविष्य तथा आशा में कुछ भी बातें न हुई। उसके लिए आज यह उक्ति चरितार्थ हो रही थी—

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥"

षष्ठ पुष्प

निराशा

हाय ! आज प्यारे का "मुख-कमल विलोके" पूरा एक मास हो गया है। उस पौर्णमासी से अभी तक उस चन्द्र के दर्शन नहीं हुए। दृग-चकोर अकुला रहे हैं। पलक उन्हीं के ध्यान में निर्निमेष रहते हैं। चित्त-चातक उस नव-जलधर के लिए तड़फ रहा है। उस मधुर मुरली का सोमरस पान करने के लिए श्रवण व्याकुल हो रहे हैं। हाय ! वह मादक राग तब से अभी तक नहीं सुना। उनकी वह छवि अभी तक मन में अंकित है। भुलाने पर भी नहीं भूली जा सकती।

"कैसे भूला जा सकता है जो कुछ देखा सुना कभी ?"

वह मूर्ति अभी आँखों के सामने अविकल विद्यमान है। वे बड़ी-बड़ी आँखें अभी तक दृग-सन्मुख चित्रित हैं। हृदय उन्हीं के पास चला गया है ! मेरा इसमें क्या दोष ? मेरा क्या अपराध है ! मैं निबला हूँ।

"जो जन जिसे प्यार करता है जाता है वह उसके पास,
मदन-राज के विधि-लंघन में कर सकता है कौन प्रयास ?"

हाय ! तब मैं उन्हें अच्छी तरह देख भी नहीं सकी। यदि उस समय लज्जा तथा भय का जाल तोड़कर एक बार उनका मजुल मुख अच्छी तरह देख लेती, एक बार अपने अतृप्त नयनों से उस रूप-राशि का पान कर लेती, एक बार श्रवण-सीप में उस मुरली का स्वाति-जल अच्छी तरह पड़ने देती, खुले हृदय से वंशी के सुर से कण्ठ मिलाकर, "वंशी बजा के सुनाये हमको मीठे तान" गा लेती तो चित्त में कुछ चैन पड़ता, आँखों को कुछ शान्ति मिलती, श्रवण कुछ सुख पाते। किन्तु "फिर पछताये क्या हुआ ?" तब मैं ऐसा न कर सकी।

उनके मुख-चन्द्र की सुधा का पान आँखों ने जो कुछ छिप-छिपकर किया था वह अब तक अविरल बहा जाता है। आँसू रोकने पर भी नहीं रुकते।

"अलि इन आँखिन को कछू न्यारी लगी बलाय।
नीर भरी निशिदिन रहें तऊ न प्यास बुझाय।"

हाय ! प्राणेश, एक बार फिर अपने दर्शन दे जाओ। मधुर मुरली की तान सुना जाओ। हाय ! तब तुमने मेरी ओर एक बार देखा तक नहीं। एक बार मन्द मुसकाकर मेरे तृषित लोचनों को पुरस्कार तक नहीं दिया। तुम तब उठकर चले गये। एक बार मेरी हालत देख तक नहीं गये।

हा ! भगवन्, उस दिन किस घड़ी में घर से गयी थी। उस दिन मैंने किसका मुख देखा था। हाय ! अब मैं विजया दिद्दी को किस प्रकार मुख दिखलाऊँगी। उससे क्या कहकर बोलूंगी। छिः अब वह मेरी दिद्दी नहीं। मैं उसकी बहिन नहीं हूँ। उसकी सौत हूँ। मैं स्त्री नहीं हूँ। पिशाचिनी हूँ।

हाय ! मैं अपने को वृथा क्यों दोष दे रही हूँ। मैंने ऐसा क्या अपराध कर रक्खा है ? संसार में ऐसा कौन है जो किसी को प्यार नहीं करता, जो किसी

को चाहता नही ?

"शम्बरारि-शर सहे कौन है त्रिभुवन भर में ऐसा वीर ?"

फेर मुझ अबला की क्या सामर्थ्य ? मेरा इसमें क्या वश चलता है ? सभी किसी न किसी को प्यार करते हैं। सभी किसी न किसी को चाहते हैं। मैं भी उन्हें चाहती हूँ, मैं भी उन्हें प्यार करती हूँ। तो मैं पिशाचिनी क्यों ? मुझे पाप किस बात का ? किन्तु हाय ! तब मैंने भविष्य को क्यों प्यार किया था ? पहिले उन्हें अपना मन क्यों दिया था ? उन्हें आशा क्यों दिखायी थी ? मैं अवश्य पिशाचिनी हूँ, अवश्य पापिष्टा हूँ। मैने बड़ा दुष्कर्म किया। मैंने पहिले एक को वर कर फिर दूसरे को पाने की अभिलाषा की। मैं भविष्य के सब गुण भूल गयी। उनका सब प्यार भूल गयी। मैं उनकी बाल्य-मैत्री तक भूल गयी ! भगवन् ! मुझे क्षमा करो !

छि, मै यह क्या कह रही हूँ ? क्षमा किस बात की, मैंने क्या किया ? मैने भविष्य से कब कहा था कि मै तुम्हें वरूँगी ? उनसे कब कहा था कि मैं तुम्हें चाहती हूँ ? उनसे मै कब बोली थी कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ ? वही मुझे प्यार करते है, मुझसे विवाह करना चाहते हैं। किन्तु इससे क्या, जो जिसे चाहता है, वह उसे मिल ही थोड़ी जाता है। लालची ढेरों सोना चाहता है तो क्या उसे मिलता है ? अन्धा दृष्टि चाहता है, तो वह क्या उसे पाता है ? यदि वामन चाँद की इच्छा करे तो इसमे किसी का क्या दोष ? मालती के जीजा तो मालती को उतना चाहते थे, उतना प्यार करते थे, पर वह क्या उन्हें मिली ? उमा तो कुमार को प्रतिभा से भी अधिक चाहती थी पर क्या कुमार ने उसके साथ विवाह किया ? उमा बिचारी को जोगिन होना पड़ा। और शैवलिनी ने तो प्रताप से उतनी बार प्रार्थना की थी, पर क्या प्रताप ने शैवलिनी को अपनी बनाया ? वे दोनों भी तो बाल-सहचर थे। तब फिर मैं अपने चाहे धन को पाने के लिए क्यों चिन्तित न होऊं ? जिसे मैं प्यार करती हूँ, उसकी दासी बनकर क्यों न रहूँ ? भविष्य मेरे कौन लगते है ? उनमें क्या रूप-गुण है जो मै उन्हें अपना तन, मन, यौवन अर्पण कर दूं ? वे मेरे कोई नही है। मैं उन्हें प्यार नही करती। मैं उन्हें जब चाहती थी तब चाहती थी। अब मैं उन्हें नही चाहती। जब तक मनुष्य को कोई उत्तम वस्तु नही मिलती तब तक वह एक सामान्य चीज में ही सन्तुष्ट रहता है। किन्तु पहिली के प्राप्त होने पर दूसरी का मूल्य घट जाता है। काँच मणि के सामने नहीं ठहर सकता। काक कादम्बरी का उपमान नही हो सकता। साधारण जल की तुलना गंगा-वारि से नहीं हो सकती।

मैं आज तक उन्हें न पहचान सकी थी। उन्हें अच्छी तरह देखने का अवसर मुझे नहीं मिला था। इसीलिए मैं भविष्य में भूली थी।

"बक हो नही सकता कहीं है हंस का सानी कभी।"

भविष्य मेरे योग्य नही है। मै उनकी इच्छा पूरी नही कर सकती। किन्तु यदि वे मुझे प्यार नही करते हों, यदि वे मुझे नही चाहते हों, तब मैं क्या करूँगी ? तब मैं किसके पास जाऊँगी, किसकी होकर रहूँगी ? अपना यह दुःख

किसे सुनाऊँगी ? मुझसे सब घृणा करेंगे। मेरे लिए फिर संसार में ठौर नहीं रहेगी। मेरे लिए फिर सुख नहीं रहेगा। शान्ति नहीं रहेगी। आमोद-प्रमोद नहीं रहेंगे। हाय ! तब मैं विजया दिद्दी का मुख कैसे देख सकूँगी ? उसका शृंगार कैसे सह सकूँगी ? उसके बिछुओं की छन-छन मुझे बिच्छुओं की तरह काटेगी। उसका सिन्दूर मुझे पावक शिखा सा प्रतीत होगा। मैं पतंगिनी-सी जल मरूँगी। उसके सुहाग का चिह्न मुझे काले साँप की तरह काट खायेगा।

पर ऐसा क्यों होगा ? ऐसा कहाँ सम्भव हो सकता है कि मैं उन्हें चाहूँ और वे मुझे न चाहें। मैं उनके गले में जयमाल डालूँ और वे न पहिनें। मैं उनके चरणों में अपना हृदय अर्पण करूँ और वे न स्वीकार करें। मैं क्या विजया से कम रूपवती हूँ ? फिर वे मुझे क्यों न अपनावेंगे ? क्यों न अपनी बनावेंगे ? किन्तु यह मालूम कैसे हो कि वे मुझे चाहते है, मैं कैसे जानूं कि वे मुझे अपनावेंगे ?

आशा इसी प्रकार प्रलाप करती अपने कमरे में बैठी थी। वह दर्पण हाथ में लेकर अपना रूप देखने लगी। अपने आँख, कान, नाक, भौं, सबकी सूक्ष्म दृष्टि से आलोचना करने लगी। उसकी दृष्टि अपने अरुण बिम्बाधरों पे आकर अटक गयी। आशा अपने रूप पर आप ही मुग्ध होने लगी।

इतने ही में किसी ने पीछे से कहा —

"सूरज मण्डल में शशि-मण्डल मध्य धरी जनु जात त्रिवेणी।"

आशा ने सहमकर पीछे को देखा तो सुफला।

आशा अपने रूप-सागर में इतनी मग्न थी कि वह सुफला का आना भी न जान सकी।

सुफला— आज अभी से शृंगार हो रहा है। क्या फिर दर्शन करने की इच्छा है ?

आशा कुछ डर कर बोली—कैसे दर्शन ?

सुफला - कैसे दर्शन ? बड़ी भोली बन बैठी है !

आशा के हृदय में साँप लोटने लगे। वह एकटक सुफला के मुख की ओर ताकने लगी।

सुफला फिर बोली —देवी-दर्शन।

आशा की मृतक-देह में फिर प्राण का संचार हुआ। उसे चिन्ता हुई थी कि कहीं सुफला को मेरी सब बातें मालूम न हो गयी हों। उसे सुफला के ऊपर इस प्रकार सूनसान आने के लिए क्रोध भी आया। अपराधी सदा सशंकित ही रहता है। उसकी यही दशा हो रही है। आशा कुछ न बोल सकी।

उसकी अजीब दशा देखकर सुफला को पहिले तो कुछ विस्मय हुआ किन्तु फिर वह समझी कि आशा का स्वास्थ्य कुछ बुरा हो रहा होगा और इसीलिए इसमें यह विकृति आ रही होगी। वह आशा से कहने लगी —सखी, मैं तुझे दिखाने के लिए आज एक चीज लायी हूँ।

यह कहकर उसने अपने अंचल से एक पत्र निकालकर आशा के हाथ में दिया। आशा पत्र पढ़ने लगी। सुफला उसके मुख को ताकने लगी। आशा के

मुख में तरह-तरह के भावों के प्रतिबिम्ब पड़ने लगे।

आशा—यह पत्र किसका है?

सुफला—तुम्हारे जीजा का।

आशा—कौन दे गया?

सुफला—अपनी खिड़की में पड़ा पाया।

आशा—कब?

सुफला—आज प्रातः।

आशा नहीं, यह उनका नहीं हो सकता। इसमें तो भेजनेवाले का नाम भी नहीं लिखा है। तुम वृथा उन्हें कलंक क्यों लगा रही हो?

सुफला—चुप रह। नाम से क्या होता है? चोर क्या किसी को अपनी निशानी देता है? इसे पूरा पढती क्यों नहीं, स्पष्ट ही तो लिखा है।

निमेष के अपमान की बातें सुनकर आशा को बहुत बुरा लगा। वह पत्र भी न पढ़ सकी। सुफला का विस्मय आशा के हाव-भावों को देखकर और भी बढ़ता ही गया। वह उसके हाथ से पत्र लेकर इस प्रकार पढने लगी :—

प्राणेश्वरि, तुम्हें आश्चर्य होगा कि तुम्हारे लिए पत्र लिखकर मैं यहाँ क्यों छोड़ गया हूँ। किन्तु इसमें विस्मय की कोई बात नहीं। पत्र पढ़ने पर तुम्हें यह सब ज्ञात हो जावेगा।

आज मैं तुम्हारे लिए पहिले-पहल पत्र लिख रहा हूँ। आज तक मै अपने को किसी प्रकार रोकता ही था, किन्तु अब मुझे अपने हृदय के ऊपर कुछ अधिकार नहीं रह गया। मैं इसकी प्रेरणा नही रोक सकता। हाय! मुझे जान नही पड़ता कि मैं तुम्हें अपनी वेदना किस प्रकार बतलाऊँ। मैने जिस दिन तुम्हें पहिले तरलंग के तट में देखा था उसी दिन तुम्हें अपना मन समर्पण कर चुका हूँ। उसी दिवस से मैं तुम्हारे प्रेम-पाश में बँध चुका हूँ। उसी दिन मैं तुम्हें अपना सर्वस्व दे चुका हूँ।

तुम्हारी वह मंजुल मूर्ति मेरे मानस में सदा मरालिनी-सी तैरती है। तुम्हारी वह मीठी वाणी अभी तक मेरे श्रवणों में शर्करा-सी घोल रही है। तुम्हारा मुख-मय ध्यान सदा मेरी स्मृति में सजीव विचरता है। प्रेयसि, तुम्हारी याद मुझे चंचल कर डालता है। तुम्हारा स्मरण मुझे बेचैन कर डालता है। मेरी आँखों से नीद चली गयी है। मेरी रातें सदा करवट बदलते-बदलते बीतती हैं।

प्रिये, मेरी दशा पर दया करो। मेरी दुर्बलता को क्षमा करो। आज मै अपने को नही सम्हाल सकता। अब जो हो चुका वह हो चुका। अब वह लौट नही सकता। मेरा मन तुम्हें देखे बिना व्याकुल हो रहा है। अब तुम मुझे अपनाओ। मुझे अपना बनाओ। मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करो। मुझे अपने हृदय मे स्थान दो। अब तुम्हारे बिना मेरा हृदय सुखमय नही हो सकता। अब मेरी रक्षा तुम्हारे ही हाथ में है।

तुम समझोगी कि मैं विवाहित हूँ। मेरी स्त्री है और इसीलिए मेरा संयोग तुम्हारे साथ नही हो सकता। मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध सुखमय नही हो सकता। किन्तु प्रेयसि, इसकी कुछ चिन्ता न करो। तुम मेरे हृदय की अनन्य

अधिष्ठात्री होगी। इसीलिए मैंने विजया से बोलना भी छोड़ दिया है। अब मैं उसके कमरे में भी नहीं जाता हूँ। उसका दिया पान का बीडा भी नहीं चबाता हूँ। शायद तुम्हें यह चिन्ता हो कि मैं फिर विजया के फुसलाने पर आ जाऊँगा और तुम्हें दुःख दूँगा। किन्तु प्रिये, मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैंने विजया से कह दिया है कि तू मेरे अयोग्य है। वह उस दिन से मुझसे नही बोलती। वह तुम्हारी दासी होकर रहेगी।

प्रियतमे, अब मुझे अपनाना तुम्हारे अधिकार में है। अब तुम्हीं मेरी जीवन-सर्वस्वा हो। मुझे अपनाओ। मुझे अपना बनाओ। अब मै तुम्हें नहीं भूल सकता। मैं तुम्हारे प्रेम का भिखारी हूँ। मुझे प्रेम-भिक्षा दो। तुम्हारे बिना मेरे लिए संसार अन्धकारमय है। तुम मेरे जीवन को प्रकाश देनेवाली नक्षत्र हो।

अब मैं इस पत्र को अधिक नही बढाना चाहता। मुझे भय मालूम होता है; क्योंकि मेरी तुम्हारी आज तक कोई बातें भी नही हुई हैं। आज तक मैं तुमसे बोलने का अवसर ढूंढता ही था किन्तु आखिरकार तुम्हे पत्र ही लिखना पड़ा।—तुम्हारा—

पत्रोत्तर लिखकर यहीं रख देना।

पत्र समाप्त हो गया। आशा कुछ न बोल सकी। उसका मुख सूख गया। हृदय जोर-जोर से धडकने लगा। उसकी दृष्टि के सन्मुख अन्धकार छा गया। सुफला ने आशा की ओर देखा। वह धीरे-धीरे आशा की दशा समझने लगी। उसके मन का संशय धीरे-धीरे वृद्धि पाता गया।

सुफला— क्या अब भी तुममें सन्देह है कि पत्र किसने भेजा ?

आशा फिर भी कुछ न बोली। उसकी दृष्टि एकटक पत्र की ओर लगी थी। सुफला फिर बोली—

क्यों आशु, आजकल तुझे क्या हो गया है ? तू बोलती तक नही। मै देखती हूँ कि तू पहिले से कृश भी हो गयी है। आजकल तू मेरे यहाँ भी नहीं आती। न जाने भीतर ही भीतर मन में क्या सोचा करती है।

आशा यह सुनकर सकबका-सी गयी। वह सहसा कह उठी—नही, मै उन्हे प्यार नहीं करती, वे मेरे कौन —

सुफला—एँ, यह क्या कहती है ? किसे प्यार नहीं करती ?

आशा चुप रही। उसे मन ही मन अपने कहे का बड़ा पछतावा हुआ। वह सुफला से बहुत डरती थी। सुफला आशा को फिर भी निरुत्तर देखकर अत्यन्त दुखी हुई। वह बोली—

तुझे क्या हो गया आशु ! छि:, तू तो बोलती भी नहीं। मैंने तेरी ऐसी दशा पहिले कभी नही देखी थी। न जाने तुझे आजकल कैसी बीमारी लग गयी।

आशा ने सिर नीचा कर लिया। सुफला फिर कहने लगी—मै तो इस विषय में तुझसे परामर्श लेने आयी थी। किन्तु तू बात का उत्तर भी नही देती। हाय ! तुझे विजया दिद्दी के ऊपर भी दया नही आती। परसों उसका फूट-फूटकर रोना मुझे अब तक याद है। हाय ! उस बिचारी के लिए कैसा अन्याय हो रहा है।

धिक्कार है ऐसे पुरुषों को जो दूसरी स्त्री पर दृष्टि रखकर अपनी गृह-लक्ष्मी को इस प्रकार यातना दिया करते हैं। धिक्कार इनके प्रेम को! ये प्रेम के मिस उसका गला घोंटते हैं। समाज-शत्रु इन्हीं का नाम है।

आशा के हृदय में इस समय विविध विचारों की तरंगें उठ रही थीं। वह कभी इधर को बहती थी, कभी उधर को। कभी अपने किये पर पछताती थी, कभी सुफला पर क्रुद्ध होती थी, और कभी उसके भय से काँपती थी। वह निमेष की मूर्ति अपने हृदय से हटा नहीं सकती थी। उनके रूप का नशा आशा की आँखों से अभी तक नही उतरा था। उनकी वंशी का मादक राग अभी वह नहीं भूली थी। उसकी एक विचित्र दशा हो रही थी। वह इस समय सुफला का अन्तिम वाक्य सुन अपने को न रोक सकी और क्रोध से कहने लगी—

दूसरे पुरुष को बुरा बतलाने का तुम्हें किसने अधिकार दिया? वे बुरे हैं तो अपने लिए हैं। तुम्हारा क्या बिगाड़ देंगे? बिना समझे-बूझे बोलना मुझे अच्छा नहीं लगता।

सुफला—चुप रह, तुझे ऐसे अत्याचारियों का पक्ष लेने में लज्जा भी नहीं लगती! वे पर-पुरुष थे तो उन्हें मेरे लिए ऐसा पत्र लिखने का क्या अधिकार था? इसमें किसी का बिगाड़ नहीं है तो क्या है? अपनी स्त्री को कष्ट दे तथा उससे प्रीति हटाकर दूसरी स्त्री से प्रेम रखनेवाला प्रेम का मूल्य क्या समझ सकता है? यह प्रेम नहीं आसक्ति है, प्यार नहीं व्यभिचार है।

मैं आज तेरी दशा अच्छी प्रकार ताड गयी हूँ। तू प्रेम को नही पहचानती। जिस प्रेम से हृदय में उत्कण्ठा हो, चंचलता हो, मन में व्यग्रता हो, जिस प्रेम से प्रणयी अपनी प्रणयिनी के बिना नही रह सकता—उसे प्रेम कौन कहता है? यह निरी आसक्ति है। और तो क्या दाम्पत्य भी यथार्थ में प्रेम नही है। वह वास्तविक प्रेम का बतलानेवाला एक मार्ग-मात्र है। उसमें फँसकर मनुष्य पीछे प्रेम का महत्त्व समझ जाता है, प्रेम को पहिचान लेता है। प्रेम किसी से आँख लड़ाना, किसी के लिए चंचल हो उठना तथा किसी के बिना व्याकुल होना नही है। प्रेम किसी के विरह में प्रलाप करना, किसी के स्वार्थ में प्राण समर्पण करना नही है। प्रेम किसी के सिखलाने से नही आता। वह एक अमूल्य पदार्थ है, एक दुर्लभ वस्तु है। वह स्वयं पैदा हो जाता है। उसे सिखलानेवाला ईश्वर है। वह उसी की देन है। सच्चे प्रेम में दुख नहीं होता। अशान्ति नही रहती। व्याकुलता पास नही फटकती। वियोग नही सताता। वास्तविक प्रेम एक अलौकिक पदार्थ है। उसे पाने के लिए निष्काम मन चाहिए, विमल बुद्धि चाहिए, इन्द्रिय-निग्रह चाहिए।

तू अपने को प्रेमिणी कहने का गर्व नहीं कर सकती। निमेष का पक्ष लेना तेरा एकमात्र स्वार्थ है। मुझे आश्चर्य होता है कि तुझे क्या हो गया है। मुझे अभी तक संशय मात्र था, किन्तु अब निश्चय हो गया है कि तू आजकल निमेष की ओर झुकी है। छि, तेरी बुद्धि न जाने कहाँ लुप्त हो गयी है। तू अपने सुख के कारण विजया को किस घोर आपत्ति में डाल रही है! उसके सिर में कैसी भारी बला डाल रही है! तुझे विजया के ऊपर लेशमात्र भी दया नहीं आती।

"तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।"

परसों मैंने तेरे सामने भविष्य दद्दा के विषय मे एक-दो बातें की थीं, तू तब चिढ़ने लगी थी। मैंने वह तेरा अनुराग का कुढ़ना समझा था, पर मैं आज यथार्थ को समझ गयी हूँ।

सुफला इतना बक गयी किन्तु आशा के हृदय मे कुछ चेत नहीं हुआ। वह इन बातों को नहीं समझ सकी। सच है, काम मनुष्य को अन्धा कर देता है। कामान्ध को उचित-अनुचित का विचार नही रहता, सत-असत का ज्ञान नहीं रहता। उसकी दशा नशा चढाये मनुष्य की-सी हो जाती है। जब तक नशा नहीं उतरता तब तक वह अपने को नही पहचानता। आशा की भी यही दशा हो रही थी। उसने निमेष के रूप की गहरी छान रक्खी थी। उसे निमेष के दोष बुरे नही लगे, उलटे अच्छे ही प्रतीत होने लगे। उसने फिर भी सुफला की बातों का कोई उत्तर नहीं दिया। वह—"माथा घूम रहा है"—कहती पलंग में जाकर सो गयी।

सुफला को आशा का यह व्यवहार देख बड़ा कष्ट हुआ। किन्तु वह उस पर क्रुद्ध नहीं हुई। उसे आशा पर दया आयी। वह इस समय आशा से अधिक कहना उचित न समझ वहाँ से चली गयी।

"आवत ही हर्ष नही नयनन जाके सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए कंचन बर्षे मेह॥"

सुफला के चले जाने पर आशा की घबड़ाहट कुछ कम हुई। वह अपने तथा सुफला के बीच समस्त बातों की आलोचना करने लगी। आशा को अपने जीवन के ऊपर घृणा होने लगी। वह कहने लगी—हाय! जिसे मैं इतना प्यार करती हूँ, जिसको मिलने के लिए आठो पहर व्यग्र रहती हूँ, जिसे पाने के लिए मैं इतने प्रयत्न सोचती हूँ, जिसे मैं अपने प्राण समर्पण कर चुकी हूँ, जिसे मैं वर चुकी हूँ—वह मुझे प्यार नहीं करता, वह मुझे नही चाहता!

हाय! मैंने उनके लिए भविष्य को छोड़ा। अपनी बाल सहचरी सुफला से झगड़ा किया, अपनी लज्जा को तिलांजलि दी, पत्नी-धर्म का ध्यान न रक्खा, किन्तु अन्त में आज मालूम हुआ कि वे मुझे प्यार न कर किसी अन्य को प्यार करते हैं, किसी अन्य को चाहते हैं।

हा दुर्दैव! आज मुझे अच्छी तरह सोये पूरा महीना भर हो गया। मेरी भूख प्यास चली गयी है। रात-दिन उन्ही के नाम की माला जपती हूँ। ईश्वर से यही प्रार्थना करती हूँ कि मै उनके चरणों की दासी होऊँ। पर आज देखती हूँ कि मेरी सब आशाएँ व्यर्थ है। मेरी सब प्रार्थनाएं निष्फल हुई। हाय! मुझ जैसी अभागिनी और कौन है? आज आशा निराशा है! असहाया है। हाय! तब क्या सुफला सत्य कहती थी कि मै प्रेम को नहीं पहचानती? तो क्या मैं उन्हें यथार्थ में प्यार नहीं करती? उन्हें नही चाहती? हाय! सचमुच, मैं उन्हें प्यार नहीं करती, उन्हें नहीं चाहती। यदि मैं प्रेम को पहिचानती तो मैं भविष्य को क्यों भूलती? मैं क्यों कहती कि भविष्य में क्या रूप गुण है? हाय! हाय! मैं क्या सत्य को सचमुच भूली हूँ?

नहीं, ऐसा क्यों होगा ? मैं उन्हें अवश्य चाहती हूँ । मैंने भविष्य तथा उन्हें मिलाया; उन्हें अच्छा देखा, इसीलिए अपना लिया । सबसे अच्छी वस्तु तो सभी छाँटते हैं, इसमें क्या पाप ? ऐसा तो नित्य हुआ करता है । नहीं तो दुकानों में तरह-तरह के पदार्थों को रखने का क्या अभिप्राय था ? सभी तो सर्वोत्तम वस्तु मोल लेते हैं । तो क्या प्रेम भी एक व्यापार है ?

आशा को यह सोचते-सोचते नींद आ गयी । वह तरह-तरह के स्वप्न देखने लगी ।

आशे, उठो, यह तुम्हारी कैसी नींद है ? यह स्वप्न छोड़ो ।

सप्तम पुष्प

हार

आज आशा को देखे एक मास हो गया है । उसने अब तरलंग के तट में आना भी छोड़ दिया है । आज कल सुफला भी नहीं आती । हाय ! आशा बीमार तो नहीं हो गयी ? अथवा क्या वह मुझे भूल गयी है ? क्या वह नहीं जानती कि मैं उसके बिना इतना व्याकुल हो रहा हूँ ! क्या वह मेरे प्रेम से अनभिज्ञ है ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता । आशा मुझे नहीं भूल सकती । यदि पद्मिनी सूर्य को भूल जाय, चकोरी चन्द्र को भूल जाय, चातकी स्वाति-जल को भूल जाय, और पतंगिनी दीप-प्रभा को भूल जाय, तो भी आशा मुझे नहीं भूल सकती ।

"वरु मराल मानस तजै, चन्द्र शीत, रवि घाम" तो भी आशा मुझे नहीं छोड़ सकती । मैंने तथा उसने बालकाल ही से एक साथ खेला है ! वह मुझे प्यार करती आयी है, मैं उसे । वह मुझे वर चुकी है, मै उसे—तब मुझे वह क्योंकर भूल सकती है ? बाल-काल की पवित्र स्मृति अक्षय होती है, तो क्या आशा सचमुच बीमार ही है । क्या उसे किसी रोग ने घेर लिया है ? हाय ! वह मेरे लिए पलंग पर पड़ी-पड़ी अकुलाती होगी । ईश्वर से यही प्रार्थना करती होगी कि एक बार उनसे भेंट हो जाय, एक बार उनका मुख देख लूँ ! किन्तु मुझे यहाँ इसकी कुछ भी खबर नहीं है । मैं निठुर हो यहाँ बैठा हूँ । एक बार उससे पूछने को भी नहीं गया कि तेरा स्वास्थ्य कैसा है ! हाय ! मैं बड़ा कठोर हूँ !

पर मैं वहाँ जाऊँ कैसे ? जब सुफला सुनेगी तो वह मुझसे क्या कहेगी ? वह मन ही मन हँसेगी कि भविष्य दद्दा इतने निर्लज्ज है । मैं आज कई वर्षों से वहाँ गया भी नहीं, आज अचानक किस बहाने से जाऊँ ? किसी ने मुझसे कहा भी तो नहीं कि आशा बीमार है । तो मैं कैसे चला जाऊँ ? नहीं, मैं वहाँ नहीं जा सकता । आज मंगल भी है !

हाय ! विरह दिन पर दिन मन को भस्म कर रहा है । आशा के बिना

दिवस कल्प-सा लगता है। प्रेम प्रति-दिन प्रबल होता जाता है। अब आशा को देखे बिना सुख दुर्लभ है। अब यह वियोग नहीं सहा जाता। हाय ! यदि आशा चाहती तो आज तक उसका व मेरा विवाह हो जाता। वह अपने भाई को एक पत्र भी लिख देती तो वे यहाँ आकर विवाह कर जाते। किन्तु वह भी ऐसा कैसे कर सकती है ? वह कैसे लिख सकती है कि मेरा विवाह कर दो ? उसकी भाभी भी तो काली-स्वरूपा है। उसने आशा के भाई को अपने पंजे में कैसे फँसा रक्खा है। नही तो वे क्या आशा को यहाँ छोड़ जाते ? उन्हें क्या मालूम नहीं है कि अब आशा बड़ी हो गयी है, अब उसका पाणिग्रहण कर देना चाहिए।

हाय ! परमेश्वर ने मुझ-सा अभागी और कोई नहीं बनाया। मुझ-सा दुःखी और किसी को नहीं किया। हा ! भगवन् ! मेरे ऊपर दया करो ! मेरे अपराध क्षमा करो ! तुम्हारा गुण क्षमा करना ही है। तुम सबको क्षमा करते हो। हे शक्तिमन्, मुझे भी क्षमा करो। मुझे और न सताओ। तुम सबकी इच्छा पूर्ण करते हो, मेरी आकांक्षा भी पूरी करो। हे नाथ ! अपने दुःख और किसे सुनाऊँ ? तुमने मुझे इतनी बड़ी जमींदारी दी। यदि मैं आशा को न पाऊँगा तो यह सब किस काम की होगी ? मुझे इससे क्या सुख होगा ?

भविष्य तरलंग के तट में बैठे इसी प्रकार विचार-मग्न थे। उनकी बायीं आँख फड़कने लगी उनका संशय और भी बढ़ गया। वे आशा से मिलने के लिए और भी लालायित हो उठे। उसका कुशल-समाचार जानने के लिए और भी व्यग्र हो उठे। इतने ही में उनके कानों में किसी के आने की ध्वनि पड़ी। उन्होंने पीछे को फिर के देखा तो सुफला। भविष्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद देने लगे।

भविष्य—क्यों सुफला, अच्छी तो हो ? आज तुम बहुत दिनों में आयी।

सुफला—हाँ दद्दा, अच्छी हूँ। क्या कहूँ, कई बार तुमसे भेंट करने की इच्छा हुई थी किन्तु अनेक कारणों से न आ सकी।

भविष्य—आज तुम अकेली ही क्यों आयी ? तुम्हारी सखी का स्वास्थ्य तो अच्छा है ?

सुफला—हाँ दद्दा, मेरी सखी का स्वास्थ्य तो अच्छा है किन्तु—

भविष्य—किन्तु क्या, सुफला ? तुम रुक क्यों गयी ?

सुफला—दद्दा, क्या कहूँ ? कहती हूँ तो तुम्हें दुःख होगा और अगर न कहूँ तो वह भी तुम्हारे लिए बुरा ही है। हाय ! न जाने आशा के भाग्य में क्या बदा है !

सुफला ने धीरे-धीरे भविष्य से आशा की सब बातें कह दीं। किन्तु सुफला ने उन्हें निमेष का पत्र न दिखलाया। उसने विजया के भय से यह बात गुप्त ही रक्खी।

भविष्य की इस समय जो दशा हुई, वह अवर्णनीय है। मणि के खोये जाने पर फणिनी की जो दशा होती है, चन्द्र में बादल लग जाने से चकोर की जो दशा होती है, सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल की जो दशा होती है, भविष्य की भी वही दशा हुई ! पहिले तो उन्हे सुफला की बातों पर विश्वास नहीं हुआ।

किन्तु वे सोचने लगे कि सुफला आज ऐसा परिहास क्यों करेगी। सुफला ने उनसे जिस कातर स्वर में आशा की दशा वर्णन की थी उससे उनका सन्देह और भी मिट गया। भविष्य सोचने लगे—मेरा सुख का सूर्य अस्त हो गया। मेरा भाग्य-चक्र फिर गया। अब मेरे लिए संसार मे सुख नहीं रहा। अब मेरे जीवन में आनन्द नहीं रहा। हाय! भगवान ने मेरे भाग्य में यही लिखा होगा! मुझे पिता माता से रहित तो कर ही दिया था, आज मुझे आशा से भी हीन किया। अब मेरा निराश जीवन किस काम का? अब मेरा जीवित रहना न रहना बराबर है। जिस जीवन में मुझे सुख नहीं रहा, जिस जीवन में कोई संगी नहीं रहा, जिसमें कोई अपना कहनेवाला नहीं रहा—उस जीवन से क्या लाभ?

हाय! यदि ऐसा जानता तो आशा को क्यों प्यार करता? उसे अपना तन-मन समर्पण क्यों करता? उसके ऊपर अपने सब सुख न्यौछावर क्यों करता? मैं व्यर्थ मृगतृष्णा में भटका। मेरे भाग्य में ऐसा सुख कहाँ था? ठीक कहा है "भाग्यं फलति सर्वत्र।" विधि को जो स्वीकार होता है, वही करता है। वह किसी के सुख-दुःख नहीं जानता, किसी के रोने से नहीं पिघलता। उसका लेख नहीं टल सकता।

"वह कब टलता है भाग्य में जो लिखा है?"

उसके नियम कठोर हैं। वह स्वयं निठुर है। अपने कर्मों का फल सबको भोगना पड़ता है। मैने बामन होकर चाँद को पकड़ने की इच्छा की, पर मेरे ऐसे पुण्य कहाँ कि वह मुझे मिलता?

"पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वांछा
पुण्यैर्विना नहि भवन्ति समीहितार्थाः।"

संसार एक कंटकमय उद्यान है। यहाँ मनुष्य चारों ओर दुःख के कंटकों से घिरा रहता है। यहाँ सुख की आशा करना निराशामात्र है। यह एक तप्त मरुस्थल है; यहाँ मनुष्य व्यर्थ मृग की तरह भटकता है। व्यर्थ माया की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ता है।

मृग मरीचिका है यह केवल यहाँ स्वेद ही बहता है।
यहाँ हृदय है नहीं पिघलता कल-कल छल-छल टल-टल में।

हाय! मैंने व्यर्थ अपने को आपत्ति में डाला। व्यर्थ अपने को आशा के प्रेम-पाश मे बांधा। व्यर्थ उसे पाने के लिए लालायित रहा। व्यर्थ उसके वियोग मे दुःखी हो अपने स्वास्थ्य का संहार किया। मै जानता था कि मनुष्य से कभी अचल प्रीति नहीं रह सकती। एक न एक दिन अवश्य टूटती है। मैने नागिन को हार समझ अपना कण्ठ भूषण बनाना चाहा! किन्तु मनुष्य कब चुप रहता है? वह जान-बूझकर अपने को फँसाता है। यह उसकी अल्पता है। मनुष्य कुछ सोचता है, ईश्वर कुछ करता है। मैं अभी आशा के लिए उतना चिन्तित हो रहा था, उसे देखने के लिए उत्कण्ठित हो रहा था। उससे मिलने के लिए अकुला रहा था; सोचता था कि आशा बीमार होगी इसीलिए यहाँ नहीं आती होगी, वह मुझे देखने के लिए व्याकुल हो रही होगी—किन्तु हाय! मुझे याद करना तो एक ओर रहा, मेरे बिना व्याकुल होना तो एक तरफ रहा, वह मुझे

भूल गयी है। मुझे अपने हृदय से हटा चुकी है। मेरे इस अपरिमित प्रेम का तिरस्कार कर उसे अपने हृदय से उठा चुकी है। हाय! हाय!

इस मानवी प्रेम की क्या आशा? इससे क्या सुख मिल सकता है? इसमें क्या बल हो सकता है? मैंने बुरा किया जो आशा को अपना सब कुछ दे दिया, उसके चरणों में अपना तन-मन सब कुछ अर्पण कर दिया, उसे अपने हृदय की आराध्या बनाया, उसे अपने प्रेम की अधिष्ठात्री बनाया। जब तक मैंने आशा को अपना हृदय नहीं दिया था, तब तक मैं कितना सुखी था, कितना निश्चिन्त था। मैं सबको समदृष्टि से देखता था, सबको प्यार करता था, किसी विशेष के लिए व्याकुल न रहता था, उसके सामने औरों को तुच्छ नहीं समझता था। किन्तु हाय इसे कौन जानता था कि फिर मुझे ऐसा दिवस देखना पड़ेगा, मुझे इतना दुःख भोगना पड़ेगा, इतना पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

खैर अब मुझे इसका अनुभव हो गया है। अब मैं सँभलकर रहूँगा। इस अधम श्रेणी का प्रेम किसी से न करूँगा। इस प्रकार अपने को किसी के हाथों का खिलौना न बना दूँगा। [illegible] आह! मैं अब तक इसी को प्रेम समझकर बैठा था, घोर भ्रम में फँसा था। हे भगवन्, मुझे जाग्रत करो, मुझे नवीन बल दो।

भविष्य के मुख में सहसा यह विकलता देख सुफला को अत्यन्त दुःख हुआ। वह मन ही मन कहने लगी—हाय! दद्दा के मन में गहरी चोट लग गयी है। उसे कुछ सूझा नहीं पड़ता कि इस समय भविष्य को क्या कहकर धैर्य देना चाहिए। [illegible] रही थी [illegible] गान के स्वर से सारा आगार [illegible] उठा।

सूर्य को डूबे कुछ देर हो चुकी थी। [illegible] दशा देखकर प्रकृति में भी शोक की कुछ-कुछ कालिमा छा गयी थी।

> दिवानाथ का विपुल-विभव सब उसकी शाखों में [illegible]
> भस्म हो चुका था। पश्चिम में अग्नि-ज्वाला बन [illegible]।

कमल-दल सकुचा गया था। पुजारी जी का लड़का मन्दिर के द्वार पर बैठा गा रहा था—

> अहह, नियति तव गति भयावनि।
> विकच पद्म-प्रभा दिवस की दिवस ढलते सब क्षणिक बनि।
> पावसोत्स समान सुख सब शमन-सदन सिधारता हा।
> भव विभव भव मय पराभव दुःख सुख मय देवि! ज्यों मणि।

सुफला मन ही मन कहने लगी—अहा! दद्दा के दुःख में दुःखी होकर श्री देवीजी इस बालक के कण्ठ में बैठकर यह गीत गा रही हैं।

सुफला—दद्दा, अब अँधेरा हो गया है। घर को जाओ। मैं भी जाती हूँ आशा के लिए दुःखी न होओ। श्री दुर्गादेवीजी करेंगी तो उसकी निद्रा शीघ्र टूट जावेगी।

भविष्य—तुम जाओ, सुफला! तुम अकेली ही हो। मैं कुछ देर में जाऊँगा। मैं इस समय सदा यहीं बैठा रहता हूँ।

सुफला भविष्य के दुःख से चिन्तिता होती गृह को चली गयी। भविष्य अकेले ही रह गये। वे अपने जीवन की बीती घटनाओं को एक-एक कर याद करने लगे। उन्हें अपनी बाल्यावस्था की याद आयी। उन्हें अपनी तथा आशा की बाल-क्रीड़ा का स्मरण हो आया! भविष्य कहने लगे—अहा! तब मेरा जीवन कितना सुखमय था। मैं तब भी आशा को प्यार करता था। किन्तु तब मैं उसके लिए इतना उत्कण्ठित न रहता था, उसके न मिलने से इतना दुःखी न होता था, उसी के ध्यान में न रहता था। उसे पाने के लिए इतना लालायित न रहता था। आशा एक बार अपने भाई के साथ चली गयी थी, मुझे कुछ कष्ट न हुआ था।

अहा! तब मैं मिट्टी के छोटे-छोटे मन्दिर बनाकर देवताओं को पूजा करता था। तब मेरी ईश्वर के लिए एक विचित्र धारणा थी। अब वे विचार न मालूम क्यों लुप्त हो गये। यदि मैं अब भी उसी प्रकार खेला करता, उसी प्रकार पेड़ों की छाया में बैठ विचित्र बातें सोचा करता, बात-बात पर आश्चर्य प्रकटाता, एक छोटी-सी बात पर भी हँसते रहता तो सचमुच आज से सुखी होता। मेरी यह दशा न होती। बालकाल ही मनुष्य का वास्तविक शिक्षक है। तब मनुष्य में अवश्य दैवीय अंश रहता है, उसका चित्त निर्मल होता है, विचार सरल रहते हैं, मन में किसी के लिए राग-द्वेष नहीं रहता। एक छोटे-से खिलौने से भी मन रीझ जाता है; तब जीव का विश्व ही न्यारा होता है। वह तब निष्काम कर्मयोगी होता है।

किन्तु अब यह सब सोचने से क्या लाभ? अब मेरा छीना बालापन फिर मुझे मिल थोड़ी सकता है। पर यदि मैं इच्छा करूँ तो क्या मैं वैसा ही सरल-चित्त नहीं बन सकता? अब तो मुझे बहुत कुछ अनुभव भी हो गया है। मैं भले बुरे को पहचानने लग गया हूँ। अब तो मैं और भी उन्नति कर सकता हूँ। मनुष्य जैसा-जैसा बड़ा होता है वैसा-वैसा उन्नति करने का अधिकारी होता जाता है। उसके विचार भले-बुरे के सम्पर्क से परिपक्व होते जाते हैं। यदि अब मेरा शरीर बालकों का सा नहीं हो सकता तो मेरा हृदय अवश्य एक परिष्कृत बालक हो सकता है। बालकों का हृदय थोड़े से भय दिखलाने में डर जाता है, उनकी प्रकृति चंचल होती है, बुद्धि अस्थिर होती है, वे अपने को प्रलोभनों में पड़ने से रोक नहीं सकते हैं। वे अपनी किसी बात में दृढ़ नहीं रह सकते हैं। उनकी स्मरण शक्ति इतनी उन्नत नहीं होती है। वे गूढ़ बातों को नहीं समझ सकते हैं। किन्तु अब तो मुझे इन बातों का कुछ-कुछ ज्ञान हो गया है। मैं संसार से थोड़ा-बहुत परिचित हो गया हूँ। अतः अब मैं अपने मन को अवश्य परिष्कृत बालक बना सकता हूँ।

किन्तु हाय! मैं आशा को इतनी जल्दी कैसे भूल जाऊँ? उसकी वह छवि हटाने पर भी मेरे हृदय-पट से नहीं हटती। उसका अनुराग मन में पूरा रंग जमा चुका है। अब मैं उसे छोड़कर कैसे रह सकता हूँ? इस अवस्था में अपने हृदय को कैसे स्थिर रख सकता हूँ? नहीं, मैं आशा को नहीं छोड़ सकता! उसके बिना मुझे कहीं सुख नहीं मिल सकता। उसके बिना मेरा जीवन भार

है। जिसको आज तक मैं अपना सर्वस्व समझता आया हूँ, जिसको मैंने अपना सबकुछ समर्पण कर दिया है, जिसको मैं अपने हृदय-मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी बना चुका हूँ, जिससे मैं भावी में अनेक सुखों की आशा करता आया हूँ—उसे अपने हृदय से बाहर निकालकर, अपने ध्यान से हटाकर मैं कैसे रह सकता हूँ ? उसे भूलकर मैं उसका अनुराग कैसे मिटा सकता हूँ ?

पर हाय ! वह तो मुझे नहीं चाहती, मुझे नहीं अपनाती, वह तो मेरा प्रेम भूलकर किसी अन्य को प्यार करती है। मैं यह कैसे सह सकता हूँ ? यह सब कैसे सुन सकता हूँ ?

हाय ! हाय ! यह मेरी क्या दशा हो गयी है ? मुझे क्या हो गया है ? मैं अपने को संभाल नहीं सकता हूँ। हा ! नाथ, यह कैसी परीक्षा ले रहे हो ! यह मेरे किन पापों का फल है; यह मै किन कुकर्मों का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ ? प्रभो ! मुझे क्षमा करो। मुझे नव-बल दो। नवीन स्फूर्ति दो, उत्साह दो, मुझे कष्ट सहने की शक्ति दो। मुझे आशा के कर-कमल में असहाय तुषार-विन्दु-सा न ढुलकने दो। जिधर को वह हिले, उधर ही को न लुढ़कने दो। मुझे अपने को संवरण करने की सामर्थ्य दो।

"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥"

नाथ ! मुझे शक्ति दो ! अपने मन के ऊपर अधिकार दो ! मुझे वह बाल्यावस्था का-सा निष्काम मन फिर दो। मुझमें वे सरल विचार फिर भर दो।

भविष्य को सोचते-सोचते रात हो गयी ! उसके कान में सहसा देवी-फाटक को बन्द करने की आवाज पड़ी। उसका ध्यान भंग हो गया। भविष्य ने आकाश की ओर देखा। अगणित तारक-राशि निकल चुकी थी। कलाधर मन्द-मन्द हँस रहे थे, किन्तु भविष्य को वह हास अत्यन्त दुःखद प्रतीत हुआ।

"कहा जानि ये कहत है शशिहि शीतकर नाम।"

भविष्य घर को चला गया।

हा ! भविष्य, पारिजात का हार पराजित हो आज हार बनकर तुम्हारे गले पड़ा !

अष्टम पुष्प

स्वप्न-भंग

आज अमावस्या है। अर्धरात्रि का समय है। संसार नीरव हो रहा है। पेड़ों के पत्ते भी मौन धारण कर ज्यों के त्यों पड़े हैं। आकाश में तारे चमचमा रहे हैं। कलानिधि के बिना नभ शोभाहीन-सा जान पड़ता है। सर्वत्र घोर अन्धकार छाया हुआ है।

निमेष अपने कमरे में अर्धनिद्रावस्था में स्वप्न देख रहे हैं। एक ऊँचा पर्वत

है। उसमें चढ़ने के लिए राह नहीं है। चोटी में एक सुवर्ण सुमन खिल रहा है। निमेष उसे तोड़ने के लिए व्याकुल हो रहे हैं। इस समय क्या करें, उस फूल को कैसे तोड़ें। कुछ कर्त्तव्य नहीं सूझता है। निमेष खड़े-खड़े एकटक उसी फूल की ओर देख रहे हैं। इतने में मन्द-मन्द पवन बहने लगी। उस सुमन की सुरभि चारों ओर प्रसारित होने लगी। निमेष उसकी सौरभ को सूँघकर और भी लालायित हो उठे।

सहसा बाहर से शब्द आया। घुघ्घू! घुघ्घू! निमेष चौंककर उठ बैठे। फिर शब्द हुआ घुघ्घू!

निमेष कहने लगा—अहा! वह सुमन सुफला के मुख-सा मंजुल था। किन्तु हाय! मैं उसे न तोड़ सका। क्या अब मैं अपनी प्यारी को भी न पा सकूँगा? एक तो बुरा स्वप्न! द्वितीय उठते ही घुघ्घू का शब्द! बड़ा अपसगुन हुआ। आज पत्रोत्तर की प्रतीक्षा करते पूरे सात दिन हो गये हैं, किन्तु अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला। यदि वह मुझे प्यार करती तो क्या मेरी चिट्ठी का उत्तर तक नहीं देती?

हाय! किसी ने ठीक कह रक्खा है—"कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः।" मैं उसे इतना प्यार करता हूँ, उसे अपना सबकुछ दे चुका हूँ, उसके विरह में सूखकर काँटा हो गया हूँ। अपनी स्त्री तक को त्याग चुका हूँ। किन्तु हाय! वह मुझे प्यार नहीं करती। मेरी प्रार्थना तक स्वीकार नही करती। मेरी वेदना प्रतिदिन वृद्धि पाती जानी है। हृदय चंचल होता जाता है। उसे पाने की इच्छा प्रबल होती जाती है। किन्तु हाय! वह मुझे नहीं मिलती। क्या वह मेरी दशा से अपरिचित है? क्या वह मेरी व्याकुलता को नहीं जानती?

प्रेम, एक बार अपनी तन्त्री मेरी प्यारी के कानों के पास बजाकर उसे मेरी दशा का परिचय दे आओ। एक बार अपने अपूर्व बल से मेरी व्याकुलता की मूर्ति उसके सामने अंकित कर आओ। प्रेम, तुम एक अद्‌भुत चित्रकार हो, एक बार मेरे अनुराग के राग में मेरी विरह-व्यथा का चित्र मेरी प्यारी के दृष्टि-सन्मुख चित्रित कर आओ। जाओ, बन्धु, अपने बाल सहचर वसन्त को साथ लेकर मेरी प्रियतमा के हृदय मे रति की रुचिर कलिका विकसित कर आओ। वह अभी अज्ञान है। उसके अंचल को यौवन के पराग से परिपूर्ण कर आओ। एक बार अपना सुरभित कलेवर उसके पास ले जाकर उसके हृदय को उत्कण्ठित कर आओ। हे मित्र, सुनता हूँ कि संसार में तुम्हारे कितने ही अदृश्य सहचर फिरते हैं, जोकि समय-समय पर सृष्टि का कार्य करते है। प्रकृति के रम्य क्रीड़ा-स्थल में इन अदृश्य सहायकों की सहायता प्रत्यक्ष दिखलायी देती है। ये सृष्टि का शृंगार करते हैं। जल की तरंगों के साथ ये ही उछलते हैं। मलयानिल में ये ही गाते हैं। कुसुम-कली का कोमल मुख ये ही खोलते हैं। कमल-दल को सित तुषार का सुन्दर अलंकार ये ही पहनाते हैं। हे प्रिय बन्धु, एक बार अपने इन्हीं अदृश्य सहायकों से मेरा भी उपकार कर दो। एक बार इनकी सहायता से मेरी प्रियतमा की हृदय-कलिका भी विकसा दो। उसके हृदय-पद्म को भी यौवन के सुन्दर आभरण से सज्जित कर दो। रति के मधुर-मधु

से भर दो। प्रणय के पराग से परिपूर्ण कर दो। उसके बिना मुझे चैन नहीं है। उसके बिना मुझे सारा संसार अलंकार-रहित जान पड़ता है। मलयानिल प्रलय की-सी आँधी जान पड़ती है। कोकिल का कलरव भीष्म-गर्जन सा ज्ञात होता है। उषा-काल विरह की कराल-ज्वाल-सा लगता है। वायु के हिलोरे भू-कम्प से प्रतीत होते हैं।

"तनक कंकरी के परे नयन होत बेचैन।
वे वापुर कैसे जिवें जिन नयनन में नैन॥"

संसार में सचमुच ऐसे ग़रीबों का जीता रहना असम्भव है। इनके लिए ईश्वर भी दया नहीं करता। हा! नाथ, मेरी रक्षा करो, मेरी इच्छा पूर्ण करो। हे सदय, तुम दीन-दुखियों की सहायता करते हो, आज मैं भी दुखी हूँ, मेरी भी कुछ मदद करो।

तुम्हारा नाम लेकर अकिंचन भिक्षा-याचन करते हैं। हे कृपामय! मै भी तुम्हारे द्वार मे याचक हूँ, मुझे भी प्रेम-भिक्षा दिलाओ। याचक को विमुख नहीं करते। तुम्हारा भण्डार कभी खाली नही होता। फिर तुम मुझे एक छोटी-सी भीख देने में क्यों विलम्ब करते हो। हे नाथ! मेरी ओर "कृपा कोर हेरो", तुम अन्तर्यामी हो।

"मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उर पुर सबही के।"

इतने ही में निमेष के कानों में नूपुर-ध्वनि पड़ी। निमेष आनन्द-सागर में तैरने लगे। उसने समझा कि करुणाकर भगवान् ने मेरी विनय कान की। वह मन-ही-मन ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद देने लगा। निमेष के कमरे का प्रदीप पयाभाव से बुझ गया था। निमेष ने उस अन्धकार में किसी को हिलते देखा। उसने समझा कि मेरी प्रेयसी सुफला आ गयी है। उन्होंने पलंग से हाथ बढ़ाकर उसे अपनी छाती से लगा लिया और बड़े चाव से एक बार उसी अन्धकार में उसका अधरामृत पान किया।

ज्ञात नहीं निमेष के चक्षुओं ने उस अटल अन्धकार में अपनी कल्पित सुफला के अधर कैसे ढूंढ लिये। प्रेम! तुम्हारा बल अनन्त है।

निमेष को इस समय अपार आनन्द हुआ। वह चुप न रह सका। उसने एक बार अपनी प्रिया का मुख फिर चूम लिया। वह मन-ही-मन कहने लगा— अहा! इस समय मुझ-सा सुखी और कौन है! मुझ-सा भाग्यवान और कौन है! "मधुर मधु वधूना भाग्यवंतः पिवन्ति।" अहा! संसार में स्त्री ही सुखों की सार है। उसके बिना सब वृथा है।

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत्॥"

स्त्री के बिना संसार एक अँधेरा कूप-सा है। स्त्री ही अलंकारों में सर्वोत्तमालंकार है। इसके बिना कविता भी रसीली नही होती। यह मधुरता की एक मृदुल स्रोतस्विनी है। सौन्दर्य की एक अपूर्व खान है। इसके मुख को देखने मात्र से ही सौन्दर्य के सुन्दर मुक्ता झड़ते हैं। प्रणय ही सागर है। इसके हृदय में अपार प्रेम अन्तर्हित रहता है।

"अबला तुही है सबला, रस राग की है तबला।
तमपूर्ण मम हृदय को करती है क्षण में धवला।।"

स्त्री ही शृंगार की अधिष्ठात्री है। कामनाओं की कल्प-लता है। वह मनुष्य को मरते-मरते बचाती है। गिरते-गिरते उठाती है। जलते-जलते शीतल करती है। यह—

"............................. कन्दर्पवाणानलै-
र्दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्म्मितम्।।"

इसे कवियों ने सर्वौषधियों की खान बतलाया है। स्वयं कविकुल कलाधर कह गये हैं—

"क्व भ्रातश्चलितोसि वैद्यक गृहं किं तत्र शान्तीरुजां।
किन्ते नास्ति गृहे सखे प्रियतमा सर्वाङ्गदाहन्ति या।
वातश्चेत्कुचकुम्भमर्दनवशात्पित्तं न वक्रामृता-
च्छ्लेष्माणं विनिहन्ति हन्ति सुरतव्यापारकेलिश्रमात्।"

स्त्री संसार के अन्धकार में एक आलोक है। काले बादलों में स्थिर चंचला-सी है। पावक में पवित्रता-सी है। रूप की मंजरी है, छवि की पुंज है।

निमेष न जाने एक ही क्षण में क्या-क्या सोच गये। वे अपना सब दुःख भूल गये। उन्हें यह ध्यान भी नहीं रहा कि वह किसे आलिंगन किये है, किसे हृदय से लगाये है? उन्होंने अपना बाहुपाश और भी दृढ कर लिया। उन्हें याद आया—

"अदर्शने दर्शनमात्र कामा
दृष्ट्वा परिष्वंग रसैकलोला:।
आलिंगितायां पुनरायताक्ष्या-
माशास्महे विग्रहयोरभेदम्।।"

विजया प्रयत्न करने पर भी अपने को न छुडा सकी। वह लज्जा के मारे मर रही थी। निमेष उससे कहने लगे : हा प्रेयसि, आज तुमने बडे दिनों में सुधि ली। मुझे तुम्हारे बिना रात-भर नीद नहीं आती थी। तुम्हारे बिना सुख दुर्लभ हो गया था। प्रिये, इसीलिए मैंने तुम्हें पत्र लिखा था। तुम्हें अपनी व्यथा सुनायी थी। किन्तु तुमने आज तक मुझे उत्तर भी नहीं दिया। मै निराशा के सागर में डूब रहा था। तुमने सहसा आज मेरी सुधि ली।

विजया अधिक न सुन सकी। उसका हृदय दुःख तथा भय से काँप उठा। वह अपने को बलपूर्वक छुडाकर एक ओर खड़ी हो गयी। वह कुछ काल तक कुछ भी न बोल सकी। कहाँ वह सास का संवाद सुनाने आयी थी, कहाँ निमेष की यह प्रमत्तता देखकर वह अवाक् रह गयी। जब उसे कुछ साहस हुआ तो वह नम्र स्वर में बोली—

हाय! आपकी चाचीजी वहाँ मृत्यु-शय्या में पड़ी हैं, आप न जाने यहाँ क्या बक रहे हैं! वे आपको इस समय बुला रही हैं; एक बार मरने से पहिले मेरा मुख देख जा, कहती हैं। उन्हें इस समय बड़ी बेचैनी हो रही है। उन्हें एक बार देख आइए। निमेष ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्हें विजया

के ऊपर अत्यन्त रोष आया। वे अपना सारा प्रलापना भूल गये। वे ग्लानि तथा क्रोध से मन-ही-मन जलने लगे। उन्होंने न जाने सुफला को मन-ही-मन कितनी गालियाँ दे दीं। हाय! जो स्त्री अभी सर्व-सुखों की खान थी वही इस समय निमेष को पिशाचिनी-सी प्रतीत हुई।

निमेष को निरुत्तर देखकर विजया फिर बोली—अब इस समय यह सब भूल जाइए। उनकी अवस्था बहुत बुरी हो गयी है। ज्वर एक सौ छः डिगरी चढ़ गया है। स्वास फूल रहा है। आप उनके पास एक माह से नहीं गये। वे आपके लिए भी चिन्तिता हो रही है। हर समय आप ही का नाम लेती है। अब अन्तिम समय उनकी आज्ञा मान लीजिए। मुझे इस समय उन्होंने भेजा है।

निमेष के रोष का पारा इतने समय में बहुत चढ़ चुका था। वे प्रथम ही बिना पूछे कमरे में आने के कारण विजया के ऊपर क्रुद्ध हो रहे थे। इस समय उसका यह उपदेश सुनकर अपमान से और भी जल गये। उन्होंने उत्तर में उसे ज़ोर से एक लात मारी। विजया यह कठोर पदाघात नहीं सह सकी। और वात-हत-लता की तरह पृथ्वी में गिर पड़ी। उसका शिर स्टूल से जा लगा। उसके माथे में बड़ी चोट आ गयी। विजया कुछ समय तक उसी अवस्था में पड़ी रोने लगी। उसे और कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। जब उसकी पीड़ा कुछ कम हो गयी तो वह धीरे-धीरे उठकर बैठ गयी। और रोती हुई बोली—

दासी का अपराध क्षमा करें। आपके पद इसके पूज्य हैं। आज इसका बड़ा सौभाग्य हुआ जो इसने इन्हें छुआ। आपने यह इसकी पूजा की। किन्तु आप इसका इतना अनुरोध अवश्य मान लें। एक बार चाचीजी को चलकर अवश्य देख आयें। उनका बचना अब कठिन है।

विजया आगे कुछ न कह सकी। अंचल में मुख छिपाकर रोने लगी।

निमेष कर्कश स्वर में बोले—कमरे से बाहर चली जाओ। मैंने तुमसे कभी कह दिया था कि मेरे पास मत आओ। मैं तुम्हारा कोई नहीं हूँ। तुम मेरी स्त्री नहीं हो। जाओ, चली जाओ।

विजया—आप इसका फ़ैसला करनेवाले कोई नहीं हैं कि मैं आपकी स्त्री हूँ अथवा नहीं। मैं आपकी आज्ञा उल्लंघन कर यहाँ अपने लिए नहीं आयी। आपकी ही चाचीजी की आज्ञा से आयी हूँ। यदि आपकी इच्छा हो तो एक बार मेरी विनय मान लें तथा उनके पास चलें।

निमेष—मैंने कह दिया है कमरे से बाहर चली जाओ। नहीं तो अच्छा नहीं होगा। चाची का बहाना लेकर मुझे ठगने आयी हो। इस आधी रात के समय मुझे सोने दो।

विजया आगे कुछ न कह सकी। वह टूटा पोल्ली सीढ़ियों से धीरे-धीरे उतरकर अपनी सास के कमरे में चली आयी। उसकी सास शय्या पर सोयी कराह रही थी। उनका दम रुक रहा था। उन्होंने विजया को आती देखकर कुछ पानी पिलाने के लिए संकेत किया। विजया ने काँच का गिलास उठाकर धीरे-धीरे अपनी सास के गले में दो-तीन घूंट पानी डाला।

वह अपनी सास की यह दशा देखकर रोने लगी। विजया आज एक

मास से बराबर उनकी सेवा करती थी। सारी रात जागरण कर बिताती थी। उसका शरीर सूख गया था। मुख कान्तिहीन हो गया था। एक तो बिचारी अपने ही भाग्य से दुःखी थी, तिस पर भी आजकल सास की सुश्रूषा करनी पडती थी। किन्तु विजया अपनी सास की सेवा करने से कभी जी नही चुराती थी। उनका काम करने में कभी आलस नही करती थी। वह हर समय उन्हीं के पास बैठी रहती थी। उसकी सास भी कभी-कभी पुरस्कार-स्वरूप गालियों से उसकी अच्छी पूजा करती थी। जब विजया उन्हें कुनीन पिलाती थी तो उसकी सास कहती थी कि पापिष्ठा ने मुझे विष पिला दिया है। दुष्टा मेरी मृत्यु को ठहरी है। विजया चुपचाप यह सब सह लेती थी। उसे इन बातों से कुछ भी कष्ट न होता था। वह रात-दिन यही प्रार्थना करती थी कि किसी प्रकार मेरी सास स्वस्थ हो जाये। जब उसकी सास ने निमेष को आता नही देखा तो वे धीरे-धीरे बोलीं—

मेरा लाल कहाँ है? क्या नहीं बुला लायी मेरे निमेष को, जा उसे बुला ला। मुझे एक बार उसका मुख देखने दे। अब मैं मरती हूँ। कहाँ है मेरा लाल!

विजया अपनी सास के मुख से ऐसे वचन सुनकर और भी दुःखी हुई। उसे भी विश्वास हो गया कि इनका अन्तकाल निकट है। उसकी सास फिर कहने लगी—उठ, उसे बुला ला। मै उसी को ठहरी हूँ। मेरा लाल! मै उसका मुख देख लूं।

विजया इस समय क्या उत्तर देती? अपने स्वामी की दशा कैसे कहती। वह कुछ काल तक किकर्त्तव्यविमूढा-सी वही बैठी रही। तदनन्तर साहस करके फिर एक बार निमेष के कमरे मे जाने को उद्यत हुई, और उठकर उनके द्वार तक गयी। किन्तु उसे भीतर जाने का साहस नहीं हुआ। भीतर आलोक हो रहा था। निमेष ने प्रदीप जला लिया था। विजया ने द्वार मे झाँककर देखा कि निमेष सोये-सोये करवटें ले रहे है। उसने एक बार साहस कर कहा—

आपको वे बार-बार बुला रही हैं। यदि आप इस समय उन्हे देखने न जावेगे तो उन्हे अत्यन्त कष्ट होगा। आप कल तक उन्हे न पावेगे।

विजया यह कहकर उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। किन्तु कुछ उत्तर न मिला। विजया अपने भाग्य के लिए फूट-फूटकर रोने लगी। जब उसके दुःख का वेग कुछ कम हुआ तो वह एक बार कातर स्वर मे फिर बोली—

मैं उनसे क्या कह दूँ?

निमेष ने कर्कश स्वर मे उत्तर दिया—कह दो कि बुखार आ रहा है।

विजया आँसू टपकाती चली गयी। उसकी सास ने उसकी ओर एक स्थिर दृष्टि डाली। विजया उस दृष्टि का अभिप्राय समझ गयी। वह अपनी सास के पाँवों के पास खड़ी होकर धीरे-धीरे बोली—वे कहते है कि मुझे ज्वर चढ़ रहा है।

विजया ने यह कहकर नीची दृष्टि कर ली। उसकी सास मन-ही-मन बड़-बड़ाने लगी। कमरे के एक कोने मे एक दीप टिमटिमा रहा था। उसके क्षीण प्रकाश में सारा कमरा उदास-सा प्रतीत होता था। विजया ने पानी भरनेवाली

को अपने घर ही में ठहरा रक्खा था। उसे सूझा कि यदि इस समय डाक्टर साहब आ जाते तो अच्छा होता। ... ...डाहट का हाल मालूम हो जाता। उसने अपनी सास से पूछा – मा, डाक्टर को बुलाऊँ ?

विजया की सास ने इसमें कुछ असन्तोष-सा प्रकट नहीं किया। उसने पनिहारिन को उठाकर उससे डाक्टर को बुला लाने को कहा। पनिहारिन भी विजया के भाग से आज अच्छी ही मिली थी। वह कहने लगी, इस रात को उतनी दूर कौन जाता है ? बाप रे बाप ! क्या मुझे डर नहीं लगती ? हमारी जान मिट्टी की थोड़ी ही है। सारे दिन पानी भरते-भरते थकी रहती है।

विजया ने उसे डरा-धमकाकर किसी प्रकार डाक्टर को बुलाने को लगा दिया। पनिहारिन बड़बड़ाती चली गयी। विजया कमरे में अकेली ही रह गयी। उसके हृदय में तरह-तरह के विचार उठने लगे। वह सोचने लगी—हाय ! यदि ये मुझे अकेली ही छोड़ जावेंगी तो मैं क्या करूँगी ? उनकी तो मुझे कुछ भी आशा नहीं है। आज छः-सात महीने हुए उन्होंने मुझसे बोलना भी छोड़ दिया है। बार-बार कह चुके हैं कि तू मेरे योग्य नहीं है। हा दुर्दैव ! मैं क्यों न इनके बदले बीमार हुई। हे धर्मराज ! क्या तुम्हारे यहाँ भी न्याय नहीं रह ! क्या तुम भी मेरी सुधि नहीं लोगे ? हे पितृपति ! इनकी मृत्यु मेरे शिर डाल दो। मैं आपका बड़ा उपकार मानूंगी। हाय ! क्या दुर्भागियों को मृत्यु भी सुलभ नहीं है ? किन्तु यदि मै मर जाऊँगी तो मेरे पापों का फल कौन भोगेगा ? मेरे दुःखों का बोझ कौन ढोवेगा ? मेरे पूर्वजन्म-कृत अघों का प्रायश्चित्त कौन करेगा ? विजया इसी प्रकार विह्वल होकर रोती थी। फिर कभी सोचती थी : नहीं, मैं मृत्यु का वर क्यों माँग रही हूँ ? मेरे स्वामी की सेवा कौन करेगा ? उन्हें खाना ही बना के कौन खिला देगा ? वे कैसे ही हों किन्तु मेरे तो स्वामी ही हैं। हमारा यह सम्बन्ध कौन तोड सकता है ? वे मुझे चाहे कितना ही कष्ट दें, मै सब सह लूंगी। संसार में प्राणी आता ही किसलिए है ? सहने के लिए। ज्ञानवान पुरुषों का बचन है कि 'स' तीन हैं स, श, ष। इनका अर्थ है सहो ! सहो ! सहो ! तो मैं कष्टों से डरकर उनकी पद-सेवा से क्यों विमुख होऊँ ? मैं मर के उन्हें अकेला कैसे देख सकूँगी ? उनको दुःखी देखकर क्या मुझे यमराज के दरबार मे भी सुख होगा ? हाय !

सहसा प्रदीप की शिखा उज्ज्वल हो उठी। सारा कमरा प्रकाशमान हो गया। इसी समय बाहर से शब्द आया घुग्घू ! फिर सुनायी दिया घुग्घू ! विजया इसका कुछ भी रहस्य न समझ सकी। उसे कुछ भय-सा मालूम हुआ। वह अपने सास के मुख की ओर एकटक देखने लगी। प्रदीप का आलोक धीरे-धीरे मन्द होने लगा। कमरे में अन्धकार अधिकार जमाने लगा। रोगिनी का साँस जल्दी-जल्दी चलने लगा। उसने जल के लिए संकेत किया। विजया जल का गिलास लेने को उठी। दीपक बुझ गया। रोगिनी का जीवन-प्रदीप भी ठीक इसी समय अवसान हो गया ! ! ! विजया की सास उसे अन्धकार मे छोड़ गयी ! ! !

विजया शीघ्रता से प्रदीप प्रज्वलित कर पानी का गिलास लेकर सास के पास आयी। वहाँ देखा तो काम पूरा हो गया है ! विजया अपने दुःख का

वेग न रोक सकी। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी रोने की आवाज सुनकर निमेष भी घबड़ा गये।

दिशाएँ खुल गयी थीं। धीरे-धीरे दशों दिशाओं में विजया के दुःख की ज्वाल फैल गयी। तारक-दल ने कातर हो अपना मुख छिपा लिया। विहग-वृन्द विजया को दुःखी देखकर तरह-तरह के शब्दों में उससे समवेदना प्रकट कर रहे थे। डाक्टर साहब रोने की आवाज सुन बाहर ही से उलटे-पाँव लौट गये। पनिहारिन शीघ्रता से भीतर आयी। वह विजया को धीरज बँधाने लगी। किन्तु विजया का शोक और भी उमडने लगा। वह रो-रोकर विलाप करने लगी।

हाय! मा, मुझे न छोड जाओ। मैं तुम्हारे विना अकेली कैसे रहूँगी? हाय! तुम सूनसान चली गयी और मुझे अन्धकार में छोड़ गयी। मा! मुझे भी अपने साथ ले जाओ। मैं वहाँ तुम्हारी सेवा करूँगी। मा! मा!—

विजया यह कहते-कहते अचेत होकर अपने सास के पाँवों मे गिर पड़ी। मानो वह भी अपने सास के साथ जाने को उद्यत हुई। पनिहारिन यह देखकर घबडा गयी। वह दौडती हुई निमेष के कमरे मे जाकर यह सब समाचार सुना आयी। निमेष अवाक् रह गये। वे अपना सब खेल भूल गये। उनका स्वप्न सहसा भंग हो गया। उन्हे इस समय कुछ कर्त्तव्य ज्ञात नही हुआ। वे किंकर्त्तव्य-विमूढ से कुछ काल तक एकटक पनिहारिन का मुख ताकते रहे। तदुपरान्त वे सहसा रो पडे। निमेष खूब रोये। वे अपनी चाची को बहुत प्यार करते थे। उनके माता-पिता नहीं थे। चाची ने ही उनका बालकाल मे लालन-पालन किया था। उनका भी निमेष के सिवाय और दूसरा न था। वे बाल-विधवा थीं।

जब निमेष के दुःख का वेग कुछ कम हुआ, तब वे अपनी चाची के कमरे मे गये। उन्होंने देखा कि चाची स्वर्गलोक को चली गयी है। पास ही विजया मूर्छित होकर पड़ी है। निमेष का दुःख फिर प्रबल हो आया। वे फिर फूट-फूटकर रोने लगे। अपने को बार-बार धिक्कार देने लगे, और मन-ही-मन कहने लगे—हाय! मैंने मरती समय चाची का मुख भी नही देखा। मैं बडा कृतघ्न हूँ। यदि मै उनकी दवा करता तो वे अभी न मरती। हाय! मै जानता था कि चाचीजी बीमार है किन्तु मै फिर भी कभी उनके पास नही गया। उन्होंने मुझे बुलाया। मुझे मरती समय अपना मुख दिखा जा कहके बार-बार विजया को मेरे पास भेजा, किन्तु हाय! हाय! मै तब भी नही आया। एक बार अपना यह कलंकित मुख भी उन्हें न दिखाया। मरती समय उनके मुख का आशीर्वाद भी ग्रहण नही किया! हाय! मै बड़ा हत्यारा हूँ! मै महापापी हूँ! दुष्ट आततायी हूँ! मैंने दूसरी स्त्री पर मोहित होकर अपना सर्वनाश किया! अपना सबकुछ खोया! अपनी चाची की मृत्यु की। अपनी स्त्री को उतना कष्ट दिया।

निमेष ने एक बार विजया की ओर दृष्टि डाली। विजया का सारा शरीर पीला पड़ गया था। वह केवल अस्थि-पिंजर-शेषा रह गयी थी। वह कान्तिहीना

हो गयी थी। उसकी आँखें भीतर चली गयी थी। निमेष को अत्यन्त कष्ट होने लगा। उन्हें अपने ऊपर बड़ी घृणा हुई। उन्होंने पनिहारिन से विजया के मुख में पानी छिड़ककर व्यजन करने को कहा। विजया की चेतना धीरे-धीरे लौट आयी। उसने देखा कि निमेष उसके पास बैठे रो रहे हैं। वह भी फूट-फूटकर रोने लगी। बहुत काल तक दोनों रोते रहे। तदुपरान्त निमेष विजया से कहने लगे—

विजया, मुझे क्षमा करो प्रेयसि ! मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया। हाय ! मेरे पापों का फल मुझे मिल चुका है। मुझे क्षमा करो प्रिये !

विजया अधिक न सुन सकी। वह अपने स्वामी के चरणों में सिर रखकर रोने लगी। और कातर स्वर में कहने लगी—

नाथ ! आपने मेरा क्या अपराध किया जो मैं आपको क्षमा करूँ ? आप मेरे आराध्य हैं। यह सब फल मुझे मेरे ही दुर्भाग्य से मिला। मैं ही अपराधिनी हूँ। आप मुझे क्षमा करें।

निमेष ने विजया को उठाकर अपने हृदय से लगा लिया। विजया का चिर दुःख आज शान्त हुआ। इस समय तक पड़ोस के आदमी भी रोना धोना सुन निमेष के घर एकत्रित हो गये थे। निमेष उनकी सहायता से अपनी चाची की अन्तिम क्रिया करने लगे। विजया दूसरे कमरे में चली गयी।

धन्य ! विजया, आज तुम सचमुच विजया हुई !

नवम पुष्प

कर्त्तव्य-निर्णय

भविष्य को आशा का वियोग असहनीय हो गया। उसके वियोग का दुःख दुर्दान्त हो गया। वे अपने को किसी प्रकार न संभाल सके। आशा की मूर्ति चेष्टा करने पर भी अपने हृदय से न हटा सके। इच्छा करने पर भी उसे नहीं भूल सके। आशा के प्रेम ने उन्हें बाँध लिया था। वे यह बन्धन लाख उपाय करने पर भी न तोड़ सके। प्रेम का यह अदृश्य गुण टूटने पर भी न टूटा। भविष्य की दशा उन्मत्त मनुष्यों की-सी हो गयी। उनका मन किसी काम में नहीं लगता था। उनकी आँखों की निद्रा चली गयी। उनकी रात्रियाँ आशा के ही ध्यान में बीतती थीं। जब भविष्य अत्यन्त व्याकुल हो गये, अपने को किसी प्रकार न थाम सके तो वे श्री दुर्गादेवीजी के पुजारीजी महाराज के पास जाने को उद्यत हुए। पुजारीजी महाराज एक वृद्ध तथा ज्ञानवान पुरुष थे। उनका बहुत बड़ा मान था। भविष्य उनका बड़ा आदर करते थे। वे अपने बाल्यावस्था में भी कभी-कभी उनके पास जाया करते थे। पुजारीजी महाराज भविष्य को अच्छी-अच्छी बातें बतला देते थे।

भविष्य को इस अन्धकार में केवल वे ही एकमात्र आलोकित नक्षत्र से दिखलायी दिये। इस चंचल सागर में केवल वे ही एक स्थिर स्तम्भ से प्रतीत हुए। इस 'माया कानन' में वे ही वरदायिनी शक्ति से ज्ञात हुए—भविष्य ने दृढ़ संकल्प कर लिया कि उन्ही के शरण मे जाकर उन्हें अपना दुःख सुनाऊँ। मेरी इस दुर्बलता की औषध केवल मात्र वे ही कर सकते हैं। नहीं तो मैं इस दुःख का बोझ नहीं ढो सकूँगा। भविष्य यह संकल्प करके पुजारीजी महाराज के पास गये। जाते ही उन्होंने पुजारीजी के चरणों में प्रणाम किया। पुजारी महाराज ने 'चिरायु रहो'—कहकर उन्हे बैठने को संकेत किया।

भविष्य उन्ही के पास एक दूसरे आसन में बैठ गये। पुजारीजी महाराज बोले—भविष्य ! तुम कुशल से तो रहे ?

भविष्य—हाँ महाराज, आपकी कृपा से सकुशल रहा।

पुजारी—आज इस दोपहर को किस कार्य-विशेष के लिए आना हुआ ?

भविष्य—महाराज, अनन्त सागर में बहता हुआ प्राणी सामने सहारा देखकर जिस हेतु उसके पास जाता है, रोग से पीड़ित जिस कारण वैद्य के पास जाता है, ग्रीष्म के प्रखरातप से सन्तप्त मनुष्य पेड़ की छाया देखकर जिस लिए उसके पास जाता है, सघन बन के निबिड़ान्धकार में पथ भूला हुआ दूर आलोक देखकर जिस लिए उसके पास जाता है, उसीलिए मै भी आपके पास आया हूँ। आज संसार में मुझ-सा दुःखी कोई नहीं है, मुझ-सा भाग्य का मारा कोई नहीं है, मुझ-सा कंगाल कोई नहीं है ! मैं आपके शरण आया हूँ। मेरी रक्षा करो। मुझे इस दुःख से छूटने का प्रयत्न बताओ।

पुजारीजी महाराज भविष्य की बातें सुनकर आज कुछ विस्मित-से हुए। उन्होने भविष्य के मुख से ऐसी बातें और कभी नही सुनी थीं। वे भविष्य के कन्धे पर हाथ रख पूछने लगे—

भविष्य, कहो तो सही तुम्हारे ऊपर ऐसा क्या दुःख आ पड़ा है ? ऐसी कौन-सी आपत्ति है जिससे तुम इतने घबड़ाये हो ?

भविष्य—महाराज, मेरा दुःख बड़ा दुस्सह है। मैं घोर आपत्ति मे फँस गया हूँ। हाय ! मैं आते ही जग में छला गया हूँ।

भविष्य ने धीरे-धीरे पुजारीजी महाराज को अपना सारा दुःख कह सुनाया। उन्हें अपनी दशा से भली-भाँति परिचित करा दिया।

पुजारी—भविष्य, मुझे तुम्हारी बातें सुनकर तुम्हारे ऊपर बड़ी दया आ रही है। किन्तु मैं तुम्हें इस विषय में क्या सहायता दे सकता हूँ ?

भविष्य—महाराज, आप सबकुछ कर सकते हैं। आप मुझे डूबने से बचा सकते हैं। मुझे अब आप केवल यह बतला दें कि मैं इस बन्धन से मुक्ति कैसे पा सकता हूँ ? इस दुख को कैसे भूल सकता हूँ ? अब मैं विवाह करना नहीं चाहता। अब मुझे यह लालसा नहीं है। किन्तु मैं आशा का ध्यान नहीं छोड़ सकता। उसकी याद मुझे पल-पल व्यथित करती है।

पुजारी—तुम्हारी दशा इस समय अत्यन्त शोचनीय हो गयी है, इसमें कुछ सन्देह नही। किन्तु इससे छुटकारा पाना कोई बड़ी बात नही है। तुम

प्रेम को पहिचानो। प्रेम किसे कहते हैं, तुम नहीं जानते। इसीलिए तुम्हें यह दुःख हो रहा है। यदि तुम प्रेम को पहिचानते तो तुम आशा के लिए इतने व्यथित कभी न होते। उसके लिए तुम्हें इतनी व्याकुलता कभी न होती। उसका वियोग तुम्हें दुःख नहीं देता।

भविष्य—महाराज, प्रेम किसे कहते हैं ? मुझे आप कृपा कर यह बतला दें। हाय ! क्या मैं आज तक आशा को प्यार नहीं करता था ?

पुजारी—नहीं, तुम यथार्थ में आशा को प्यार नहीं करते। उससे तुम्हारा वास्तविक प्रेम नहीं है। यह तुम्हारा भ्रम है, प्रेम के नाम में आसक्ति है। वास्तविक प्रेम ऐसा नहीं होता। यदि तुम आशा को सचमुच प्यार करते तो क्या आज तुम आशा से अपना सम्बन्ध तोड़ने की चेष्टा करते ? उसके प्रेम को अपने हृदय से हटाने का प्रयत्न करते ? जिस दिवस से आशा ने तुम्हें अस्वीकार किया उसी दिन से तुमने आशा से कितनी ही बार मन-ही-मन भला-बुरा कह दिया होगा। तुम तब से उसके लिए अशुभ चिन्तना कर रहे होगे। कहो, ऐसा है नहीं ?

भविष्य—हाँ, महाराज आपकी धारणा सत्य है। मैं कई बार आशा के अशुभ के लिए भगवान से प्रार्थना भी कर चुका हूँ।

पुजारी—हाँ, यदि तुम उससे यथार्थ में प्रेम रखते, उसे प्यार करते, तो क्या आज तुम उसके शत्रु हो जाते ? उससे द्वेष-भाव रखते ? उसका अशुभ ध्यान में लाते ? मैं इसीलिए कहता था कि तुम प्रेम को नहीं पहिचानते और इसीलिए तुम्हें यह दुःख हो रहा है। तुम यथार्थ में प्रेमी नही हो। जो वास्तविक प्रेमी होते हैं उन्हें अपने प्रेमपात्र की स्वीकृति-अस्वीकृति से कुछ मतलब नहीं रहता। चाहे उनका प्रेमपात्र उन्हें घृणा करे, उन्हें द्वेष की आँखों से देखे। वे अपने प्रेमपात्र से मन नहीं हटाते। उसके शत्रु नहीं बन जाते। उनका प्यार उसके लिए और भी बढ़ जाता है। उनका अनुराग और भी गाढ़ा हो जाता है। वे सदा अपने प्रेमपात्र पर दया ही करते है। उसके शुभ-चिन्तन में ही मग्न है। सच्चे प्रेमी अपने प्रेमपात्र से अपना प्रेम नहीं जतलाते। उससे नहीं कहते कि मैं तुझे प्यार करता हूँ, मैं तुझे चाहता हूँ। वे अपने प्रेम को गुप्त रखते हैं। अपने हृदय ही में छिपाये रखते हैं। समय आने पर उनका प्रेम उनके प्रेमपात्र को स्वयं मालूम हो जाता है।

भविष्य—किन्तु ऐसा प्रेम किस प्रकार हो सकता है ?

पुजारी—इस प्रकार का प्रेम केवल स्वार्थ का त्याग करने ही से हृदय में उत्पन्न हो जाता है। जब मनुष्य अपने स्वार्थ को नष्ट कर देता है, जब वह इस बात का ध्यान छोड़ देता है कि मुझे मेरे प्रेमपात्र से सुख हो, जब वह उससे किसी प्रकार के लाभ की इच्छा नहीं रखता, तभी ऐसा प्रेम प्रसूत हो सकता है। यही प्रेम यथार्थ में प्रेम है। यही वास्तविक अनुराग है। प्रेम को सुख से मिश्रित करना, उसे विषय-वासना से मलीन करना, कामना-तृप्ति से कलंकित करना सच्चे प्रेमियों का काम नहीं है। ऐसे मनुष्य प्रेमी नहीं कहलाते। ऐसे ही प्रेमियों के पास दुःख फटकता है। इन्हीं को विरह भी सताता है, तथा इन्हीं को काम

भी पीड़ित करता है। ऐसे ही प्रेम का क्षय भी होता है। सच्चा प्रेम अभ्यास से उज्ज्वल रूप धारण कर लेता है। वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। उसका कभी क्षय नहीं होता। वह लोकोत्तर आनन्द का देनेवाला बन जाता है। सच्चा प्रेमी अभ्यास करने से धीरे-धीरे ईश्वर को भी पा लेता है।

भविष्य—महाराज, मनुष्य अपना प्रेम ऐसा उन्नत किस प्रकार बना सकता है कि उसे ईश्वर मिल जाय ?

पुजारी—इस प्रश्न का उत्तर थोड़े शब्दों में नहीं दिया जा सकता। ऐसे प्रेम का पाना बडा कठिन होता है। सुनो, मनुष्य जब सच्चा प्रेमी हो जाता है अर्थात् वह जब अपने स्वार्थ को नष्ट कर निष्काम रूप से अपने पात्र को प्यार करने लगता है, जब उसके हृदय से विषय-वासना उठ जाती है, जब वह क्षणिक सुख की आशा को छोड़ वास्तविक सुख की इच्छा करने लग जाता है—तब उसका प्रेम किसी व्यक्ति-विशेष पर नहीं रहता। वह क्रमशः बढ़ता जाता है और धीरे-धीरे सारा संसार उसका प्रेमपात्र हो जाता है। वह सारे संसार को एक सौन्दर्य-सा अनुभव करने लगता है। ऐसी अवस्था में उसका द्वेष, द्रोह, क्रोध, लोभ सब क्षय हो जाता है। उसे किसी का विरह नहीं सताता, क्योंकि सारा संसार उसका प्रेमपात्र बन जाता है। उसे किसी पर घृणा नहीं रहती, उसका हृदय निर्मल हो जाता है, विचार पवित्र हो जाते हैं। जब प्रेम इस अवस्था तक पहुँच जाता है तब वह प्रेम भक्ति कहलाता है। भक्ति का आशय यही है। केवल राम नाम जपना भक्ति नहीं कहलाती। यथार्थ भक्ति विश्व-प्रेम ही से आती है। तभी मनुष्य विश्व-मूर्ति को प्यार करता है। जब तक उसके हृदय में द्वेष तथा कामादि रहता है तब तक वह भक्त नहीं हो सकता। और द्वेषादि का नाश तभी हो सकता है जब मनुष्य विश्व-प्रेमी हो जाता है, जब सारा संसार उसका प्रेमपात्र बन जाता है, जब उसके लिए ईर्ष्या-द्वेष करने को कोई नहीं रहता। वह किसी के ऊपर क्रुद्ध नहीं होता। यही प्रेम यथार्थ में भक्ति है।

इस प्रेम की एक और भी विशेष अवस्था होती है, जिस अवस्था में कि प्रेम चरमावस्था में पहुँच जाता है। वह अवस्था इसके अर्थात् विश्व-प्रेम के बाद की है। उस अवस्था को ईश्वर-भक्ति कहते हैं।

भविष्य—महाराज, आपके इस उपदेश से मेरा भ्रम दूर हो गया है। मैं आपका कृतज्ञ हूँ। किन्तु आपकी बातों को सुनकर मेरे मन में कुछ शंकाएँ उठ रही है।

पुजारी—अच्छा, तुम उन आशंकाओं को एक-एक कर कहते जाओ। मैं यथाशक्ति उनका समाधान करने का प्रयत्न करूँगा।

भविष्य—महाराज, जो आपने अन्त में कहा कि ईश्वर-भक्ति ही प्रेम की चरमावस्था है, सो क्या विश्व-प्रेम ईश्वर-भक्ति नहीं है ? क्या ईश्वर-भक्ति इससे भिन्न है ?

पुजारी—तुम्हारे हृदय में जो शंका उठी है वह उचित ही है। विश्व-प्रेम ईश्वर-भक्ति का एक खण्ड है। किन्तु ईश्वर-भक्ति की प्राप्ति के लिए इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना कोई ईश्वर-भक्ति को प्राप्त भी नहीं

कर सकता। सारे विश्व की भक्ति करना एक प्रकार से ईश्वर-भक्ति ही करना है।

"सर्वेषां यः सुहृन्नृत्यं सर्वेषां च हिते रतः
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले।"

यथार्थ में मनसा वाचा कर्मणा विश्व-सेवा करना तथा दूसरों का उपकार करना ही धर्म अर्थात् कर्त्तव्य है। जब जीव इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है और जब उसका प्रेम इससे भी उन्नत होने लगता है, तब वह अपने लिए एक और प्रेम-पात्र को ढूंढता है। अर्थात् जब वह मनसा वाचा कर्मणा "सर्वेषां च हिते रतः' हो जाता है, जब वह अपने द्वेष कामादि को जीत लेता है, जब वह क्षमा, दया, उदारता आदि सात्विक गुणों से अपने को अलंकृत कर मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेता है, तब वह देवत्व को पाने की इच्छा करता है, तब वह मनुष्यत्व का पालन करते हुए तथा लोक-सेवा करते हुए भी साथ-ही-साथ अपने प्रेम को अधिक उन्नत कर ईश्वर की ओर लगाता है, उसकी प्राप्ति के लिए लगाता है। इसी प्रेम को ईश्वर-भक्ति कहते हैं। तब मनुष्य "सर्व धर्मान् परित्यज्य" अर्थात् अपने सब गौण कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर उस महान् कर्त्तव्य में ईश्वर की शरण में चला जाता है। वह पहले-पहले प्रस्थर की मूर्तियों में उस निराकार की कल्पना कर अपनी प्रवृत्ति उस ओर लगाता है।

"शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृण्यशिलामर्याचनम्"

इस प्रकार वह अपनी अन्य गौण क्रियाओं को ईश्वर ही में अर्पण कर देता है। यही श्रीकृष्ण भगवान् भी गीता में कहते है—

"यत्करोषि यदाश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।"

और इस प्रकार जब उस "ब्रह्मात्मैक्य" ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उसे शान्ति मिल जाती है। इससे उन्नत अवस्था प्रेम की ओर नहीं होती। इस अवस्था में जीव ईश्वर में लय हो जाता है।

"ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।"

भविष्य—महाराज, यह विषय अत्यन्त गूढ निकला। मैं इसे नहीं समझ सका। मैंने आपको वृथा कष्ट दिया। अब आप मुझे यह बतला दें कि स्वार्थ किसे कहते हैं? क्योंकि आपने बहुत बार कहा है कि स्वार्थ का नाश कर देना चाहिए।

पुजारी—मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त चंचल होती है। उसका चित्त अस्थिर होता है। वह मनुष्य को तरह-तरह के प्रलोभन देकर बुरे कर्मों की ओर प्रवृत्त करता है। मन पर अधिकार जमाना अत्यन्त कठिन काम है। मनुष्य कभी किसी लालच में पडता है, कभी किसी में। वह अपने को जान-बूझकर भी व्यसनों में फँसने से नहीं रोकता। ऐसी अवस्था में जब कि मनुष्य किसी प्रलोभन में पडा रहता है, वह भारी-भारी अनर्थ करने को उद्यत हो जाता है। उसे उस समय उचितानुचित का विवेक नहीं रहता। वह अपने कार्य-सिद्धि के लिए अर्थात् उस प्रलोभन देनेवाली वस्तु की प्राप्ति के लिए यदि कहीं पर आवश्यकता पड़े तो

दूसरों को कष्ट देने में तत्पर हो जाता है। अपने लिए दूसरे की हानि कर देता है। अपने सुख के लिए दूसरे को सुख से वंचित करना चाहता है। दूसरों को दुःख देता है। यही सर्वाधम श्रेणी का स्वार्थ है। ऐसी प्रकृति के पुरुष नीच कहाते हैं। जो मनुष्य दूसरों के लाभ के लिए अपना स्वार्थ नहीं छोड़ता, अपने सुख को त्याग दूसरे का दुःख मोचन नहीं करता, परहित में तत्पर नहीं रहता, वह सामान्य श्रेणी का मनुष्य है। किन्तु यह स्वार्थ उस पूर्व-स्वार्थ से कुछ अच्छा है। जो मनुष्य दूसरों के लिए अपना सुख छोड़ देते हैं, दूसरे का दुःख मोचन करने के लिए अपना सर्वस्व लुटा देते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे ही परार्थी हैं। विश्व-प्रेमी हैं। ऐसे लोकहितकारकों को धन्य है। महात्मा भर्तृहरिजी ने चार प्रकार के पुरुष बतला रक्खे हैं—

"एके सत्पुरुषा परार्थघटका: स्वार्थान्परित्यज्य ये।
सामान्यस्तु परार्थमुद्यमभृत: स्वार्थोऽविरोधेन ये।
तेमी मानवराक्षसा: परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
येतु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।"

भविष्य—महाराज, आज आपने मेरा बड़ा उपकार किया, भूले हुए को पथ बतलाया। अब आप कृपाकर यह बतला दीजिए कि वास्तविक सुख किसे कहते हैं। और उसका साधन क्या है?

पुजारीजी महाराज भविष्य के प्रश्न पूछने के ढंग पर प्रसन्न होकर बोले—जिस सुख का वाह्येन्द्रियों की तृप्ति अथवा सन्तुष्टि से सम्पर्क न हो तथा जो सुख आत्मा को तुष्टिकारक हो वही वास्तविक सुख है। जिस सुख से भूख-प्यास तृप्त हो, काम-वासना पूरी हो तथा धन-सम्पत्ति मिले, वह सुख यथार्थ में सुख नहीं है। उस सुख में आत्मानन्द नहीं है। वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिए वाह्येन्द्रियों के सुख को तिलांजलि देनी पड़ती है। इन्द्रिय-निग्रह करना पड़ता है। तृष्णाओं का नाश करना पड़ता है। इच्छाओं को नष्ट करने मे जो सुख मिलता है वही वास्तविक सुख है। यह स्वर्ग-सुख से भी श्रेष्ठ है।

"यच्चकाम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत: षोड़शीं कलाम्।"

मनुष्य को सदा इसी सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। विषय-वासना से लब्ध सुख क्षणिक सुख है। ऐसे सुख का अभिलाषी मनुष्य विश्व-प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे सुखोपभोग से विषय-वासना घटने के बदले और भी बढ़ती जाती है। इस सुख की इच्छा से महानन्द प्राप्त नहीं होता।

भविष्य—महाराज, आपको धन्य है। मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मुझे केवल एक प्रश्न और पूछना है। वह यह कि दुःख का निर्वाण कैसे किया जाता है? दुःख को नाश करने के मुख्य साधन क्या हैं?

पुजारी—तुम मुझसे निस्सन्देह पूछो। मुझे कोई इसमें कष्ट नहीं हो रहा है। यह ज्ञान तुम्हें मैं नहीं बता रहा हूँ। यह हमारे पूर्व-पुरुषों का ही उपार्जित है। तुम्हें उन्हीं के लिए कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। अच्छा अब अपने प्रश्न का

उत्तर सुनो। दुःख को नाश करने का मुख्य साधन यथार्थता को पहचानना है। जो मनुष्य यथार्थता को जानता है उसके लिए सुख-दुःख एक समान हो जाते हैं। बाह्येन्द्रियों के दमन करने से ही दुःख का भी नाश हो जाता है। दुःख इन्हीं के साथ है। आत्मा को दुःख कभी छूता भी नहीं। तृष्णाओं से ही दुःख प्रसूत होता है। अतः इन्हीं का दमन करना चाहिए। किसी काम को करने पर उससे अच्छे फल की प्राप्ति की इच्छा रखने ही से दुःख होता है। इसीलिए गीता में भगवान ने कहा है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनः।"

हमें केवल कर्म करने का अधिकार है। लाभालाभ की इच्छा करने का नही। यही इच्छा सर्व दुःखों की मूल है। जो कोई काम जिस समय आ पड़े उसे भले-बुरे का विचार को छोड़कर तत्क्षण ही पूरा कर लेना चाहिए। दुःख का ध्यान करने ही से दुःख बढ़ता है। इसीलिए कहा है कि—

"भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिंतयेत्।"

दुःख का ध्यान न करना ही दुःख-नाश करने की परमौषधि है। अपने हृदय में किसी प्रकार की चिन्ता को स्थान नहीं देना चाहिए।

भविष्य—महाराज, अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ। आज आपने मेरे लिए अत्यन्त कष्ट उठाया। मैं सदा आपका कृतकृत्य रहूँगा। आपने मुझे आज नवीन जीवन दिया, नूतन उत्साह दिया, नव्य स्फूर्ति दी, तथा नव बल प्रदान किया। अब मैं जाने की आज्ञा चाहता हूँ।

पुजारी—अब मेरा भी सन्ध्या करने का समय आ गया है। तुम अपने घर को जाओ। दृढ़ प्रतिज्ञ रहो। मन में धैर्य रक्खो। ईश्वर तुम्हारी सहायता करेगा।

भविष्य अपने घर को चला गया। पुजारी महाराज के सुधोपम उपदेशों ने भविष्य को नवीन भविष्य प्रदान किया।

दशम पुष्प

पुनराशा

सायंकाल का सुहावना समय है। विहग-राशि अपने कलरव से चारों ओर माधुर्य प्रसार कर रही है। सुफला अपनी खिड़की के पास बैठी 'सौन्दर्योपासक' पढ़ रही है। "सुन्दरि, इस संसार में क्या प्रेम का पुरस्कार नहीं है? क्या प्रणय का प्रतिदान नहीं है?"—सुफला इतना पढ़कर मन-ही-मन कहने लगी: क्यों नहीं है? प्रेम का पुरस्कार अवश्य है। इस संसार में इस पुरस्कार से वंचित कौन रहता है?—वह, आराम में कमल-दल सकुचाने लग गया है। कमलनाथ अस्ताचल में छिप गये हैं। वही सौन्दर्य है। प्रातः जिस अरुण मुखमण्डल ने शृंगार किया था इस समय उसी अरुण मुख-मण्डल ने शृंगार का संहार कर दिया है। यह प्रेम का पुरस्कार नही तो क्या है? कितनी मधुर विरह-वेदना

विश्व में प्रसारित हो रही है, कैसा मर्म-भरा राग फैल रहा है।

नहीं, इसे व्यर्थ वेदना कहकर भी कलंकित नहीं करना चाहिए। यह वेदना नहीं है। स्निग्ध माधुर्य है, स्थिर सौन्दर्य है। इसकी ज्वाला पवित्र है, इसका रंग मनोहर है। इसकी जलन अत्यन्त शीतल है। इसका घाव अदृश्य है। यह एक प्रकार का वह्नि-पथ है। यह ज्वाला मद-मोह-मात्सर्य को भस्मसात् कर प्रणयिनी को भी एक पवित्र ज्वाला बना देती है। इस ज्वाला की ज्योति रात को अवदात प्रभात की ललित लालिमा में परिणत कर देती है। प्रेमसी इस ज्वाला की प्रियतमा-पतंगिनी बनती है। वह भस्म नहीं होती प्रत्युत स्वयं एक ज्वाला बन जाती है।

अहा, इस पवित्रता का शुभ-जन्म इसी सायंकाल की अरुणिमा से हुआ। यह अरुणिमा कैसा मंजुल मेल है। यही पवित्रता उच्च-पादप-शिखरों,उत्तुंग-अद्रि चूड़ों, तथा स्वेत-वारिद-राशि में अन्तर्हित रहती हुई विरहिणी के हृदय में पैदा होती है। कैसा पुनर्जन्म है, कैसा अलौकिक संस्कार है, यही पवित्र ज्वाला संयोग के समय मानिनी का मान बनती है, मुग्धा की लज्जा-शीलता बनती है, मध्याधीरा की कोपान्वित-वचनावली बनती है तथा प्रौढ़ाधीरा की सुमन-माल की मार बनती है।

प्रेम का पुरस्कार अनन्त है ! वह दुःख होने पर भी सुख है, अशान्ति होने पर भी शान्ति है। चपलता होने पर भी अचपलता है, रुदन होने पर भी गम्भीर गान है, वियोग होने पर भी मेल है, व्यथा होने पर भी एक अपूर्व आनन्द है, दुर्बलता होने पर भी एक अपूर्व बल है। जीवन-सर्वस्व दान का मूल्य तल्लीनता है, अपने चित-चोर के लिए व्याकुल होना है, उससे प्रार्थना करना है, उसके न पाने पर विरह-व्यथित होना है। यही तल्लीनता उसकी प्राप्ति है, यही व्याकुलता सुख है, यही अनुनय स्वीकृति है, तथा यही विरह उससे मेल है। अहा ! कितनी अपूर्वता है, कितना वैचित्र्य है।

सुफला फिर पढ़ने लगी—"जब कोई दूसरा नहीं मिलता तब मन आप-ही-आप बातें किया करता है। किन्तु इन दोनों में अन्तर यही है कि दूसरे से कहने-सुनने पर दुःख का बोझ हल्का होता है, और मन-ही-मन चिन्ता करने से दुःख अधिक होता जाता है।"

सुफला अपने से स्वयं प्रश्न करने लगी—किन्तु अच्छा कौन है ? आनन्द किसमें है ? वह कहने लगी, न कहना ही अच्छा है। मैं अपने हृदय की यातना किसी के सन्मुख प्रकट नहीं करूँगी। अपना दुःख किसी से न कहूँगी। मुझे इसी में आनन्द मिलता है। मा ! मैं तेरे वियोग का दुःख तेरे ही सन्मुख प्रकट करूँगी। तुझी से कहूँगी। कहूँगी क्यों ? मैं तो सदा ऐसा ही करती हूँ। इस खिड़की के पास बैठती हूँ। अपनी आँखों के सामने मा की मूर्ति बनाती हूँ। और उसे अपनी बातें सुनाती हूँ। उसके सामने अपने दुःखों की चर्चा करती हूँ। अहा ! इस प्रकार कहने में कितना आनन्द है ? उस समय मेरा प्रत्येक रोम बोलता है। प्रत्येक साँस अपना दुःख सुनाता है। उस समय मेरे हृदय में छिपा हुआ सुख फूट-फूटकर मेरे शरीर से बाहर निकलता है। मेरा आनन्द मेरे

मुख से दुःख बनकर आता है। मैं कभी अँगुली उठाकर अपनी मा को पीटने भी लगती हूँ। किन्तु वह मेरी आँखों में हँसती है। भगती नहीं। मेरे ध्यान में विचरती है। मेरे आनन्द के द्वारा अपना पागलपन प्रकट करती है।

सुफला का अंचल यह सोचते-सोचते स्नेहाश्रुओं से भीग गया। वह आँखें पोंछकर फिर पढ़ने लगी। और पढ़ते-पढ़ते हँसने लगी। तथा कहने लगी—अब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि थोड़े दिनों में प्रेम सबको पराजित कर देगा—इसका क्या अर्थ ? प्रेम क्यों लड़ने आवेगा ? तब तो महाभारत से भी बड़ा युद्ध होगा। एक ओर सारा संसार और दूसरी ओर प्रबल प्रेम। सुफला फिर हँसने लगी। उसके मुख से सहसा निकल पड़ा—मैं तो मा के अंचल में मुख छिपाकर छिप जाऊँगी। तब भी पराजिता नहीं कहलाऊँगी। अवश्य छिप जाऊँगी।

कहाँ ?

सुफला के मुख से फिर निकल पड़ा—मा के अंचल में।

सुफला ने मुख फेरकर देखा तो उसकी प्यारी सखी विजया उसके पीछे खड़ी हो मन्द-मन्द हँस रही है।

सुफला—बैठो दिद्दी, कब से खड़ी हो ? आज तुम बहुत दिनों से मेरे यहाँ आयी हो। मैं तो तुम्हारा बोलना भी नहीं पहचान सकी।

विजया—अभी आ रही हूँ बहिन। मैंने आते ही सुना, "अवश्य छिप जाऊँगी।" क्यों, तू यह क्या कह रही थी ?

सुफला हँसती-हँसती बोली—कुछ नहीं।

विजया—नही क्यों ? मैंने तो अपने कानों से तुझे यह कहते सुना।

सुफला—इसे जाने दो दिद्दी, इस पुस्तक को पढ़ रही थी, तुमने इतना ही सुना होगा।

विजया—सखी, तू आज तक मेरे यहाँ क्यों नहीं आयी ?

सुफला—ऐसी ही कई अड़चनें आ गयीं। आज आऊँगी, कल आऊँगी करती आज तक न आ सकी। पर मैंने कल को आने का निश्चय कर लिया था। आज तू ही आ गयी। दिद्दी ! तेरी सास मर गयी हैं—मैंने यह आज ही सुना।

विजया—हाँ, वे तो कभी स्वर्ग को चला गयी हैं। आज उन्हें गये पन्द्रह दिवस हो गये।

सुफला—अब तो जीजाजी सँभल गये हैं ना ?

विजया हँसने लगी।

सुफला—हँसती क्यों हो बहिन ? क्या इतना आनन्द हो रहा है ?

विजया—तुझसे यह किसने कहा ?

सुफला—तुम्हारे हँसते हुए मुख ने।

विजया—हाँ सखी ! तू तो सब जानती है, फिर मुझसे क्यों पूछती है ?

सुफला—दिद्दी, मुझे यह सुनकर आज जितना सुख हुआ उतना और कभी नहीं हुआ। मैं उनकी दशा तुमसे अच्छी तरह जानती थी। आज मैं तुमसे एक बात और कहूँगी। यह मैंने आज तक तुमसे छिपायी थी।

सुफला ने यह कहके अपना सन्दूक खोला। और उससे निमेष का पत्र निकालकर विजया के हाथ में दे दिया। विजया को पत्र पढ़कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने लज्जित होकर मुख नीचा कर लिया।

सुफला—तुम्हें किस बात की लज्जा बहिन! तुमने क्या किया?

विजया—तूने यह पत्र और भी किसी को दिखलाया?

सुफला—दिद्दी, क्या मैं पागल थी? मैं इसे किसी को क्यों दिखाती।

विजया—आशा को भी नहीं?

सुफला—हां, आशा को तो दिखलाया। किन्तु इसमें क्या हानि है? वह किसी से कहेगी थोड़ी।

विजया—अच्छा सखी! इसमें कोई हानि नहीं है। क्या आशा आज तुम्हारे यहां नहीं आयी?

सुफला—नहीं, आजकल शायद उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता।

विजया—कल को उसके यहां चलेंगे। अब मैं जाती हूँ। फिर अँधेरा हो जावेगा।

विजया चली गयी। सुफला ने विजया से आशा की प्रकृत-दशा छिपा दी। उसने उससे इस विषय में कहना कुछ उचित न समझा। सुफला को आज विजया का प्रसन्न मुख देखकर अत्यन्त आनन्द हो रहा था। किन्तु फिर भी वह भविष्य के लिए चिन्तित थी। वह भविष्य को अत्यन्त प्यार करती थी। सुफला कभी आशा की दशा पर द्रवित होती थी, और कभी उसे धिक्कारती थी। इतने में आशा भी अपनी दासी के साथ उसके कमरे में आ पहुँची। आशा आज कई दिनों से आयी थी। वह जिस दिवस से निमेष पर लट्टू हुई थी, तब से सुफला के यहाँ आज ही आयी थी। सुफला उसके इस अकस्मात् आगमन से कुछ विस्मित-सी हुई। वह आशा से सस्नेह कहने लगी—

आओ सखी, आज तो मेरे यहां पश्चिम से सूर्य आया।

आशा इस "भंगभरी वचनावली" को श्रवण कर अत्यन्त लज्जित हुई। उसने मुख नीचा कर लिया। सुफला और भी विस्मित हुई। वह फिर बोली—क्या अब तेरा स्वास्थ्य अच्छा है?

आशा ने अत्यन्त संकुचित स्वर में कहा—हां, अब मैं अच्छी हूँ।

सुफला—अभी विजया भी मेरे यहां आयी थी। वह तेरे आने से कुछ ही पूर्व अपने घर को चली गयी है। अब निमेष उससे असन्तुष्ट नहीं रहते। वे अपनी चाची की मृत्यु के बाद संभल गये हैं।

आशा—विजया दिद्दी का तो स्वास्थ्य अच्छा है?

सुफला—हां, आज मैंने उसे कई दिवसों से हँसमुख देखा। वह तेरे लिए भी पूछती थी। तू इतने दिनों तक यहां क्यों नहीं आयी?

आशा की आँखें डबडबा आयीं। वह धीरे-धीरे कहने लगी—बहिन, मुझे क्षमा करो। तुम मेरी दशा से परिचित थोड़ी नहीं थी? हाय! न जाने मुझे क्या हो गया था। मैंने बड़ा बुरा काम किया। सखी!—आशा यह कहकर रोने लगी। सुफला को आशा की ये बातें सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने

आशा का मुख अपने अंचल से पोंछ लिया। और वह मधुर स्वर में बोली—सखी, रो नहीं, भूल सभी करते हैं। इसमें किसी का क्या दोष? भूल को स्वीकार न करके उसे न सुधारने में पाप है। मनुष्य का हृदय अत्यन्त चंचल होता है। जब वह कभी आवेग में आता है तो वह भले-बुरे का विचार छोड़ देता है। मुझे बड़ा आनन्द हुआ कि तू अब अपने भ्रम को दूर कर चुकी है।

आशा—बहिन, मुझे क्षमा करो। मुझसे बड़ा भारी दोष हुआ।

आशा यह कहकर सुफला के अंचल में मुख छिपाकर रोने लगी। सुफला बोली—बहिन, तूने क्षमा माँगने को मेरा क्या अपराध किया? मुझे तो केवल तेरी दशा देखकर बुरा लगा था। रो मत आशा, तू दोषी नहीं है। ऐसा कौन है जो निष्कलंक है? जिसने कभी चूक नहीं की? जो सदा निर्विकार है? चन्द्रमा तक कलंकित है। चूकना दोष नहीं है, चूक सभी से होती है। इससे न बचने में दोष है।

आशा—नहीं सखी, मेरा मन साक्षी देता है कि मैंने बड़ा अघ किया। मुझे क्षमा करो।

सुफला—सखी, मैं कह चुकी हूँ कि तूने कुछ नहीं किया। मुझसे क्षमा क्यों माँगती है, तू स्वयं अपने से क्षमा माँग। मैंने तुझे क्षमा की। जब मनुष्य कोई बुरा काम करने पर अपनी कृति पर पश्चात्ताप करता है, तब उसी व्यामोह से उस अघ का कलंक मिट जाता है। उसके हृदय में जो मर्म-वेदना होती है वही वेदना उस पाप का प्रायश्चित्त है। वे पश्चात्ताप के अश्रु उस मल को बहा देते हैं। बहिन, ऐसे अश्रुओं में बड़ी शक्ति रहती है।

आशा—तूने क्षमा कर दिया। अब मेरा सब दुःख मिट गया है। हाय! बहिन मेरे हृदय में जो सहसा परिवर्तन हुआ मैं उसका कारण नहीं जानती हूँ। हाय! तब मेरी बुद्धि न जाने कहाँ लुप्त हो गयी थी। मैं असहाया हो उस पाप-जाल में फँस गयी। जब तूने मुझे पत्र दिखलाया था, तब मैं बिलकुल ज्ञान-शून्य बालिका-सी हो रही थी। मुझे भले-बुरे का कोई ज्ञान न रहा था। यह मैं क्या कर रही हूँ इसका कुछ ध्यान नहीं था। किन्तु बहिन, तेरे चले जाने पर जब मुझे निद्रा आयी तब मैंने जो स्वप्न देखा उसी से मेरा यह स्वप्न टूटा। यह निद्रा भंग हुई। जैसे ही मेरी आँख खुली तो मैंने किसी का गाना सुना—

"निशार स्वपन छुटल रे, एइ छुटल रे।
टुटल बांधन टुटल रे!"

सुफला—सखी, तूने ऐसा क्या स्वप्न देखा?

आशा—हाय! मुझसे यह न पूछो। मैंने बड़ा भीषण स्वप्न देखा। ऐसा स्वप्न कभी नहीं देखा था। उसे स्मरण कर अभी तक मेरा हृदय काँपता है। साँस जोर-जोर से चलने लगता है। शरीर से स्वेद छूटने लगता है। हाय! कैसा भीषण स्वप्न देखा। ओह! कैसा भयंकर था। हाय! हाय!

आशा फिर रोने लगी। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधार बहने लगी।

सुफला—सखी, रो नहीं। यदि तुझे उस स्वप्न को कहने में कष्ट हो रहा है तो न कह।

आशा—नहीं, उसे अवश्य कहूंगी। तुमसे कुछ न छिपाऊंगी। उसे कहकर मुझे अवश्य कुछ शान्ति मिलेगी।

सखी! जब उस दिन तू मुझे पत्र दिखाकर चली गयी थी, मैं विविध विचारों के सागर में डूबती सी गयी। थोडी देर में मुझे नींद आ गयी। मैंने देखा कि मेरे सामने एक रुधिर की नदी बह रही है, एक अपार नदी बह रही है, उस नदी में उत्ताल तरंगें उठ रही हैं। उन रक्त-तरंगों के साथ बड़ी-बड़ी अस्थियाँ उछल रही हैं। वही नदी कई प्रकार के छोटे-बड़े कीड़ों से परिपूर्ण है। कभी बड़े-बड़े ग्राह रक्त-स्रोत को ऊँचा उठा रहे हैं। मेरे देखते-देखते उस नदी का रुधिर उबलने लगा। बड़ी-बड़ी लाशें रक्त से बाहर निकलकर फिर डूबने लगीं। नदी से भाप-सी उठने लगी। और चारों ओर दुर्गन्ध फैलने लगी। सहसा आकाश में बादल छा गये। चारों ओर घनान्धकार हो गया। वह अन्धकार धीरे-धीरे इतना बढ़ गया कि हाथ से हाथ नहीं सूझ पड़ा। बादल ऊर्ध्व निर्घोष करने लगे। सारी पृथ्वी विकम्पित हो गयी। इसी समय उन बादलों से वाणों की वृष्टि होने लगी। हाय! मेरा सारा शरीर उन वाणों से विद्ध हो गया। मैं ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगी। अन्त में मैं तड़फड़ाती हुई अशक्ता हो उस नदी में गिर पड़ी। हाय! हाय! उसके स्मरण से मेरा शरीर काँप रहा है। मैं उन तरंगों के साथ उछलने लगी। मैं सारे रक्त में लथपथ हो गयी। मेरे मुख में कीड़े जाने लगे। मैं ज़ोर से चिल्लाने लगी। धीरे-धीरे बादल हट गये। वाण-वृष्टि रुक गयी। फिर प्रकाश हो गया। मैंने देखा उस नदी के तट में निमेष एक ऊँचे टीले पर बैठकर वंशी बजा रहे हैं। उनकी वंशी की ध्वनि सुनकर उस नदी में भूत-प्रेत नाचने लगे। उन भूतों के मुख से आग की ज्वाला निकल रही थी। सहसा एक प्रेत ने मेरा पाँव पकड़ लिया। मैं भय के मारे काँपने लगी और निमेष को अपनी रक्षा के लिए पुकारने लगी। किन्तु वे हंसने लगे। उन्होंने मुझे न बचाया। मैं और भी तीव्र स्वर में चिल्लाने लगी। वह प्रेत मुझे अपने मुख में डालने लगा। इतने ही में तुम्हारे दद्दा वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने मुझे उस दुष्ट का ग्रास जानकर उसका शिर तलवार से अलग कर दिया वह मर गया। मैं उसके हाथ से छूट गयी। फिर उन्होंने मुझे गुण मे बाँध अपनी ओर खींच लिया। मैं उस नदी से बाहर निकल आयी। मैं उन्हें धन्यवाद देने के लिए मुख खोलना ही चाहती थी कि इतने में मेरी निद्रा टूट गयी। मैं स्वेद से भीग रही थी। मैंने आँखें खोलकर देखा तो मैं पलंग से नीचे गिरी हूँ। हाय! कैसा भयंकर स्वप्न देखा।

सुफला—हाँ, बहिन, अवश्य भीषण स्वप्न देखा।

आशा—फिर तुम्हारे उपदेश मुझे एक-एक कर याद आने लगे। मैं वहाँ घण्टों बैठकर रोयी। मुझे अपने कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

सुफला—बहिन, तब तू मेरे यहाँ आज तक क्यों नहीं आयी?

आशा—उसी दिन से मुझे प्रबल ज्वर चढ़ आया। मुझे दस दिन तक लगातार उसने नहीं छोड़ा। मैं मन-ही-मन सोचती थी कि मैंने अपनी सखी को रुष्ट कर दिया। नहीं तो वह मुझे देखने के लिए अवश्य आती।

सुफला—मुझे यह कुछ मालूम न था, नहीं तो मैं तुझे देखने को अवश्य

ग्राती । अच्छा बहिन, आज मेरे ही यहाँ रह, अब रात हो गयी है ।
आशा सुफला के ही यहाँ रही ।

एकादश पुष्प

युवा-योगी

तीर्थराज प्रयाग में पतित-पावनी गंगा, सूर्य-सुता यमुना तथा सरस्वती का पवित्र संगम त्रिवेणी के नाम से प्रख्यात है । यहाँ प्रति बर्ष लाखों मनुष्य अपने कलुषों को बहाने के लिए आया करते हैं, तथा त्रिवेणी के पवित्र और निर्मल जल में स्नान कर अपने शरीर का मल धोकर पुनीत बनते हैं ।

सभ्य भारत के समाज में भी ऐसे अनेक जन-संगम हैं जहाँ भारत के प्रत्येक स्थान से मनुष्य आकर उस अनन्त शक्तिमती के अनन्य छत्र की निर्भय छाया में एकत्रित होकर पारस्परिक द्वेष-द्रोह का मल प्रक्षालन कर अपने कलुषित विचारों को बहाते है । किन्तु अब काल के कुटिल फेर से हमारी श्रद्धा ऐसी उपयोगी रीतियों से हट रही है । अब इस पवित्र जन-संगम का मूल्य हमारी दृष्टि में घट रहा है । बहुत लोग तो इसे केवल निर्मूल ढोंग तथा प्राचीन विचारों का चर्म-शुष्क-अस्थि-पिंजर समझते हैं । अब ऐसे लोगों के आन्तरिक ज्ञानचक्षु ही अन्धे हो गये हैं । अब वे इस शुष्क कंकाल के भीतर उस अनन्त आनन्दमयी की मूर्ति ही नही देख सकते । अब हमारी एकत्रित दृष्टि प्रस्थर की प्रतिमा को जीवन देना ही भूल गयी है । अब यह बात प्रस्थर के समय की समझी जाती है ।

किन्तु उस काल को प्रस्थर का समय बतलाना भूल है । भारत में प्रस्थर का समय अब आया है जबकि हमारे हृदय ही पाषाण के हो गये हैं । हमारे उन विशुद्ध-पूर्व-विचारों में प्रस्थर पड गये हैं । उस प्रस्थर के समय में भी अन्धकार था सही, किन्तु वह अन्धकार दिशा खुलने से पूर्व का था और अब दिशा अस्त होने के बाद का है । इन दो अन्धकारों में अत्यन्त अन्तर है । पहिले के बाद उज्ज्वल ऊषा आलोक हुआ था किन्तु अब अगणित तारक-दल समुदय हुआ है, जो कि इस तिमिर को भंग करने के योग्य नहीं है ।

उस प्रस्थर के समय में एक दिव्य-आलोक और था, वह था ईश्वर की अटल भक्ति । जो कि भारत के पूर्व-पुरुष-पुंगवों के गुण-ग्राही हृदयों में प्रतिफलित हो धीरे-धीरे सारे भारत को प्रकाश का एक उज्ज्वल जामा पहनाने में मक्षम हुई थी । किन्तु अब भारत सर्वव्यापी अन्धकार में डूब रहा है । पूर्व-पुरुषों का हृदय यदि मणि का था तो अब के मनुष्यों का कोयले का हो गया है । द्रव्य एक ही है किन्तु गुण बदल गया है ।

भारत के इन्हीं जन-संगमों में दुर्गा-मेला भी प्रख्यात है . यह प्रति वर्ष आश्विन तथा चैत्र में होता है । आज चैत्राष्टमी है । आज श्री दुर्गादेवीजी के मन्दिर में अपार मेला हुआ । देवान्वयिओं का अपार संसर्ग हुआ । आज

बैर और विरोध विधि की सृष्टि में हैं कहना असत्य-सा प्रतीत होता था।

प्रत्येक अवस्था के लोग—क्या बालक क्या युवा क्या जरा-जीर्ण—सभी आज इस विश्वमूर्ति के आँगन में आ उसे कृतज्ञता प्रकट कर रहे थे। उसके दिव्य-दर्शन कर कलुष-मुक्त हो रहे थे। उसके पद-पद्मों में चढ़े पद्म शीश में रखकर मंगल-प्रार्थना करते थे। "है सत्संगति में सद्गति, वे आशीस-सुमन साबित करते थे शिरोधार्य बन सुजनों के।" सब लोग मन्दिर की परिक्रमा कर अपना दुःख भूलते थे। श्रीदेवीजी से प्रार्थना कर अपनी दीनता प्रकट कर रहे थे, अपना अभिमान भंग कर रहे थे। आज क्षण-क्षण में "जय दुर्गा-माता" "जय दुर्गा-अम्बा" का दिव्य-घोष वायुमण्डल को पवित्र करता हुआ उस शक्तिमती की अनन्यता स्थापित कर रहा था।

"शुभ-शंख वहाँ पर बज कर शंकित मानस को
कम्पित करता था प्रेम-प्रेरणा को पाकर।
औ' क्षुद्र-घण्टिका जड़ होकर भी वक्षःस्थल
थी वहाँ पीटती प्रेमोन्मत्त बनी प्रभु की।"

आज श्री दुर्गादेवीजी की मूर्ति भी अत्यन्त दिव्य दिखलायी देती थी। उनका श्रृंगार अत्यन्त सुन्दर लगता था। उनका अंचल पुष्पों से परिपूर्ण था। वे फूल मानो मनुष्यों की वांछाएँ थीं, जिनसे श्री दुर्गादेवीजी का अंचल भरा हुआ था। दुर्गादेवीजी की मूर्ति मन्द-मन्द मुसकाकर मानो अपने सेवकों को आशीर्वाद देती थी कि तुम्हारे वांछाओं के फूल सफल हों। उनके विशाल भाल पर मणिमुक्ताभिमूषित मुकुट अत्यन्त शोभा देता था। वह मानो उनके अर्ध-चन्द्राकार ललाट पर सुधा-विन्दुओं का समुदाय था। मानो उनके दिव्य-मस्तक पर उनके उपासकों की शुभ-चिन्ता के स्वेद-विन्दुओं का सुन्दर सीकर था। उनके गले का उज्ज्वल मणियों का हार उनकी सुन्दरता को द्विगुणित कर रहा था। वह मानो बतलाता था कि अनन्त दयामती जगज्जननी ने अपने भक्तों के लिए इतने कठिन कष्ट भी सहन कर रक्खे हैं। उनका रूप आज असामान्य प्रतीत होता था। आज श्री दुर्गादेवीजी का स्वर्ण-कलश-प्रशोभी विशाल मन्दिर भी बहुत अच्छी तरह सुशोभित था। उसके चतुर्दिव्य-द्वार अरुण-वस्त्रावृत कदली के सुदृढ़ स्तम्भों से सजाये गये थे। प्रत्येक द्वार पर पवित्र पंचामृत-परिपूर्ण एक-एक पुष्पावृत-स्वर्ण-कलश रक्खा था। मन्दिर का विस्तृत-प्रांगण भी बन्दनवारों से सुशोभित था। आज यह मनुष्यों से खचाखच भरा था।

धन्य! भगवति, तुम्हारी अनन्त महिमा है। तुम्हारा गुण-गौरव जग के कलुष हरता है। तुम्हारा ध्यान हृदय पवित्र करता है। तुम्हारी कृपा मनुष्य को त्रय-पापों से मुक्त करती है।

"मूक होय बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर-गहन।"

सायंकाल का समय था। दिनकर महाराज डूबने को तैयार थे। मेला समाप्त हो गया था। सब लोग अपने-अपने गृह को चले गये थे। विहग-राशि मधुर स्वर में श्री दुर्गादेवीजी के गुण गा रही थी। आज आराम की शोभा अपूर्व प्रतीत होती थी। "हो पुष्प भार से नम्र लता" देवीजी के चरण-कमलों

में अपना "पत्रं पुष्पम्" अर्पण कर रही थी। तरलंग के तट में आज एक छोटी-सी कुटी दृष्टिगत होती थी। यह पहिले से नहीं थी। ऐसा ज्ञात होता है कि यह हाल ही बनी है। कुटी के सामने एक योगीजी बैठे थे। उनके अंग-अंग मे यौवन टपक रहा था। मुख की कान्ति परमोज्ज्वल थी। दृढ तथा सुपुष्ट बाहु थीं। अंग में एक गेरुवा रेशमी वस्त्र था। उसी से सारा अंग आवृत था। योगीजी ने धीरे-धीरे गाना आरम्भ किया :—

बाल काल में जिसको नभ से कुमुद-कला ने किलकाया।
फूलों ने है जिसे खिलाया, गीतों ने है फुसलाया।
कितनी ही नव नव गुड़ियों ने जिसको प्रतिदिन हर्षाया।
उसे आज तू निज छवि में ही केवल बाले! न लुभाले।
और खिलौनों का भी भाग...
जिसकी सुन्दर छबि ऊषा है, नव वसन्त जिसका श्रृंगार।
तारे हार, व मुकुट सूर्य शशि, मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार।
मलयानिल-मुखवास, जलधि-मन, लोल-लहर लीला सुकुमार—
उसी रूप को तू भी अपने कृश बाँहों में लिपटा ले—
रमा अंग मे प्रेम-पराग···

गाने की ध्वनि से सारा आराम गूँज उठा। योगीजी के अनुराग का राग अस्तासन्न रवि में प्रतिबिम्बित हो सारे आराम में फैल गया। आराम ने मानो गेरुवा वस्त्र पहिन लिया। गाना अब समाप्त हो गया था।

हाय! दद्दा! यह तुमने अपना कैसा वेष बना लिया है—कहकर सुफला युवा योगीजी के सामने खड़ी होकर अश्रु टपकाने लगी। आशा ने तो आज भविष्य को पहिले पहिचाना भी नहीं। जब उसने सुफला को ऐसा कहते सुना, उसने अपना मुख झुका लिया और वह भी सुफला की तरह आँसू बहाने लगी।

योगी—बैठो सुफला! तुम इस समय यहाँ किसलिए आयी?

सुफला को भविष्य की यह दशा देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

सुफला—दद्दा! तुम्हें क्या हो गया है?

भविष्य—कुछ नहीं हुआ सुफला! तू रोती क्यों है? मुझे कुछ नहीं हुआ है।

सुफला—यह क्या वेष कर लिया है? हाय! हाय! दद्दा, तुम ऐसे कब से हुए? मैं आज तक यहाँ क्यों नही आयी!

भविष्य—सुन, सुफला, आज मैं तुझसे सब बातें कहूँगा। तू रो मत। जिस दिन तूने मुझसे अपनी सखी के विषय में कहा था उस दिन सचमुच मुझे अत्यन्त बुरा लगा। मेरे सिर में मानो अकस्मात अशनि-पात हुआ। मैं तब से कई दिनों तक पागलों-सा इधर-उधर फिरता रहा। मुझे कुछ कर्तव्य निश्चित नहीं हो सका। मैं रात-दिन यही सोचता था कि जिसे मैं इतना प्यार करता था, जिसे मैं अपनी अर्धांगिनी मान चुका था, जिसके साथ मैंने बाल-काल ही से नाता जोड़ लिया था, जिसके साथ बातें करने को मैं दिन पर दिन लालायित होता जाता था, जिसे मैं अपना सबकुछ न्यौछावर कर चुका था, तथा जो मुझे

इतने दिवसों तक प्यार करती रही, वही जब इतने अल्प-काल में भूल गयी है, मुझे छोड़कर किसी अन्य को प्यार करने लग गयी है, तो अब इस सम्बन्ध की क्या आशा ? इस प्रेम से क्या लाभ ? इस नाते से क्या सुख ?

मैंने आशा से अधिक प्यार इस संसार में किसी को नहीं किया। और मैं यह भी जानता हूँ कि आशा भी पहिले मुझे बहुत प्यार करती थी। क्योंकि मैं और यह बाल-काल से सदा साथ ही रहे, सदा साथ ही खेले-कूदे। जब इतना चिर-संचित-सम्बन्ध भूलकर आशा ने मुझे अपने हृदय से उठा दिया तो मैं यही समझा कि यह प्रेम प्रेम नहीं है। यह प्यार प्यार नहीं है। मैं प्रेम की लीला अच्छी प्रकार पढ चुका था। मैंने बाल्यावस्था ही में अपने स्वर्गीय पिताजी से ध्रुव तथा प्रह्लाद की कथाएँ सुन ली थीं। मुझे उस दिन मेरे पिताजी ने प्रेम के विषय में बहुत कुछ उपदेश भी दिया था। वह मेरे हृदय में अभी तक अंकित है। मैं जानता था कि—

जब जीवन के स्रोत सम्मिलित हो जाते हैं किसी प्रकार।
उन्हें नहीं तब विछुडा सकता कभी स्वयं तारक करतार।।

मैं इस विशुद्ध प्रेम को, इस पवित्र अनुराग को, इस नित्य नवीन बन्धु को, एक क्षणिक सुख से विमिश्रित कर शान्ति की आशा करने लगा था, आनन्द पाने की प्रतीक्षा करने लगा था, मैं उस अमर-अप्राप्त-धन को लोभ की दृष्टि से देखने लगा था, उससे कुछ लाभ की इच्छा करने लगा था, मैं उस अलभ्य-मुक्ता को स्वार्थ के कृश-सूत्र में गूँथकर गले का हार बनाने की चेष्टा करने लगा था। उस अनन्त शक्ति को माया के पाश में बाँधने का प्रयत्न करने लगा था, उस रंग-हीन को मोह के मलिन रंग में रंजित करने लगा था। मैं अपने पिताजी का वह अमूल्य उपदेश मद-मत्त हो भूल गया था। इसी से मुझे कुछ कष्ट उठाना पड़ा। किन्तु जब मेरे शोक का वेग कुछ घटा तब मैंने सोचा कि इस प्रेम का पात्र कौन होना चाहिए। इसके उपयुक्त कौन है। मुझे किसके गले में बाँहें डालनी चाहिए। वह कौन है जो प्रेमी को नहीं भूलता। जो आश्रित को निराश्रित नहीं करता। जिसके हृदय में प्रेम का अनन्त सागर समा सकता है। जिसके प्रेम में दुःख नहीं है, वियोग नहीं है, शोक नहीं है, पश्चात्ताप नहीं है, प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं है। वह कौन है जिसके 'प्रेम की अँगूठी नहीं खोनी', जिसे सुधि नहीं दिलानी पड़ती, जिससे बोलने में संकोच नहीं होता, जो नित्य साथ ही रहता है।

वृद्ध पुजारीजी महाराज की उपदेश-सुधा ने मेरा मति-मल धो दिया। मैंने अपना पात्र ढूंढ लिया, वह अमूल्य रत्न पहिचान लिया। मैं बाल-काल ही से जिसकी गोद में था, जिसे कई प्रकार की क्रीड़ाओं से रिझाता था—उसे पा लिया। सुफला, मैं अपने चिर-संगी को भूल गया था।

आशा यह सुनकर अत्यन्त विह्वल हो गयी। उसका हृदय दुःख से फटने लगा। वह मन ही मन कहने लगी—हाय ! मैं ही इसकी कारण हूँ। मैंने अपना भी सत्यानाश किया, उनका भी ! हाय ! हाय ! मैं अब क्या करूँ। मैंने उनकी लाख की जमींदारी राख में मिला दी। मैंने मणि-हार को कांच की

माला समझकर हृदय से फेंक दिया। हाय ! मैंने अलभ्य रत्न को प्रस्थर का टुकड़ा समझकर हाथ से खो दिया। हाय ! मैं अत्यन्त दुराचारिणी निकली, अत्यन्त पापिष्ठा निकली। अब मैं इस समय क्या कहकर क्षमा माँगू ? मेरा अपराध अक्षम्य है। इसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। हाय ! मैं नरक की कीड़ा हूँ। हाय ! अब मेरा क्या होगा ? अब मैं किसकी शरण जाऊँ ? अब ये मुझे स्वीकार थोड़ी करेंगे ?

आशा इसी भाँति अत्यन्त शोकाकुल हो रोने लगी। उसकी आँखों से अविरल जल-धार बहने लगी। उसे यह सुधि न रही कि मैं इस समय कहाँ हूँ !

भविष्य से आशा की यह दशा न देखी गयी। वे आशा से नम्र स्वर में कहने लगे—

बहिन, रोओ मत। धैर्य रक्खो। वृथा अपने हृदय को पीड़ा न दो। तुमने कुछ नहीं किया। तुम्हारा इसमें कुछ अपराध नही है। इसका दोषी मैं ही हूँ। मैं इस पाप का प्रायश्चित्त करूँगा। तुम मुझे क्षमा करो।

आशा यह सुनकर फूट-फूटकर रोने लगी। उसे अब तक बोलने का साहस नहीं होता था। किन्तु भविष्य के उपरोक्त वचन सुन उसे धैर्य हुआ। वह मन-ही-मन कहने लगी—यदि इस समय न बोलूँगी तो कब बोलूँगी ? मुझे यह लज्जा जब लगनी चाहिए थी तब नहीं लगी। तब तो मै निर्लज्ज होकर अपने माथे कलंक लगा चुकी हूँ। अब इनसे बोलने में क्या लाज ?

आशा भविष्य से कातर स्वर में बोली—

मुझे क्षमा करो, देव ! मुझ दासी को क्षमा करो। हाय ! मुझसे पहिले बड़ी भूल हुई। तब मुझे भले-बुरे का ज्ञान नही रहा था। मेरी बुद्धि ने मेरा साथ छोड़ दिया था। तब मै अज्ञानावस्था मे थी। नाथ ! मुझे क्षमा करो। मैंने भूलकर घोर पाप किया। हाय ! हाय ! मुझे इस पाप का दण्ड मिल रहा है। मेरे हृदय मे सहस्र-वृश्चिका-दंशन के समान पीडा हो रही है। मेरा कलेजा फट रहा है। इसका प्रायश्चित्त आपकी सेवा करने से दूसरा नहीं हो सकता। इस अनाथा को भी अपने चरणों में स्थान दो। नाथ ! इसका और को···

आशा का गला रुँध गया। वह आगे को कुछ नहीं कह सकी। वह वाक्-शून्य हो गयी। आशा फूट-फूटकर रोने लगी। सुफला भी आशा की यह दशा देखकर रोने लगी। उसका कोमल हृदय यह करुणा-काण्ड न देख सका। वह भविष्य से कहने लगी--

दद्दा ! मेरी बहिन का अपराध क्षमा करो। उसे भिन्न न रक्खो। हाय ! वह अपने कृत्य का यथेष्ट फल पा चुकी है। अब उसे अधिक दुःख न दो। उसकी प्रार्थना स्वीकार करो। उसे अपनी कृपा से वंचित न रक्खो। संसार मे भूल सभी करते है। चूक सभी के हिस्से मे रख दी गयी है। "दृष्टः किमपि लोकेस्मिन् न च दोषं न च निर्गुणम्।" आशा अभी लड़की ही है। इसके दोषों को न देखकर इसे क्षमा करो।

भविष्य—मैं पहिले ही कह चुका हूँ बहिन, आशा का इसमें कुछ अपराध नही है। यह व्यर्थ दुःखी हो रही है। आशा ! रोओ नहीं। तुमने मेरा कुछ नहीं

बिगाड़ा है, मैं तुमसे लेशमात्र रुष्ट नहीं हूँ।

आशा—नाथ ! मुझे क्षमा करो। मैंने घोर पाप किया है। मैंने तुम्हें व्यर्थ इतना कष्ट दिया। मैं हतभागिनी हूँ। जब तक आप मुझे क्षमा न करेंगे, मेरा दुःख कम नहीं होगा। नाथ ! मुझे भी अपने चरणों में स्थान दो। मैं आपकी सेवा कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करूँगी।

आशा भविष्य के चरणों में सिर रखकर रोने लगी। आज वह निस्संकोच अपने पाप का प्रायश्चित्त करने लगी। भविष्य ने अपने चरणों से आशा का शिर उठा लिया। वह कहने लगा—

उठो, बहिन ! मैंने तुम्हें क्षमा किया। मैं तुमसे किसी प्रकार भी असन्तुष्ट नहीं हूँ। मैं जानता हूँ उसमें तुम्हारा काई दोष नहीं। मनुष्य का हृदय ही चंचल होता है। उसे एक ओर को लगाना पहिले बड़ा कठिन होता है। तुम वृथा अपने चित्त को न दुखाओ, मैं तुम्हें अब भी उतना ही प्यार करता हूँ। मैं पहिले तुम्हें यथार्थ में प्यार नहीं करता था। जिस प्रेम में लालसा, क्षोभ, दुःख, विरह, आशंका, भय तथा चंचलता रहती है, वह प्रेम यथार्थ में प्रेम नहीं है। वह एक प्रकार की आसक्ति है। यदि तुम मेरे ही साथ रहना चाहती हो तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु यह तुम्हारे लिए अत्यन्त कष्टकर होगा।

आशा—नहीं, नाथ ! मुझे इसमें कुछ दुःख नहीं है। इससे अधिक सुख मेरे लिए और क्या हो सकता है ! मैं आपकी सेवा करके सारा जन्म आपके चरणों में व्यतीत करूँगी। आपके सदुपदेश सुनकर अपना जीवन सार्थक करूँगी। नाथ ! अब मेरा सब दुःख गया। मैं आज से आपकी दासी हुई।

भविष्य—इसमें तुम्हारी इच्छा रही। मुझे कोई विपत्ति नहीं है। मैं तुमसे 'नहीं' नहीं कह सकता। आज तक तुमने मुझे प्यार किया है, अब मैं तुम्हें निराश्रित नहीं कर सकता। ईश्वर तुम्हें बल तथा उत्साह दे।

सुफला—दद्दा ! अपना गृह छोड़ और अपनी उतनी बड़ी जमींदारी त्यागकर इस कुटी में रहना क्या अच्छा होगा ? यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो क्या ऐसा घर में नहीं हो सकता ? इसी कुटी में क्या रक्खा है ?

भविष्य—सुफला, तुम्हारा कहना ठीक है, पर मैं इस विषय में पहिले ही बहुत कुछ सोच चुका हूँ। मेरा यहाँ रहना ही उचित होगा। मैंने अपनी जमींदारी छोड़ नहीं दी है। वह मैंने अपने एक सुयोग्य मित्र को सौंप दी है। वह उसका प्रबन्ध कर देगा। मैने उससे एक अनाथालय तथा एक विद्यालय खोल देने के लिए भी कह दिया है। वह इसका प्रबन्ध शीघ्र ही कर रहा है। बहिन, मेरी जमींदारी की आय का इससे सदुप .ोग और क्या हो सकता है।

सुफला—दद्दा ! तुम्हारे उदार हृदय को धन्य है। तुम्हारा चरित्र अत्यन्त पवित्र तथा निर्मल है।

भविष्य—यह सब तुम्हारी स्नेह-दृष्टि है बहिन, मैं तो केवल अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ।

सुफला—इससे अधिक और क्या हो सकता है। संसार में अपना कर्तव्य ही कितने लोग पालन करते हैं ? तुम तो कर्तव्य पालन करने से भी अधिक बढ़ गये

हो। तुमने दोनों का जीवन सुफल किया। तुमने आज प्राचीन ऋषियों का मार्ग ग्रहण किया।

अहा! दद्दा, इससे अधिक सुख और किसमें है? इससे अधिक आनन्द किसमें है? तुम्हारा साहस अपार है। तुम्हारा ध्रुव धैर्य है। निश्छल प्रेम है।

भारत! तू धन्य है! तेरी सभ्यता का आलोक दिगन्त-व्यापी रहा है। तेरी समाज की सु-प्रथाएँ अत्यन्त उज्ज्वल रही है। तू ज्ञान का आगार रहा है। सभ्यता का शिरमौर रहा है। तेरा यह 'मेल' अत्यन्त मंजुल है। सूर्य-मणि से भी उज्ज्वल है। जलकणों के समुदाय सिन्धुराज से भी प्रशान्त है। सदागति वाली सदागति से भी अनन्त गति है।

छोटे-छोटे रोड़ों को जीवन-दान तू ने ही दिया। उन्हें साकार तूने ही किया। तूने ही ज्ञान तथा ध्यान के ध्रुव मिलाप मे निराकार ईश्वर को साकार बनाया। अनन्त वांछा का फल प्राप्त कर निर्गुण को सगुण सिद्ध कर दिया। तूने ही अत्यन्त अद्भुत ज्ञान का अंजन बनाया। तूने केवल स्नेहाश्रुओं ही से महानन्द की रवि-नन्दिनी नहाई। तेरा आत्मज्ञान धन्य है। तेरी शिक्षा धन्य है।

तूने कनक में ध्यान न लगा केवल प्रस्थर के कण में ध्यान लगाकर अनन्त ईश्वर के दर्शन किये। तेरा दिव्य-वस्त्र मणिजटित दिव्याभूषण न रह केवल गेरुवा कपड़ा रहा। तूने गेरुवे रंग में सब रंग देख लिये। उस ऊषा के दिव्य आलोक का रंग गेरुवा है। तूने ही पहिचाना था कि वह अलख का रंग है। ऊषा, तम तथा प्रकाश का दिव्य मेल है। कितना मधुर मेल है।

तेरा अंगराग बहुमूल्य द्रव्य न रहकर केवल काष्ट तथा राख रहा। तूने ही चन्दन का दिव्य महत्त्व जाना, जो विषधरों के लिपटे रहने पर भी विषमय नहीं होता। उसे अंग में लगाना मानो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषधरों से निर्भय होना है। तूने शरीर में राख लगाकर प्रकट किया कि बाह्य इच्छाओं को भस्म कर देना चाहिए। तेरा अलौकिक बल अनन्त है। तेरी कल्पना के कल्प-तरु का मूल दिगन्तव्यापी है।

भविष्य सुफला की बातों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। सुफला आशा के अनुरोध से आज यहीं रही।

आशा को आज अपार सुख हुआ। उसने प्रेम को आज पहिचाना।

वीणा

विज्ञापन

"वीणा" नामक अपने इस दुधमुँहे प्रयास को हिन्दी संसार के उद्भट समालोचकों की छिद्रान्वेषी मूषक-दृष्टि के सम्मुख रखने में मुझे जो संकोच से अधिक आह्लाद ही हो रहा है, उसका कारण यह है कि मेरे इन असमर्थ प्रयत्नों तथा असफल चेष्टाओं द्वारा किये गये अत्याचार-उत्पात को स्नेहपूर्वक सहन कर वे मुझे ही अपने कृतज्ञता के पाश में न बाँध लेंगे, स्वयं भी मेरे अत्यन्त निकट खिच आयेंगे। सन्त हंसों की तो वैसे भी चिन्ता नहीं रहती; हाँ, वारि-विकार के प्रेमियों के कठोर आघात से बचने के लिए एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका में अत्यन्त विनीत तथा शिष्ट शब्दों की चाटुकारी का रोचक जाल फैलाकर उनकी रणकुशल कठफोरे की-सी ठोंठ को बाँध दूं। किन्तु 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' वाली किंवदन्ती के याद आते ही मेरे अभिमानी कवि ने निर्भयता का कवच पहनकर, मुझे, उनकी लम्बी-सी चोंच के लिए 'शोरवा' तैयार करने से हठात् रोक दिया। अस्तु—

इस संग्रह में दो-एक को छोड़ अधिकांश सब रचनाएँ सन् १९१८-१९ की लिखी हुई हैं। इस कवि-जीवन के नवप्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर नूपुर ध्वनि तथा अनिर्वचनीय सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा 'मन्दः कवियशः प्रार्थी' निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि, वीणावादिनी के चरणों के पास बैठ स्वर-साधन करते समय, अपनी आकुल-उत्सुक हृत्तन्त्री से बार-बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त असमर्थ अँगुलियों के उल्टे-सीधे आघातों द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट अस्पष्ट झंकारें जागृत कर सका है, वे इस 'वीणा' के स्वरूप में आपके सम्मुख उपस्थित है। इसकी भाषा यत्र-तत्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमें परिवर्तन करना उचित नहीं समझा; क्योंकि तब इसका सारा ठाठ ही बदल देना पड़ता। कई शब्द वाग्बन्ध आदि—जैसे मम, स्वीकारो, निर्माऊँ, वय-वाली, पहने है शुचि मुक्तामाल (पृष्ठ ६४) इत्यादि—जिनका प्रयोग अब मुझे कविता में अच्छा नहीं लगता—इसमें ज्यों के त्यों रख दिये गये है। मुझे आशा है, जिस प्रकार गत साधते समय अपने नौसिखुए शिष्य की अधीर, पथ-भ्रष्ट अँगुलियों की बेसुरी हलचल उस्ताद को कष्टकर नहीं होती, उसी प्रकार इस वीणा के गीतों की स्वरलिपि में इधर-उधर भूल से लग गये कर्कश विवादी स्वर भी सहृदय काव्य-मर्मज्ञों के लिए केवल मनोरंजन तथा विनोद की सामग्री होंगे।

'मम जीवन की प्रमुदित प्रात' वाला गीत (पृष्ठ ८४) गीतांजलि के 'अन्तर मम विकसित कर' वाले गाने से मिलता-जुलता है। बनारस में मेरे एक मित्र गीतांजलि के उस गीत को अकसर गुनगुनाया करते थे, उसी को सुनकर मैंने भी उपर्युक्त गीत लिखने की चेष्टा की थी।

कई कारणों से मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत संग्रह हिन्दी-प्रेमियों को 'पल्लव' से अधिक रुचिकर प्रतीत होगा, क्योंकि यह उतना अच्छा नहीं।

बेली रोड, प्रयाग

सुमित्रानंदन पंत

उत्सर्ग

जननि, सुना दे मृदु झंकार !
मधु बाला की मृदु बोली-सी
तेरी वीणा की गुंजार
खिला कई कवि-कुल-कमलों को
सुरभि कर चुकी है संचार !

मधुर प्रतिध्वनि सुनकर उसकी
नव कलियाँ सजतीं शृङ्गार,
यह तो तुतली बोली में है
एक बालिका का उपहार;
यह अति अस्फुट, ध्वन्यात्मक है,
बिना व्याकरण, बिना विचार !

इस बोली में कौन सुनेगा
इसकी वीणा को निस्सार ?
ताल लय रहित मेरी वीणा
वीणावादिनि, कर स्वीकार !

वीणा

(१)

नव वसन्त ऋतु में आओ,
नव कलियों को विकसाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
तरुण उषा की अरुण अधखुली
आँखों से मत बिंधवाओ,
मानिनि, मंजुल मलयानिल से
यों विरोध मत बढ़वाओ !
इन नयनों को समझाओ,
इन्हें न लड़ना सिखलाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
कमल कली में इन्हें डालकर
हाय ! न यों ही ढुलकाओ,
अज्ञाता की केश राशि में
इन्हें न कस-कस बँधवाओ !
आओ, कोकिल बन आओ,
ऋतुपति का गौरव गाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
अधरामृत से इन निर्जीवित
शब्दों में जीवन लाओ,
आँखों ने जो देखा, कर को
उसे खींचना सिखलाओ !

(१६१८)

(२)

तुहिन बिन्दु बनकर सुन्दर,
कुमुद किरण से सहज उतर,
मा ! तेरे प्रिय पद पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूं—
इस ऊषा की लाली में !
तरल तरंगों में मिलकर,
उछल-उछलकर, हिल-हिलकर
मा ! तेरे दो श्रवण पुटों में
निज क्रीडा कलरव भर दूं—
उमर अधखिली बाली में !

रजत रेत बनकर झलमल,
तेरे जल से हो निर्मल,
माया सागर में डूबों का
सोख-सोख रति रस हर दूं—
ग्रीष्म भरी दोपहरी में !
बन मरीचिका-सी चंचल
जग की मोह तृषा को छल,
सूखे मरु में मा ! शिक्षा का
स्रोत छिपा सम्मुख धर दूं—
यौवन की मद लहरी में !
विटप डाल में बना सदन,
पहन गेरुवे रँगे वसन,
विहग बालिका बन, इस वन को
तेरे गीतों से भर दूं—
सन्ध्या के उस शान्त समय !
कुमुद कला बन कल हासिनि,
अमृत प्रकाशिनि, नभवासिनि,
तेरी आभा को पाकर मा !
जग का तिमिर त्रास हर दूं—
नीरव रजनी में निर्भय !

(१६१८)

(३)

बढ़ा और भी तो अन्तर !
जिनको तूने सुखद सुरभि दी,
मा ! जिनको छबि दी सुन्दर,
मैं उनके ढिग गयी व्यग्र हो
तुझे ढूंढ़ने को सत्वर !
मधुबाला बन मैंने उनके
गाये गीत, गूंज मृदुतर,
पर मैं अपने साथ तुझे भी
भूल गयी मोहित होकर !

(१६१८)

(४)

यह चरित्र मा ! जो तूने है
चित्रित किया नयन सम्मुख,
गा न सकी यदि मैं इसको तो
मुझको इसमें भी है सुख !
वह बेला जो बतलाई थी
तूने अरुणोदय के पास,

पा न सकी यदि उसमें तुझको
मैं तब भी हूँगी न विमुख !

वे मोती जो दिखलाये थे
तूने ऊषा के वन में
उन्हें लोग यदि ले लेंगे तो
मलिन न होगा मेरा मुख !

तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको,
यह जग का सुख जग को दे दे,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

(१९१८)

(५)

आज वेदने ! आ, तुझको भी
गा-गाकर जीवन दे दूं—
हृदय खोल के रो-रोकर

अविरल आहों में भर-भरकर
उस कठोर मन की घातें,
मुरझी मालाओं से गिन-गिन
चिर वियोग दुख की रातें;
सजनि ! निराशा में विलीन हो
तुझको निज तन-मन दे दूं—
अश्रु नीर से धो-धोकर !

जिस मलिन्द की छबि मदिरा की
मादकता तू लायी है,
पिला-पिला जिसको, नयनों की
तूने प्यास बढ़ाई है;
उसे तुझी मे पाकर तुझको
अपना नव यौवन दे दूं—
सजनि ! विमूर्छित हो-होकर !

(१९१८)

(६)

मम जीवन की प्रमुदित प्रात
सुन्दरि ! नव आलोकित कर !
विकसित कर, नव सुरभित कर,
गुंजित कर, कल कूजित कर,
खिला प्रेम का नव जलजात,
बढा कनक कर निज मृदुतर !
निर्मल कर, अति उज्ज्वल कर,
मंजुल कर, मुद मंगल कर,

जीवन ज्योति जला अवदात,
ज्वालामय कर उर अम्बर !
मेरे चंचल मानस पर
पाद पद्म विकसा सुन्दर,
बजा मधुर वीणा निज मात !
एक गान कर मम अन्तर !

(१९१८)

(७)

हाय, कहेगा क्या संसार !
भला इसे मैं क्यों पहनूंगी ?
यह कैसा मणियों का हार !
मैं तो अपनी हार स्वयं ही
पहन चुकी हूँ बारम्बार !
जब खद्योतों से खेलूंगी
विजय निशा में, मैं उस पार,
इन मणियों की आभा से तब
दुख पहुँचेगा उन्हें अपार !
फिर पीपल के नीचे मुझसे
नही मिलेंगे वे सुकुमार,
जहाँ प्रकाशित करते हैं वे
मेरी आशा का संसार !

(१९१८)

(८)

काला तो यह बादल है !
कुमुद कला है जहाँ किलकती
वह नभ जैसा निर्मल है,
मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ मा !
काला तो यह बादल है !
मेरा मानस तो शशि हारिनि !
तेरी क्रीड़ा का स्थल है,
तेरे मेरे अन्तर मे मा !
काला तो यह बादल है !
तेरी किरणों से ही उतरा
मोती-सा शुचि हिमजल है,
मा ! इसको भी छू दे कर से
काला जो यह बादल है !
तब तू देखेगी मेरा मन
कितना निर्मल, निश्छल है,
जब दृगजल वन बह जावेगा
काला जो यह बादल है !

(१९१८)

(९)

द्वार भिखारी आया है,
भिक्षा दो, भिक्षा, सुन्दर !
कर चंचल मंजुल मुसकान,
तम का मुख काला कर प्राण !
गरज, गरज, कुछ शिक्षा दो,
शिक्षा दो, हे शिक्षाकर !
दया द्रवित हो दयानिधान !
नम्र निवेदन कर यह कान,
अये मुक्त ! शुचि मुक्ता दो,
मुक्ता दो, थाली भर-भर !
क्षीण कण्ठ कर रहा पुकार,
जलधर से बनकर जलधार,
प्यास लगी है पानी दो,
पानी दो, जीवन जलधर !
स्नेह अश्रुजल से अविरल
धो दो मेरा मल, निर्मल !
तप्त हृदय शीतल कर दो,
शीतल कर दो, आतपहर !
(१९१८)

(१०)

जब मैं कलिका ही थी केवल,
नहीं कुसुम थी बनी नवल,
मैं कहती थी मेरा मृदु मुख
शशि के कर खोलें शीतल !
पर, आँखें खुलते ही मैंने
अन्धकार देखा,—सविकल
स्वर्ण दिशा को देख, सजल दृग,
तुम्हें पुकारा हे उज्ज्वल !
(१९१८)

(११)

कौन-कौन तुम परिहृत वसना,
म्लान मना, भू-पतिता सी ?
धूलि धूसरित, मुक्त कुन्तला,
किसके चरणों की दासी ?
अहा ! अभागिन हो तुम मुझसी
सजनि ! ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो,
मैं उनके पद की छाया !

विजन निशा में किन्तु गले तुम
लगती हो फिर तरुवर के,
आनन्दित होती हो सखि ! नित
उसकी पद सेवा करके;
और हाय ! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि-दिन वन-वन,
नहीं सुनायी देती फिर भी
वह वंशी-ध्वनि मनमोहन !
सजनि ! सदा श्रम हरती हो तुम
पथिकों का, शीतल करके,
मुझ पथिकिनि को भी आश्रय दो,
मनस्ताप मेरा हरके !
(१९१८)

(१२)

बालकाल में जिसे जलद में
कुमुद कला ने किलकाया,
तारावलि ने जिसे रिझाया,
मृदु स्वप्नों ने सहलाया;
मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल - चुम्बन उलझाया,
उसे आज अपनी ही छबि में
केवल बाले ! न लुभा ले,—
उनका भी तो है कुछ भाग !
दीप शलभ ने जिसे मिचौनी
खेल - खेल कर हुलसाया,
कुसुमों ने हँसना सिखलाया
मृदु लहरों ने पुलकाया;
जिसे ओस जल ने ढुलकाया,
धवल धूलि ने नहलाया,
उसे कुसुम-सा गूँथ न ले अलि !
कुटिल कुन्तलों में काले,—
मेघों में भी है अनुराग !
जिसकी सुन्दर छबि ऊषा है,
नव वसन्त जिसका शृङ्गार,
तारे हार, किरीट सूर्य - शशि,
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार;
मलयानिल मुख-वास, जलधि मन,
लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी
मृदु बाँहों में लिपटा ले,—
रमा अंग में प्रेम पराग !
(१९१८)

(१३)

जब मैं थी अज्ञात प्रभात,—
मा ! तब मैं तेरी इच्छा थी,
तेरे मानस की जलजात !
तब तो यह भारी अन्तर
एक मेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुन्दर,
तू उमंग थी, मैं उत्पात !
अब तेरी छाया सुखमय
अन्धकार में नीरवता बन
मा ! उपजाती है विस्मय !

× × × × ×

उठ रे, उद्यत हो अज्ञात !
स्तब्ध हुआ है सब संसार,
इस नीरवता से तू कर ले
अपने साधन का शृङ्गार,
यह सुहाग की है प्रिय रात !
यह दीपक अपने सम्मुख धर,
जिससे पीछे गिरे मोह की
छाया, अन्तर हो गोचर;
वह भविष्य होवे अवदात !

(१९१८)

(१४)

करुणा क्रन्दन करने दो !
अविरल स्नेह अश्रु जल से मा !
मुझको मति मल धोने दो,
दग्ध हृदय की विरह व्यथा को
हरने दो, मा ! हरने दो !
मुझे चरण में शीश नवाकर
अवनत वदना होने दो,
उर इच्छा को एक आह बन
झरने दो, मा ! झरने दो !
मानस शय्या पर मेरी इन
वांछाओं को सोने दो,
अपना अंचल निज स्वप्नों से
भरने दो मा ! भरने दो !
द्रोह, मोह, छल, मदन, मद मुझे
निज संगति से खोने दो
हाथ पकड़, यह विश्व महोदधि
तरने दो, मा ! तरने दो !

(१९१८)

(१५)

धनिक ! तुम्हारे यहाँ भिखारी
भिक्षा लेने आया है,
नहीं इसलिए—तुम थाली भर
मणि मुक्ता दोगे सुन्दर।
किन्तु इसलिए आया है प्रिय !
वह तुमने अपनाया है,
स्नेह सहित तुम जो कुछ दोगे,
वह कृतार्थ होगा सत्वर।

(१९१८)

(१६)

मिले तुम राकापति में आज
पहन मेरे दृगजल का हार;
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जलधार,
नहीं फिर भी तो आती लाज
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
हुआ था जब सन्ध्या आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर,
विहग रव बनकर मैं चितचोर !
गा रहा था गुण, किन्तु कठोर !
रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक ! ...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
याद है क्या न प्रात की बात ?
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन, प्राण ! लगाने धूल
पास आया मैं, चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मै भी वृक्ष करील,
रात-दिन दृष्टि द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हें, (यही क्या शील !)
न आये पास, सजा नव साज...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?
अभी मैं गा रहा हूँ गीत
अश्रु से एक-एक लिख घात
किया करते हो जो दिन-रात,
बुझाते हो प्रदीप, बन वात,
प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

(१९१९)

(१७)

ये तो हैं नादान नयन !
वारि विनिर्मित वारिद दल,
मंजु मेल की मूर्ति विमल,
निर्मलता के निलय नवल क्यों
इन्हें दिखायी देते श्याम ?
वे वासव के शुचि वाहन,
रोहित-रंजित गिरि मण्डन,
प्रकृति देवि के नव जीवन क्यों
इन्हें नहीं लगते अभिराम ?
ये तो हैं निर्बोध श्रवण !
जिन्हें वारि ने उपजाया,
दिनकर ने है विकसाया,
विमल वायु ने समुद झुलाया
जिन्हें खिलाकर अपनी गोद;
उनका मंजुल मोद मिलन,
गुण-गम्भीर गहन गर्जन,
चपला चुम्बित अभिवादन क्यों
इन्हें नहीं देता आमोद ?
छोड उच्चतम नील गगन—
इन नयनों में समुद उतर,
इन श्रवणों में मृदु स्वर भर,
इनमे नहीं मिले आकर वे
इसीलिए क्या हैं श्यामल ?
पर, जब पी-पी ध्वनि सुनकर,
अविरल पिघल-पिघल, झर-झर,
गिरते हैं बन हिम सीकर वे
तब कहलाते निर्मल जल !
कैसा भोला है यह मन !

(१९१९)

(१८)

मेरे मानस का आवेश,
तेरी करुणा का उन्मेष,
भीरु घनों-सा गरज-गरजकर
इसे न मुरझा जाने दे !
निज चरणों में पिघल-पिघलकर
स्नेह अश्रु बरसाने दे !
भव्य भक्ति का भावन मेल,
तेरा मेरा मंजुल खेल,
सघन हृदय में विद्युत-सा जल
इसे न मा ! बुझ जाने दे,

मलिन मोह की मेघ-निशा में
दिव्य विभा फैलाने दे !
विश्व प्रेम का रुचिकर राग,
पर सेवा करने की आग,
इसको सन्ध्या की लाली-सी
मा ! न मन्द पड़ जाने दे,
द्वेष द्रोह को सान्ध्य-जलद-सा
इसकी छटा बढ़ाने दे !

(१९१८)

(१९)

उस सीधे जीवन का श्रम
हेम हास से शोभित है नव
पके धान की डाली में,—
कटनी के घूंघर रुनझुन
(बज-बजकर मृदु गाते गुन,)
केवल श्रान्ता के साथी हैं
इस ऊषा की लाली में !
मा ! अपने जन का पूजन
ग्रहण करो 'पत्रं पुष्पम्',
सरल नाल-सा सीधा जीवन
किन्तु मंजरी से भूषित,
बाली से शृङ्गार तुम्हारा
करता है वय बाली में !
मास-ननद भय, भूख अजय,
श्रान्ति, अलस औ' श्रम अतिशय,
तथा कांस के नव गहनों से
अर्चन करता है सादर—
आश्विन सुषमाशाली में !

(१९१८)

(२०)

इस अबोध की अन्धकारमय
करुण कुटी पर करुणा कर
अये रन्ध्र-मग-गामी ! स्वागत,
आओ, मुसका उज्ज्वलतर !
रजत तार-से हे शुचि रुचिमय !
हे सूची-से कृशतर अंग !
इस अधीर की लघु कुटीर का
तिमिर चीरकर, कर दो भंग !
हे करुणाकर के करुणा-कर
तुम अदृश्य बन आते हो,

रज कण को छू, बना रजत कण,
प्रचुर प्रभा प्रकटाते हो !

अरुण अधखुली आँखें मलकर
जब तुम उठते हो छबिमय !
रंग रहित को रंजित करते,
बना हिमालय हेमालय !

तुम बहुरंगी होने पर भी
सदा शुभ्र रहते हो नाथ !
मुझको भी इस शुभ्र ज्योति में
मज्जित कर लो अपने साथ !

हे सुवर्णमय ! तुम मानस में
कमल खिलाते हो सुन्दर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद पद्म भ्रमर !

और नहीं तो, अपना ही-सा
मुझको भी सीधा जीवन
हे सीधे-मग-गामी ! दे दो,
दिव्य अप्रकट गुण पावन !

(१९१८)

(२१)

मैं सबसे छोटी होऊँ,
तेरी गोदी में सोऊँ,

तेरा अंचल पकड़-पकड़कर
फिरूँ सदा मा ! तेरे साथ,
कभी न छोड़ूँ तेरा हाथ !

बड़ा बनाकर पहिले हमको
तू पीछे छलती है मात !
हाथ पकड़ फिर सदा हमारे
साथ नहीं फिरती दिन-रात !
अपने कर से खिला, धुला मुख,
धूल पोंछ, सज्जित कर गात,
थमा खिलौने, नहीं सुनाती
हमें सुखद परियों की बात !

ऐसी बड़ी न होऊँ मैं
तेरा स्नेह न खोऊँ मैं,

तेरे अंचल की छाया में
छिपी रहूँ निस्पृह, निर्भय,
कहूँ—दिखा दे चन्द्रोदय !

(१९१८)

(२२)

निज अंचल में धर सादर,
वासन्ती ने यह नव कलिका
जो तुझको दी है उपहार,
हेम हासमय सुखद प्रात को
किया जगत का जो श्रृङ्गार;
मा ! इस नव कलिका का तन,
कोमलता से कोमलतम,
इस निकुंज के काँटों से क्या
बिंध न जायगा अति असहाय ?
प्रखर दोपहर में दिनकर कर
सहन कर सकेगा क्या हाय !
क्या हिम का अकरुण आघात
सह लेगा इसका मृदु गात ?
यही निबल कलिका लतिका का
मा ! क्या वंश बढ़ायेगी ?
मधुप बालिका का क्या यह ही
मा ! मानस बहलायेगी ?
यह तेरी अति नूतन नीति
मा ! यह तेरी न्यारी रीति
तेरी सुखमय सत्ता जग को
कहाँ नही जतलाती है ?
जहाँ छिपाती है अपने को
मा ! तू वही दिखाती है !
(१६१८)

(२३)

हाय ! जगाने पर भी तो मैं
सजनि ! न अब तक जगती थी,
सोयी थी मै, इसीलिए तो
जग को भारी लगती थी !
स्वप्न देखती थी मैं मादक,
किन्तु अचिर, अस्फुट सुखमय,
लता कुंज मे सोयी हूँ मै
सुरभित सुमनो पर निर्भय !
कभी पूछती हूँ पुष्पों के
प्याले में किसका यौवन
भर-भर पिला रहे मधुकर को
हे ऋतुपति ! हे धरा रमण !
कुंज विहारी से कहती हूँ
कभी—मधुप ! निज मादक राग
इस कलिका के ढिग मत गाओ,
नही जानती यह अनुराग !

वह निद्रा, सुख स्वप्न सजनि ! वे
एक साथ ही सब छूटे,
एक-एक कर हृदय हार के
बन्धन अब मेरे टूटे !

(१९१८)

(२४)

मकड़ी का मृदु मायाजाल
इस रसाल के सघन शाल में
जीवन शून्या के दृगजल का
पहने है शुचि मुक्तामाल !

आम्र मंजरी की मृदु वास,
विकसित किसलय, मधुमय हास,
इस वसन्त में कितनों का है
अन्त कर चुका अचिर प्रकाश !
फैला छबि के बाहु मृणाल !

× × × ×

मा ! मेरे अरि को बल दो,
उसको यही कठिन फल दो,
जिससे सतत सतर्क रहूँ मैं,
निज अवलम्ब अचंचल दो,
सदा स्वेदमय रख यह भाल !

मुझे मृणाल तन्तु मे बांध,
करना सफल न अरि की साध,
कठिन निगड़ मे बँधवाकर मा !
धीरज देना अटल, अगाध;
निडर काल से कर विकराल !

(१९१९)

(२५)

अब न अगोचर रहो सुजान !
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अन्धकार, स्वप्नों के यान !
किसके पद की छाया हो तुम,
किसका करते हो अभिमान ?

तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो,
किसे छिपाये हो छबिमान !
मेरे स्वागत-भरे हृदय में
प्रियतम ! आओ, पाओ स्थान !

जब मैं अपने नयन मूँदकर
करती प्रियतम के गुणगान,
तब किस पथ से आ तुम मुझको
देते हो नित दर्शन दान ?

जग अदृश्य कर मेरे दृग से
प्रियतम में लगवा ध्रुव ध्यान,
तुम तुरन्त ही, हे अनन्तगति !
हो जाते हो अन्तर्धान !

जब तुम मुझे गभीर गोद में
लेते हो, हे करुणावान !
मेरी छाया भी तब मेरा
पा सकती है नहीं प्रमाण !

प्रथम रश्मि का स्पर्शन कर नित,
स्वर्ण वस्त्र करके परिधान,
तुम आश्वासन देते हो प्रिय,
जग को उज्ज्वल और महान !

जब प्रदीप के सम्मुख मैं भी
गयी जलाने निज अज्ञान,
तब तुम उसके चरणों में थे
पाये हुए सुखद सम्मान !

अपने काले पट में मेरा
प्रिय ! लपेटकर मत्सर मान
रंग रहित होकर छिप रहना
मुझको भी बतला दो प्राण !

(१९१८)

(२६)

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर !
एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति ?
जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति,
तृषा तुम, यदि मैं चातक पाँति !
दिखा सकता है क्या शुचि सर
कभी अपना अनन्य समतल ?
कहो क्या दर्पण ही निर्मल
दिखा सकता निज मुख उज्ज्वल ?
कौन हो तुम उर के भीतर,
बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ?
(१९१८)

(२७)

प्राण ! प्रेम के मानस में—
मुझे व्यजन-सा हिलकर अविरल
शीतलता सरसाने दो,

अपने मुख से जग-चिन्ता के
श्रमकण सदय ! सुखाने दो !
वंशी-सा सीधा बनकर,
तान सुनाकर श्रुति सुखकर,
मुझे प्रेम का नीरव मानस
सुन्दर ! शब्दित करने दो,
अपने गौरव के गीतों से
प्रियतम ! उसको भरने दो !
नव वसन्त का विकसित वन,
मधुमय मन, मृदु सुरभित तन,
एक कुसुम कलिका उस वन की,
मुझको भी कहलाने दो,
मधुशाला का हृदय मनोहर !
मुझको भी बहलाने दो !

(१९१८)

(२८)

स्नेह चाहिए सत्य, सरल !
कैसा ऊँचा-नीचा पथ है
मा ! उस सरिता का अविरल,
तेरे गीतों को वह जिसमें
गाती है टल्-टल् छल्-छल् ।
मैं भी उसमे गीत सीखने
आज गयी थी उसके पास,
उसके कैसे मृदुल भाव है ?
उज्ज्वल तन, मन भी उज्ज्वल !
कितने छन्दों में लहराकर
गाती है वह तेरे गीत ?
एक भाव मे अपने सुख दुख
तुझे सुनाती है कल्-कल् !
मा ! उसको किसने बतलाया
उस अनन्त का पथ अज्ञात ?
वह न कभी पीछे फिरती है,
कैसा होगा उसका बल ?
एक ग्रन्थि भी नही पडी है
उसके सरल मृदुल उर में,
उसका कैसा कर्मयोग है,
वह चंचल है, या अविचल ?

(१९१८)

(२९)

तजकर वसन विभूषण भार,
अश्रुकणों का हार पहनकर
आज करूँगी मैं अभिसार !

यह नव मुकुलित लता भवन
गुंजित कुंज, विजन कानन
चिर उत्सुकता की छाया से
मौन मलिन हो रहा अपार !
हिला-हिला निज मृदुल अधर
कहते कुछ तरु दल मर्-मर्,
अन्धकार का अलसित अंचल
अब द्रुत ओढ़ेगा संसार !
दिखलायी देगा जग श्याम,
तृषित हो रहा मम हृद्धाम,
यह तृष्णा ही कौस्तुभ मणि बन
मुझे दिखावेगी वह द्वार,
बन उसका हृदयालंकार !
(१९१९)

(३०)

"मा ! काले रँग का दुकूल नव
मुझको बनवा दो सुन्दर
जिसमें सब कुछ छिप जाता है
रहती नहीं धूलि की डर;
जिसमें चिह्न नहीं पड़ते, जो
नहीं दीखता है श्रीहीन,
लोग नहीं तो हँसी करेंगे
देख मुझे मैली औ' दीन !"
"अरी अभी तू बच्ची ही है
कृष्णे ! निरी अबोध, चपल,
मैं मलमल की साडी तुझको
बनवाऊँगी फेनोज्ज्वल;
दिखलायी दें जिसमे सबको
तेरे छोटे से भी अंक,
बार बार सहमे तू जिससे
रहे शुद्ध नित स्वच्छ, सशंक !"
(१९१८)

(३१)

कैसा नीरव मधुर राग यह
शिशु के कम्पित अधरों पर
सजनि ! खिल रहा है रह-रह !
किन स्वप्नों की स्मृति सुखमय
उदय हुई है यह अक्षय ?
आँखमिचौनी-सी अधरों में
कौन खेलता है छिपकर,
मृदु मुसकानों में बह-बह !

अलि ! यह किसका सरल हृदय
अधरों पर बिम्बित छबिमय ?
यह किसकी जीवित छाया है ?
किस नव नाटक का उपक्रम ?
किन भावों का चित्र चरम ?
अये मृदुल ! यह किसके गीत
गाते हो तुम मधुर, पुनीत ?
प्रकट क्यों न कुछ कहते हो ? क्या
वे इतने हैं गुप्त, परम ?
यह कैसा परिहास, सुषम !
(१९१९)

(३२)

कर पुट में पुष्पांजलि धर
अश्रु नीर से मानस भर,
तेरा गौरव गाती हूँ मैं
अवनत वदना हो जब प्रात,
तुझको नित्य बुलाती हूँ मै
सजल लोचना हो जब मात !
धारण कर तेरा ध्रुव ध्यान,
दृग सम्मुख ला मूर्ति महान,
नयन मूँद लेती हूँ जब मै
तुझको निज मन में अनुमान,
गद्गद हो रो देती हूँ मैं
जब अति भावाकुल हो प्राण !
जब मेरा चिर संचित प्यार
उमड़ उदधि - सा अतल, अपार,
अपने नीरव गूढ गर्भ मे
मुझे डुबाता है गम्भीर,
द्रोह, मदन, मद का मल मेरा
धो देता है जब दृगनीर !
तब मेरे सुख का अनुमान
क्या तू कर सकती है प्राण !
कह ? क्या तू भी गा सकती है
इतने सुख से अपने गीत ?
कभी देख सकती है तू भी
क्या अपनी यह मूर्ति पुनीत ?
मा ! तेरा अति रम्य स्वरूप,
तेरे गुण गण अतुल, अनूप,
नयन नीरजों मे मेरे भी
बंधते है, बन चोर अजान ?
क्या तुझसे भी लेते है ये
कभी स्नेह मधु सिंचित दान ?

सर्व शक्तिमत्ता तेरी
यह क्या नहीं जननि ! मेरी ?
यह मुझको ही तो तापों से
रक्षित रखती है दिन-रात,
तुझे तभी तो मैं अपने से
दुर्बल बतलाती हूँ मात !

(१६१८)

(३३)

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत !
जहाँ मलिनता विचर रही है,
जहाँ शून्यता का है स्रोत।
सदन लौटता हुआ प्रवासी
तप्त अश्रुजल अंजलि दे,
पूत कर गया था जिस तरु को
सकल स्वार्थ की निज बलि दे।
क्षीण ज्योति में निज, किसका धन
ढूंढ रहे हो कर तम भंग,
किस अज्ञाता के जीवन को
ज्योतित हो कर रहे, पतग ?
उस निर्दोषा का क्या जिसकी
वायु भक्षिणी वेणी में
पड़कर तड़पा हाय ! प्रवासी
लुटे हुओं की श्रेणी मे !
किन्तु शलभवर ! उसे न छेड़ो,
सोने दो उसको उस पार,
वहीं स्वप्न मे पा लेगी वह
अपने प्रियतम का उपहार !
जब जीवन के स्रोत सम्मिलित
हो जाते हैं किसी प्रकार,
उन्हें नहीं तब बिछुडा सकता
सखे ! स्वयं तारक करतार !

(१६१८)

(३४)

निर्झर की अजस्र झर्-झर् !
आओ, मन ! नव पाठ सीख लो
इस गिरि निर्झर के रव से
यह निर्मल जलस्रोत गिर रहा
गिरि के चरणों में कब से !
अपनी वीणा में स्वर भर,—

आओ, इसके पास बैठकर
यह अनन्त गाना गा लो,
इसका उज्ज्वल वेग देख लो,
तुम भी दृगजल बरसा लो !
निर्झर की निर्भय झर्-झर् !
निबल ! देख लो शीतल जल में
अन्तर्हित इच्छा की आग,
भूरि भिन्नता में अभिन्नता,
छिपा स्वार्थ में सुखमय त्याग !
गा लो वीणा में स्वर भर,—
जो न अश्रु अंजलि देता हो
वह क्योंकर सुख पायेगा ?
जिसे नहीं देना आता हो
वह किससे कैसे लेगा ?
फिर गिरि निर्झर की झर् -झर् !
(१९१९)

(३५)

विलोडित सघन गगन में आज,
विचर रहा है दुर्बल घन भी
धर कर भीमाकार,—
[illegible]ना है कहीं—क्रुद्ध गजराज !
गर्जन सुन[illegible] काँप रहा है
मा ! कर्त्तव्य अपार,—
चपल करती है पल-पल गाज !

भिखारी बन सारंग समाज
उधर पुकार रहा है पी, पी,
गूँथ अश्रु जल हार,—
जननि ! करने तेरा शृङ्गार,
परीक्षा का कठोर ले व्याज !
अभी दयामयि ! क्या न खुलेगा
तेरा मुक्तागार ?—
छिपी मरुथल में जल की धार
वृष्टि के वाद नीलिमोद्धार ?
(१९१८)

(३६)

कुमुद कला को लेने जब मैं
रोयी थी निज बचपन मे,
तब मेरी मा कहती थी वह
रहती है नभ के वन में !

पर शिशुता वश नही सुना था
मैंने उसका समझाना,
तब मा ने था मुझे मनाया
दिखला शशि-छवि दर्पण में !

मै तब कितनी अनभिज्ञा थी !
प्रतिबिम्बित शशि को पाकर
मुसकानों में गाकर उसमे
क्रीड़ा करती थी मन मे !

यही सोचती थी शशि बाला
सचमुच मेरे कर में है,
आनन्दित होती थी उसको
पा उस प्रतिमा पूजन में !

धीरे-धीरे अब तू अपना
दिव्य द्वार है खोल रही,
पल-पल अपनी प्रयत प्रभा है
प्रकटाती इस जीवन मे !

मा, वह दिन कब आवेगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पण मे ?

(१९१८)

(२७)

"मा, अलमोड़े म आये थे
जब राजर्षि विवेकानन्द,
तब मग मे मखमल बिछवाया,
दीपावलि की विपुल अमन्द;
बिना पाँवड़े पथ मे क्या वे
जननि, नही चल सकते है ?
दीपावलि क्यो की ? क्या वे मा,
मन्द दृष्टि कुछ रखते है ?"

"कृष्णे स्वामीजी तो दुर्गम
मग मे चलते हैं निर्भय,
दिव्य दृष्टि है, कितने ही पथ
पार कर चुके कंटकमय;
वह मखमल तो भक्ति भाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामीजी तो प्रभावान है,
वे प्रदीप थे पूजन के !"

(१९१८)

(३८)

उस विकसित, वासित वन मे
कुसुमों के अस्फुट अधरों पर
सिहर रहा है कौन विकल,
अलि, चंचल होकर पल-पल !
यह किसका नादान हृदय
बहा चुका है बल संचय ?
तुहिन बिन्दु बन ढुलक रही है
किसकी जीवन विजय धवल,
सजनि, मोह से हो निर्बल !
वह जागृति का जीवित गीत,
अलि बाला गाती सुपुनीत,
गूंज उठे इस मधु सेवा से
दुर्बल हृदयों में नव बल,
जीवन का, जग का मंगल !
(१९१९)

(३९)

लतिका के कम्पित अधरों से
यह कैसा मृदु अस्फुट गान
आज मन्द मारुत में बहकर
खींच रहा है मेरा ध्यान !
किस प्रकाश का गूढ चित्र यह
आज धरित्री के पट पर
पत्रो की मायाविनि छाया
खीच रही है रह-रहकर !
छबि की चपल अँगुलियों से छू
मेरे हृत् तन्त्री के तार
कौन आज यह मादक, अस्फुट
राग कर रहा है गुंजार !
महानन्द का क्या ऐसा ही
नीरव होता है संगीत ?
मनोयोग की वीणा मेरी
मा, जिसने की आज पुनीत !
(१९१९)

(४०)

श्रूयते हि पुरा लोके—
विस्तृत मरु थल के उस पार
जहाँ स्वप्न सजते शृङ्गार,
छबि के वन मे एक नाल में
दो कलिकाएँ फूली हैं,

कलित कल्पना की डाली में
जो अतीत से भूली हैं;
जो मधु, धूलि, सुगन्धि रहित हैं
दिव्य रूप करतीं विस्तार,
जहाँ स्वर्ण की आशा अलिनी
गाती है, कर स्वप्न विहार !

जब यह मरु रवि के आतप में
तप्त छोड़ता है निःश्वास,
उस छवि के वन में ऊषा का
रहता है तब भी मृदु हास !
वह सोने की आशा अलिनी
करती है जब मृदु गुंजार,
तब सुख हँसता, औ' दुख गाता,
विश्व दीखता एकाकार !

उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरु में पथ जाता है,
पर मरीचिका में मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है !
बालू का प्रति कण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण सरित की धार !

(१९१९)

(४१)

मुझे सोचने दो सजनी—
एक विहग बालिका बनी
आज अकेली बैठी हूँ मैं
उस नीरव तरु के ऊपर,
जहाँ स्वप्न हैं रहे विचर !
पत्रों के मृदु अधरों में
जहाँ शून्य संगीत प्राण का
फूट रहा है अभय, अमर !
ये पीले-पीले प्रियतर
अन्तिम आभा के कृश कर
मेरा स्वर्ण सदन स्वप्नों का
छीन रहे हैं छिप-छिपकर !
आओ शिव ! आओ सुन्दर !
मुझे सौंपने दो तुमको
अपनी वांछाएँ रज कण सी,
होने दो निश्चिन्त, निडर !
निज वियोग की बाँहों में

मुझे सदा को बँध जाने दो,
फिर चाहे मेरा अन्तर
अन्धकार होवे दुस्तर !

(१६१६)

(४२)

मधुरिमा के मृदु हास !
किस अदृश्य गुण से तुम मुझको
खींच रहे हो पास ?
सुनायी देता है बस गीत,
बुलावे की यह कैसी रीति ?
हृदय के सुरभित साँस !
चपल पलक से छूकर मुझको
निर्बल कर, किस ओर,
भुलावे में तुम कुसुम कठोर !
बहाते हो ? न कहीं है छोर !
बैठकर मैं इस पार,
शून्य बुद्बुदों से सुनती हूँ
जीवन का संगीत,
तुम्हारा मौन निमन्त्रण, मीत !
विश्व का अन्तिम गान पुनीत !
कहाँ हो कर्णाधार !
लघु लहरों में खेल रही है
मेरी हलकी नाव,
न तुममें है प्रिय ! तनिक दुराव
जानते हो सब मन के भाव !

(१६१६)

(४३)

तरल तरंग रहित, अविचल,
सरसी के जल का समतल
नहीं दिखायी देता ज्यों मा !
बिना हिलाये उसका जल;
अपनी ही छबि का प्रतिफल
प्रतिबिम्बित होकर अविरल,
दिखलायी देता ज्यों अविकल
उसके समतल में निश्चल।
वैसे ही तेरा संसार
अति अपार यह पारावार,
नहीं खोलता है मा ! अपने
अद्भुत रत्नों का भण्डार,

प्रत्युत, अपने ही शृङ्गार,
(तुलसीमाला या मणिहार)
मा ! प्रतिबिम्बित होकर इसमें
दिखलायी देते निस्सार !
चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
इसके जल को हिला अपार,
दिखलायी देती तब इसकी
विश्वमूर्ति अति सदय, उदार !

(१९१८)

(४४)

श्रवण चाहिए अलि ! केवल,—
केकी की मृदु केका ध्वनि सुन,
चौंक, जग पड़ी थी मैं कल,
मैंने देखा तो आँगन में
नाच रही थी वह अविरल ।
जिसे देख वह नाच रही थी
मैं वह सब थी समझ गयी,
अह ! वह वर्षा ऋतु ! वे वारिद !
वह मेरा अविरल दृग जल !
मैंने नभ पर वक्र भृकुटि कर
मौन दृष्टि जब डाली थी,
तब अकारण घन घोष हुआ था,
चमकी थी चपला चंचल !
हाँ, प्यासी पी-पी ध्वनि सुनकर
पिघल पड़े थे तब घनश्याम,
पर न पपीहा तृप्त हुआ, हा !
कैसा था वह विरहानल !
वह भी उसका ही प्यासा था
जिसका पथ मैं तकती थी,
श्रवण कर चुकी थी वह केकी
जिसका नूपुर नाद नवल ।

(१९१८)

(४५)

आँखों के अविरल जल को
मत रोको, मन ! मत रोको !
इस भीषण घन में सुन्दर
छिपा हुआ है मुक्ताकर,
इसी अश्रुजल में वह मुख
अवलोको, मन ! अवलोको !

इस गर्जन में गौरव गान
मिला हुआ है, दो हे कान,
इसी चंचला में है बल,
मत चौंको, मन ! मत चौंको !
इसी मलिनता में निर्मल
छिपा हुआ है शीतल जल,
इस तम में ही है प्रियतम,
अवलोको, मन ! अवलों को !
लुटने ही में है संयोग,
जुटने ही में मेल अमोघ,
कुण्ठित ही क्यों हो न कृपाण,
पर, भौंको, निर्भय भौंको !

(१९१८)

(४६)

तुम्हारे कोमल अंग,
विधुर उर के तारों में आज
गा रहे हैं क्या अस्फुट गीत ?
छिपे थे जो स्वर सहज पुनीत
विकल क्यों हुए आज निर्व्याज ?
निठुर वाणी का ढंग !
शब्द का गौरव, स्वर का स्पर्श
हो गया है क्या विभव विहीन !
दिखाने को यह रूप नवीन
हो गये क्या निरर्थ आदर्श ?
आज अज्ञेय अनंग !
धूम की खिली स्फीति-सी घूम
ऊर्मियों में छबि की अनुकूल,
लीन हो जाऊँ मैं, सब भूल,
दूर से अधर तुम्हारे चूम !
मुझे अज्ञात उमंग,
बहाती है कब से, किस ओर !
कौन जाने ? पर मेरे नाथ !
न छूटे इस अतृप्ति से साथ,
सदा ही रहे अविकसित भोर,
स्वप्न मत हो यह भंग !

(१९१९)

(४७)

तब फिर कैसा होगा मात !
धीरे-धीरे पक्ष हीन जब
हो जावेगा यह द्विज दल,

डाल-डाल में, शाल-शाल में
उड़ न सकेगा उच्छृंखल;
मुरझे फूलों-सा जब भू पर
गिर जायेगा हो निर्बल,
गा न सकेगा जब मृदु स्वर से
प्रथम रश्मि का स्वागत कल ?

यह तो करता है उत्पात ! —
अति अनन्त नभ की नीरवता
यह शब्दित कर हरता है,
विमल वायु का कोमल मानस
उड़-उड़ कम्पित करता है;
मेरे सुन्दर धनुष-बाण में
समुद बैठते डरता है,
इसे बुलाने पर भी तो यह
कभी न निकट विचरता है !

इसे नहीं यह अब तक ज्ञात —
जब तुम मुझको बैठाती हो
कंटक दल के आसन में,
उसे ग्रहण करती हूँ तब मैं
कितनी प्रमुदित हो मन में;
शूल फूल-से हो जाते हैं
स्व कर्तव्य के पालन में,
क्या न बनी थी पुरी अयोध्या
पंचवटी के भी वन में ?

(१६१८)

(४८)

नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !
झंझावात ! प्रलय ! भूकम्प !
वह्नि ! बाढ़ ! उल्का ! दृढ़ शम्ब !
तृष्णा का वह भीषण ताण्डव
अन्त हुआ है आज प्रचण्ड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

पश्चिम के रक्तार्णव में
रक्त हस्त विद्वेष चक्र वह
अस्त हुआ है आज अखण्ड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

× × × × ×

एक तिमिर की गहरी आह,
द्रुत भर दे यह गर्त अथाह !
एक नाद का यही अन्त हो

डम् डम् डमरु बजे फिर शान्त !
उठो भ्रात ! अब जागो मात !
किनकी अमृत शुभाशाएँ—
वह, प्राची से ज्योतिर्मय-कर
बढ़ा रही है मंगल, कान्त ?
सुखमय हो यह नवल प्रभात !
(११ नवम्बर, १९१९)

(४९)

छोटे ही की क्या पहचान ?
उषा उदय में मधु बाला थी
गाती तेरा गौरव गान,
वही मधुर स्वर चुरा आज मैं
रोने बैठी थी अनजान !

सौरभ वेणी खोल रहा था
तेरी महिमा की, पवमान,
वही आज अविरल आहों में
मैं फैलाती थी,—हा ! प्राण !

कमल-क्रोड में कुमुद-किरण ने
जिसे दिया था जीवन दान,
मेरी आँखों में अटका था
ओस बिन्दु वह अति नादान !

पलक युगल नवदल खुलते ही
उसके जीवन का अवसान
स्मृति पट पर अब तक अंकित है,
उस अजान का वह बलिदान !

तेरी ही छवि प्रतिबिम्बित-सी
मुझको उसमें मिली महान,
मा ! तू क्या लघु कण में भी है ?
तब क्या मैं ही थी अज्ञान ?

(१९१८)

(५०)

चपल पलकों के साथ
दबा मेरा दुर्बल दिल, प्राण !
सुन रहे हो क्या चूर्णित गीत ?
बेसुरी, बिखरी, टूटी तान
तुम्हें क्या भाती है विपरीत !

निराली छवि के हाथ
पकड़कर मेरी पीली बाँह,
खींचकर मुझको अपनी ओर,
छोड़ते हैं यह कहाँ—अथाह !
भूलने का है क्या कुछ छोर ?

तुम्हीं जानो हे नाथ!
चमककर मेरे पथ में प्रात
आँख अटकाती है यह कौन!
धूलि की ढेरी में अज्ञात
छिपी है क्या मेरी जय मौन?

नवाती हूँ मैं माथ,
विनत वदना नलिनी-सी प्रात,
अश्रु जीवन का रख उपहार;
अरुण पद चिह्न तुम्हारे तात!
स्पृहा से भर अपनी सुकुमार,
खोल अपलक दृग द्वार!

(१९१९)

(५१)

मरु भी होगा नन्दन वन!
मा! जब मैं तुझसे अजान थी
तब कैसा था मेरा मन!
कैसा नीरव लगता था तब
यह मृदु कलरव भरा भुवन!

विहग बालिका की बोली नव
विभव नहीं बरसाती थी,
केशर के शर मार गन्धवह
खिला न सकता था तन-मन!

नहीं मधुकरी भी गाती थी
मधुर मधुभरी वीणा में,
जग को देख नहीं सकते थे
स्वावलम्ब के शत्रु नयन!

किन्तु हुआ जब तेरा मेरा
प्रथम रुचिरतम सुख संजोग,
स्वर्ण वर्ण तब कैसा सुन्दर
मेरा हुआ जननि, नूतन!

कितने मधुर स्वरों में गाये
विहगों ने गुण गौरव गीत,
तब कैसा खिल गया अखिल जग
नवल कमल का सा कानन!

क्षीण क्षपाकर की छाया में
छिपी हुई थी मैं पहिले,
नहीं जानती थी मा! तेरी
प्रयत प्रभा की प्रथम किरण—

मुझको इतना गौरव देगी
छूकर मेरा म्लान वदन,
मेरी सोने की भावी के
भूषण हैं इतने भावन!

इतने कोमल कमल मधुप दल
मुझमें फूले पावेगा,
इतने पथ भूले दृग मेरा
अभी करेंगे अभिवादन !
मैं इतनों की सुख सामग्री
हूँगी जगती के मग में,
शोक मुक्त होंगे द्रुत कितने
कोक मुझे कर अवलोकन !
(१९१८)

(५२)

अँगड़ाते तम में
अलसित पलकों मे स्वर्ण स्वप्न नित
सजनि ! देखती हो तुम विस्मित,
नव, अलभ्य, अज्ञात !
आओ, सुकुमारि विहग बाले !
अपने कलरव ही-से कोमल
मेरे मधुर गान मे अविकल
सुमुखि ! देख लो दिव्य स्वप्न-सा
जग का नव्य प्रभात !
है स्वर्ण नीड मेरा भी जग उपवन मे,
मैं खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में,
उड मृदुल कल्पना पखों मे, निर्जन मे,
चुगता हूँ गाने बिखरे तृण मे, कण मे !
कल कण्ठिनि ! निज कलरव में भर,
अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ वन-वन, घर-घर,
नाचें तृण, तरु, पात !
(१९१९)

(५३)

तिलक ! हा ! भाल-तिलक !
छुडा दिया किस अकरुण कर ने
यह शोभालकार !!
जाति की आशा का संचार !
पुरातन वेदों की झंकार !
अश्रु नयन निशि के आँगन में
बिखर गया अनजान
आज गीता रहस्य का गान !
कोटि त्रय कण्ठों का प्रिय प्राण !
कर्मयोग की टीका अविकल—
कहाँ गया मा की गोदी का
हाय ! केसरी बाल !

स्वगति मे गंगा-सा अविचल !
देश की धूलि से भरा लाल !
(१९१८)

(५४)

सखी ! सूखी बिन्दाल
सन्मुख बहती है वह नीरव,
निःसलिला, कंकाल !
गिरी, बिखरी स्मृति-सी प्राचीन,
अतृप्त, अकथ वियोग-सी दीन !
अचिर लालसा-सी निर्बल वह,
वैभव - सी कंगाल !
समय के पद-चिह्नों - सी क्षीण
स्वप्न संसृति-सी आज विलीन !
चिकनी-चुपडी उपल राशि वह
नीली, पीली, लाल
बाल लीला - सी मेरी आज
खो चुकी निर्मलता का साज !
अह, उन कोमल पद चिह्नो मे
कैसी अस्फुट चाल
दबाती है उर को तत्काल,
कहाँ सूखी है सखि ! बिन्दाल ?
(१९२०)

(५५)

तेरा अद्भुत है व्यापार !
तुझको कब से बुला रही थी
मै पुकार कर बारम्बार,
विकसित वदना, वासित वसना
बनी हुई, सज शत शृङ्गार !
स्वर्ण सौध शुचि बनवाये थे
मैंने कितने उच्च, अपार,
विप्र बालकों ने गाये थे
तेरे गुण गण जहाँ उदार !
अगणित मुद्रा दान दिये औ'
किया सभी कुछ शिष्टाचार,
किन्तु वहाँ मा ! नहीं सुनायी
तूने निज नूपुर झंकार !
जब नन्दन की चम्पा कलिका
कहलाती थी मै सुकुमार,
नहीं कान की थी तब मैने
मधु बाला की भी गुंजार!

मेरा सौरभ चुरा-चुराकर
मारुत करता था संचार,
किन्तु वहाँ भी तूने मुझको
नहीं बनाया उर का हार !
हाय ! अन्त में अवनत वदना,
अश्रु-लोचना हो लाचार,
अतिशय दीना, विभव विहीना
हो जब मैंने सर्व प्रकार,
क्षीण छपाकर की छाया में
नलिनी बन, की करुण पुकार,
मा ! तब तूने मुझे दिखायी
अपनी ज्योतित छटा अपार !

(१९१८)

(५६)

मेरे इस अन्तिम विलास में,
—जब कि भग्न आशाएँ मेरी
एकत्रित हो आज,
सजाती हैं मुझको निर्व्याज,
(नवल बल, नव सुख, नूतन साज !)
—जब कि पराजय पागलपन बन
करती है उपहास—
कहाँ [illegible] प्रेम ? कहाँ विश्वास ?
आत्म [illegible] दान ?— किसे है प्यास ?
[illegible]न-मीन तुम इस मदिरा के
कनक हास से भीत
[illegible] रही हो यह बेसुर गीत—
'[illegible] न कर्तव्य !'— किसे है प्रीत ?
वहाँ, स्वर्ण [illegible] मेरा
[illegible] है उस ओर,
जहाँ मेरी आशा की ओर
जल रही है ज्वाला घन घोर !
पश्चिम की अन्तिम किरणों में—
बना रही है, वह, मेरा पथ
पतित पत्रों की धूल,
भग्न मन विरह वेदना भूल
जहाँ ओढ़ेगा दग्ध दुकूल !

(१९१९)

(५७)

हृदय के बन्दी तार
मुक्त कर रहे हैं मानस से
भाव सहज सुकुमार,

सुदामा के लघु 'चाउँर चार',
भीलनी का जूठा उपहार !
आज उगा था कलापूर्ण वह
दिव्य चक्र-सा चाँद
नील यमुना का कल्-कल् नाद
सरस दधि के मटकों का स्वाद !
ब्रजभाषा का 'अमी', कुंज की
'दई ! ढीठ गुंजार !'
सूर के संगीतों का सार,
दिव्य गीता रहस्य का द्वार !
सखी ! द्रौपदी के दुकूल-सा
अप्रमेय, अज्ञात,
चोर, कौस्तुभ कठोर विख्यात,
नहीं सुनता हा ? तब से बात !
(१६२०)

(५८)

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया तूने यह गाना ?
सोयी थी तू स्वप्न नीड में
पंखों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी से जुगनू नाना;
शशि किरणों से उतर-उतरकर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;
स्नेह हीन तारों के दीपक,
श्वास शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मण्डप ताना;
कूक उठी सहसा तरुवासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?
निकल सृष्टि के अन्ध गर्भ से
छाया तन बहु छाया हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना;

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्रीहीन,
कमल क्रोड़ में बन्दी था अलि
कोक शोक से दीवाना;
मूर्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़ चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना-जाना;
तूने ही पहले बहु दर्शिनि !
गाया जागृति का गाना,
श्री सुख सौरभ का नभचारिणि !
गूँथ दिया ताना-बाना !
निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धर कर नाम रूप नाना;
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर,
हिल मोती का-सा दाना;
खुले पलक, फैली सुवर्ण छबि;
खिली सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पन्दन कम्पन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;
प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि,
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल विहगिनि !
पाया यह स्वर्गिक गाना ?
(१६१६)

(५६)

गहन कानन !
व्रत से पोषित विघ्न सदृश पावस नद गर्जन
करता है गतिरोध —
नियति-सा कुंचित, कोमल दर्शन !
प्रतिहिंसा-सी, कायरता-सी,
वह, पीछे करवाल
चमकती है कैसी विकराल ?
हँस रहा हो ज्यों असमय भीषण !
छोड अन्तिम निःश्वास—
वायु गति से हो नद के पार
शूर स्वामी का कर उपकार,
जा रहा है, वह, सखि ! उस पार

आज प्रभु भक्त प्रहत, लोहित तन !
करुण नयनों की नीरव कोर
डाल निश्चल स्वामी की ओर,
अर्ध हिनहिना, अश्रु जल छोड़,
दृगों में मूँद चरम छबि पावन !
—"कहाँ हाय ! सुख-दुख के सहचर !
चेतक ! चेतक ! मुझे छोड़कर—
कहाँ चल दिये— तुम असमय पर—
हा————मेरे रण भूषण ! ! !

(१९२०)

(६०)

इस विस्तृत हॉस्टल में
मैं सुनती हूँ
मेरा भी है सखि ! छोटा-सा रूम,
जहाँ मेरी आकांक्षा सूम
गूँजती है प्रतिपल को तूम !
इन असंख्य मृदु कण्ठ स्वरों में,
मिला हुआ है अलि ! मेरा भी
कम्पित स्वर अति दीन,
रुँधी दुर्बलता की ध्वनि क्षीण
डूबती है जिनमें हो लीन !
शून्य हृदय दुर्विघ्न गेंद-से
ठुकराकर अविराम,
साथ, मैं भी जीवन का काम
गोल पाती हूँ अति अभिराम !

× × ×

उठो सजनि ! घण्टे की ध्वनि में
गूँज रहा है, सुनो, हमारा
प्रिय कर्तव्य कठोर !
जाति सेवा की उज्ज्वल भोर
बढ़ाती है, वह, कर इस ओर !

(१९२०)

(६१)

यह दुख कैसे प्रकटाऊँ !
अभी बालिका हूँ मैं तो,
मैं तुझको क्या पहनाऊँ ?
मेरे कैसे गहने होंगे
जिनको ले सम्मुख आऊँ ?
तो क्या अस्फुट कलियों ही की
माला पहना दूँ तुझको ?

किन्तु उन्हें भी देवि ! गूँथकर
कैसे सेवा में लाऊँ !

जब मैं ऋतुपति के उपवन में
मा के सँग थी गयी प्रभात,
मैंने पूछा—'मा ! पूजा को
मैं भी माला निर्माऊँ ?'

मा ने सूची मुझे नहीं दी,
कहा—'अभी तू बच्ची है।'
अश्रुहार ही पहना तब क्या
मैं चरणों को नहलाऊँ ?

नही,—न जाने इनमें क्या है
जो दिल को है दुखा रहा,—
मा ! क्या डालूं गले और तब ?
क्या बाँहों को लिपटाऊँ।

हाँ, ले, मेरी 'हार' यही है,
यही तुझे पहनाऊँगी,
दोनों बाँहें गले डालकर
मैं अंचल में छिप जाऊँ !

(१९१८)

(६२)

दिवानाथ का विपुल विभव जब
मेरी आहों से तत्काल
भस्म हो चुका था पश्चिम में
वह्नि ज्वाल बन एक कराल।

किस प्रकार तब अन्धकारमय
होने थी हो गयी मही !
तस्करिणी-सी तन्द्रा सबकी
सुधि थी चुपके छीन रही।

चित्र चित्रिता-सी, विलोक यह,
मैं भय से हो गयी विकल,
कहाँ छिपाऊँ निज मणि मुक्ता
यही सोचती थी केवल !

किन्तु खड़ी होकर तब मैंने
उनको ऊपर उठा त्वरित,
बाँध वायु के बाल जाल से,
नभ में लटका दिया मुदित।

निश्चिन्ता हो, खड़ी-खड़ी मैं
उन्हें देखती थी अविरल
तुलसी आँगन के दीपक में
जब तुझको देखा उज्ज्वल।

मन्द-मन्द तू मुसकाती थी
दीप शिखा मे खिल मंजुल,

फैल रही थी तेरी आभा
तुलसी अंचल में संकुल !

शलभ पुंज अर्पण करता था
तुझे प्राण अपने अविरत,
मुनि कन्याओं से वह जिसका
था महत्त्व सुन चुका महत ।

पर मैं उसके आत्मत्याग को
अधिक न देख सकी उस बार
हौले मेरा हृदय हो गया
हाय ! एक तब हाहाकार ।

मैंने निज मणि-मुक्ताओं को
मारुत से माँगा उठकर,
पर न उन्हें पा सकी जननि ! मैं
अर्पण करने को तुझ पर ।

व्याकुल हो निज करुण कथा तब
तुझे सुनाने मैं आयी,
पर तेरे ढिग आ, वह मैंने
स्वयं गूँजती-सी पायी !

रोयी मैं निज मुक्ताओं को
तेरे सम्मुख हा-हा कर,
अपना दारुण दुख भी मैंने
तुझे सुनाया गा-गाकर !

शलभ पुंज के सदृश हाय ! मैं
जला न उसको सकी वहीं,
अपने कृत्यों की छाया-सी
मैं अविरत थी काँप रही !

अपनी ही मणियों की आभा
मैं न और कर सकी सहन,
अधिक न रोयी मैं फिर उनको,
मूँद लिये मैंने लोचन !

तूने तब मुझ सत्व विहीना
दीना पर अति करुणा की,
मूक तिमिर की भाँति मुझे भी
निज चरणों की छाया दी ।

तब शलभों ने पूछा तुझसे
कहाँ गयी वह भीरु मना,
जो तारों को मोती बतला
कलप रही थी नत वदना ?

अपने कोपानल में तूने
जला दिया क्या उसे प्रबल ?
या उसके ही अपराधों से
बाँध दिया उसको निश्चल ?

मन्द-मन्द मुसका मन में तू,
बोली तब उनसे सप्रेम—
'वह निर्दोषा तो माया थी
उसका ऐसा ही है नेम !
'जब तुम फूलों में फूले थे
मुझसे मिलने के पहले,
अब तुम उसमें ही भूले थे,
उसमें ही थे मुग्ध, मिले !'
(१६१८)

(६३)

'मिला-मिलाकर सुन्दर स्वर
अपनी वीणा में मृदुतर,
इन थोड़े से गीतों को मैं
गा लूंगी जब तेरे, मात !'
—यही सोचती थी मैं नित्य,
'ऊषा में स्नेहांजलि भर,
मोह, मदन, मद की बलि कर,
तब क्या गाकर खेलूंगी मैं ?
निज जीवन की प्रमुदित प्रात,
मन्द-मन्द कर मंजुल नृत्य !'
तू मुझको अति चिन्तित जान,
समझ निपट नादान, अजान,
बोली थी—'मैं बतलाऊँगी,
तुझको अपने गीत पुनीत !'
नूपुर ध्वनि कर श्रुति सुखकर !
पर अब करती हूं अनुमान
मुझमे कितना था अज्ञान !
जीवन-भर भी मा ! मैं पूरे
गा न सकूंगी तेरे गीत,
अपनी वाणी में स्वर भर !
(१६१६)

ग्रन्थि

ग्रन्थि

एक बार—

एक बार बिंधे हृदय को बाँधकर
कल्पने, आओ, सजनि, उस प्रेम की
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः
खोजने खोये हुए निज रत्न को।
तरुणता की उन तरंगों में तरल
भूल लेवें चपल मीनों-सा, सहज
फेन के मोती पिरो सुख सूत में
बुद्‌बुदों-सा गीत गा लेवें मधुर।

एक पल जग सिन्धु का गम्भीर गीत
आज पुलकित वीचियों में डूब जा!
हम प्रणय की सदय मुख छबि देख लें
लोल लहरों पर कलापति से लिखी!
पवन के उभरे गगनमय पंख-से
परम सुख के उस विशाल विलास में
शरद घन-सा लीन हो, गिर पलक-सा,
भूल जावें, अल्प, विरही विश्व को!

वह मधुर मधु मास था, जब गन्ध से
मुग्ध होकर झूमते थे मधुप दल;
रसिक पिक से सरस तरुण रसाल थे,
अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस-से।
जानकर ऋतुराज का नव आगमन
अखिल कोमल कामनाएँ अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल सुमनों में कई
सफल होने को अवनि के ईश से।

रुचिरतर निज कनक किरणों को तपन
चरम गिरि को खींचता था कृपण-सा,
अरुण आभा में रँगा था वह पतन
रज कणों-सी वासनाओं से विपुल।
अचिरता में सहज आभूषित हुई
कीर्ति कितनी हैं नहीं छिपतीं अहा!
सान्ध्य महिमा-सी, प्रभा अवसान से,
वाम वर्द्धित अल्पता में, तिमिर में।

तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में;
सान्ध्य निःस्वन-से गहन जल गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।
बुद्बुदे जिन चपल लहरों में प्रथम
गा रहे थे राग जीवन का अचिर,
अल्प पल, उनके प्रबल उत्थान में
हृदय की लहरें हमारी सो गयीं।

+ × + +

जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा
(कौन जाने, किस तरह ?) पीयूष-सा
एक कोमल समव्यथित निःश्वास था
पुनर्जीवन - सा मुझे तब दे रहा।
मधुप बाला का मधुर मधु मुग्ध राग
पद्मदल में संपुटित था हो चुका,
काम्य उपवन में प्रथम जब था खिला
प्रणय पद्म कुमुद कली के साथ ही।

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि कला-सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित दृष्टि से।
वह उपायविहीन, पर आशामयी,
स्नेह दृष्टि अनन्य कोमल हृदय की
करुण मंगल कामना से थी भरी;
हाय ! केवल मात्र साधन दीन की !

नित्य ही मानव तरंगों में अतल
मग्न होते हैं कई, पर इस तरह
अमृत की जिवित लहर की बाँह में
जगत् में कितने अभी झूले भला ?
चपल जीवन की तरी भी, विश्व में
डूबती ही है, भँवर - सी घूमकर,
मग्न होकर किन्तु सबको सहज ही
नाव मिलती है नहीं यों दूसरी।

इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे;—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था !
बाल रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में;
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछबि के काव्य में।

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।
लाज की मादक सुरा-सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से,
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप-से।
इन गढ़ों में—रूप के आवर्त-से—
घूम फिर कर, नाव-से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के?

जब प्रणय का प्रथम परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को, तब यत्न से
बैठकर मैंने निकट ही, शान्त हो,
विनत वाणी में प्रिया से यों कहा—

'सलिल शोभे! जो पतित, आहत भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से,
एक तरल तरंग से उसको बचा
दूसरी में क्यों डुबाती हो पुनः?
प्रेम कण्टक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उर मे स्थान दे
क्या न सरस विकाश दोगी तुम उसे?
मलिन उर छूकर तिमिर का अरुण कर
कनक आभा में खिलाते हैं कमल,
प्रिय बिना तम शेष मेरे हृदय की
प्रणय कलिका की तुम्हीं प्रिय कान्ति हो।

'यह विलम्ब! कठोर हृदये! मग्न को
बालुका भी क्या बचाती है नहीं?
निठुर का मुझको भरोसा है बडा,
गिरि शिलाएँ ही अभय आधार हैं।
म्लान नभ में ही कलाधर की कला
कौमुदी बन कीर्ति पाती है धवल,
दीनता के ही विकम्पित पात्र में
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से।

'प्रिय! निराश्रिति की कठिन बाँहे नहीं
शिथिल पड़ती है प्रलोभन भार से,
अल्पता की संकुचित आँखें सदा
उमड़ती है अल्प भी अपनात्व से।

'दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज
सरल उपकृति का सजल मानस, प्रिये !
क्षीण करुणालोक का भी लोक को
है बृहत् प्रतिबिम्ब दिखलाता सदा।

'शरद के निर्मल तिमिर की ओट में
नव मिलन के पलक दल-सा झूमता
कौन मादक कर मुझे है छू रहा
प्रिय ! तुम्हारी मूकता की आड़ से ?
'यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा ?'

इन्दु की छबि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति मे, लता के अधर में।
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी।

'नाथ !' कह, अतिशय मधुरता से दबे
सरस स्वर में, सुमुखि थी सकुचा गयी;
उस अनूठे सूत्र ही में हृदय के
भाव सारे भर दिये, ताबीज-से।

देख रति ने मोतियों की लूट यह,
मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से
लाख-सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर
अधर विद्रुम द्वार अपने कोष के।
वह स्पृहा संकोच का सुन्दर समर
अधर कम्पित कर, कपोलों पर युगल
एक दुर्बल लालिमा में था बहा;
(विश्व विजयी प्रेम ! औ' यह भीरुता !)

सुभग लगता है गुलाब सहज सदा,
क्या उषामय का पुन कहना भला ?
लालिमा ही से नहीं क्या टपकती
मेघ की चिर सरसता, सुकुमारता ?
पद नखों को गिन, समय के भार को
जो घटाती थी मुलाकर, अवनितल
खुरच कर, वह जड़ पलों की धृष्टता
थी वहाँ मानो छिपाना चाहती।

प्रथम केवल मोतियों को हंस जो
तरसता था, अब उसे तर सलिल में
कमलिनी के साथ क्रीड़ा की सुखद
लालसा पल-पल विकल थी कर रही।
प्रेमियों का कोश-सा कोमल हृदय
कोटि-कर सौन्दर्य के कृश हाथ में
सहज ही दब कर, नवल आसक्ति से
फूल उठता है पुनः उन्मत्त हो!

रसिक वाचक! कामनाओं के चपल,
समुत्सुक, व्याकुल पगों से प्रेम की
कृपण वीथी में विचर कर, कुशल से
कौन लौटा है हृदय को साथ ला?

एक प्रातः—

एक प्रातः स्वर्ण कर रवि के समुद
निज सुपरिचित वदन से थे खेलते,
कर्णमुक्ता चूम कोई गाल पर
प्रतिफलित थे ओस बूंदों-से धवल।
बैठ वातायन निकट, उत्सुक नयन
देखती थी प्रियतमा उद्यान को,
पूछता था कुशल फूलों से जहाँ
मधुर स्वर में मधुप, सुख से फूल कर।

भीग मालिन की तरल जलधार से
एक मधुकर मूल में गिर कर, सजल
भग्न आशा-से छदों को पोंछ कर
पुनः उड़ने को विकल था हो रहा।
मन्द मारुत से वसन्ती झूम कर
झुक रही थी तरल तिरछी पाँति मे
ललित लोल उमंग-सी लावण्य की
मानिनी-सी, पीन यौवन भार से।

तूल-सी मार्जार बाला सामने
निरत थी निज बाल क्रीड़ा में—कभी
उछलती थी, फिर दुबक कर ताकती,
घूमती थी साथ फिर-फिर पूंछ के।
मन्द मुसकाती, चपल भ्रू वीचि मे
हृदय को प्रतिपल डुबाती, आज भी
संगिनी सखियाँ वहाँ आयी, सहज
हास औ' परिहास निरता, दोलिता।

देख कर अपनी सखी को पलक-सी
ध्यान लग्ना, एक ने संकेत कर,
यों वयस्या से दबे स्वर मे कहा—
'मग्न है नव कमल वन मे हंसिनी!'

लक्ष कर मार्जार बाला को पुनः
दूसरी बोली—'अरी, ये खेल अब
खो चुके हैं विभव सब, तारुण्य के
मुग्ध, तिरछे, चपल नयनों के लिए।

'प्रथम, भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, तरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी।
कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।

'संकुचित थी प्रात जो नव क्यारियाँ
दुपहरी की, वे अरुण की ज्योति में
फूलने अब हैं लगी, उन्मत्त कर
लोचनों को निज सुरा-सी कान्ति से।'

सहम सखियों के निठुर आक्षेप से,
सुभ्रुवों के साथ मन को खींचती,
वह मृगी-सी चकित आँखों को फिरा
थी छिपाना चाहती अपनी दशा।
तरुणता की और-मुख चिर सहचरी
चतुरता, जो तरुणियों के हृदय को
है बना देती अभेद्य रहस्य-सा,
वह किसे है सतत भटकाती नहीं ?

'सजनि ! आज विलम्ब-सा कैसे हुआ ?'
प्रियतमा बोली, 'कहीं क्या मधुकरी
बँध गयी थी नव नलिन की गोद में,
मुग्ध हो मधु में, सुछबि में, सुरभि में।

'कुंज के वा कुटिल काँटों में कहीं
बिंध गयी थी विहगिनी ? अथवा कहीं
सरल शफरी फँस गयी थी कुसुम-सी
तरल छवि के अलक के-से जाल में ?'
साँझ के नव जलद में रवि रश्मि-सी
रसिकता जिसके सुसस्मित वदन में
झलकती थी, वह सखी बोली पुनः
सजल जलधर-सी सरस, मृदु भाषिणी, —

'एक दिन सन्ध्या समय मैंने सखी !
एक सुखमय दृश्य देखा, एक अलि
पद्मिनी का बिम्ब सर में देख कर
डूबना है सलिल में मधुपान को।

'बांधती है एक मृदुल मृणालिनी
मत्त बाल गयन्द को कृश सूत्र से,
गूँथ मुक्ता हार एक मरालिनी
हंसपति को दे रही उपहार है।
देखता है निर्निमेष नयन चकोर
युगल चन्द्रों को,—सजनि ! उस दृश्य की
चारु चर्चा ने हमारा प्रिय समय
हर लिया उस हंसिनी के हृदय-सा।'

'याद आती है मुझे अपनी कथा,'
तीसरी बोली, 'बहुत दिन से बँधे
हृदय में संयाम, गोपन से पला
प्रेम सम्प्रति फूटना है चाहता !
'पूर्णता स्मृतिहीन है, सत्प्रेम की
मूक वाणी एक अनुभव है सही,
बिम्ब भी मिलता नहीं सौन्दर्य का,
घाव भी पर हाय ! मिटता है नहीं।
'वायु विस्मित गूढ़ छाया में, तथा
सरल तुतले बिम्ब में भी वारि के
ये नयन डूबे अनेकों बार हैं,
काव्य के प्राग्वर्ण पर भी हैं रुके।
'स्तब्ध रजनी में डरे, कौतुक भरे,
तारकों से भी लडे हैं, कमल पर
ढुलकती लघु ओस बूंदें भी कई
हैं इन्होंने प्रात पकडीं पलक मे।
'साँझ को, उड़ते शरद के जलद से
सीख सहृदयता, उसी के साथ ये
लीन भी हैं हो चुके आकाश में,
विहग बाला की व्यथा को खोजते।

'यह नहीं, जल-वीचियों मे शशि कला
अलि ! इन्होंने किलकती देखी न हो,
शशि करों से कौमुदी को छीनकर
कुमुदिनी को मार भी ये हैं चुके।
'किन्तु जिस मोती मनोहर मूर्ति को
एक दिन देखा इन्होंने, ये उसे
खोजते हैं नित्य तब से अश्रु से,
हास से, उच्छ्वास से, अपनाव से।

'सजनि ! पतले पत्र से चित्रित जलद
व्योम में छाये हुए थे, तनिक भी
वृष्टि की आशा न थी, मैं पवन के
गीत अंचल में मधुर थी भर रही।

'जब, अचानक, अनिल की छबि में पला
एक जल कण, जलद शिशु-सा, पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता - सा, गान - सा
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।

'सुन चुकी हूँ विहग बाला के रँगे
गीत मैं तब से अरुण की ज्योति में,
हूँ विलोक चुकी उषा की अधखुली
लालिमामय सजल आँखें, कमल-सी।
'तृषित चातक को तरसता देखकर
ले चुकी हूँ स्वाति जल का स्वाद भी,
सरल, उड़ते बुलबुलों को पकड़कर
करुण क्रन्दन भी श्रवण हूँ कर चुकी।
'देख इन्द्रधनुष अनेकों बार मैं
भ्रू युगल मटका चुकी हूँ सेतु - से,
देख केले को थिरकता केतु - सा।
नृत्य भी हूँ कर चुकी एकान्त में,
'पकड़ उड़ते दीप वर्षा काल के,
रख हथेली पर, अँधेरी रात को,
मैं नियति की रेख भी हूँ पढ़ चुकी।
सजनि ! उनकी खोजती लघु ज्योति में

'सुरसरी को प्रथम जिस जल बिन्दु ने
सरणि सागर की दिखायी थी, उसे
खोजने को भी बहा मैं हूँ चुकी
एक लघु नादान आँसू मोम - सा।
हरित प्रिय छोटे पगों से जगत की
वेदिका को पार करना देखकर,
एक प्रातः, दूब से भी मैं बहिन !
पग सहस्र मिला चुकी हूँ, ओस-से।
'दीप नीचे, म्लान मूर्च्छित तिमिर के
करुण अंचल को टटोल, छिपी हुई
दग्ध शलभों की विनीरव वेदना
धो चुकी हूँ आँसुओं की बाढ़ से।
'विरहिणी की कल्पना कर, एक दिन,
एक पीले पात में अपनी दशा
विविध यत्नों से सुलाकर, मैं उसे
बार - बार लगा चुकी हूँ हृदय से।

'स्वप्न के सस्मित अधर पर, नींद में
एक बार किसी अपरिचित साँस का
अर्ध चुम्बन छोड़, मैं झट चौंक कर
जग पड़ी हूँ अनिल पीडित लहर - सी।

'हूँ विलोक चुकी उजेले भाग्य मैं
सखि ! अचानक तारकों से टूटते,
करुण कोमल भेद भी हूँ पढ चुकी
मूक उर के, अश्रु अपलक नयन के।

'किन्तु उस कण की सजल सुधि में हृदय
हूँ सदा तब से लपेटी, स्वर्ग के
उस अमृत, अस्फुट, अलौकिक स्पर्श से
तार गुंजित कर चुकी हूँ प्रणय का।
'बालकों के हास से उसका चपल
चित्र अंकित कर चुकी हूँ हृदय में,
दे चुकी हूँ भेंट तारों से बड़े
अश्रु-कण, शशि रश्मियों में गूँथकर।
'मधुकरी की मधुभरी वीणा चुरा
गीत गाती हूँ कुसुम सुकुमार के,
सुरसरी की धार में हूँ ढूंढती
शक्ति प्रियतम की अमित उपकारिणी।'

सुन प्रणय के इस अनूठे काव्य को
हृदय से लिपटा उसे, पहली सखी
तरुण अनुभव में तुले स्वर में उसे
मर्म समझाने लगी यों प्रेम का।

'निपट अनभिज्ञा अभी तुम हो बहिन !
प्रेमिका का गर्व रखती हो वृथा;
अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो न क्या
तरुणता तुममें लड़ी अभिलाष-सी ?
'मत्त गज-सा पुरुष को जिसने नहीं
बाँध डाला दृष्टि के कृश सूत्र में,
बस, बिना सोचे, अचानक, प्रेम को
हृदय जिसने हो न अर्पण कर सका;
'प्रेम ही का नाम जप, जिसने नही
रात्रि के पल हों गिने, प्रतिशब्द से
चौंक कर, उत्सुक नयन जिसने उधर
हो न देखा,— प्यार क्या उसने किया ?

'मन्द चलकर, रुक अचानक, अधखुले
चपल पलकों से हृदय प्राणेश का
गुदगुदाया हो नहीं जिसने कभी
तरुणता का गर्व क्या उसने किया ?
'हास सरिता में सरोजों - से खिले
गाल के गहरे गढ़ों को, मधुप-से
चुम्बनों से हो नहीं जिसने भरा,
उस खिली चम्पा कली ने क्या किया ?

'देश के इतिहास के-से बहिन ! तुम
वृत्त कोरे गिन रही हो', पुनः वह
प्रेमिका बोली,—'सरस मेरी कथा
हाय ! सब तुमने मिला दी धूल में।'

अनिल कल्पित कमल कोमल गात को
अंक भरकर, रसिक ! किसकी चाह की
बाँह तृप्त हुई ? तुहिन जल से हसित
किसलयों को चूम किसका मन बुझा ?
इस तरह प्रतिदिवस सखियों में हुई
प्रेम चर्चा सुन, मधुर मुसकान से
भाग लेती, वह सरलता की कला
हर रही थी कुमुद की प्रिय कुटिलता।

अब इधर—

अब इधर मेरी दशा उस समय की
श्रवण कर लें,—कठिन कण्टक कुसुम के
अधिक कोमल गात से बिंध, किस तरह
अलग जग के वृन्त से था हो गया।
नियति ने ही निज कुटिल कर से, सुखद
गोद मेरी लाड़ की थी छीन ली,
बाल्य में ही हो गयी थी लुप्त हा !
मातृ अंचल की अभय छाया मुझे।

पेटिका दुहरी पिता के यत्न की
पंचदश में खो, स्व-मातुल के यहाँ
उन दिनों मैं था, कृपण से दान-सी
दैव से जब प्रेमिका मुझको मिली।
निठुर विधि ने स्वर्ग की वह कीर्त्ति भी
तोड़कर माता-पिता की गोद से
डाल दी थी बालकों के हास-सी
अति सरल अनभिज्ञता के अधर पर।

एक सुखमय सूत्र में कुछ काल को
गूँथने ही के लिए क्या भाग्य ने
इस तरह हमको छुड़ाया वृन्त से ?
वामता होती सहायक है कभी।
गूढ़ भावी ! मलिन तम के गर्भ में
स्वर्ण छबि का भार रहता है छिपा !
सलिल कण के पतन में भी गगन से,
भव्य मुक्ता गुप्त रहता है कहीं।

हाँ, तरणि थी मग्न जब मेरी हुई
(सरस मोती के लिए ही ?) उस समय
छलकता था वक्ष मेरा स्फीति से,
मुग्ध विस्मय से, अतृप्त भुलाव में !

लग्न यौवन के अधीर दबाव से
हो सुपीन उभार-सा हल्का हृदय
अति अजान खिंचाव से सौन्दर्य के
ढुलकता था अमित सुख के स्वर्ग को।

बाल्य की विस्मयभरी आँखें, मृदुल
कल्पना की कृश लटों में उलझ के
रूप की सुकुमार कलिका के निकट
झूम, मँडराने लगी थीं घमकर।
चपल पलकों में छिपे सौन्दर्य के
सहज दबकर, हृदय मादकता मिली
गुदगुदी के स्निग्ध पुलकित स्पर्श को
समुत्सुक होने लगा था प्रतिदिवस।

दृष्टि पथ में दूर अस्फुट प्यास - सी
खेलती थी एक रजत मरीचिका,
शरद के बिखरे सुनहले जलद - सी
बदलती थी रूप आशा निरन्तर।
अह, सुरा का बुलबुला यौवन, धवल
चन्द्रिका के अधर पर अटका हुआ,
हृदय को किस सूक्ष्मता के छोर तक
जलद - सा है सहज ले जाता उड़ा!

प्रात - सा जो दृश्य जीवन का नया
था खुला पहिले सुनहले स्पर्श से,
साँझ की मूर्च्छित प्रभा के पत्र पर
करुण उपसंहार हा! उसका मिला!!
गिर पड़ा वह स्वप्न मेरा अश्रु - सा
पलक दल को छू अचानक, कमल के
अंक में अटकातुहिन - जल अनिल की
एक हलकी थुपथुपी से सो गया!

वह स्पृहा जो ऊर्मि - सी उठ, इन्दु से
प्रणय गाथा बिम्बिता कर, प्राण को
भेजती संवाद थी, सहसा निठुर
नियति ने निज कुटिल पद से कुचल दी।
हा! अभय भवितव्यते! किस प्रलय के
घोर तम से जन्म तेरा है हुआ!
वात, उल्का, वज्र औ' भूकम्प को
कूट, क्या तेरा हृदय विधि ने गढा?

तू सरल कोमल कुसुम दल में कहाँ
है छिपी रहती कठिन कण्टक बनी?
शान्त नभ में कब, कहाँ है छोडती,
कौन जाने, तू छिपे तूफान को!

स्वर्ण-मृग तेरा पिशाचिनि ! हर चुका
इष्ट कितनों के हृदय का है अहा !
भटकते कितने नहीं हैं मुग्ध हो
देख रजत मरीचिका तेरी सदा !

हाय ! मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रन्थि बन्धन हो गया, वह नव कमल
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया !
पाणि ! कोमल पाणि ! निज बन्धूक की
मृदु हथेली में सरल मेरा हृदय
भूल से यदि ले लिया था, तो मुझे
क्यों न वह लौटा दिया तुमने पुनः ?

प्रणय की पतली अँगुलियाँ क्या किसी
गान से विधि ने गढ़ीं ? जो हृदय को,
याद आते ही, विकल संगीत में
बदल देती है भुलाकर, मुग्ध कर !
याद है मुझको अभी वह जड़ समय
ब्याह के दिन जब विकल दुर्बल हृदय
अश्रुओं से तारकों को विजन में
गिन रहा था, व्यस्त हो, उद्भ्रान्त हो !

हाय रे मानव हृदय ! तुझसे जहाँ
वज्र भी भयभीत होता है, वहीं
देख तेरी मृदुलता तिल सुमन भी
संकुचित हो सहम जाता है अहा !
ग्रन्थि बन्धन ! —इस सुनहली ग्रन्थि में
स्वर्ग की औ' विश्व की मंगलमयी
जो अनोखी चाह, जो उन्मत्त धन
है छिपा, वह एक है, अनमोल है !

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को,
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन वीणा बजा !
पर, हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी !

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह मधुप बिंधकर तडपता है, यही
नियम है संसार का, रो हृदय रो !

शिथिल दर्शन ! ज्ञान जृम्भा के अलस !
वृद्ध अनुभव की सिकोड़ ! वृथा मुझे
सान्त्वना मत दो, विरस उपदेश के
उपल मत मारो, न बहलाओ हृदय।

व्यर्थ मेरा धन न यों छीनो,—सजल
वेदना, यह प्रणय की दी वेदना;
मूक तम, वाचाल नग्न शिशिर, दबी
शून्य गर्जन, आह, मादक सुधि अटल;
और भी, हाँ, प्रियतमा के रूप का
भार, ध्रुव-से अश्रु आँखों में, चुभे
कण्टकों का हार, कुछ उद्‌गार जो
बादलों-से उमड़ते हैं हृदय में !

छिः सरल सौन्दर्य ! तुम सचमुच बड़े
निठुर औ' नादान हो ! सुकुमार, यों
पलक दल में, तारकों में, अधर में
खेलकर तुम कर रहे हो हाय ! क्या ?
जानते हो क्या ? सुकोमल गाल पर
कृश अँगुलियों पर, कटी कटि पर छिपे,
तुम मिचौनी खेलकर कितना गहन
घाव करते हो सुमन-से हृदय में !

औ' अकेले चिबुक तिल में, कुछ उठी
कुछ गिरी भ्रू वीचि में, कुछ-कुछ खुली
नयनता से कुछ रुकी मुसकान से
छीनते किस भाँति हो तुम धैर्य को !
मुकुल के भीतर उषा की रश्मि से
जन्म पा, मधु की मधुरता, धूलि की
मृदुलता, कटु कण्टकों की प्रखरता,
मुग्धता ली मधुप की तुमने चुरा।

और, भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों में ? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है !
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं,
बस, बिना सोचे, हृदय को छीनकर,
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में !

स्मृति ! यदपि तुम प्रणय की पदचिह्न हो,
पर निरी हो बालिका—तुम हृदय को
गुदगुदाती हो, तरल जल बिम्ब-सी
तैरती हो, बाल क्रीडा कर सदा।

नियति ! तुम निर्दोष और अछूत हो,
सहज हो सुकुमार, चकई का तुम्हें
खेल अति प्रिय है, सतत कृश सूत्र से
तुम फिराती हो जगत को समय - सा !

मंजु छाया के विपिन में पूर्णिमा
सजल पत्रों से टपकती है जहाँ,
विचरती हो वेश प्रतिपल बदलकर,
सुघर मोती-से पदों से ओस के।
अमृत आशा ! चिर दुखी की सहचरी
नित नयी मिति-सी, मनोरम रूप-सी,
विभव वंचित, तृषित, लालायित नयन
देखते है सदय मुख तेरा सदा।

देवि ! ऊषा के खिले उद्यान में
सुरभि वेणी में भ्रमर को गूँथकर,
रेणु की साड़ी पहन, औ' तुहिन का
मुकुट रख, तुम खोलती हो मुकुल को !
मेघ - से उन्माद ! तुम स्वर्गीय हो,
कुमुद-कर से जन्म पा, तुम मधुप के
गीत पीकर मत्त रहते हो सदा,
मौन औ' अनिमेष निर्जन पुष्प - से !

आह !—सूखे आँसुओं की कल्पना,
कोहरे-सी, मुक्त मग में झूमकर,
दग्ध उर का भार हर, तुम जलद-सी
बरसती हो स्वच्छ हलकी शान्ति में !
अश्रु—हे अनमोल मोती दृष्टि के !
नयन के नादान शिशु ! इस विश्व में
आँख हैं सौन्दर्य जितना देखतीं
प्रतनु ! तुम उससे मनोरम हो कहीं।

अश्रु !—दिल की गूढ़ कविता के सरल
औ' सलोने भाव ! माला की तरह
विकल पल में पलक जपते हैं तुम्हें,
तुम हृदय के घाव धोते हो सदा।
वेदने ! तुम विश्व की कृश दृष्टि हो,
तुम महा संगीत, नीरव हास हो,
है तुम्हारा हृदय माखन का बना,
आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें !

वेदना !—कैसा करुण उद्गार है !
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में, व्योम में है वेदना !

वेदना !—कितना विशद यह रूप है !
यह अँधेरे हृदय की दीपक शिखा !
रूप की अन्तिम छटा ! औ' विश्व की
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि-सी !

कौन दोषी है ? यही तो न्याय है !
वह मधुप बिंधकर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है,—विश्व का
नियम है यह; रो, अभागे हृदय ! रो !!

× × × ×

कौन वह बिछुड़े दिलों की दुर्दशा
पोंछ सकता है ? दृगों की बाढ़ में
विकल, बिखरे, बुद्बुदों की बूड़ती
मौन आहें हाय ! कौन समझ सका ?
शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
विरह !—अहह, कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !!

प्रेम वंचित—

प्रेम वंचित को तथा कंगाल को
है कहाँ आश्रय ? विरह की वह्नि में
भस्म होकर हृदय की दुर्बल दशा
हो गयी परिणत विरति-सी शक्ति में।
सुहृद्वर ! कंगाल, कृश कंकाल - सा,
भैरवी से भी सुरीला है अहा !
किस गहनता के अधर मे फूटकर
फैलते है शून्य स्वर इसके सदा !

आज मै कंगाल हूँ—क्या यह प्रथम
आज मैंने ही कहा ? जो हृदय ! तुम
बह रहे हो मुक्त हलके मोद में
भूलकर दुर्दैव के गुरु भार को !
मै अकेला विपिन में बैठा हुआ
सींचता हूँ विजनता से हृदय को,
और उसकी भेदती कृश दृष्टि से
ढूंढता हूँ विश्व के उन्माद को।

विश्व,—यह कैसी मनोहर भूल है !
मधुर दुर्बलता !—कई छोटी बड़ी
अल्पताएँ जोड, लीला के लिए,
यह निराला खेल क्या विधि ने रचा ?

कौन-सी ऐसी परम वह वस्तु है
भटकते हैं मनुजगण जिसके लिए ?
कौन-सा ऐसा चरम सौन्दर्य है
खींचता है जो जगत के हृदय को ?

आह, उस सर्वोच्च पद की कल्पना
विश्व का कैसा उपल उन्माद है !
यह विशाल महत्त्व कितना रिक्त है,
विपुलता कितनी अबल, असहाय है !
कौन-सी ऐसी निरापद है दशा
लोग अभ्युत्थान कहते हैं जिसे ?
पतन इसमें कौन-सा अभिशाप है
जो कँपाता है जगत के धैर्य को ?

निपट नग्न निरीहता को छोड़कर
कौन कर सकता मनोरथ पूर्ति है ?
कौन अज्ञ दरिद्रता से अधिकतर
शक्तिमय है, श्रेष्ठ है, सम्पन्न है ?
सौख्य ? यह तो साधना का शत्रु है,
रिक्त, कुण्ठित क्षीणता है शक्ति की;
हा ! अलस के इस अपाहज स्वांग में
हो गयी क्यों मग्न जग की गहनता !

ज्ञान ? यह तो इन्द्रियों की भ्रान्ति है,
शून्य जृम्भा मात्र निद्रित बुद्धि की,
जुगनुओं की ज्योति में, वन में विजन,
जन्म पीपल के तले इसका हुआ।
वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना का ही मनोहर रूप है,
वेदना का ही स्वतन्त्र विनोद है।

वेदना से भी निरापद क्या अहा !
और कोई शरण है संसार में ?
वेदना से भी अधिक निर्भय तथा
निष्कपट साम्राज्य है क्या स्वर्ग का ?
कर्म के किस जटिल विस्तृत जाल में
है गुँथी ब्रह्माण्ड की यह कल्पना !
योग बल का अटल आसन है अड़ा
वेदना के किस गहन स्तर में अहा !

आज मैं सब भाँति सुख-सम्पन्न हूँ
वेदना के इस मनोरम विपिन में,
विजन छाया में द्रुमों की, योग-सी,
विचरती है आज मेरी वेदना !

विपुल कुंजों की सघनता में छिपी
ऊँघती है नींद-सी मेरी स्पृहा;
ललित लतिका के विकम्पित अधर में
काँपती है आज मेरी कल्पना!

ओस-जल-से सजल मेरे अश्रु हैं
पलक दल में दूब के बिखरे पड़े!
पवन पीले पात में मेरा विरह
है खिलाता दलित मुरझे फूल-सा!
सुमन दल मे फूट, पागल-सी, अखिल
प्रणय की स्मृति हँस रही है, मुकुल में
वास है अज्ञात भावी कर रही
आज मेरी द्रौपदी-सी परवशा!

गर्व-सा गिर उच्च निर्झर स्रोत से
स्वप्न-सुख मेरा शिलामय हृदय मे
घोष भीषण कर रहा है वज्र-सा,
वात-सा, भूकम्प-सा, उत्पात-सा!
तारकों के अचल पलकों से विपुल
मौन विस्मय छीनकर मेरा पतन
निर्निमेष विलोकता है विश्व की
भीरुता को चन्द्रमा की ज्योति में!

तिमिर के अज्ञात अंचल मे छिपी
झूमती है भ्रान्ति मेरी भ्रमर सी,
चन्द्रिका की लहर मे है खेलती
भग्न आशा आज शत-शत खण्ड हो!
तिमिर!—यह क्या विश्व का उन्माद है,
जो छिपाता है प्रकृति के रूप को?
या किसी की यह विनीरव आह है
खोजती है जो प्रलय की राह को!

या किसी के प्रेम-वंचित पलक की
मूक जड़ता है? पवन मे विचरकर,
पूछती है जो सितारों से सतत—
'प्रिय! तुम्हारी नींद किसने छीन ली?'
यह किसी के रुदन का सूखा हुआ
सिन्धु है क्या? जो दुखों की बाढ़ में
सृष्टि की सत्ता डुबाने के लिए
उमड़ता है एक नीरव लहर मे!

आह, यह किसका अँधेरा भाग्य है?
प्रलय-छाया-सा, अनन्त विषाद-सा!
कौन मेरे कल्पना के विपिन में
पागलों-सा यह अभय है घूमता?

हृदय ! यह क्या दग्ध तेरा चित्र है ?
धूम ही है शेष अब जिसमें रहा !
इस पवित्र दुकूल से तू दैव का
वदन ढँकने के लिए क्यों व्यग्र है ?

× × × ×

विज्ञ वाचक ! और भी उपकरण है
शेष मेरे पास दुख का इस समय;
किन्तु मैं सब भाँति सुख-सम्पन्न हूँ
वेदना के इस मनोहर विपिन में।

पतन के नीले अधर पर भाग्य का
जो निठुर उपहास मैंने आपको
आज दिखलाया, उसे किसकी दया
कर सकी है मन्द ? क्या लोकेश की ?
कुटिल भावी के अँधेरे कूप मे
और कितने हैं अभी आँसू छिपे,—
छलकती आँखें उन्हें प्रिय ! फिर कभी
भेंट देंगी कर - कमल में आपके।

पल्लव

"जीर्ण जग के पतझड़ में प्रात
सजाती जो मधुऋतु की डाल
उसी का स्नेह स्पर्श अज्ञात
खिलाए मेरे पल्लव बाल !"

विज्ञापन

महाकवि कालिदास ने, रघुवंश के प्रारम्भ में, अपने लिए 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' लिखकर, हम लोगों के लिए विनम्रता प्रदर्शन करने का द्वार एकदम ही बन्द कर दिया। और हिन्दी के कवियों ने महात्मा सूरदास के समय से जिस प्रकार—सूर से शशि, शशि से उडगन, उडगन से खद्योत—उन्नति का अटूट क्रम रखा है, उनके अनुसार भी हम लोग चमकीले रेत के कणों तथा बुझती हुई चिनगारियों से अवश्य ही कहीं आगे बढ़ गये होंगे। ऐसी दशा में समझ में नहीं आता कि अपने को प्रभात का टिमटिमाता तारा, दीपक का फूल, सील खायी हुई गन्धक की दियासलाई आदि क्या बतलाया जाय! अतः नम्रता दिखलाने को अपने लिए असंख्य बार अल्पाति लिखना, साहित्य की दृष्टि से, राम-नाम प्रचार करने के लिए एक लक्ष राम-नामों की पुस्तक छपवाकर बिना मूल्य वितरण करने के प्रयत्न के समान हास्यास्पद तथा व्यर्थ जानकर मैंने इस विषय में चुप रहना ही ठीक समझा; 'मौनं स्वीकृति-लक्षणम्' कहा भी है। मुझे आशा है कि वैज्ञानिक लोग शीघ्र ही अणु-परमाणुओं को और भी छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त कर, एवं 'अब के कवि' के लिए नवीन उपमा का आविष्कार कर, हिन्दी साहित्य को इस उपमा की परिक्षीणता (बैंकरप्सी) से उबारेंगे।

इसमें सन्देह नहीं कि अपनी वाणी को सजधज के साथ पुस्तक रूप में प्रकाशित होते देखकर मन में बड़ी प्रसन्नता होती है। ऐसे अवसर पर ज्ञान गाम्भीर्य मुद्रा बनाकर हृदय के इस बालोचित स्वभाव की ओर उपेक्षा-पूर्ण विरक्ति अथवा उदासीनता दिखलाना बड़ा कठोर जान पड़ता है। अतएव भीतर ही भीतर आनन्द को खोकर, होंठ पोंछकर लोगों के सामने निकलने की अधिक आवश्यकता न समझकर, मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने इन 'पल्लवों' को हिन्दी के कर-पल्लवों में अर्पण करता हूँ। इन्हें मैं 'पत्रं पुष्पम्' नहीं कह सकता, ये केवल पल्लव हैं—

'न पत्रों का मर्मर संगीत,
न पुष्पों का रस राग पराग!'

बालकों की तरह कौतूहलवश मैंने जो यह कागज की नाव साहित्य-समुद्र में छोड़ दी है, इसका मेरे चापल्य के सिवा और क्या कारण हो सकता है? देखूँ, यह बड़ी-बड़ी नावों के बीच में कैसी लगती है! गिरिधर कविराय की तरह इस 'नय्या मेरी तनिक-सी' को 'चहुँदिशि के भँवरों' का भय नहीं, यह तो अपने ही हलकेपन के कारण डूबने से बच जायेगी, न महापुरुषों के ही इसके पास आने की सम्भावना है, जो मुझे पाँव 'पखारने' की आवश्यकता पड़े। इसमें पार जाने की बात कैसी?

यह तो केवल मनोविनोद की वस्तु है। यदि वह भी न कर सकी तो फिर सोचूंगा। अस्तु—

'पल्लव' मे मैंने १९१९ से १९२५ तक की, प्रत्येक वर्ष की दो-दो तीन-तीन कृतियाँ रख दी है, जिनमें से अधिकांश 'सरस्वती' तथा 'श्री शारदा' में समय-समय पर प्रकाशित हो चुकी है। प्रत्येक कविता के नीचे उनका रचना-काल—वर्ष तथा मास—दे दिया है। छाया, स्वप्न, बालापन, नक्षत्र, बादल इन कविताओं में बीच में, एक-दो बार कहीं-कही परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ है।

पुस्तक के आरम्भ में एक भूमिका भी जोड दी है, मेरी इच्छा थी उसमें 'काव्य कला' के आभ्यन्तरिक रूप पर भी एक साधारण दृष्टिपात किया जाय; पर विस्तार भय से ऐसा न हो सका, काव्य के बाह्य रूप पर ही थोड़ा-बहुत लिखकर सन्तोष करना पडा।

मैंने अपनी रचनाओं में, कारणवश, जहाँ कही व्याकरण की लोहे की कडियाँ तोडी हैं, यहाँ कुछ उसके विषय में भी लिख देना उचित समझता हूँ। मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग पुल्लिग मानना अधिक उपयुक्त लगता है। जो शब्द केवल अकारान्त इकारान्त के अनुसार ही पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग हो गये हैं, और जिनमे लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक-ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता, और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुण्ठित-सी हो जाती है। वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण क्षणों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है, और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पडती है। मुझे तो ऐसा जान पडता है कि यदि संस्कृत का 'देवता' शब्द हिन्दी में आकर पुल्लिग न हो गया होता तो स्वयं देवता ही हिन्दी कविता के विरुद्ध हो गये होते।

'प्रभात' और प्रभात के पर्यायवाची शब्दों का चित्र मेरे सामने स्त्रीलिंग में ही आता है, चेष्टा करने पर भी मैं कविता में उनका प्रयोग पुल्लिग में नही कर सकता।

'सौ सौ साँसों में पत्रों की
उमड़ी हिमजल सस्मित भोर', के बदले
'उमडा हिमजल सस्मित भोर',—तथा
रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान
पल्लवों की यह सजल प्रभात' के बदले
'रुधिर से फूट पडा रुचिमान
पल्लवों का यह सजल प्रभात',

इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी 'प्रभात' आदि को पुल्लिग मान लेने पर मेरे सामने प्रभात का सारा जादू, स्वर्ण, श्री, सौरभ, सुकुमारता आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका चित्र ही नहीं उतरता।

'बूंद', 'कम्पन' आदि शब्दों को मैं उभय लिंगों मे प्रयुक्त करता हूँ। जहाँ छोटी-सी बूंद हो वहाँ 'स्त्रीलिंग', जहाँ बडी हो वहाँ पुल्लिग; जहाँ हल्की-सी हृदय की कम्पन हो वहाँ 'स्त्रीलिंग'—जहाँ जोर-जोर से धड़कने का भाव हो वहाँ पुल्लिग।

'पल्लव' शीर्षक पहली ही कविता में 'मरुताकाश' समास आया है; मुझे 'मरुदाकाश' ऐसा लगा जैसे आकाश में धूल भर गयी हो, या बादल घिर आये हों—स्वच्छ आकाश देखने ही को नहीं मिलता, इसलिए मैंने उसके बदले 'मरुताकाश' ही लिखना उचित समझा।

'बालिका मेरी मनोरम मित्र थी' के बदले '···मेरा मनोरम मित्र थी' लिखना मुझे श्रुतिमधुर नहीं लगता। इसी प्रकार—

'हा ! मेरे बचपन में कितने
बिखर गये जग के शृंगार,
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी उसकी शोभालंकार;
जिनकी निर्भयता विभूति थी,
सहज सरलता शिष्टाचार,
औ' जिनकी अबोध पावनता
थी जग के मंगल की द्वार !

उपर्युक्त पद्य मे 'शोभालंकार' तथा 'द्वार' का लिंग 'दुर्बलता' तथा 'पावनता' के अनुसार ही लेना मुझे श्रुतिमधुर जान पड़ता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी।

कहीं-कहीं अन्त्यानुप्रास मिलाने के लिए आवश्यकतानुसार 'कण' 'गण' 'मरण' आदि णकारान्त शब्दों को नकारान्त कर दिया है। यथा—

'एक छवि के असंख्य उडगन
एक ही सब मे स्पन्दन !'

यहाँ दूसरा चरण पहले से छोटा होने के कारण 'उडगन' के 'न' पर दीर्घ काल तक स्वर ठहरता है, अत: 'न' के स्थान पर 'ण' रख देने से कर्कशता आ जाती है। पुन,

'अचिर में चिर का अन्वेषन
विश्व का तत्त्वपूर्ण दर्शन'

में 'अन्वेषन' के स्थान पर 'अन्वेषण' कर देने से दूसरा चरण फीका पड़ जाता है।

ऐसे ही 'कर दे मन्त्रमुग्ध नत फन' में 'फण' का उद्धत 'ण' मन्त्रमुग्ध हो विनम्र 'न' बन जाता है, और 'छेड़ कर शस्त्रों की झंकार' इस चरण की 'झंकार'; 'झींगुरों की झीनी झनकार' में 'झीनी' बनकर 'झनकार'; इसी प्रकार अन्यत्र भी। 'भौंहों' में मुझे 'भौंहो' में अधिक स्वाभाविकता मिलती है, 'भौंहें' ऐसी जान पड़ती है जैसे उनके काले-काले बाल क्रोध मे कठोर रूप धारण कर खड़े हो गये हों। 'नवल कलियों के धोरे झूम' इस चरण मे 'धोरे' शब्द प्रान्तिक होने पर भी, उसके 'झूम' के धोरे आ जाने से भौंरे की गूंज अधिक स्पष्ट सुनायी पड़ती है, इसलिए उसका प्रयोग कर दिया है। अन्यत्र भी इसी प्रकार कहीं-कहीं मैंने शब्दों को अपनी आवश्यकतानुसार बदल लिया है। अन्त में व्याकरण से अपनी इस ईडिओसिनक्रेसी (स्वभाव-वैषम्य) के लिए क्षमा प्रार्थना कर, मैं बिदा होता हूँ।

३ म्योर रोड, प्रयाग

सुमित्रानंदन पंत

प्रवेश

(क)

हिन्दी कविता की नीहारिका, सम्प्रति अपने प्रेमियों के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पा, साहित्याकाश में अत्यन्त वेग से घूम रही है; समय-समय पर जो छोटे-मोटे तारक पिण्ड उससे टूट पड़ते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संगृहीत नहीं कर पाये हैं कि अपनी ही ज्योति में अपने लिए नियमित पन्थ खोज सकें, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गतिविधि पर निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर लें; ऐसी दशा मे कहा नहीं जा सकता कि यह अस्तव्यस्त केन्द्र परिधिहीन द्रवित वाष्प पिण्ड निकट भविष्य में किस स्वस्थ स्वरूप मे घनीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा; हमारे सूर्य की कैसी प्रभा होगी, चाँद की कैसी सुधा; हमारे प्रभात में कितना सोना होगा, रात में कितनी चाँदी !

पर मनुष्य के ज्ञान का विकास पदार्थों की अज्ञात परिधि पर निर्भर न रहकर अपने ही परिचय के अन्तरिक्ष के भीतर परिपूर्णता प्राप्त करता जाता है; जब तक वह पृथ्वी की गोलाई तक नही पहुँचा था, वह उसे चिपटी मानकर भी चलता रहा, हम अपने प्रौढ पगों के लिए नहीं ठहरते, घुटनों के बल चलने के नियमों को सीखकर ही आगे बढ़ते हैं। सच तो यह कि हम भूमिका बाँधना नही छोड़ सकते।

अब ब्रजभाषा और खड़ी बोली के बीच जीवन-संग्राम का युग बीत गया, उन दिनों मै साहित्य का ककहरा भी नही जानता था। उस सुकुमार मा के गर्भ मे जो यह ओजस्विनी कन्या पैदा हुई है, आज सर्वत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी में विद्युत् है। हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कण्ठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छँट गये, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गयी; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चंचलता दृष्टि में आ गयी; वह विपुल विस्तृत हो गयी; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गयी, चारों दिशाओं से विविध समीर के झोंके उसके चित्त को रोमांचित करने लगे, उसे चाँद में नवीन सौन्दर्य, मेघ में नवीन गर्जन सुनायी देने लगा। वह अज्ञात यौवन कलिका अब विकसित हो गयी; प्रभात के सूर्य ने उसका उज्ज्वल मुख चूम, उसे अजस्र आशीर्वाद दे दिया, चारों ओर से भौंरे आकर उसे नव सन्देश सुनाने लगे; उसके सौरभ को वायुमण्डल इधर-उधर वहन करने लग गया, विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल पर स्वयं अपने हाथ से केशर का सुहाग टीका लगा दिया, उसके प्राणों में अक्षय मधु भर दिया है।

उस ब्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु ऋतु थी; उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूंक थी, उसके जादू से सूरसागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी मानस[1] उमड़ चला। आज भी वह कुछ हाथों की तूँबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा गन्दे छिद्रों से दो-एक दन्तहीन बूढ़े साँपों को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने तथा प्रवीण कलाकुशल बाजीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं; दस बरस बाद, ये प्राणहीन केंचुलियाँ, शायद, इनके आँख झाड़ने के काम आयेंगी। लेकिन यह अपवाद ही खड़ी बोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड़ पांचजन्य उठा लिया; सुप्त देश की सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी, खड़ी बोली उस जागृति की शंख ध्वनि है। ब्रज भाषा में नींद की मिठास थी, इसमें जागृति का स्पन्दन; उसमें रात्रि की अकर्मण्य स्वप्नमय ज्योत्स्ना, इसमें दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।

ब्रज भाषा के मोम में भक्ति का पवित्र चित्र, उसके माखन में शृंगार की कोमल करुण मूर्ति खूब उतरी है। वह सुख-सम्पन्न भारत के हृत्तन्त्री की झंकार है, उसके स्वर में शान्ति, प्रेम, करुणा है। देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक शान्ति ही व्रज भाषा के रूप में बदल गयी। वह था सम्राट अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ का सुव्यवस्थित राज्यकाल; जिनकी निर्द्वन्द्व छत्रछाया में उनकी शान्तिप्रियता, कला-प्रेम तथा शासन प्रबन्ध रूपी विपुल खाद्य सामग्री पाकर चिरकाल से पीडित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्यों में लहलहा उठा। राजा-महाराजाओं ने स्वयं अपने हाथों से संगीत, शिल्प, चित्र तथा काव्य-कला के मूलों को सींचा, कलाविदों को तरह-तरह से प्रोत्साहित किया। संगीत की आकाश लता अनन्त झंकारों में खिल-खिलकर समस्त वायुमण्डल में छा गयी, मृग चरना भूल गये, मृगराज उन पर टूटना। तानसेन की सुधा-सिंचित राग-रागिनियाँ—जिन्हें कहीं शेष-नाग सुन ले तो उसके सिर पर रक्खे हुए धरा मेरु डाँवाडोल हो जायें, इस भय से विधाता ने उसे कान नहीं दिये--अभी तक हमारे वसन्तोत्सव में कोकिलाओं के कण्ठों से मधुस्रवण करती हैं। शिल्प तथा चित्रकलाओं की पावस हरीतिमा ने सर्वत्र भीतर बाहर राजप्रासादों को लपेट लिया। चतुर चित्रकारों ने अपने चित्रों में भावों की सूक्ष्मता और सुकुमारता, सुरों की सजधज तथा सम्पूर्णता, जान पड़ता है, अपनी अनिमेष चितवन की अचंचल बरुनियों, अपने भाव मुग्ध हृदय के तन्मय रोओं से चित्रित की। शाहजादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौंध है! शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरों में अपनी सम्पूर्णता तथा उत्कर्ष से अमर और अम्लान खड़े हैं; ताजमहल में मानो शिल्पकला ही गलाकर ढाल दी गयी।

देव, बिहारी, केशव आदि कवियों के अनिन्द्य पुष्पोद्यान अभी तक अपनी अमन्द सौरभ तथा अनन्त मधु से राशि-राशि भौंरों को मुग्ध कर रहे हैं:—यहाँ कूल, केलि, कछार, कुंजों में, सर्वत्र असुप्त वसन्त शोभित

१. ब्रज भाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक हिन्दी से है जिसमें 'अवधी' भी शामिल है।

है। बीचोबीच बहती हुई नीली यमुना में, उसकी फेनोज्ज्वल चंचल तरंगों-सी, असंख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग में डूब रही हैं। वहाँ बिजली छिपे अभिसार करती, भौंरे सन्देश पहुँचाते, चाँद चिनगारियाँ बरसाता है। वहाँ छहों ऋतुएँ कल्पना के बहुरंगी पंखों मे उड़कर, स्वर्ग की अप्सराओं की तरह, उस नन्दन वन के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रही हैं। उस "चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिरलका" के आस-पास "आनन ओप उजास" से नित प्रति पूनो ही रहती है। चपला की चंचल डोरियों मे पेंग भरते हुए नये बादलों के हिंडोरे पर झूलती हुई इन्द्रधनुष सुकुमारियाँ झरी की झमक और घटा की घमक मे हिंडोरे की रमक मिला रही हैं। वहाँ सौन्दर्य अपनी ही सुकुमारता मे अन्तर्धान हो रहा, समस्त नक्षत्र मण्डल उसके श्रीचरणों पर निछावर हो नखावलि बन गया, अलंकारों की झनक ने देह वीणा से फूटकर रूप को स्वर दे दिया है। वहाँ फूलों में काँटे नहीं, फूल ही विरह से सूखकर काँटों में बदल गये है;—यह कल्पना का अनिर्वचनीय इन्द्रजाल है, प्रेम की पलकों पर सौन्दर्य का स्वप्न है, मर्त्य के हृदय में स्वर्ग का बिम्ब है, मनोवेगों की अराजकता है। सच है, "पल-पल पर पलटन लगे जाके अंग अनूप" ऐसी उस ब्रज बाला के स्वरूप को कौन वर्णन कर सकता है? उस माधुर्य की मेनका की कल्पना का अचल छोर उसके उपासकों के श्वासोच्छ्वासों के चार वायु में उड़ता हुआ, नीलाकाश की तरह फैलकर, कभी आध्यात्मिकता के नीरव पुलिनों को भी स्पर्श कर आता है, पर वासना के झोंके शीघ्र ही सौ-सौ हाथों से उसे खींच लेते हैं। वह ब्रज के दूध, दही और माखन से पूर्ण प्रस्फुटित यौवना अपनी वाह्य रूप राशि पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अन्तर्जगत के सौन्दर्य के उपभोग करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं मिलता। निःसन्देह, उसका सौन्दर्य अपूर्व है, भाषातीत है,—यह उस युग का नन्दन कानन है! जहाँ सौन्दर्य की अप्सरा अपनी ही छवि की प्रभा में स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करती है। अब हम उस युग का कैलास देखेंगे जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्ज्वलकारिणी स्निग्ध चन्द्रिका में, संयम की स्थिर दीपशिखा-सी, शुद्ध एवं निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का शत-शत ध्वनिपूर्ण कल्लोलों में विलोड़ित बाह्य स्वरूप है, यह उसका गम्भीर, निर्वाक् अन्तस्तल!

जिस प्रकार उस युग के स्वर्ण गर्भ से भौतिक सुख-शान्ति के स्थापक प्रसूत हुए, उसी प्रकार मानसिक सुख-शान्ति के शासक भी, जो प्रातः-स्मरणीय पुरुष इतिहास पृष्ठों पर रामानुज, रामानन्द, कबीर, महाप्रभु बल्लभाचार्य, नानक इत्यादि के नामों से स्वर्णांकित है, इतिहास के ही नहीं, देश के हृत्पृष्ठ पर उनकी अक्षय अष्टछाप, उसकी सभ्यता के वक्ष पर उनका श्रीवत्स चिह्न अमिट और अमर है। इन्हीं युग प्रवर्तकों के गम्भीर अन्तस्तल से ईश्वरी अनुराग के अनन्त उद्गार उमड़कर, देश के आकाश में घनाकार छा गये। ब्राह्मणों के शुष्क दर्शन तत्त्वों की ऊष्मा से नीरस, निष्क्रिय वायुमण्डल भक्ति के विशाल श्यामघन से सरस तथा सजल हो गया; राम-कृष्ण के प्रेम की अखण्ड रसधाराओं ने, सौ-सौ

बौछारों में बरस, भारत का हृदय प्लावित तथा उर्वर कर दिया। एक ओर सूरसागर भर गया, दूसरी ओर तुलसी मानस !

सीही के उस अन्तर्नयन सूर का सूरसागर ? वह अतल, अकूल, अनन्त प्रेमाम्बुधि ?—उसमें अमूल्य रत्न हैं ! उसकी प्रत्येक तरंग श्याम की वंशी की भुवन मोहिनी तान पर नाचती, थिरकती, भक्तों के भूरि हृत्स्पन्दन में ताल मिलाती, मँझधार में पड़ी सौ-सौ पुरानी नावों को पार लगाती, असीम की ओर चली गयी है ! वह भगवद्भक्ति के आनन्दाब्धि का जल प्लय है, जिसमें समस्त संसार निमग्न हो जाता है। वह ईश्वरीय प्रेम की पवित्र भूल-भुलैया है, जिसमें एक बार पैठकर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुएँ में गिरे हुए को जदुपति भले ही बाँह पकड़कर निकाल सकें, पर जो एक बार "सागर" में डूब जाता है उसे सूर के श्याम भी बाहर नहीं खींच सकते ! सूर सूर की वाणी ! भारत के "हिरदै सों जब जाड़ हौ मरद बदौंगो तोहि !"

और रामचरित मानस ? उस 'जायो कुल मंगन" का "रत्नावली" से ज्योतित मानस ? उस—

"जन्म सिंधु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलंक,

उन सन समता पाय किमि, चन्द्र बापुरो रंक'—"तुलसी शशी' की उज्ज्वल ज्योत्स्ना से परिपूर्ण मानस ? वह हमारी सनातन धर्म-प्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म शरीर है। भारतीय सभ्यता का विशाल आदर्श है जिसमें उसका सूर्योज्ज्वल मुख स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। वह तुलसीदासजी के निर्मल मानस में अनन्त का अक्षय प्रतिबिम्ब है। उसकी सौ-सौ तारक चुम्बित सरल तरल वीचियों के ऊपर जो भक्ति का अमर सहस्रदल विकसित है, वह मर्यादापुरुषोत्तम की पवित्र पद रेणु से परिपूर्ण है ! मानस इतिहास में महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्यस्मृति चिर-अमर मूर्ति में जाग्रत है।—ये दोनों काव्य-रत्न भारती के अक्षय भण्डार के दो सिंह द्वार हैं, जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु में ढाल दिये गये हैं।

जिन अन्य कवियों की पावन वाणी में ईश्वरानुराग का अवशिष्ट रस अनेक सरिता और निर्झरों के रूप में फूटकर ब्रज भाषा के साहित्य-समुद्र में भर गया, उनमें हम उस साखियों के सम्राट्, उस फूलों की देह के भगत कबीर साहब, उस लहरतारा के तालाब के गोत्र-कुल-हीन स्वर्ण पंकज, उस स्वर्गीय संगीत के जुलाहे के साथ—जिसने अपने सूक्ष्म ताने-बाने में गगन का "सबद अनाहद" बुन दिया—एकान्त में अपने गोपाल की मूर्ति से बातें करनेवाली उस मीरा को भी नहीं भूल सकते। वह भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजपूताने के मरुस्थल की मन्दाकिनी है ! उसने वासना के विष को पीकर प्रेमामृत बना दिया है, उसने शब्दों में नहीं गाया, अपने प्रेमाधिक्य में भावना को ही वाणी के रूप में घनीभूत कर दिया, अरूप को स्वरूप दे दिया !—ऐसा था अपार उस युग के मधु का भण्डार, जिसने ब्रज भाषा के छत्ते को लबालब भर दिया, उस अमृत ने उस भाषा को अमर कर दिया, उस भाषा ने उस अमृत को सुलभ !

पर उस ब्रज के वन में झाड़-झंखाड़ करील-बबूर भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचोबीच बहती हुई अमृत जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका तट है, उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पदचिह्न, कालानिल के झोकों से बचे हुए, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र, और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं!

अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गयी; कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी में बह गये; बड़े परिश्रम से कोई पार भी गये तो ब्रज से द्वारका तक पहुँच सके, संसार की सारी परिधि यहीं समाप्त हो गयी! रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके, अनन्त नीलाकाश को एक छोटे से तालाब के प्रतिबिम्ब में बाँधने के प्रयत्न में स्वयं बँध गये। सहस्र दादुर उसमे छिपकर टर्राने लगे, समस्त वायुमण्डल घायल हो गया, यमुना की नीली-नीली लहरें काली पड़ गयीं। भक्ति के स्वर में भारत की जन्म-जन्मान्तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधाविहीन बौछारों में बरसा दी! ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्धबिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़-छेड़कर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की खोज में, सौ-सौ यत्नों मे लपेटी हुई देश की समस्त आबाल वृद्धाएँ नग्नप्राय कर, भारतीय गृहस्थ के बन्द द्वारों से बाहर निकाल दीं; उनके कभी इधर-उधर न भटकनेवाले सुकुमार पाँव संसार के सारे विषपूर्ण काँटों से जर्जरित कर दिये। गृहलक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गयी।

शृंगारप्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अंग-प्रत्यंग में लिपट गयी। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृगलोचनी' तरस खाकर, उनसे 'बाबा' न कह दे,—उनकी रसलोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्वव्यापी अनुभूति! ऐसी प्रखर प्रतिभा! एक ही शरीरयष्टि में समस्त ब्रह्माण्ड देख लिया! अब इनकी अक्षय कीर्ति काया को जरामरण का भय? क्या इनकी 'नायिका,' जिसके वीक्षण मात्र से इनकी कल्पना तिलक की डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के मुख से न लौटा लायेगी?

इसी विराट् रूप का दर्शन कर ये पुष्प धनुषधर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के बीभत्स समुद्र को मथकर इन्होंने कामदेव को नव जन्म दान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है? इन वीरों ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा संसार कामिनीमय हो गया! 'एक के भीतर बीस' डिब्बेवाले खिलौने की तरह, एक ही के अन्दर सहस्र नायिकाओं के स्वरूप दिखला दिये। सारे देश को, जादू के बल से, कामना के चमकीले

पारे से मढ़े हुए कच्चे काँच के टुकड़ों का एक ऐसा विचित्र अजायब घर, 'सब जग जीतन को' काम का ऐसा 'काय व्यूह शीशमहल' बना दिया कि आर्य नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रंग-बिरंगे बिम्बों में बदल गयी,—जिनकी भूलभुलैया में फँसकर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया !

और इनकी वियोग वह्नि ने क्या किया ? इनकी और्व के नेत्रों की ज्वाला-सी आह ने ? देश की प्राणसंचारिणी, शक्ति संजीवनी वायु को ग्रीष्म की प्रचण्ड लू में बदल दिया ! सकल सद्भावनाओं के सुकुमार पौधे जलकर छार हो गये ; शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार सब भस्म हो गये; पवित्र प्रेम का चन्दन पंक सूख गया; भारत का मानस भी दरक गया; और उसकी सती इन कवियों की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार मे समा गयी; शक्ति की कमर खो गयी, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड़ गया।

ऐसी थी इनकी बीभत्स, विकारग्रस्त विलासपुरी ! और इनकी भाषालंकारिता ? जिसकी रंगीन डोरियों मे वह कविता का हैंगिंग गार्डन —वह विश्व वैचित्र्य झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है ?

बहत्तर ग्रन्थों के रचयिता, 'नभ मण्डल' के समान देव ; 'देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर' तीर छोड़नेवाले कुसुमायुध बिहारी, जिन्हें 'तरुनाई आई सुखद बसि मथुरा सुसराल'; रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ कर मुक्त होने वाले, कठिन काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य, भाषा के मिल्टन, उडगन केशवदास जी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करने वाले मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हों, और इन साहित्य के मालियों में से जिसकी विलास वाटिका मे भी आप प्रवेश करें, सबमें अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल नाल, दाडिम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र; चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोड़ना, रोमांचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना;—बस इसके सिवा और कुछ नहीं ! सबकी बावडियों में कुत्सित प्रेम का फहारा शत-शत रसधारों मे फूट रहा है, सीढ़ियों पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक सग रपट पडती, कभी नीर-भरी गगरी ढरका देती है ! बीथियों में परायी पीर न जाननेवाली स्वच्छन्द दूती विचर रही है, जिसका 'धूतपन' वापी नहाने का बहाना करने पर भी स्वेद की अधिकाई तथा पीकलीक की ललाई के कारण प्रकट हो ही जाता है; कुंजों मे उद्दाम यौवन की दुर्गन्ध आ रही है, जिनके सघन पत्रों के झरोखों से 'दीरघ दृग' प्रीतम की बाट में दौड़ लगा रहे हैं।

भाव और भाषा का ऐसा शुक प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक-स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की एक ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है ? घन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर, मोर की कहर, समस्त संगीत तुक की एक ही नहर में बहा दिया। और बेचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाँध ही दिया !—आँख की उपमा? खंजन, मृग, कंज, मीन इत्यादि; होंठों की ?

किसलय, प्रवाल, लाल, लाख इत्यादि; और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की ? शुक, दादुर, ग्रामोफ़ोन इत्यादि। ब्रज भाषा के उन्नत भाल में इन कविवरों की लालसा के साँप, इनकी उपमाओं के शाप-भ्रष्ट नहुष, उसके कोमल वक्ष में इनके अत्याचार के नख क्षत, उसके सुकुमार अंगों में इनकी वासना का, विरहाग्नि का असह्य ताप सदा के लिए बना रहेगा ! उसकी उदार छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया ! ऐसा किमाकार रूप उस युग के आदर्श ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर भू लुण्ठित न कर देता तो उस युग की उच्छृंखलता के विन्ध्य ने, मेरु का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में, हमारे 'सूर', 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया होता !

इस तीन फुट के नखशिख के संसार से बाहर ये कवि पुंगव नहीं जा सके। हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों के तो लेखनी को,—नायिका के अंगों को चाटते-चाटते, रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, खखारने के लिए—कभी-कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं। और वीर तथा रौद्र रस की कविता लिखने के समय तो ब्रज भाषा की लेखनी भय के मारे जैसे हकलाने लगती है। दो-एक भूषणादि रसावतारों को, जिन्हें मूँछों पर हाथ फिरवा देने का दावा रहा है, जिन्होंने एक लाख रुपये के नोन की तीव्रता शायद अपनी कविता ही में भर दी, और जिनका हृदय 'सस्सम्मुन धुन', 'जज्जज्जकि जन', 'डड्डुरि हिय', 'धद्धद्धड़कत' इत्यादि अनुप्रासों के कम्पज्वर की उच्छृंखल बड़बड़ाहट को सुनकर 'धद्धद्धकने' लगा, अपनी वीर गर्भा कविता के कवच में इधर-उधर से कड़ी कड़ियाँ छानबीन कर लगानी पड़ीं।

यह है केवल दिग्दर्शन मात्र, नयन-चित्र मात्र। यह अस्वाभाविक नहीं कि उस तीन-चार शताब्दियों के ओर-छोर व्यापी विशाल युग का संक्षिप्त सिंहावलोकन मात्र करने में मुझसे उसके स्वर्ण सिंहासनासीन भारती के पुत्र-रत्नों के अमर सम्मान की यथेष्ट रक्षा न हो सका हो; पर मेरा उद्देश्य, केवल, ब्रज भाषा के अलंकृत काल के अन्तर्देश में अन्तर्हित उस काव्यादर्श के बृहत् चुम्बक की ओर इंगित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकांश शक्ति तथा चेष्टाएँ, काव्य की धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई है। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि उस युग की वाणी में जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है, उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी प्रेमियों के लिए सुलभ तथा सुगम बना, हमें उसका घर-घर प्रचार करना चाहिए। जो ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, काव्यमर्मज्ञ उस ओर झुके हैं उनके ऋण से हिन्दी कभी मुक्त नहीं हो सकेगी।

× × ×

ब्रज भाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल छाया में, सौन्दर्य का कश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चाँदनी के झरने राशि-राशि मोती बिखराते हों, विहग कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वर के तारों से गूँथ देता हो, सहस्र रंगों की पुष्प शय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्ध प्रसुप्त पड़ा हो, जहाँ सौन्दर्य की वासन्ती नन्दन वन स्वप्न देखती हो—पर उसका वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी

गोलार्ध; जल स्थल, अनिल आकाश, ज्योति अन्धकार, वन पर्वत, नदी घाटी, नहर खाड़ी; द्वीप उपनिवेश; उत्तरी ध्रुव से दक्षिण तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण शीत प्रधान देशों के वनस्पति वृक्ष, पुष्प-पौधे पशु-पक्षी; विविध प्रदेशों की जलवायु, आचार व्यवहार,—जिसके शब्दों में वात उत्पात, वह्नि-बाढ़, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बाँधा जा सके; जिसके पृष्ठों पर मानव जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्तन-विवर्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके; जिसकी अलमारियों में दर्शन, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, समाजनीति, कला-कौशल, कथा-कहानी, काव्य-नाटक सब कुछ सजाया जा सके।

हमें भाषा नहीं, राष्ट्र भाषा की आवश्यकता है; पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा; जिसमें हम हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके; जो वातानिल के ऊँच-नीच, ऋजु-कुंचित, कोमल-कठोर घात-प्रतिघातों की ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत-शत स्पष्ट स्वरूपों में तरंगित कल्लोलित हो, आलोड़ित-विलोड़ित हो, हँसती-गरजती, चढ़ती-गिरती, संकुचित-प्रसारित होती, हमारे हर्ष-रुदन, विजय-पराभव; चीत्कार, किलकार, सन्धि, संग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसमें स्वर भर सके।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे में, हमारे मन की वाणी मुँह की वाणी न हो; हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो; हमारी आत्मा के सा रे ग म पृथक् हों, वाद्ययन्त्र के पृथक्; हमारी भावतन्त्री तथा शब्दतन्त्री के स्वरों में मेल न हो; मूर्धन्य 'ष' की तरह हमारे साहित्य का हृदय, देश की आत्मा, एक कृत्रिम दीवार देकर दो भागों में बाँट दी जाय! हम इस ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हमें यह पुराने फैशन की मिस्सी पसन्द नहीं, जिससे हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रंग जाती फीकी और मलिन पड़ जाती है। यह बिल्कुल आउट आफ़ डेट हो गयी है! यह नकाब पहना हुआ हास्य-प्रद चेहरों का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है। हमारे विचार अपने ही समय के चरखे में कते-बुने, अपनी ही इच्छा के रंग में रँगे वस्त्र चाहते हैं, चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्यों न हों, इसी में हमारे वाणिज्य व्यवसाय, कला-कौशल की कुशलक्षेम है, कल्याण है: हमारे युग की रम्भा अपने नवीन नूपुर नृत्य के जो मधुर कुंजित अविरत पदचिह्न हमारे देश के वक्षःस्थल पर छोड़ रही है, उन्हें अपने ही हृत्स्पन्दन में प्रतिध्वनित करने के बदले, हम ब्रज के मधुमल के कृत्रिम साँचे में अंकित करना नहीं चाहते। हमें देश काल की उपेक्षा करनेवाले, अपने राष्ट्र के भाग्य विधाता के विरुद्ध खड़े झाड़ झंखाड़मय नवीन कुरूप सृष्टि करनेवाले इन ब्रजभाषा के महर्षि विश्वामित्रों से सहानुभूति नहीं; इनकी प्राचीन ब्रज भाषा की काशी, हमारे संसार से बाहर, इन्हीं की अहंमन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती; उसकी अन्धी गलियों

में आधुनिक सभ्यता का विशद यान नहीं जा सकता; काल की त्रिवेणी में—जहाँ वर्तमान की उज्ज्वल जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट नीली यमुना का विशाल संगम है—भूत की सरस्वती का मिलकर लुप्त हो जाना ही स्वाभाविक है !

खड़ीबोली में चाहे ब्रज भाषा की श्रेष्ठतम इमारतों के होड़ जोड़ की अभी कोई इमारत भले ही न हो, उसके मन्दिरों में वैसी बेल बूटेदार मीनाकारी तथा पच्चीकारी, उसकी गुहाओं में अजन्ता का सा अद्भुत अध्यवसाय, चमत्कार, विविध वर्णों की मैत्री, तथा अपूर्व हस्त-कौशल, उसकी छोटी-मोटी, इस पत्थर के काल की मूर्तियों में, वह सूक्ष्मता, सजधज, निपुणता अथवा परिपूर्णता न मिले; उसमें अभी मानस के से पवित्र घाटों का अभाव हो,—पर उसके राजपथों में जो विस्तार और व्यापकता, भिन्न-भिन्न स्थानों को आने-जानेवाले यात्रियों के लिए जो रथ तथा यानों के सुप्रबन्ध की ओर चेष्टा; उसकी हाट-बाट विपणियों में जो वस्तु-वैचित्र्य, वर्ण-वैचित्र्य, विषय तथा विन्यास-वैचित्र्य का आयोजन है, देश प्रदेशों के उपभोग्य पदार्थों के विनिमय तथा क्रय-विक्रय को सुलभ करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है; उसके पार्कों में जो नवीनता, आधुनिकता, विपुलता, पुष्पों की भिन्न-भिन्न ढाँचों में खिली वर्तुलाकार, आयताकार, मीनाकार, वर्गाकार रंग-बिरंगी क्यारियाँ, सामयिक रुचि की कैंची से कटी-छंटी जो विविध स्वरूपों की झाड़ियाँ, गुल्म, वृक्षावलियाँ; नव-नव आकार-प्रकारों में विकसित तथा सिंचित कुंज, लता-भवन और बेलि-वितान अभी हैं वे असन्तोषप्रद नहीं; उसमें नये हाथों का प्रयत्न, जीवित साँसों का स्पन्दन, आधुनिक इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पद-चिन्ह, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच नवीन युग की नवीन सृष्टि का समावेश है। उसमें नये कटाक्ष, नये रोमांच, नये स्वप्न, नया हास, नया रुदन, नया हृत्कम्पन, नवीन बसन्त, नवीन कोकिलाओं का गान है !

इन बीस-पच्चीस बरसों के छोटे-से बित्ते में खड़ी बोली की कविता के मूल देश के हृदय में कितने गहरे चले गये; उसकी शाखा-प्रशाखाएँ चारों ओर फैलकर हमारी खिड़कियों से धीरे-धीरे किस तरह भीतर झाँकने लगीं; किस तरह वायु के झोंकों के साथ उसके राशि-राशि पुष्पों की अर्धस्फुट सौरभ हमारे कमरों में समाने, साँसों के साथ हृदय में प्रवेश करने लगी, उसकी सघन हरीतिमा के नीड़ों में छिपे कितने पक्षी, बाल कोकिलाएँ, तरुण पपीहे, तथा प्रौढ़ शुक, सहस्र स्वरों में चहचहाने तथा सुधावर्षण करने लगे, उसके पत्र हिल-हिलकर किस तरह हमारी ओर संकेत करने लगे, उनकी अस्फुट मर्मर में हमें अपनी विश्वव्यापी उत्थान, पतन, देशव्यापी आशा-निराशा, घट-घटव्यापी हर्ष-विषाद की, वर्तमान के मनोवेगों, भविष्य की प्रवृत्तियों की कैसी सहज प्रतिध्वनि मिलने लगी है, यह दिवस की ज्योति से भी स्पष्ट है; इसके लिए दर्पण की आवश्यकता नहीं।

खड़ी बोली आगे की सुवर्णाशा है, उसकी बाल कला में भावी की लोकोज्ज्वल पूर्णिमा छिपी है। वह हमारे भविष्याकाश की स्वर्गंगा है, जिसके अस्पष्ट ज्योतिपुञ्ज में, न जाने कितने जाज्वल्यमान सूर्य-शशि,

असंख्य ग्रह-उपग्रह, अमन्द नक्षत्र तथा अनिन्द्य लावण्य लोक अन्तर्हित हैं ! वह समस्त भारत की हृत्कम्पन है, देश की शिरोपशिराओं में नवजीवन सञ्चारिणी संजीवनी है; वह हमारे भगीरथ प्रयत्नों से अर्जित, भारत के भाग्य विधाता की वरदान स्वरूप, विश्व कवि के हृत्कमण्डलु से निःसृत अमृत स्वरों की जाह्नवी है, जिसने सुप्त देश के कर्ण कुहर में प्रवेश कर उसे जगा दिया; जिसकी विशाल धारा में हमारे राष्ट्र का विशद स्वर्णयान, आर्य जाति के गौरव का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किये, धर्म और ज्ञान की निर्मल पालों को फहराता हुआ, अपनी सूर्योज्ज्वल आध्यात्मिकता, चन्द्रिकोज्ज्वल कलाकौशल, तथा नीतिविज्ञान की विपुल रत्न राशियों से सुसज्जित, बाधा बन्धनों की तरंगों को काटता, दिव्य विहंगम की तरह क्षिप्र वेग से उड़ता हुआ, संसार के विशाल सागर संगम की ओर अग्रसर हो रहा है ! उसके चारों ओर शीघ्र ही हमारे धर्म के पुण्य तीर्थ तथा पवित्राश्रम स्थापित हों, हमारी सभ्यता के नवीन नगर तथा पुर केन्द्रित हों !

(ख)

भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झंकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत् विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की विशेषताएँ, भिन्न-भिन्न जातियों तथा देश की सभ्यताओं की विशेषताएँ हैं। संस्कृत की देव वीणा में जो आध्यात्मिक संगीत की परिपूर्णता है वह संसार की अन्य शब्द-तन्त्रियों मे नहीं; और पाश्चात्य साहित्य के विशद यन्त्रालय में जो विज्ञान के कल-पुर्जों की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती भवन मे नहीं।

प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य सत्य है, एक अनित्य; अनित्य सत्य के क्षणिक पदचिह्न संसार की सभ्यता के राजपथ पर बदलते जाते; पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अंकित हो जाता है, उसे कालानिल के झोंके नहीं मिटा सकते। प्रत्येक युग इस अखण्डनीय सत्य के अपरिमेय वृत्त का एक छोटा-सा खण्ड मात्र, इस अनन्त सिन्धु की एक स्वतन्त्र तरंग मात्र है, जिसका अपना विशेष स्वरूप, विशेष आकार-प्रकार, विशेष विस्तार एवं विशेष ऊँचाई होती है; जो अपने सद्य स्वर में सनातन सत्य के एक विशेष अंश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायुमण्डल मे गूँज उठता, उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छन्दों-तालों में, नवीन रागों-स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता; नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पन्दन कम्पन, तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीर्ण पतझड़ इस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद स्वरूप बन जाता है। नूतन युग संसार की शब्द तन्त्री में नूतन ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता; नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत, नये छन्द, नये राग, नयी रागिनियाँ, नयी कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवर्तनशील अंश उसके लिए खाद्य-सामग्री

बन, भारती की नाड़ियों में नवीन रक्त का संचार, हृदय में नवीन स्फूर्ति तथा स्पन्दन पैदा कर, उसके शरीर को सुन्दर, शुद्ध, विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह अचिर अंश हमारे हृद्गत संस्कारों, विचारों, हमारी प्रवृत्तियों, मनोवेगों, हमारी इन्द्रियों तथा दैनिक क्रिया कम्पनों से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि वास्तव में जो अतिविश्वास मात्र है उससे हम अपने को पृथक् नहीं कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणों का स्पन्दन उसी की लय में ध्वनित होने लगता, दोनों अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते हैं।

हिन्दी के जिन वयोवृद्ध आचार्यों को ब्रज भाषा ही में काव्योचित माधुर्य मिलता है, जो खडीबोली को काव्य की भाषा का स्थान देने में भी सशंकित रहते हैं, उसका मुख्य कारण उनके यही हृद्गत संस्कार हैं, जिनसे उनकी रुचि का रक्त बन चुका, जो उनके भाव-अनुभावों की स्थूल-सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवाहित होकर, उनके आदर्श को अपने रंग में रँग चुके, अपने स्वर में गढ़ चुके हैं। मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्षों की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त मांस-हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गयी हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गये हों; जैसे साहित्याकाश का 'तरणि', ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो; भाषा के 'प्राण' चिरकाल से क्षय रोग से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गये हों। 'पत्थर' जैसे ज्वालामुखी के उदर में दग्ध हो जाने से अपने ओजपूर्ण कोनों को खोकर, गल, घिसकर 'पाहन' बन गये हों। खड़ी बोली का 'स्थान' मुझे साफ़-सुथरा, निवास के उपयुक्त जान पड़ता है; और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन, बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य; वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी—'कहत' 'लहत' 'हरहु' 'भरहु'—ऐसी लगती है, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गयी हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो; पर यह सब खड़ीबोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर से सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।

भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनिलोक-निवासी शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियों के चित्र मात्र हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के रोओं में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओं में प्रधावित हो, अनेकता में एकता का संचार करता; यही विश्व वीणा के अगणित तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल-कर्कश घात-प्रतिघातों, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झंकारों, असंख्य स्वरों में फूटकर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप में व्याप्त हो जाता; यही संसार के मानस समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं, आकाक्षाओं, भावनाओं, कल्पनाओं की तरगों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ सौ स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु में सने, सृजन के बीज रूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस शतदल के चारों ओर यह चिर अतृप्त स्वर्ण भृंग एक अनन्त गुञ्जार में

मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है; यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते है; हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक सकेत मात्र, इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झंकार मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध है, उसी प्रकार शब्द भी; ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता, कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते; कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,——इनकी पारस्परिक प्रीति मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है; लक्ष और मल द्वीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दों की कविता को खा-खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों मे बद्ध होते, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते है। जहाँ राग की उन्मुक्त स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियमवश्यता में सामंजस्य रहता है, वहाँ कोमल मा तथा कठोर पिता के घर में लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दों का भरण-पोषण, अंग-विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब, कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु का सेवन कर रहा था; शायद बरसात बीत गयी थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरों मे उच्छ्वसित हो, न जाने, किस ओर बह रही थी! अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूँघट हटा, अपने सुनहले पंख फैला, क्षण-भर चंचल लहरों की ताल पर मधुर नृत्य कर, अन्तर्धान हो गयी! जैसे उस परिस्फुट यौवना सरिता ने अपने मीन लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा; न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से किस अज्ञात कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पड़ा—'मत्स्य!' उस कवि का समस्त आनन्द, आश्चर्य भय, प्रेम, रोमांच तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा 'मत्स्य' शब्द के रूप में प्रतिध्वनित तथा संगृहीत हो साकार बन गयी। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप्-छप् शब्द करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछलकर फिर अपनी ही चंचलता में जैसे डूब जाता है। शकुन्तला नाटक के "पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्" मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है।

भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते है। 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' मे उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का

एक-दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, 'बढ़ो बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूमती हुई हँसमुख लहरियों का, 'उर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता, है जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो, अंगरेजी का 'विंग' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'टच' में जो छूने की कोमलता है, वह स्पर्श में नहीं मिलती। स्पर्श जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक 'स्पर्श' पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है, ब्रज भाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, 'जॉय' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द का विद्युत स्फुरण प्रकट होता है। अंग्रेजी के 'एअर' में एक प्रकार की ट्रांसपेरेन्सी मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखायी पड़ती हो, 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो, 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फ़ीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है, 'प्रभंजन' विंड की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है, 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गयी हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द, सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भावों को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव संगीत विद्युत्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके जिनका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश में समा जाय, जिनका रस मदिरा की फेन राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उनके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूमने लगे, छत्ते में न समाकर मधु की तरह टपकने लगे; अर्द्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन जड़ता के अन्धकार को भेदकर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे, जिनका प्रत्येक चरण प्रियंगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमांचित रहे; जापान की द्वीपमालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को दबा न सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वासों के भूकम्प में काँपती रहें!

भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हों; निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों; कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण रश्मि के स्पर्श से जगकर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की

सम्पूर्ण स्वतन्त्रता में कूक उठा हो, एक रहस्यपूर्ण संगीत के स्रोत में उमड़ चला हो; अन्तर का उल्लास जैसे अपने फूट पडने के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारों की तरह, अपने आप झंकारों में नृत्य करने लगा हो; भावनाओं की तरुणता, अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दों के चिरालिंगन पाश में बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाँहें बढाने लगी हो; —यही भाव और स्वर का मधुर मिलन, सरस सन्धि है। हृदय के कुंज में छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद अपने प्रियतम से मिली हो, और उसके रोएँ-रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हों।

जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटु समुदाय' ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनायी देते हैं। ब्रज भाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं! उस "सूधे पाँव न धरि सकत शोभा ही के भार" वाली ब्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल अंगों में कलम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रंग कहीं दीख ही नहीं पडता; उस बालिका के अस्थिहीन अंग खींच-खाँच, तोड-मरोडकर, प्रोक्रस्टीज़ की तरह, किसी प्रकार छन्दों की चार-पाई में बाँध दिये, फिट कर दिये गये हैं! प्रत्येक पद्य, म्यसरस् वाइट अवे लेडलॉ एंड को० के कैटलॉग में दी हुई नर-नारियों की तस्वीरों की तरह, —जिनकी सत्ता संसार में और कहीं नहीं,—एक नये फैशन के गाउन या पेटीकोट, नयी हैट या अण्डरवियर, नये विन्यास के अलंकार आभूषण अथवा वस्त्रों के नये-नये नमूनों का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो।

अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभि-व्यक्ति के विशेष द्वार है। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है; वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गयी हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरियों, तरुण तरंगों में फूट गयी हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जडता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि

विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष अपह्नुति गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूँ—वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रहकर स्वयं अभीप्सित स्थान, अभीप्सित विषय बन जाते है; वहाँ बाजे के सब स्वरों के साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता है; काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ संगृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं, तब भिन्न-भिन्न आकारों में कटी-छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी सन्धियाँ एकाकार हो जाती हैं; उनका अपना रूप भाव के बृहत्स्वरूप में बदल जाता, किसी के कुशल करों का मायावी स्पर्श उसकी निर्जीवता में जीवन फूंक देता, वे अहल्या की तरह शापमुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण खण्डों का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह, काव्य कहने लगते हैं। जिस प्रकार संगीत में भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उनके होने-न-होने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, हम केवल राग के सिन्धु में डूब जाते है, उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते, उनकी लँगडाहट में गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते है, कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य में, उसके रंग-बिरंगे पुष्पों, लाल हरे पीले, छोटे-बड़े तृण गुल्म लताओं, ऊँची-नीची सघन विरल वृक्षावलियों, झाड़ियों, छाया ज्योति की रेखाओं, तथा पशु-पक्षियों की प्रचुर ध्वनियों का सौन्दर्य रहस्य उनके एकान्त सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता और उनमें से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता में अलग कर देने पर वह अपना इन्द्रजाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी परस्पर अन्योन्याश्रित होने कारण, एक-दूसरे के बल से सशक्त रहते, अपनी सकीर्णता की झिल्ली तोड, तितली की तरह, भाव तथा राग के रंगीन पंखों से उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक होते ही, शिशिर की बूँद की तरह, अपना अमूल्य मोती गवाँ बैठते है।

ब्रज भाषा के अलंकृत काल में संगीत के आदर्श का जो अधःपात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छन्दों का चुनाव भी है। कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा

की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोडों में एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झंकारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्दबद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (मैग्नेटिक फ़ील्ड) तैयार कर लेते, उनमे एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत्धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि दिवस की आँखमिचौनी, षड्ऋतु परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण शयन, ग्रह-उपग्रहों का अश्रान्त नर्तन,—सृजन, स्थिति, संहार,—सब एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत ही में होता है।

भौगोलिक स्थिति, शीत ताप, जलवायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण संगीत में भी विभिन्नता आ जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सस्कृत का संगीत समास सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृंखलाकार, मेखलाकार हो गया है, उसमें दीर्घ श्वास की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द एक-दूसरे का हाथ पकड़, कन्धे से कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जैसे दूसरा रह नहीं सकता, एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुँह से स्वयं बाहर निकल आना चाहता, एक कोना पकड़कर हिला देने मे सारा चरण जंजीर की तरह हिलने लगता है। शब्दो की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण संस्कृत मे वर्णवृत्तों का प्रादुर्भाव हुआ, उनका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि संस्कृत के छन्दों मे अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नही रहती, उसके लिए स्थान ही नही मिलता। वर्णिक छन्दों में जो एक नृपोचित गरिमा मिलती है, वह 'तुक' के संकेतों तथा नियमों के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है; वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव में झूमती हुई जाती, तुक का अकुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार संस्कृत के संगीत की ग[illegible] की रक्षा करने के लिए, उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमें वर्णवृत्तों की आवश्यकता पडी, उसी प्रकार वर्णवृत्तों के कारण संस्कृत मे अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दों की। उसमें पर्यायो की तो प्रचुरता है, पर भावों के छोटे-बडे चढाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्च्छनाओं, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दों का प्रादुर्भाव नहीं हो सका। वर्णवृत्तो के निर्माण में विशेषणों तथा पर्यायों से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव

विशेषणों की भीड़ों से ही पूरा कर लिया गया। यही कारण है कि रिपल, बिलो, वेव, टाइड आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद द्योतक शब्दों को गढ़ने की ओर संस्कृत के कवियों का उतना ध्यान नहीं रहा, जितना तुल्यार्थ शब्दों को बढ़ाने की ओर।

संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल झंकारों का छेकानुप्रास है। उसमें प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अंगभंगी, स्वाभाविक साँसें है। हिन्दी का संगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता-छनकता, बुद्बुदों में उबलता, छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक-दूसरे के गले पड़कर, पगों से पग मिलाकर, सेनाकार नहीं चलते; बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते-कूदते है। यही कारण है कि संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक-सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है; हिन्दी में ऐसा नियम नहीं और वह कर्ण कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपना स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्णवृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल् कल् छल् छल् तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती; उसकी हास्य दृप्त सरल मुखमुद्रा गम्भीर, मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती; उसका चंचल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके चंचल पदों से स्वाभाविक नृत्य छीनकर किसी ने बलपूर्वक, उन्हें सिपाहियों की तरह गिन-गिनकर पाँव उठाना सिखला-कर, उनकी चंचलता को पदचालन के व्यायाम की बेड़ी में बाँध दिया है। हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद क्षेप के लिए वर्णवृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते है, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर ध्वनि नहीं रहती।

बँगला के छन्द भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक् वाहन नहीं हो सकते, बँगला भाषा का संगीत आलापप्रधान होने से अनियन्त्रित सा है। उसकी धारा पहाड़ी नदी की तरह ओठों के तटों से टकराती, ऋजु-कुंचित चक्कर काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ों का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, अपनी शब्द राशि को झकोरती, धकेलती, चढ़ती, गिरती, उठती, पड़ती हुई आगे बढ़ती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्व-दीर्घ के पलड़ों में सूक्ष्म रूप से नहीं तुले मिलते, उनका मात्रा काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है। अँगरेजी की तरह बँगला में भी स्वरपात (एक्सेंट) अधिक परिस्फुट रूप में मिलता है। यदि अँगरेज़ी तथा बँगला के शब्द हिन्दी के छन्दों में कम्पोज़ कर कस दिये जायँ, तो वे अपना स्वर खो बैठें। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे-छँटे (डायमण्ड कट के) होते हैं, वैसे बँगला और अँगरेज़ी के नहीं, वे जैसे लिखे जाते वैसे नहीं पढ़े जाते। बँगला

के शब्द, उच्चारण की धारा में पड़, स्पंज के टुकड़े की तरह स्वर से फूल उठते, और अँगरेज़ी के शब्दों का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुँह के भीतर ही गलकर रह जाता, वे चिकने-चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बँगला मे, अधिकतर, अक्षर मात्रिक छन्दों मे कविता की जाती है। पुराने वैष्णव कवियों के अतिरिक्त,—जिन्होंने संस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढंग अपनाया,—अन्यत्र, ह्रस्व-दीर्घ के नियमों पर बहुत कम कविता मिलती है; इस प्रणाली पर चलने मे बँगला का स्वाभाविक संगीत विनष्ट भी हो जाता, रवीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ में बँगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है; उसके अनुसार 'ऐ' 'औ' तथा संयुक्ताक्षर के पूर्व वर्ण को छोड़कर और सर्वत्र—आ, ई, ऊ, ए, ओ मे—एक ही मात्राकाल माना जाता; और वास्तव में बँगला में इनका ठीक-ठीक दीर्घ उच्चारण भी नहीं। पर हिन्दी में तो सोने की तोल है, उसमें आप रत्ती-भर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए घटा-बढ़ा नहीं सकते, उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, इसलिए बँगला छन्दों की प्रणालियों में ढालने से उसके संगीत की रक्षा नहीं हो सकती।

ब्रज भाषा के अलंकृत काल मे 'सवैया' और 'कवित्त' का ही बोल-बाला रहा, दोहा, चौपाई महात्मा तुलसीदास जी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ़ भक्ति के उद्गारों को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक-दो को छोड़, अन्य कवियों को उन पवित्र स्वरों को अपनी शृंगार की तन्त्री मे चढ़ाने का साहस ही नहीं हुआ, उनकी लेखनी द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छन्दों में रचना करना आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दों में सफलतापूर्वक रचना कर भी नहीं सकते। छन्दों को अपनी अँगुलियों मे नचाने के पूर्व कवि को छन्दों के संकेतों पर नाचना पड़ता है; सरकस के नवीन अदम्य अश्वों की तरह उन्हें साधना, उनके साथ-साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है; तब कहीं वे स्वेच्छानुसार, इंगित मात्र पर वर्तुलाकार, अण्डाकार, आयताकार नचाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्ययन्त्रों में उनकी पृथक्-पृथक् रीति से साधना करनी पड़ती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारों, परदों तथा तन्तुओं मे भावनाओं का राग जाग्रत करने के पूर्व भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छन्दों की तन्त्रियों मे कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल, तान, आलाप, भावना की मुरकियाँ तथा मीड़ें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झंकारित की जा सकती है। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते हैं जिनमे उसकी छाप-सी लग जाती, जिनके ताने-बाने में वह अपने उद्गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खड़ी बोली के कवियों में गुप्त जी को हरिगीतिका, हरिऔध जी को चौपदों, सनेही जी को षट्पदियों में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

पिंगलाचार्य केशवदास जी अपनी रामचन्द्रिका को जिन-जिन ड्योढ़ियों तथा सुरंगों से ले गये हैं, उनमें अधिकांश उनसे अपरिचित-सी जान पड़ती हैं, जिनके रहस्यों से वे पूर्णतया अनभिज्ञ थे। ऐसा जान पड़ता है, उन्होंने बलपूर्वक शब्दों की भीड़ को ठेल, छन्दों के कन्धे पिचकाकर अपनी कविता की पालकी को आगे बढ़ाया है, नौसिखिये साइकिलिस्ट की तरह, जिसे साइकिल पर चढ़ने का अधिक शौक होता है, उनके छन्दों के पहिये, बैलेन्स ठीक-ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते-डुलते हुए जाते हैं।

सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही मगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता, एकस्वरता (मानोटनी) आ जाती है। उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु अक्षरों के बाद आनेवाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है। कविता की लड़ी में, छन्द की डोरी पर दानों के बीच दी हुई स्वरों की गाँठें तो बड़ी-बड़ी होकर सामने आ जाती हैं, और भावद्योतक शब्दों की गुरियाँ छोटी पड़, उन गाँठों के बीच छिप जाती हैं। चूने के पक्के किनारों के बीच बहती हुई धारा की तरह, रस की स्रोतस्विनी से, अपने वेगानुसार तटों में स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प गुल्म लताओं के कोमल पुलिनों से चुम्बन-आलिंगन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रंग-बिरंगे रोड़ों से फेनिल हास-परिहास करने, क्षिप्र आवर्तों के रूप में भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता, वह अपने जीवन की विचित्रता (रोमांस), स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है।

कवित्त छन्द, मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरसजात नहीं, पोष्यपुत्र है; न जाने यह हिन्दी में कैसे और कहाँ से आ गया, अक्षर मात्रिक छन्द बंगला में मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण संगीत की ये रक्षा नहीं कर सकते। कवित्त को हम संलापोचित (कलोकियल) छन्द कह सकते हैं; सम्भव है, पुराने समय में भाट लोग इस छन्द में राजा-महाराजाओं की प्रशंसा करते हों, और इसमें रचना सौकर्य पाकर, तत्कालीन कवियों ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो।

हिन्दी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा-पूरा समय देता है। मात्रिक छन्द में बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है, दोनों में अधिक अन्तर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुन्दरता अथवा विशेषता है। पर कवित्त छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें, यति के नियमों के पालनपूर्वक, चाहे आप इकत्तीस गुरु अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है कि छन्द की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा काल मिलता है, जिसमें छन्दबद्ध शब्द एक-दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए, उच्चारित होते हैं; हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी

शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिचती, एक उत्ते-जित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त छन्द के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छन्द में बाँध दीजिए, यथा—

'कूलन में केलिन कछारन मे कुजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त है"—इस लड़ी को यों सोलह मात्रा के छन्द मे रख दीजिए—

"मु-कूलन में केलिन मे (और)
कछारन कुंजन में (सब ठौर)
कलिन क्यारिन मे (कल) किलकन्त
बनन में बगर्‌यो (विपुल) बसन्त।"

अब दोनों को पढ़िए, और देखिए कि उन्ही 'कूलन केलिन' आदि शब्दो का उच्चारण सगीत इन दोनों छन्दों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है; कवित्त म परकीय, मात्रिक छन्द म स्वकीय, हिन्दी का अपना, उच्चारण मिलता है।

इस अनियन्त्रित छन्द में नायक-नायिकाओं तथा अलंकारो का विज्ञापन मात्र देने में केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नहीं हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द-प्रधान हो गया। वाणी के स्वाभाविक स्वर और सगीत का विकास ता रुक गया, उनकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारो की अधिकता से करनी पड़ी। कवित्त छन्द मे जब तक अलकारो की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं; अपनी कुलवधू की तरह दो-एक नये आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नही हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र भूषण ऐंठ लने पर ही कही अपने साथ रसालाप करने देता है।

इसका कारण यह है कि काव्य संगीत के मूल तन्तु स्वर है, न कि व्यंजन; जिस प्रकार सितार मे राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर संचालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने-भर के लिए झंकारित किये जाते, उसी प्रकार कविता मे भी भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है; ध्वनि चित्रण को छोडकर (जिसमे राग व्यंजन प्रधान रहता, यथा—"घन घमण्ड नभ गरजत घोरा") अन्यत्र व्यंजन संगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने मे प्राय. गौण रूप से सहायता मात्र करता है। जिस छन्द में स्वर-संगीत की रक्षा की जा सकती, उसके संकोच प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमे राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य पूर्ण रूप मे मिलता है; जहाँ राग केवल व्यजनों की डोरियों में झूलता, वहाँ अलंकारों की झनक के साथ केवल 'हिडोरे' की ही रस्सी सुनायी पड़ती है। कवित्त का राग व्यंजनप्रधान है, उसमें स्वर अथवा मात्राओं के विकास के लिए अवकाश नही मिलता। नीचे कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर" इस मात्रिक छन्द में 'सा आशा का' इन चार वर्णो में 'अ' का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इन्द्रधनुष

की तरह अनिल में अछोर अटका देता है, द्वितीय चरण में 'अ' की पुनरावृत्ति भी कल्पना को इस काम में सहायता देती है; उसी प्रकार,

"कभी अचानक भूतों का-सा

प्रकटा विकट महा आकार" इन चरणों में स्वर के प्रसार द्वारा ही भूतों का महा आकार प्रकट होता है, 'क' 'ट' आदि व्यंजनों की आवृत्ति उसे भीषण बनाने में सहायता मात्र देती है, पुनः—

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत

दल बल युत घुस वातुल चोर" इसमें लघु अक्षरों की आवृत्ति ही वातुल चोर के दल बल युत घुसने के लिए मार्ग बनाती है। यदि आप उपर्युक्त चरणों में किसी एक को कवित्त छन्द में बाँधकर पढ़ें, यथा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर

अनिल में अटका कभी अछोर"

इसे, "इन्द्रधनु-सा आशा का छोर अटका अछोर

अनिल में, (अनिल के अचल आकाश में)"

इस प्रकार रखकर पढ़ें, तो प्रत्येक अक्षर की कड़ी अलग-अलग हो जाने, तथा स्वरों का प्रस्तार रुक जाने के कारण, राग के आकाश में कल्पना का अछोर इन्द्रधनुष नहीं बनने पाता। उसी प्रकार—"अरी सलिल की लोल हिलोर," इस पद में 'ई' तथा 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार 'हिलोर' को गिराती और उठाती तथा "पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश" इस चरण में लघु मात्राओं का समुदाय अथवा स्वरों का संकोच, गिलहरी की तरह दौड़कर, जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल-पल परिवर्तित कर देता, कवित्त छन्द की प्रेसिंग मशीन में कस जाने पर उपर्युक्त वाक्यों के पंख उस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक स्वराकाश में नहीं उड़ सकते; क्योंकि वह छन्द हिन्दी के उच्चारण संगीत के अनुकूल नहीं है।

कविता विश्व का अन्तरतम संगीत है, उसके आनन्द का रोमहास है; उसमें हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म प्रकाश है। जिस प्रकार कविता में भावों का अन्तरस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है उसी प्रकार छन्दबद्ध भाषा में भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। राग ध्वनि लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव जगत् में कल्पना करती, वह कार्य शब्द जगत् में राग; दोनों अभिन्न हैं। यदि किसी भाषा के छन्दों में, भारती के प्राणों में शक्ति तथा स्फूर्ति संचार करनेवाले उनके संगीत को, अपनी उन्मुक्त झंकारों के पंखों में उड़ने के लिए प्रशस्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता हो, वह पिंजर बद्ध कीर की तरह छन्द के अस्वाभाविक बन्धनों में कुण्ठित हो, उड़ने की चेष्टा में छटपटाकर गिर पड़ता हो, तो उस भाषा में छन्दबद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या? प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण संगीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतंग डोर के लघु-गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊँची-ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इंगितों से दृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता में भावों के

प्रगाढ़ संगीत के साथ भाषा का संगीत भी पूर्ण परिस्फुट होना चाहिए, तभी दोनों में सन्तुलन रह सकता है। पद्य को हम गद्य की तरह नहीं पढ़ते, यदि ऐसा करें तो हम उसके साथ अन्याय ही करेंगे। पद्य में वाणी का रोम्रां-रोम्रां संगीत में सनकर, रस में डूबे हुए किशमिश की तरह फूल उठता है; सुरों में सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय स्पर्श से, अपने आप, अनवरत झंकारों में काँपते रहते हैं; पावस की अँधियारी में जुगुनुओं की तरह अपनी ही गति में प्रभा प्रसारित करते रहते हैं।

अब कुछ तुक की बातें होनी चाहिए। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनायी पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित रहतीं, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण कर वे छन्द के शरीर में स्फूर्ति संचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल तरल में 'सम' का है, वही स्थान छन्द में 'तुक' का, वहाँ पर राग शब्दों के सरल तरल ऋजुकुंजित चरणों में घूम-फिरकर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने अवरोह में राग संवादी स्वर पर बार-बार ठहरकर अपना रूप विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है। तुक उसी छन्द में अच्छा लगता है जो पद-विशेष में गुँथी हुई भावना का आधार स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द-विशेष पर निहित अथवा अवलम्बित रहते हैं, शेष शब्द उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थशून्य, हृदयहीन-सा हो जाता है। वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा में सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है; इसी शब्द सम्राट् के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। उसका कारण यह है कि अन्त्यानुप्रासवाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव को हृदयंगम कराने में भी सहायता देता है।

हमें अपनी दिनचर्या में भी, प्रायः एक प्रकार का तुक मिलता है, जो उसे संयमित तथा सीमाबद्ध रखता; जिसकी ओर दिन की छोटी-मोटी कार्य कारिणी शक्तियाँ आकर्षित रहती हैं। जब हम उस सीमा को असावधानी के कारण उल्लंघन कर बैठते हैं, तब हमारे कार्य हमें तृप्ति नहीं देते; हमारे हृदय में एक प्रकार का असन्तोष जमा हो जाता; हम अपनी दिनचर्या का केन्द्र खो बैठते, और स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके-से लगते हैं। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते हैं—जब हम अधिक कार्य व्यग्र अथवा भाराक्रान्त रहते, उस समय काम-काज का ऐसा ताप, क्रिया का ऐसा स्पन्दन-कम्पन रहता है कि हमें अपनी स्वाभाविक दिनचर्या में बरते जानेवाले व्यवहार के लिए, जीवन के स्वतन्त्र क्षणों में प्रत्येक कार्य के साथ जो एक आनन्द की सृष्टि मिल

जाती, उसके लिए, अवकाश ही नहीं मिलता, हमारे कार्य-प्रवाह में तीव्र गति रहती, हमारा जीवन एक अश्रान्त दौड़-सा, कुछ समय के लिए, बन जाता है। यही ब्लैंक वर्स अथवा अतुकान्त कविता है। इसमें कर्म (एक्शन) का प्राधान्य रहता है, दिन की उज्ज्वल ज्योति में काम का अधिक प्रकाश रहता, उनमें हमे तुक नही मिलता; प्रभात और सन्ध्या के अवकाशपूर्ण घाटों पर हमे इस तुक के दर्शन मिलते है; प्रत्येक पदार्थ में एक सोने की भावपूर्ण, शान्त, संगीतमय छाप-सी लग जाती, यही गीति-काव्य है।

हिन्दी में रोला छन्द अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर मे निर्जीव शब्द भी फड़क उठते है। ऐसा जान पड़ता है, उसके राजपथ में मेला लगा है, प्रत्येक शब्द 'प्रवाल शोभा इव पादपाना' तरह-तरह के संकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे बढ़ता है।

भिन्न-भिन्न छन्दों की भिन्न-भिन्न गति होती, और तदनुसार वे रस-विशेष की सृष्टि करने मे भी सहायता देते है। रघुवंश में 'अज विलाप' का वैतालीय छन्द करुण रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है? उसके स्वर में कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है? जैसे अधिक उद्वेग के कारण उनका कण्ठ गद्गद हो गया हो, भर गया हो। यदि विहाग राग की तरह उस छन्द का चित्र भी कहीं होता तो उसकी आँखों मे अवश्य आँसुओं का समुद्र उमड़ता हुआ मिलता। मालिनी छन्द में भी करुण आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छन्दों मे पीयूष वर्षण, रूपमाला, सखी, और प्लवंगम छन्द करुण रस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते है। पीयूष वर्षण की ध्वनि मे कैसी उदासीनता टपकती है? मरुभूमि में बहनेवाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पत्र-पुष्पों के शृंगार से विहीन, जिसकी धारा लहरों के चंचल कलरव तथा हास-परिहास से वंचित रहती, यह छन्द भी, वैधव्य वेश मे, अकेलेपन मे सिसकता हुआ, श्रान्त जिह्म गति से, अपने ही अश्रु जल से सिचत धीरे-धीरे बहता है। हरिगीतिका छन्द भी करुण रस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनों छन्द चौबीस मात्रा के है; पर इन दोनों की गति में कितना अन्तर है? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिन-भर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ, नीची दृष्टि किये ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर जाता है।

राधिका छन्द में ऐसा जान पड़ता है, जैसे उसकी क्रीडाप्रियता अपने ही पदों में 'गत' बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चंचल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग-भंगियों में उठती-झुकती, कोमल कण्ठ स्वरों से गा रही हो। इस छन्द में जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेंगी, इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल्-कल् छल्-छल् करता हुआ बहता है। इसके तथा चौदह मात्रा के सखी छन्द की गति में कितना अन्तर है? सखी छन्द के प्रत्येक चरण में अन्त्यानुप्रास अच्छा नहीं लगता, दूर-दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है, अन्त में मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय में एक प्रकार का स्वर भंग आ जाता है, जो करुणा का संचार करने में सहायता देता है। पन्द्रह मात्रा का चौपाई छन्द अनमोल मोतियों का हार है, बाल साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छन्द मुझे कोई नहीं लगता। इसकी ध्वनि में बच्चों की साँसें, बच्चों का कण्ठस्वर मिलता है; बच्चों की ही तरह यह चलने में इधर-उधर देखता हुआ, अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पंखों में खूब उड़ता है।

हिन्दी में मुक्त काव्य का प्रचार भी दिन-दिन बढ़ रहा है; कोई इसे रबर काव्य कहते हैं, कोई केंचुआ। सन् १९२१ में जब 'उच्छ्वास' मेरी विरह कृश लेखनी से यक्ष के 'कनक वलय' की तरह निकल पड़ा था, तब "निगम" जी ने 'सम्मेलन पत्रिका' में उस 'बीसवीं' सदी के 'महा-काव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, 'इसकी भाषा रँगीली, छन्द स्वच्छन्द है।' पर उस वामन ने, जो कि लोकप्रियता के रात-दिन घटने-बढ़ने वाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगें फैला दीं कि आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छन्द छन्द' ही की छटा दिखलायी पड़ती है।

यह 'स्वच्छन्द छन्द' ध्वनि अथवा लय (रिद्म) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता-छाँटता, अपने लिए ऋजु-कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि, रोला आदि छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खींच-खाँचकर उसके ढाँचे में फिट कर देना पड़ता है; कभी पाद पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। उग्र साम्यवादियों की तरह ये छन्द बाह्य समानता चाहते हैं। मुक्त काव्य आन्तरिक ऐक्य, भाव जगत् के साम्य को ढूँढ़ता है। उसमें छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं। क्वार्टरों में रहनेवाले बाबुओं की तरह, भावना को, परतन्त्रता के हाथों बने हुए घरों के अनुसार, अपनी खाने-पीने, उठने-बैठने, सोने-रहने की सुविधा को, कुछ इने-गिने कमरों में ही येन-केन प्रकारेण ठूँस-ठाँसकर जीवन-निर्वाह नहीं करना पड़ता, वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा, स्वाभाविक रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा के सुविधानुसार, अपना निकेतन बनाता है, जिसमें उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ-पाँव फैलाकर सुखपूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता में अंगों के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इसमें चरण इसलिए घटाये-बढ़ाये जाते हैं कि काव्य सम्बद्ध संयमित रहे; उसकी शरीर-यष्टि न गणेश जी की तरह स्थूल तथा मांसल हो, न ब्रज भाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि-पंजर। जहाँ छन्द के पद भावानुसार नहीं जाते, और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते-बढ़ते, चीन की सुन्दरियों अथवा पाश्चात्य महिलाओं की तरह केवल अपने चरणों को छोटा रखने के लिए लोहे के तंग जूते, कमर को पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने लगते, वहाँ उनके स्वाभाविक सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्यभ्रष्ट भी हो जाती है।

अन्य छन्दों की तरह मुक्त काव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरों से कण्ठस्वर मिलाकर गाता, और स्वतन्त्रतापूर्वक तान तथा आलाप लेने पर भी उसके कण्ठ का तम्बूरे के स्वरों के साथ सामंजस्य बना ही रहता, तथा ऐक्य भंग होते ही वह बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छन्द का राग भी भाषा के तारों पर झूलता है, और जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती वहाँ छन्द अपना 'स्वर' खो बैठता है। उदाहरणार्थ मेरे मित्र हिन्दी के भावुक सहृदय कवि 'निराला' जी के छन्दों को लीजिए।

उनके कुछ छन्द बँगला की तरह अक्षर मात्रिक राग पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार मिश्रित है कि उनमें कोई भी नियम नहीं मिलता। जहाँ पर उनकी कविता ह्रस्व-दीर्घ संगीत पर चलती, उनकी उज्ज्वल भाव-राशि उनके रचना-चातुर्य सूत्र में गूँथी हुई, हीरों के हार की तरह चमक उठती है। किन्तु जहाँ पर बँगला के अनुसार चलती, वहाँ उसका राग हिन्दी के लिए अस्वाभाविक हो जाता है। उदाहरणार्थ बँगला की कुछ लाइनें लीजिए,—

हे सम्राट् कवि,
एइ तव हृदयेर छबि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्भुत
छन्दे गाने
उठियाछे अलक्ष्येर पाने
जेथा तव विरहिणी प्रिया
रयेछे मिशिया
प्रभातेर अरुण आभासे,
क्लान्त-सन्ध्या दिगन्तेर करुण निश्वासे
पूर्णिमाय देहहीन चामेलिर लावण्य विलासे,
भाषार अतीत तीरे
कांगाल नयन जेथा द्वार ह'ते आसे फिरे-फिरे,

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इन्हें पहले बँगला उच्चारण के साथ पढ़िए, फिर हिन्दी उच्चारण के अनुसार पढ़ने की चेष्टा कीजिए, बँगला उच्चारण का प्रवाह ज्यों ही

इनके ऊपर से हटा दिया जाता है, सारी शब्द-राशि जलधारा के सूख जाने पर नदी की तह में पड़े हुए निष्प्रभ रोड़ों की तरह, अपने जीवन का कलरव, अपनी कोमलता-चंचलता, अपनी चमक-दमक तथा गति गँवाकर अपनी ही लँगड़ाहट मे डगमगाती हुई गिर पडती है। इसका कारण यह है कि बँगला के उच्चारण की मांसलता हिन्दी में नहीं, इसका ह्रस्व-दीर्घ राग बँगला छन्दों में स्वाभाविक विकास नहीं पाता। बँगला उच्चारण के श्वासवायु से उपर्युक्त पद्य के चरण रबर के रंगीन गुब्बारों की तरह फूल उठते, जिसके निकलते ही छन्द के पद ढीले पड जाते, शब्द पिचक जाते, और उनका परस्पर का सम्बन्ध टूट जाने के कारण राग की विद्युत्धारा का प्रवाह रुक जाता है। श्रीयुत 'निराला' जी के भी दो एक छन्द देखिए—

(१) देख यह कपोत कण्ठ —
बाहु बल्ली कर सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का;
देवों भोगियों की तो बात ही निराली है। —अनामिका

(२) कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा ? —'रुकती है गति जहाँ ?'
भला इस गति का शेष —
सम्भव है क्या —
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?
मैंने 'मैं' शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आयी। —अनामिका

पहले छन्द के चरण अक्षर मात्रिक राग की गति पर, दूसरे के ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक राग की गति पर चलते हैं। पहले छन्द में, 'यह, कण्ठ, बल्ली, सरोज, उन्नत, पीन' इत्यादि शब्दों पर एक प्रकार का स्वरपात देकर, रुककर, आगे बढना पड़ता, 'नितम्ब भार चरण सुकुमार' इस चरण को एक साथ पढ़ना पडता है, राग की गति भंग हो जाती है। दूसरे छन्द मे राग की एक धारा व्याप्त मिलती है, उसका स्वर भंग नहीं होता, शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग, असम्बद्ध नहीं दिखायी पड़ती, उनकी दरारें लय से भरकर एकाकार हो जाती, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य आ जाता है। पहले छन्द का राग हिन्दी के उच्चारण संगीत के अनुकूल नहीं, दूसरे का अनुकूल है।

मुक्त काव्य में ऐसे चरण, जिनकी गति भिन्न हो,— जैसे पीयूषवर्षण तथा रोला के चरण, —साथ-साथ अच्छे नहीं लगते; राग का प्रभाव कुण्ठित हो जाता है, गति बदलने के पूर्व लय को विराम दे देना चाहिए। 'पल्लव' में मेरी अधिकांश रचनाएँ इसी छन्द में है, जिनमें 'उच्छ्वास',

'आँसू' तथा 'परिवर्तन' विशेष बड़ी हैं।

'परिवर्तन' में जहाँ भावना का क्रिया कम्पन तथा उत्थान-पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती, वहाँ रोला आया है, अन्यत्र सोलह मात्रा का छन्द। बीच-बीच में छन्द की एकस्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिये गये हैं। यथा—

"विभव की विद्युत् ज्वाल

चमक, छिप जाती है तत्काल।" ऊपर के चरण में चार मात्राएँ घटाकर, उसकी गति मन्द कर देने से नीचे के चरण का प्रभाव बढ़ जाता है। यदि ऊपर के चरण में चार मात्राएँ जोड़कर उसे "विभव की चञ्चल विद्युत् ज्वाल"—इस प्रकार पढ़ा जाय, तो नीचे के चरण में विभव की क्षणिक छटा का, चमककर छिप जाने के भाव का, स्वाभाविक स्फुरण मन्द पड़ जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भावनानुसार छन्दों में काट-छाँट कर दी गयी है।

'उच्छ्वास' और 'आँसू' में भी छन्द इसी प्रकार बदले गये, और आवश्यकतानुसार राग को विश्राम भी दे दिया गया है। यथा—

"शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय" के बाद

"बालिका ही थी वह भी," —इस चरण में वाणी को विश्राम मिल जाना, तब नया छन्द—

"सरलपन ही था उसका मन

निरालापन था आभूषन" इत्यादि प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार—

"सुमनदल चुन चुन कर निशि भोर

खोजना है अजान वह छोर"—इस सोलह मात्रा के छन्द की गति को "नवल कलिका थी वह" वाले चरण में विश्राम देकर तब—

"उसके उस सरलपने से

मैंने था हृदय सजाया"—यह चौदह मात्रा का छन्द रक्खा है, इसकी गति पूर्ववर्ती छन्द की गति से मन्द है। जहाँ समगति के भिन्न-भिन्न छन्द आये हैं वहाँ विराम देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। इसके बाद प्रकृति-वर्णन है, उसमें निर्झरों का गिरना, दृश्यों का बदलना, पर्वत का सहसा बादलों के बीच ओझल हो जाना आदि, अद्भुत रस का मिश्रण है। इसलिए वहाँ पूर्वोक्त शिथिल गतिवाले छन्द के बाद तुरन्त ही—

"पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश

पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश"—यह क्षिप्रगामी छन्द मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़ा। इस छन्द का सारा वेग—"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर"—यह विस्तृत चरण रोक देता, और

"सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही

बालिका मेरी मनोरम मित्र थी" इस सुख-दुःख मिश्रित भावना को ग्रहण करने के लिए हृदय को तैयार कर देता है।

'आँसू' में कहीं-कहीं एक ही छन्द के चरणों में अधिक काट-छाँट हुई है। यथा—

"देखता हूँ जब, उपवन

पियालों में फूलों के

प्रिये ! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को !
नवोढा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता-सी, प्राण !
कही तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।"

इन चरणों में शोकाकुलता के कारण स्वर भंग हो जाने का भाव आया है, लय की गति रुकती जाती है, तुक भी पास-पास नहीं आये हैं। इसी प्रकार "सिहर उठता कृश गात" इस चरण की गति को कुण्ठित कर देने से अनुवर्ती चरण में पगों के अज्ञात ठहर जाने का भाव अपने आप प्रकट हो जाता है। अन्यत्र भी---

"पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल चलती है दृग जल धार", इन लाइनों में प्रथम चरण के बाद जो विराम मिलता, उससे प्राणों के पिघल पड़ने तथा द्वितीय चरण में आँसुओं के उबल चलने का भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है।— मुझे अपने इस बाल प्रयास में कहाँ तक सफलता मिली है, इसे सहृदय काव्य मर्मज्ञ ही जानें।

खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग कुशलतापूर्वक करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर (एक्स-प्रेशन) शिथिल पड़ जाता है, और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा मे विराजमान है। "है" को तो, जहाँ तक हो सके निकाल ही देना चाहिए, इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है। इन दो सीगोंवाले हरिण को 'आश्रम मृग-समझ, इस पर दया दिखलाना ठीक नहीं, यह 'कनक मृग है, इसे कविता की पञ्चवटी के पास फटकने न देना ही अच्छा है। 'समासों' का भी अधिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता, समास का काम तो व्यर्थ बढकर इधर-उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काट-छाँटकर उन्हे सुन्दर आकार-प्रकार देने तथा उनकी मांसल हरीतिमा में छिपे हुए भावों के पुष्पों को व्यक्त भर कर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूँठी तथा श्रीहीन हो जाती है।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी में अभी समस्या-पूर्ति का स्वाँग जारी ही है। जो लोग "कवयः किं न जल्पन्ति, कागा किं न भक्षन्ति" के समर्थक, और कवियों को कौओं के समकक्ष बैठाने तथा कविता को केवल काले-काले अक्षरों की अँधेरी उड़ान समझनेवाले हैं, उनकी बात दूसरी है, पर जो काव्य को [illegible] का निर्माता मानते है, जिन्हें कविता में देवताओं का भोजन, संसार का अन्तरतम हृत्स्पन्दन मिलता है, उन्हें तो उसे इस अस्वाभाविक बन्धन से छुड़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। व्रज भाषा की कविता में अधिक कृत्रिमता आने का एक मुख्य

कारण यह समस्या-पूर्ति भी है। क्या कवि की विश्वव्यापी प्रतिभा को तागे की तरह सुई की आँख में डाल देना ही कविता है ? सरकस के खिलाड़ियों की तरह दूर से दौड़ लगाकर शब्दों के एक कृत्रिम परिमित वृत्त (रिंग) के भीतर से होकर उस पार निकल जाना ही कवि का काम है ? क्या बहुपतियों को वरने की असभ्य प्रथा, कलंक की तरह, हिन्दी द्रौपदी के भाल पर सदा के लिए लगी ही रहेगी ? इस लक्ष्यवेध का, इस तुकबन्दी की चाँदमारी का अब भी अन्त नहीं होगा ?

हिन्दी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है। रसगंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये; वे स्थायी, संचारी, व्यभिचारी आदि भावों से जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्व भारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत स्वरों में न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी में सत्साहित्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती। बड़े हर्ष की बात है कि अब हिन्दी यूनिवर्सिटी की चिर वञ्चित उच्चतम कक्षाओं में भी प्रवेश पा गयी; वहाँ उसे अपनी बहन अँगरेज़ी के साथ वार्तालाप तथा हेल-मेल बढाने का अवसर तो मिलेगा ही, उनमें घनिष्ठता भी स्थापित हो जायेगी। आशा है, विश्वविद्यालय के उत्साही हिन्दी-प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवृद्ध समालोचक, बेचारे देव और बिहारी में कौन बड़ा है, इसके निर्णय के साथ उनके भावों का निबटारा करने, तथा 'सहित' शब्द में ष्यञ् प्रत्यय जोड़कर सत्साहित्य की सृष्टि करने में व्यस्त हैं, तब तक हिन्दी में अँगरेज़ी ढंग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। हम लोग अब 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्', 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को अच्छी तरह समझ गये हैं।

यहीं पर मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ। हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा; उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए, वे केवल नाम मात्र हैं; उनमें हमें रूप-रस-गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन में हमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला, वे अभी हमारे मनोवेगों के चिरालिंगन पाश में नहीं बँधे;—इसीलिए उनका स्पर्श अभी हमें रोमांचित नहीं करता, वे हमें रसहीन, गन्धहीन लगते हैं। जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल कर लेना पड़ता है। इसके लिए समय की आवश्यकता है, उसी के प्रवाह में बहकर खड़ी बोली के खुरदरे रोड़े हमें धीरे-धीरे चिकने तथा चमकीले लगने लगेंगे। हमें आशा है, भविष्य इसके समुद्र को मथकर इसके चौदह रत्नों को किसी दिन संसार के सामने रख देगा, और शीघ्र ही कोई प्रतिभाशाली पृथु अपनी प्रतिभा के बछड़े से इस भारत की भारती को दुहकर तथा राष्ट्र के साहित्य को अनन्त उर्वर बनाकर, एक बार फिर दुर्भिक्ष पीड़ित संसार को परितृप्ति प्रदान करेगा। शुभमस्तु।

पल्लव

अरे, ये पल्लव बाल !
सजा सुमनों के सौरभ हार
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल,
नहीं छूटी तरु डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर प्रवाल !
न पत्रों का मर्मर संगीत,
न पुष्पों का रस, राग, पराग;
एक अस्फुट, अस्पष्ट, अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल मुसकान;
सरल शिशुओं के शुचि अनुराग,
वन्य विहगों के गान !

हृदय के प्रणय कुंज में लीन
मूक कोकिल का मादक गान,
बहा जब तन मन बन्धन हीन
मधुरता से अपनी अनजान;
खिल उठी रोओं-सी तत्काल
पल्लवों की यह पुलकित डाल !
प्रथम मधु के फूलों का बाण
दुरा उर में, कर मृदु आघात,
रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान
पल्लवों की यह सजल प्रभात;
शिराओं में उर की अज्ञात
नव्य जग जीवन कर गतिवान !

दिवस का इनमें रजत प्रसार
उषा का स्वर्ण सुहाग;
निशा का तुहिन अश्रु शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग;
नवोढा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम सुन्दरता की आग !

कल्पना के ये विह्वल बाल,
आँख के अश्रु, हृदय के हास,

वेदना के प्रदीप की ज्वाल,
प्रणय के ये मधुमास;
सुछवि के छाया वन की साँस
भर गयी इनमें हाव, हुलास!
आज पल्लवित हुई है डाल,
झुकेगा कल गुंजित मधुमास!
मुग्ध होंगे मधु से मधु बाल,
सुरभि से अस्थिर मरुताकाश!
(नवम्बर, १९२४)

उच्छ्वास

(सावन-भादों)
(सावन)

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल बादल-सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास!
अपने छाया के पंखों में
(नीरव घोष भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूँथ, फैल गम्भीर मेघ-सा,
आच्छादित कर ले सारा आकाश!
यह अमूल्य मोती का साज,
इन सुवर्णमय, सरस परों में
(शुचि स्वभाव से भरे सरों में)
तुझको पहना जगत देख ले;—यह स्वर्गीय प्रकाश!
मन्द विद्युत्-सा हँसकर,
वज्र-सा उर में धँसकर
गरज, गगन के गान! गरज गम्भीर स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में, औ अधरों में;
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षणभर में!
हृदय के सुरभित साँस!
जरा है आदरणीय;
सुखद यौवन! विलास उपवन रमणीय;
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु, सरल, कमनीय,
—वालिका ही थी वह भी!
सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन!

सुरीले, ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान !

छपी-सी पी-सी मृदु मुसकान
छिपी-सी, खिंची सखी-सी साथ,
उसी की उपमा-सी बन, मान
गिरा का धरती थी, धर हाथ !

रँगीले, गीले फूलों-से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित !
—इसी में था असीम अवसित !

मधुरिमा के मधुमास !
मेरा मधुकर का-सा जीवन
कठिन कर्म है, कोमल है मन;
विपुल मृदुल सुमनों से सुरभित,
विकसित है विस्तृत जग उपवन !

यही हैं मेरे तन, मन, प्राण,
यही हैं ध्यान, यही अभिमान;
धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान !
कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर,
जटिल तरु जाल हैं किसी ओर,
सुमन दल चुन-चुनकर निशि-भोर
खोजना है अजान वह छोर !
—नवल कलिका थी वह !

उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,
नित मधुर-मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया !
कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्प लता, अपनाया;
बहु नवल भावनाओं का
उसमें पराग था पाया !
मैं मन्द हास-सा उसके
मृदु अधरों पर मँडराया;
औ' उसकी सुखद सुरभि से
प्रतिदिन समीप खिंच आया !

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश !

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार - बार
नीचे जल में निज महाकार;
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण - सा फैला है विशाल ! !
गिरि का गौरव गाकर झर् - झर्
मद से नस - नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर !
गिरिवर के उर से उठ-उठकर
उच्चाकांक्षाओं - से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर !
—उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर !
रव शेष रह गये हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अम्बर !
धँस गये धरा में सभय शाल
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल !
—यों जलद यान में विचर, विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !
(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर !)
इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी;
सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी !

(भादों)

दीप के बचे विकास !
अनिल-सा लोक लोक में,
हर्ष में और शोक में,
कहाँ नहीं है स्नेह ? साँस सा सबके उर में !
रुदन, क्रीड़न, आलिंगन,
भरण, सेवन, आराधन,
शशि की-सी ये कलित कलाएँ किलक रही हैं पुर-पुर में !
यही तो है बचपन का हास
खिले यौवन का मधुप विलास,
प्रौढ़ता का वह बुद्धि विकास,
जरा का अन्तर्नयन प्रकाश !
जन्मदिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास !

है यह वैदिक वाद;
विश्व का सुख दुखमय उन्माद !
एकतामय है इसका नाद—

गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण;
श्रवण तक आ जाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण !

अश्रुओं में रहता है हास
हास में अश्रुकणों का भास;
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास
और उच्छ्वासों ही में श्वास !

बँधे हैं जीवन तार;
सब में छिपी हुई है यह झंकार!
हो जाता संसार
नहीं तो दारुण हाहाकार !

मुरली के - से सुरसीले
हैं इसके छिद्र सुरीले;
अगणित होने पर भी तो
तारों - से हैं चमकीले !

अचल हो उठते है चंचल;
चपल बन जाते हैं अविचल;
पिघल पड़ते हैं पाहन दल;
कुलिश भी हो जाता कोमल !

चढ़ाता भी है तो गुण से
डोर कर में है, मन आकाश;
पटकता भी है तो गुण से,
खींचने को चकई-सा पास !

मर्म पीड़ा के हास !
रोग का है उपचार;
पाप का भी परिहार;
है अदेह सन्देह, नहीं है इसका कुछ संस्कार !
हृदय की है यह दुर्बल हार !!

खींच लो इसको, कहीं क्या छोर है ?
द्रौपदी का यह दुरन्त दुकूल है !
फैलता है हृदय में नभ बेलि-सा,
खोज लो, इसका कहीं क्या मूल है ?

यही तो काँटे - सा चुपचाप
उगा उस तरुवर में, सुकुमार
सुमन वह था जिसमें अविकार—
बेध डाला मधुकर निष्पाप !!

बड़ों में दुर्बलता शाप !
नहीं चल सकते गिरिवर राह,
न रुक सकता है सौरभवाह !
तरल हो उठता उदधि अथाह,
सूर का दुख देता है दाह !
देख हाय ! यह, उर से रह-रह निकल रही है आह,
व्यथा का रुकता नहीं प्रवाह !
सिड़ी के गूढ़ हुलास !
बीनते हैं प्रसून दल;
तोड़ते ही हैं मृदु फल;
देखा नहीं किसी को चुनते कोमल कोंपल !!
अभी पल्लवित हुआ था स्नेह,
लाज का भी न गया था राग;
पड़ा पाला-सा हा ! सन्देह,
कर दिया वह नव राग विराग!
हो गया था पतझड़, मधुकाल,
पत्र तो आते हाय, नवल !
झड़ गये स्नेह वृन्त से फूल,
लगा यह असमय कैसा फल !
मिले थे दो मानस अज्ञात,
स्नेह शशि बिम्बित था भरपूर;
अनिल-सा कर अकरुण आघात,
प्रेम प्रतिमा कर दी वह चूर !!
घूमता है सम्मुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन चक्र !
ढाल-सा रखवाला शशि आज
हो गया है हा ! असि-सा वक्र!
बालकों का-सा मारा हाथ,
कर दिये विकल हृदय के तार!
नहीं अब रुकती है झंकार,
यही था हा ! क्या एक सितार ?
हुई मरु की मरीचिका आज,
मुझे गंगा की पावन धार !
कहाँ है उत्कण्ठा का पार !!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं यह हृदय हार !!!

× × ×

कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !
कौन भेद सका अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?

है सभी तो ओर दुर्बलता यही,
समझता कोई नहीं—क्या सार है!
निरपराधों के लिए भी तो अहा!
हो गया संसार कारागार है!!

(सितम्बर, १९२१)

आँसू

(भादों की भरन)

(१)

अपलक आँखों में
उमड़ उर के सुरभित उच्छ्वास!
सजल जलधर से बन जलधार;
प्रेममय वे प्रिय पावस मास
पुनः नयनों में कर साकार;
मूक कणों की कातर वाणी भर इनमें अविकार,
दिव्य स्वर पा आँसू का तार
बहा दे हृदयोद्‌गार!

आह, यह मेरा गीला गान!
वर्ण वर्ण है उर की कम्पन,
शब्द शब्द है सुधि की दंशन;
चरण चरण है आह,
कथा है कण-कण करुण अथाह;
बूंद मे है बाड़व का दाह!
प्रथम भी ये नयनों के बाल
खिलाये हैं नादान;
आज मणियों ही की तो माल
हृदय में बिखर गयीं अनजान!
टूटते हैं असंख्य उडगण,
रिक्त हो गया चाँद का थान!
गल गया मन मिश्री का कन,
नयीं सोखी पलकों ने बान!

विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!
वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान!

हाय, किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार !
किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार ! !

मेरा पावस ऋतु - सा जीवन,
मानस - सा उमड़ा अपार मन;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले,
मेघों-से मेरे भरे नयन !

कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों - से हाय !
अरुण कलियों - से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय !
इन्द्रधनु - सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे - सी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारों ओर !

तड़ित्-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगनुओं - से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान !

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल;
आज सोने का सन्ध्याकाल
जल रहा जतुगृह-सा विकराल;
पटक रवि को बलि - सा पाताल
एक ही वामन पग में—
लपकता है तमिस्र तत्काल,
—धुएँ का विश्व विशाल !
चिनगियों - से तारों को डाल
आग का - सा अँगार शशि लाल
लहकता है, फैला मणि ज्वाल
जगत को डसता है तम व्याल !

पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि !
सरल शुक - सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती है उर में;
अगन - से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति-सी मूक !

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये ! भर-भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;
नवोढा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर;
अकेली आकुलता-सी प्राण !
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात !
देखता हूँ, जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला:
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान;
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान !

× × ×

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में, फैल !
अवनि औ' अम्बर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल !
शिखर पर विचर मरुत रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर !
द्विरद दन्तों-से उठ सुन्दर
सुखद कर सीकर से बढ़ कर,
भूति-से शोभित बिखर-बिखर,
फैल फिर कटि के-से परिकर,
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर !

इन्द्रधनु की सुनकर टंकार
उचक चपला के चंचल बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार;
मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार !

अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ-उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,
विहंगम - सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर !
पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर - झर;
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार,
दादुरों के वे दुहरे स्वर,
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल - पावस के प्रश्नोत्तर !
खैंच ऐंचीला भ्रू सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल-हार;
जलद पट से दिखला मुख चन्द्र,
पलक पल - पल चपला के मार;
भग्न उर पर भूधर-सा हाय !
सुमुखि ! धर देती है साकार !

(२)

करुण है हाय ! प्रणय,
नहीं दुरता है जहाँ दुराव;
करुणतर है वह भय
चाहता है जो सदा बचाव;
करुणतम भग्न हृदय,
नहीं भरता है जिसका घाव,
करुण अतिशय उनका संशय
छुड़ाते हैं जो जुड़े स्वभाव !!
किये भी हुआ कहाँ संयोग ?
टला टाले कब इसका वास ?
स्वयं ही तो आया यह पास,
गया भी, बिना प्रयास !
कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय क्या गंगाजल की धार !!
हृदय ! रो, अपने दुख का भार !
हृदय ! रो, उनको है अधिकार !

हृदय ! रो यह जड़ स्वेच्छाचार,
शिशिर का - सा समीर संचार !

प्रथम, इच्छा का पारावार,
सुखद आशा का स्वर्गाभास;
स्नेह का वासन्ती संसार,
पुनः उच्छ्वासों का आकाश !
—यही तो है जीवन का गान,
सुख का आदि और अवसान !

सिसकते हैं समुद्र - से मन,
उमड़ते हैं नभ - से लोचन;
विश्व वाणी ही है क्रन्दन,
विश्व का काव्य अश्रु कन !
गगन के भी उर में हैं घाव,
देखतीं ताराएँ भी राह;
बँधा विद्युत् छबि में जलवाह
चन्द्र की चितवन में भी चाह;
दिखाते जड़ भी तो अपनाव
अनिल भी भरती ठण्डी आह !

हाय ! मेरा जीवन,
प्रेम औ' आँसू के कन !
आह मेरा अक्षय धन,
अपरिमित सुन्दरता औ' मन !
—एक वीणा की मृदु झंकार !
कहाँ है सुन्दरता का पार !
तुम्हें किस दर्पण मे सुकुमारि !
दिखाऊँ मैं साकार ?
तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा स्नान;
तुम्हारी वाणी मे कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !
अपरिचित चितवन में था प्रात,
सुधामय साँसों में उपचार !
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार !

करुण भौंहों में था आकाश,
हास में शैशव का संसार,
तुम्हारी आँखों में कर वास
प्रेम ने पाया था आकार !
कपोलों में उर के मृदु भाव
श्रवण नयनों में प्रिय बर्ताव;
सरल संकेतों में संकोच;
मृदुल अधरों में मधुर दुराव !

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस !
बिन्दु में थी तुम सिन्धु अनन्त
एक सुर में समस्त संगीत,
एक कलिका में अखिल वसन्त,
धरा में थी तुम स्वर्ग पुनीत !

विधुर उर के मृदु भावों से
तुम्हारा कर नित नव शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें कुमारि !
मूँद दुहरे दृग द्वार !
अचल पलकों में मूर्ति सँवार
पान करता हूँ रूप अपार,
पिघल पड़ते हैं प्राण,
उबल चलती है दृगजल धार !

बालकों सा ही तो मैं हाय !
याद कर रोता हूँ अनजान;
न जाने, होकर भी असहाय,
पुनः किससे करता हूँ मान !

× × ×

सुप्ति हो स्वल्प वियोग
नव मिलन को अनिमेष,
दैव ! जीवन-भर का विश्लेष...
मृत्यु ही है निःशेष !!

× × ×

मूँद पलकों में प्रिया के ध्यान को
थाम ले अब, हृदय ! इस आह्वान को !
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य, पावन स्थान को !
तेरे उज्ज्वल आँसू सुमनों में सदा
वास करेंगे, भग्न हृदय, उनकी व्यथा
अनिल पोंछेगी, करुण उनकी कथा
मधुप बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा !

(दिसम्बर, १९२१)

विनय

मा ! मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय हार हो,
अश्रुकणों का यह उपहार,

मेरे सफल श्रमों का सार
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रमजलमय मुक्तालंकार !
मेरे भूरि दुखों का भार
तेरी उर इच्छा का फल हो,
तेरी आशा का शृंगार,
मेरे रति, कृति, व्रत, आचार
मा ! तेरी निर्भयता हों नित
तेरे पूजन के उपचार—
यही विनय है बारम्बार !
(जनवरी, १९१८)

वीचि विलास

अरी सलिल की लोल हिलोर !
यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?
सरिता की चंचल दृग कोर !
यह जग को अविदित उल्लास !
आ, मेरे मृदु अंग झकोर,
नयनों को निज छबि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर !
गूढ़ साँस-सी यति गतिहीन
अपनी ही कम्पन में लीन,
सजल कल्पना-सी साकार
पुनः-पुनः प्रिय, पुनः नवीन,
तुम शैशव स्मिति-सी सुकुमार,
मर्म रहित, पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार !
वारि बेलि-सी फैल अमूल,
छा अपत्र सरिता के कूल,
विकसा औ' सकुचा नवजात
बिना नाल के फेनिल फूल;
छुईमुई-सी तुम पश्चात्
छूकर अपना ही मृदु गात,
मुरझा जाती हो अज्ञात !
स्वर्ण स्वप्न-सी कर अभिसार
जल के पलकों में सुकुमार,
फूट आप ही आप अजान
मधुर वेणु की-सी झंकार;
तुम इच्छाओं-सी असमान,
छोड़ चिह्न उर में गतिवान,
हो जाती हो अन्तर्धान !

मुग्धा की-सी मृदु मुसकान
खिलते ही लज्जा से म्लान;
स्वर्गिक सुख की-सी आभास—
अतिशयता में अचिर, महान्—
दिव्य भूति-सी आ तुम पास,
कर जाती हो क्षणिक विलास,
आकुल उर को दे आश्वास!

ताल-ताल में थिरक अमन्द,
सौ-सौ छन्दों में स्वच्छन्द
गाती हो निस्तल के गान,
सिन्धु गिरा-सी अगम, अनन्त;
इन्दु करों से लिख अम्लान
तारों के रोचक आख्यान,
अम्बर के रहस्य द्युतिमान!

चला मीन दृग चारों ओर,
गह गह चंचल अंचल छोर,
रुचिर रुपहरे पंख पसार
अरी वारि की परी किशोर!
तुम जल थल में अनिलाकार,
अपनी ही लघिमा पर वार,
करती हो बहुरूप विहार!

अंग भंगि में व्योम मरोर,
भौंहों में तारों के भौंर
नचा, नाचती हो भरपूर
तुम किरणों की बना हिंडोर,
निज अधरों पर कोमल क्रूर,
शशि से दीपित प्रणय कपूर
चाँदी का चुम्बन कर चूर!

खेल मिचौनी-सी निशि भोर,
कुटिल काल का भी चित चोर,
जन्म मरण से कर परिहास,
बढ़ असीम की ओर अछोर;
तुम फिर-फिर सुधि ही सोच्छ्वास
जी उठती हो बिना प्रयास,
ज्वाला-सी, पाकर वातास!

ओ अकूल की उज्ज्वल हास!
अरी अनन्त की पुलकित श्वास!
महानन्द की मधुर उमंग!
चिर शाश्वत की अस्थिर लास!
मेरे मन की विविध तरंग
रंगिणि! सब तेरे ही संग
एक रूप में मिलें अनंग!

(मई, १९२३)

मधुकरी

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से,
करा दो ना, कुछ-कुछ मधुपान !

नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित, कवि - सी तुम अपना पाठ
सीखती हो सखि ! जग में घूम;

सुना दो ना, तब हे सुकुमारि !
मुझे भी ये केसर के गान !

किसी के उर में तुम अनजान
कभी बँध जाती, बन चितचोर;
अधखिले, खिले, सुकोमल गान
गूँथती हो फिर उड़-उड़ भौंर;

मुझे भी बतला दो न कुमारि !
मधुर निशि स्वप्नों के वे गान !

सूँघ चुनकर, सखि ! सारे फूल,
सहज बिंध बँध, निज सुख-दुख भूल,
सरस रचती हो ऐसा राग
धूल बन जाती है मधुमूल;

पिला दो ना, तब हे सुकुमारि !
इसी से थोड़े मधुमय गान;
कुसुम के खुले कटोरों से
करा दो ना, कुछ-कुछ मधुपान !

(सितम्बर, १९२२)

अनंग

अहे विश्व अभिनय के नायक !
अखिल सृष्टि के सूत्राधार !
उर-उर की कम्पन में व्यापक !
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार !

ऐ असीम सौन्दर्य सिन्धु की
विपुल वीचियों के शृंगार !
मेरे मानस की तरंग में
पुनः अनंग ! बनो साकार !

आदि काल में बाल प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत्, हत ज्ञान

शस्य शून्य वसुधा का अंचल,
निश्चल जलनिधि, रवि शशि म्लान;
प्रथम हास - से, प्रथम अश्रु-से
प्रथम पुलक - से, हे छविमान!
स्मृति-से, विस्मय-से तुम सहसा
विश्व स्वप्न-से खिले अजान!

प्रथम कल्पना कवि के मन में,
प्रथम प्रकम्पन उडगन में,
प्रथम प्रात जग के आँगन में,
प्रथम वसन्त विभा वन में:
प्रथम वीचि वारिधि चितवन में
प्रथम तड़ित् चुम्बन घन में,
प्रथम गान तव शून्य गगन में!
फूटा, नव यौवन तन में!

झूल जगत की उर कम्पन में,
पुलकावलि में हँस अविराम,
मृदुल कल्पनाओं से पोषित,
भावों से भूषित अभिराम,
तुमने भौंरों की गुंजित ज्या,
कुसुमों का लीलायुध थाम,
अखिल भुवन के रोम-रोम में,
केशर शर भर दिये सकाम!

नव वसन्त के सरस स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारम्बार
सिहर उठी स्मित शस्यावलि में,
विकसित चिर यौवन के भार;
फूट पडा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार,
गन्ध मुग्ध हो अन्ध समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार!

अगणित बाँहें बढ़ा उदधि ने
इन्दु करों से आलिंगन
बदले, विपुल चटुल लहरों ने
तारों से फेनिल चुम्बन;
अपनी ही छवि से विस्मित हो
जगती के अपलक लोचन
सुमनों की पलकों पर सुख से
करने लगे सलिल मोचन!

सौ - सौ साँसों में पत्रों की
उमड़ी हिमजल सस्मित भोर
मूक विहग कुल के कण्ठों से
उठी मधुर संगीत हिलोर;

विश्व विभव सी-बाल उषा की
उड़ा सुनहली अंचल छोर,
शत हर्षित ध्वनियों से आहत
बढ़ा गन्धवह नभ की ओर!

शून्य शिराओं में संसृति की
हुआ विचारों का संचार,
नारी के गम्भीर हृदय का
गूढ़ रहस्य बना साकार;

मिला लालिमा में लज्जा की
छिपा एक निर्मल संसार,
नयनों में निःसीम व्योम औ'
उरोरुहों में सुरसरि धार!

अम्बुधि के जल मे अथाह छवि,
अम्बर में उज्ज्वल आह्लाद,
ज्योत्स्ना में अपनी अजानता
मेघों में उदार सवाद;

विपुल कल्पनाएँ लहरों में,
तरु छाया में विरह विषाद,
मिली तृषा सरिता की गति में
तम मे अगम, गहन उन्माद!

सुमन हास मे, तुहिन अश्रु में,
मौन मुकुल, अलि गुंजन में,
इन्द्रधनुष मे, जलद पंख में,
अस्फुट बुद्बुद क्रन्दन में,

खद्योतो के मलिन दीप में,
शिशु की स्मिति, तुतलेपन में,
एक भावना, एक रागिनी,
एक प्रकाश मिला मन में!

मृगियो ने चंचल अवलोकन,
औ' चकोर ने निशाभिसार,
सारस ने मृदु ग्रीवालिंगन,
हंसों ने गति, वारि विहार;

पावस लास प्रमत्त शिखी ने
प्रमदा ने सेवा, शृंगार
स्वाति तृषा सीखी चातक ने,
मधुकर ने मादक गुंजार!

शून्य वेणु उर से तुम कितनी
छेड़ चुके तब से प्रिय तान,
यमुना की नीली लहरों में
बहा चुके कितने कल गान;

कहाँ मेघ औ हंस? किन्तु तुम
भेज चुके सन्देश अजान,

तुडा मरालों से मन्दर धनु
जुडा चुके तुम अगणित प्राण!
जीवन के सुख-दुख में सुरभित
कितने काव्य कुसुम सुकुमार,
करुण कथाओं की मृदु कलियाँ—
मानव उर के-से शृंगार—
कितने छन्दों में, तालों में,
कितने रागों में अविकार
फूट रहे नित, अहे विश्वमय!
तब से जगती के उद्गार!
विपुल कल्पना से, भावों से,
खोल हृदय के सौ-सौ द्वार,
जल, थल, अनिल, अनल, नभ में कर
जीवन को फिर एकाकार;
विश्व मंच पर हास अश्रु का
अभिनय दिखला बारम्बार,
मोह यवनिका हटा, कर दिया
विश्व रूप तुमने साकार!
हे त्रिलोकजित्! नव वसन्त की
विकच पुष्प शोभा सुकुमार
सहज, तुम्हारे मृदुल करों में
झुकी धनुष-सी है साभार;
वीर! तुम्हारी चितवन चंचल
विजय ध्वजा में मीनाकार
कामिनि की अनिमेष नयन छवि
करती नित नव बल संचार!
बजा दीर्घ साँसों की भेरी,
सजा सटे कुच कलशाकार,
पलक पाँवडे बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार;
बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार,
देव! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक दृग द्वार!
पाकर प्रबला के पलकों में
मदन! तुम्हारा प्रखर प्रहार,
जब निरस्त त्रिभुवन का यौवन
गिरकर प्रबल तृषा के भार,
रोमावलि की शर शय्या में
तडप तडप, करता चीत्कार,
हरते हो तब तुम जग का दुख
बहा प्रेम सुरसरि की धार!

ऐ त्रिनयन की नयन वह्नि के
तप्त स्वर्ण, ऋषियों के गान,
नवजीवन, षड्ऋतु परिवर्तन,
नव रसमय, जगती के प्राण!
ऐ असीम सौन्दर्य राशि में
हृत्कम्पन - से अन्तर्धान,
विश्व कामिनी की पावन छवि
मुझे दिखाओ, करुणावान!
(सितम्बर, १९२३)

मोह

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!
तज कर तरल तरंगों को,
इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू भंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग-सा मन?
भूल अभी से इस जग को!
कोयल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल,
कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ सजनि! श्रवन?
भूल अभी से इस जग को!
ऊषा सस्मित किसलय दल,
सुधारश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन?
भूल अभी से इस जग को!
(जनवरी, १९१८)

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन!
सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धार;

न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन भार
गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन !

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कण्ठ हिलोर
मिला देती भू नभ के छोर;
न जाने, अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन !

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार;
न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल
तडप, बन जाते है गुंजार,
न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में, श्रमित अपार,
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण;
न जाने मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया जग में मौन !

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,

सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!
(नवम्बर, १९२३)

वसन्त श्री

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही मा!
वह अपनी वय बाली में?
सजा हृदय की थाली में—
क्रीडा, कौतूहल, कोमलता,
मोद, मधुरिमा, हास, विलास,
लीला, विस्मय, अस्फुटता भय,
स्नेह, पुलक, सुख, सरल हुलास,
ऊषा की मृदु लाली में—
किसका पूजन करती पल-पल
बाल चपलता से अपनी?
मृदु कोमलता से वह अपनी,
सहज सरलता से अपनी?
मधुऋतु की तरु डाली में—
रूप, रंग, रज, सुरभि, मधुर मधु,
भर-भर मुकुलित अंगों में
मा! क्या तुम्हें रिझाती है वह?
खिल-खिल बाल उमंगों में,
हिल मिल हृदय तरंगों में?
(मार्च, १९१८)

स्वप्न

बालक के कम्पित अधरों पर
किस अतीत स्मृति का मृदु हास
जग की इस अविरत निद्रा का
करता नित रह-रह उपहास?
उन स्वप्नों की स्वर्ण सरित का
सजनि! कहाँ शुचि जन्मस्थान,
मुसकानों में उछल-उछल मृदु
बहती वह किस ओर अजान?
किन कर्मों की जीवित छाया
उस निद्रित विस्मृति के संग

आँखमिचौनी खेल रही वह,
किन भावों की गूढ़ उमंग ?
मुँदे नयन पलकों के भीतर
किस रहस्य का सुखमय चित्र
गुप्त वंचना के मादक कर
खींच रहे सखि ! स्वर्ण विचित्र ?

निद्रा के उस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया
दृग पलकों मे विचर रही, या
वन्य देवियों की माया ?
नयन नीलिमा के लघु नभ में
अलि ! किस सुखमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी बादल - सा
बदल रहा निज रूप अपार ?

मुकुलित पलकों के प्यालों में
किस स्वप्निल मदिरा का राग
इन्द्रजाल - सा गूँथ रहा नव,
किन पुष्पों का स्वर्ण पराग ?
किन इच्छाओं के पंखों मे
उड - उड ये आँखें अनजान
मधु बालों - सी, छाया - वन की
कलियों का मधु करती पान ?

मानस की फेनिल लहरों पर
किस छवि की किरणें अज्ञात
रजत स्वर्ण मे लिखती अविदित
तारक लोकों की शुचि बात ?
किन जन्मों की चिर संचित सुधि
बजा सुप्त तन्त्री के तार
नयन नलिन मे बँधी मधुप - सी
करती मर्म मधुर गुंजार ?

पलक यवनिका के भीतर छिप,
हृदय मंच पर छा छविमय,
सजनि ! अलस मे मायावी शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय ?
मीलित नयनों का अपना ही
यह कैसा छायामय लोक,
अपने ही सुख - दुख, इच्छाएँ
अपनी ही छवि का आलोक !

मौन मुकुल में छिपा हुआ जो
रहता विस्मय का संसार
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने
वह किसका शुचि शयनागार !

प्रथम स्वप्न उसमें जीवन का
रहता चिर अविकच, अज्ञान,
जिसे न चिन्ता छू पाती औ'
जो केवल मृदु अस्फुट गान!

जब शशि की शीतल छाया में
रुचिर रजत किरणें सुकुमार
प्रथम खोलतीं नव कलिका के
अन्तःपुर के कोमल द्वार

अलि बाला में सुन तब सहसा—
'जग है केवल स्वप्न असार,'
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार!

हिम जल बन, तारक पलकों से
उमड़ मोतियों-सा अवदात,
सुमनों के अधखुले दृगों में
स्वप्न लहरते जो निस प्रात;

उन्हें सहज अंचल में चुन-चुन,
गूँथ उषा किरणों में हार
क्या अपने उर के विस्मय का
तूने कभी किया शृंगार?

विजन नीड़ में चौंक अचानक
विटप बालिका पुलकित गात
निज सुवर्ण स्वप्नों की गाथा
गा-गा कर कहती अज्ञात,

सजनि! कभी क्या सोचा तूने
तरुओं के तम में चुपचाप,
दीप शलभ दीपों को चमका
करते जो मृदु मौनालाप?

जलनिधि की मृदु पुलकावलि-सी
सलिल बालिकाएँ सुकुमार
स्वप्न सिन्धु-सी उमड़, अनन्त के
बतलातीं क्या भेद अपार?

अलि! किस स्वप्नों की भाषा में
इंगित करते तरु के पात,
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक स्वप्नों की रात?

दिनकर की अन्तिम किरणों ने
उस नीरव नभ के ऊपर
स्वप्नों का जो स्वर्ण जाल है
फैलाया सुखमय, सुन्दर;

विहग बालिका बन हम दोनों,
बैठ वहाँ पल-भर एकान्त,

चल सखि ! स्वप्नों पर कुछ सोचें,
दूर करें निज भ्रान्ति नितान्त !

सजनि ! हमारा स्वप्न सदन क्यों
सिहर उठा सहसा थर्-थर् !
किस अतीत के स्वप्न अनिल में
गूंज उठे, कर मृदु मर् - मर् !

विरस डालियों से यह कैसा
फूट रहा हा ! रुदन मलिन,—
'हम भी हरी - भरी थी पहिले,
पर अब स्वप्न हुए वे दिन !'

पत्रों के विस्मित अधरों से
संसृति का अस्फुट संगीत
मौन निमन्त्रण भेज रहा वह
अन्धकार के पास सभीत !

सघन द्रुमों में झूम रहा अब
निद्रा का नीरव निःश्वास,
मूंद रहा घन अन्धकार में
रह - रह अलस पलक आकाश !

जग के निद्रित स्वप्न सजनि ! सब
इसी अन्ध तम में बहते,
पर जागृति के स्वप्न हमारे
सुप्त हृदय ही में रहते !

अह, किस गहन अन्धकार में
डूब रहा धीरे संसार,
कौन जानता है, कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न असार !

अलि ! क्या कहती है, प्राची में
फिर उज्ज्वल होगा आकाश ?
पर, मेरे तम पूर्ण हृदय में
कौन भरेगा प्रकृत प्रकाश !
(नवम्बर, १९१९)

मुसकान

कहेंगे क्या मुझसे सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान ?
रोकने पर भी तो सखि ! हाय,
नहीं रुकती है यह मुसकान !

विपिन में पावस के-से दीप
सुकोमल, सहसा, सौ - सौ भाव
सजग हो उठते नित उर बीच,
नहीं रख सकती तनिक दुराव !

कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते है मुझे निदान!

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव-नव भाव,
कभी बन हिमजल की लघु बूंद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण,
नही रुकती तब यह मुसकान!

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढाकर लहरों मे निज हाथ
बुलाते, फिर, मुझको उस पार;
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान!
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नहीं रुकती तब यह मुसकान!
(अगस्त, १९२२)

विश्व वेणु

हाँ, हम मारुत के मृदुल झकोर,
नील व्योम के अचल छोर;
बाल कल्पना-से अनजान
फिरते रहते हैं निशि भोर;
उर-उर के प्रिय, जग के प्राण!
हरियाली से ढँक मृदु गात,
कानों मे भर सौ-सौ बात;
हमे झुलाते है अविराम
विश्व पुलक-से तरु के पात,
कुसुमित पलनों में अभिराम!

चारु नभचरो-से वय हीन,
अपनी ही मृदु छवि में लीन,
कर सहसा शीतल भ्रू पात,
चंचलपन ही में आसीन,
हम पुलकित कर देते गात!
वन कुंजों में सुकुमार,
(भौरों के सुरभित अभिसार)
आ, जा, खोल, फेर, स्वच्छन्द
पत्रों के बहु छिद्रित द्वार,
हम क्रीडा करते सानन्द!

चूम मौन कलियों का मान,
खिला मलिन मुख में मुसकान,

गूढ़ स्नेह का-सा निःश्वास
पा कुसुमों से सौरभ दान,
छा जाते हम अवनि अकास!

चंचल कर सरसी के प्राण,
सौ-सौ स्वप्नों-सी छबिमान,
लहरों में खिल सानुप्राम,
गा वारिधि छन्दों में गान,
करते हम ज्योत्स्ना का लास!

छेड़ वेणु वन में आलाप,
जगा रेणु के लोहित साँप;
भय से पीले तरु के पात
भगा बावलों-से बे-आप,
करते नित नाना उत्पात!

अस्थि हीन जलदों के बाल,
खींच मींच औ' फेंक, उछाल,
रचते विविध मनोहर रूप,
मार जिला उनको तत्काल,
फैला माया जाल अनूप!

निज अविरल गति में उड्डीन,
उच्छृंखलता में स्वाधीन;
वातायन में आ द्रुत भोर
लेते मृदु पलकों को छीन
हम सुखमय स्वप्नों के चोर!

चुन कलियों की कोमल साँस
किसलय अधरों का हिम हास;
चिर अतीत स्मृति-सी अनजान
ला सुमनों की मृदुल सुवास
पिघला देते तन, मन, प्राण!

हर सुंदर में अस्फुट तान,
आकुल कर पथिकों के कान,
छिद्र वेणु के-से भंडार
हम जग के सुख-दुखमय गान
पहुँचाते अनन्त के द्वार

हम नभ की निस्सीम हिलोर
दुला दिशाओं के दस छोर
नव जीवन कम्पन संचार
करते जग में चारों ओर,
अमर, अगोचर, औ' अविकार!

(मार्च, १९२३)

निर्झर गान

शुभ्र निर्झर के झर् - झर् पात !
कहाँ पाया वह स्वर्गिक गान ?
श्रृंग के निर्मल नाद !
स्वर्गों का यह सन्धान ?
विजनता का - सा विशद विषाद,
समय का - सा संवाद,
कर्म का - सा अजस्र आह्वान
गगन का - सा आह्लाद;
मूक गिरिवर के मुखरित ज्ञान !
भारती का - सा अक्षय दान ?
सितारों के हैं गीत महान्
मोतियों के अमूल्य, अम्लान,
फेन के अस्फुट, अचिर, वितान,
ओस के सरल, चटुल, नादान,
आँसुओं के अविरल, अनजान,
बालुका के गतित्राण;
कठिन उर के कोमल उद्‌घात !
अमर है यह गान्धर्व विधान !
प्रणति में है निर्वाण,
पतन में अभ्युत्थान,
जलद ज्योत्स्ना के गात !
अटल हो यदि चरणों में ध्यान,
शिलोच्चय के गौरव संघात,
विश्व है कर्म प्रधान !
(अगस्त, १९२२)

छाया

कौन कौन तुम परिहृत वसना,
म्लान मना, भू पतिता-सी,
वात - हता विच्छिन्न लता-सी,
रति श्रान्ता व्रज वनिता-सी ?
नियति वंचिता, आश्रय रहिता,
जर्जरिता, पद दलिता - सी,
धूलि धूसरित मुक्त कुन्तला,
किसके चरणों की दासी ?
कहो, कौन हो दमयन्ती - सी
तुम तरु के नीचे सोयी ?

हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !
पीले पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति-सी, मूर्छा-सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह मलिन, दुख विधुरा-सी ?

गूढ़ कल्पना-सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय-सी,
बच्चों के तुतले भय-सी;
भू पलकों पर स्वप्न जाल-सी,
स्थल-सी, पर, चंचल जल-सी,
मौन अश्रुओं के अंचल-सी,
गहन गर्त में समतल-सी ?

तुम पथ श्रान्ता द्रुपद सुता-सी
कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात
तुहिन अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद वर्ष दिन-रात ?
तरुवर की छायानुवाद-सी
उपमा-सी, भावुकता-सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटी छँटी नव कविता-सी;

पछतावे की परछाईं-सी
तुम भू पर छायी हो कौन ?
दुर्बलता-सी, अँगड़ाई-सी,
अपराधी-सी भय से मौन !
मदिरा की मादकता-सी औ'
वृद्धावस्था की स्मृति-सी,
दर्शन की अति जटिल ग्रन्थि-सी
शैशव की निद्रित स्मिति-सी,

आशा के नव इन्द्रजाल-सी,
सजनि ! नियति-सी अन्तर्धान,
कहाँ कौन तुम तरु के नीचे
भावी-सी हो छिपी अजान ?
चिर अतीत की विस्मृत स्मृति-सी,
नीरवता की-सी झंकार,
आँखमिचौनी-सी असीम की,
निर्जनता की-सी उद्‌गार,

परियों की निर्जल सरसी-सी,
वन्य देवियाँ जहाँ विहार
करतीं छिप-छिप छाया जल में,
अनिल वीचियों में सुकुमार !

तुम त्रिभुवन के नयन चित्र-सी
यहाँ कहाँ से उतरी प्रात,
जगती की नेपथ्य भूमि-सी,
विश्व विदूषक - सी अज्ञात !

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार ?

निर्जनता के मानस पट पर
—बार-बार भर ठण्ढी साँस—
क्या तुम छिपकर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथ पर
फैला कर अपना अंचल,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?

पत्रों के अस्फुट अधरों से
संचित कर सुख-दुख के गान,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी
इच्छाएँ सब अल्प, महान ?

कालानिल की कुंचित गति से
बार - बार कम्पित होकर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर

किस अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रही हो कोमलतर,
भग्न भावना, विजन वेदना,
विफल लालसाओं - से भर ?

ऐ अवाक् निर्जन की भारति,
कम्पित अधरों - से अनजान
मर्म मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान !

ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया तन, छाया लोक,
मुझको भी दे दो मायाविनि,
उर की आँखों का आलोक !

ज्योतिर्मय शत नयन खोल नित,
पुलकित पलक पसार अपार,
श्रान्त यात्रियों का स्वागत क्या
करती हो तुम बारम्बार ?

थके चरण चिह्नों को अपनी
नीरव उत्सुकता से भर,

दिखा रही हो अथवा जग को
पर सेवा का मार्ग अमर ?
कभी लोभ-सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति - सी हो फिर पीन,
क्या संसृति की अचिर भूति तुम
सजनि ! नापती हो स्थिति हीन ?
श्रमित, तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन, मलीन ?
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि,
विश्व वेदना में तल्लीन !
दिनकर कुल में दिव्य जन्म पा
बढ कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साडी मे
ढँक कर अपने कोमल अंग
सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर सेवा रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ श्रान्ति अपार !
हे सखि ! इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढँककर,
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षणभर !
चूर्ण शिथिलता - सी अँगडा कर
होने दो अपने मे लीन,
पर पीडा से पीडित होना
मुझे सिखा दो, कर मद हीन !

× × × ×

गाओ, गाओ विहग बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल गान,
मैं छाया मे बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर मे कर लूँ स्नान !
—हाँ सखि ! आओ, बाँह खोल हम
लग कर गले, जुडा लें प्राण,
फिर तुम नभ मे, मै प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान !
(दिसम्बर, १९२०)

शिशु

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?
अये अभिनव, अभिराम !

मृदुलता ही है बस आकार,
मधुरिमा छवि, शृंगार;
न अंगों मे है रंग उभार,
न मृदु उर में उद्गार;
निरे साँसों के पिंजर द्वार!
कौन हो तुम अकलंक, अकाम?

कामना-से मा की सुकुमार
स्नेह में चिर साकार;
मृदुल कुड्मल-से जिसे न ज्ञात
सुरभि का निज संसार;
स्रोत-से नव अवदान,
स्खलित अविदित पथ पर अविचार,
कौन तुम गूढ, गहन, अज्ञात?
अहे निरुपम, नवजात!

वेणु-से जिसकी मधुमय तान
दुरी हो अन्तर मे अनजान;
विरल उडु-से सरसी में तात!
उतर हो जिसका वासस्थान;
लहर-से लघु, नादान,
कम्प अम्बुधि की एक महान;
विमल हिमजल-से एक प्रभात
कहाँ से उतरे तुम छविमान!

गीति-से जीवन में लयमान,
भाव जिसके अस्पष्ट, अजान;
सुरभि-से जिसे विहान
उड़ा लाया हो प्राण;
स्वप्न-से निद्रित सजग समान,
सुप्ति मे जिसे न अपना ज्ञान,
रश्मि-से शुचि रुचिमान
वीचि मे पड़ी वितान:
स्वीय स्मिति-से ही हे अज्ञान
दिव्यता का निज तुम्हे न ध्यान!

खेलती अधरो पर मुसकान
पूर्व सुधि-सी अम्लान,
सरल उर की-सी मृदु आलाप;
अनवगत जिसका गान;
कौन-सी अमर गिरा यह, प्राण!
कौन-से राग, छन्द, आख्यान?
स्वप्न लोकों मे किन चुपचाप
विचरते तुम इच्छा गतिवान!

न अपना ही, न जगत का ज्ञान,
न परिचित है निज नयन, न कान

दीखता है जग कैसा तात !
नाम, गुण रूप अजान ?
तुम्ही - सा हूँ मैं भी अज्ञात,
वत्स ! जग है अज्ञेय महान !
(नवम्बर, १९२३)

विसर्जन

अनुपम ! इस सुन्दर छवि से
मैं आज सजा लूं निज मन,
अपलक अपार चितवन पर
अर्पण कर दूं निज यौवन !
इस मन्द हास में बह कर
गा लूं मैं बेसुर—'प्रियतम',
बस इस पागलपन में ही
अवसित कर दूं निज जीवन !
नव कुसुमों में छिप - छिप कर
जब तुम मधु पान करोगे,
फूली न समाऊँगी मैं
उस सुख से हे जीवन धन !
यदि निज उर के काँटों को
तुम मुझे न पहनाओगे,
उस विरह वेदना में मैं
नित तड़पूंगी कोमल तन !
अवलोक अल्पता मेरी
उपहार न चाहे दो तुम,
पर कुपित न होना मुझ पर
दो चाहे हार दया घन !
तुम मुझे भुला दो मन से
मैं इस भूल जाऊँगी,
पर वंचित मुझे न रखना
अपनी सेवा में पावन !
मैं सखियों से कह आऊँ—
प्रस्तुत है पद की दासी ;
वे चाहें मुझ पर हँस लें
मै खड़ी रहूँगी मनयन !
(जून, १९१९)

नारी रूप

घने लहरे रेशम के बाल—
धरा है सिर में मैंने, देवि !

तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार,
स्वर्ण का सुरभित भार !
मलिन्दों से उलझी गुंजार,
मृणालों से मृदु तार;
मेघ से सन्ध्या का संसार
वारि से ऊर्मि उभार;
—मिले हैं इन्हें विविध उपहार,
तरुण तम से विस्तार !

स्नेहमयि ! सुन्दरतामयि !

तुम्हारे रोम - रोम से, नारि !
मुझे है स्नेह अपार;
तुम्हारा मृदु उर ही, सुकुमारि !
मुझे है स्वर्गागार !
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता, ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान
शक्ति, पूजन सम्मान;
अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान !

स्वप्नमयि ! हे मायामयि !

तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ' हास,
सृष्टि के उर की साँस;
तुम्ही इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास;
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान;
देवि ! मा ! सहचरि ! प्राण !

(मई, १९२२)

नक्षत्र

ऐ निशि जाग्रत्, वासर निद्रित,
ऐ अनन्य छबि के समुदय,
स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय,
अश्रु हास, अनिमेष हृदय !
ऐ अनादि के वृत्त अनन्वय,
ऐ आतुर उर के सम्मान !
अब मेरी उत्सुक आँखों से
उमडो,—दिवस हुआ अवसान !

ऐ अनन्त की अगम कल्पना,
ऐ अशब्द भारति अविषय,

आदि नग्न सौन्दर्य निरामय,
मुग्ध सृष्टि की चरम विजय!

स्वर्ण समय के स्मारक सुखमय,
संसृति के अविदित आख्यान,
अब पिपीलिका के विवरों से
निकलो, हे असंख्य, अम्लान!

ऐ अज्ञात देश के नाविक,
ऐ अनन्त के हृत्कम्पन,
नव प्रभात के अस्फुट अंकुर,
निद्रा के रहस्य कानन!

ऐ सुखमय तब, आशामय अब,
ऐ मानस लोचन रुचिमान,
जागो हे, हाँ, धीरे, धीरे,
खोलो अलसित पलक सुजान!

ऐ अविदित युग के मुद्राकर,
ऐ विभूति के भग्न भवन,
अहे पुरातन हर्षोज्वल दिन,
ऐ नूतन निशि अश्रु नयन!

ऐ शाश्वत स्मिति, ऐ ज्योतिन स्मृति
स्वप्नों के गति-हीन विमान,
गाओ हे, हाँ, व्योम विटप से
गाओ खग! निज नीरव गान!

ऐ असंख्य भाग्यों के शासक,
ऐ असीम छबि के सावन,
ऐ अरण्य निशि के आश्वासन,
विश्व सुकवि के सजग नयन!

ऐ सुदूरता के सम्मोहन,
ऐ निर्जनता के आह्वान,
काल कुहू, मेरा दुर्गम मग
दीपित कर दो, हे द्युतिमान!

ऐ गम्भीर गन्धर्व साम ध्वनि,
व्योम वेणु के नीरव लय,
सजग दिगम्बर के चिर ताण्डव,
सुप्त विश्व के जीवाशय!

सूर सिन्धु, तुलसी के मानस,
मीरा के उल्लास अजान,
मेरे अधरों पर भी अंकित
कर दो यह स्वर्गिक मुसकान!

अहे अनभ्र गगन के जल कण,
ज्योति बीज, हिमजल के घन,
बीते दिवसों की समाधि हे,
प्रातः विस्मृत स्वप्न सघन!

अग्नि शस्य, रवि के चिह्नित पग,
म्लान दिवस के छिन्न वितान,
कह दो हे शशि के प्रिय सहचर,
निशानाथ दें दर्शन दान !

ऐ नश्वरता के लघु बुद्बुद,
काल चक्र के विद्युत् कन,
ऐ स्वप्नों के नीरव चुम्बन,
तुहिन दिवस, आकाश सुमन !

नित वसन्त, निशि के नन्दन वन,
भावी दिवसों के जल - यान,
खड़ी कुमुदिनी - सी मैं कब से
नयन मूँद करती हूँ ध्यान !

अहे तिमिर चरते शशि शावक,
मूर्छित आतप, शीतानल,
दिवस स्रोत से दलित उपल दल,
स्वप्न नीड़, तम ज्योति धवल !

इन्दु दीप से दग्ध शलभ शिशु,
शुचि उलूक, अब हुआ विहान,
अन्धकारमय मेरे उर में
आओ, छिप जाओ अनजान !

(मई, १९२८)

सोने का गान

कहो हे प्रमुदित विहग कुमारि,
कहाँ से आया यह प्रिय गान ?
तुहिन वन में छायी, सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल - सी तान !

उषा की कनक मदिर मुसकान
उसी में था क्या यह अनजान ?
भूल उठते ही तुमको आज
दिलाया किसने इसका ध्यान !

स्वर्ण पंखों की विहग कुमारि,
अमृत है यह पुलकों का गान !

विटप में थी तुम छिपी विहान,
विकल क्यों हुए अचानक प्राण ?...
छिपाओ अब न रहस्य, कुमारि,
लगा यह किसका कोमल बाण ?

विजन वन में तुमने, सुकुमारि,
कहाँ पाया यह मेरा गान ?

स्वप्न में आकर कौन सुजान
फूँक - सा गया तुम्हारे कान ?

कनक कर बढ़ा-बढ़ाकर प्रात
कराया किसने यह मधु पान ?
मुझे लौटा दो, विहग कुमारि,
सजल मेरा सोने का गान !
(मार्च, १९२२)

निर्झरी

यह कैसा जीवन का गान
अलि, कोमल कल मल टल मल ?
अरी शैल बाले नादान,
यह अविरल कल-कल छल-छल ?

झर मर कर पत्रों के पास,
रण मण रोड़ों पर सायास,
हँस-हँस सिकता से परिहास
करती हो अलि, तुम झलमल !

स्वर्ण बेलि-सी खिली विहान,
निशि में तारों की-सी यान;
रजत तार-सी शुचि रुचिमान
फिरती हो रंगिणि, रल मल !

दिखा भंगिमय भृकुटि विलास
उपलों पर बहु रंगी लास,
फैलाती हो फेनिल हास,
फूलों के कूलों पर चल !

अलि, यह क्या केवल दिखलाव,
मूक व्यथा का मुखर भुलाव ?
अथवा जीवन का बहलाव ?
सजल आँसुओं की अंचल !

वही कल्पना है दिन-रात,
बचपन औ' यौवन की बात;
सुख की या दुख की ? अज्ञात !
उर अधरों पर है निर्मल !

सरल सलिल की-सी कल तान,
निखिल विश्व से निपट अजान,
विपिन रहस्यों की आख्यान,
गूढ़ बात है कुछ कल मल !
(सितम्बर, १९२२)

जीवन यान

अहे विश्व ! ऐ विश्व व्यथित मन !
किधर बह रहा है यह जीवन ?

यह लघु पोत, पात, तृण, रज कण,
अस्थिर-भीरु-वितान,
किधर ?—किस ओर ?—अछोर,—अजान,
डोलता है यह दुर्बल यान ?
मूक बुद्‌बुदों-से लहरों में
मेरे व्याकुल गान
फूट पड़ते निःश्वास समान,
किसे है हा ! पर उनका ध्यान !
कहाँ डुरे हो मेरे ध्रुव !
हे पथ-दर्शक ! द्युतिमान !
दृगों से बरसा यह अपिधान
देव, कब दोगे दर्शन दान !
(अगस्त, १९२३)

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के प्रिय जीवनधर;
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर;
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर !
जलाशयों मे कमल दलों - सा
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर;
लघु लहरों के चल पलनों में
हमें झुलाता जब सागर,
वही चील - सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर !
भूमि गर्भ में छिप विहंग-से,
फैला कोमल रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस, छुड़ा जड़ पंक;
विपुल कल्पना - से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अंक,
हम फिर क्रीडा कौतुक करते,
छा अनन्त उर में निःशंक !
कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,

मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते;
कभी कीश-से अनिल डाल में
नीरवता से मुँह भरते,
वृहद् गृद्ध-से विहग छदों को
बिखराते नभ में तरते!

कभी अचानक, भूतों का-सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क, कड़क, जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;
फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में,
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार!

अनिल विलोड़ित गगन सिन्धु में
प्रलय बाढ़-से चारों ओर
उमड़-उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;
बात-बात में, तूल तोम-सा
व्योम विटप से झटक, झकोर,
हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
दल बल युत घुस वातुल चोर!

बुद्‌बुद द्युति तारक दल तरलित
तम के यमुना जल में श्याम
हम विशाल जम्बाल जाल-से
बहते हैं अमूल, अविराम;
दमयन्ती-सी कुमुद कला के
रजत करों में फिर अभिराम
स्वर्ण हंस-से हम मृदु ध्वनि कर,
कहते प्रिय सन्देश ललाम!

दुहरा विद्युद्दाम चढ़ा द्रुत,
इन्द्रधनुष की कर टंकार;
विकट पटह-से निर्घोषित हो,
बरसा विशिखों-सा आसार;
चूर्ण-चूर्ण कर वज्रायुध से
भूधर को अति भीमाकार
मदोन्मत्त वासव सेना-से
करते हम नित वायु विहार!

स्वर्ण भृंग तारावलि वेष्टित,
गुंजित, पुंजित, तरल, रसाल,
मधुगृह-से हम गगन पटल में,
लटके रहते विपुल विशाल!

जालिक - सा आ अनिल, हमारा
नील सलिल में फैला जाल,
उन्हें फँसा लेता फिर सहसा
मीनों के - से चंचल बाल !

व्योम विपिन में जब वसन्त - सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल तम के - से पात;

उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात,
फैल स्वर्ण पंखों - से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात !

सन्ध्या का मादक पराग पी,
झूम मलिन्दों - से अभिराम,
नभ के नील कमल में निर्भय
करते हम विमुग्ध विश्राम;

फिर बाड़व - से सान्ध्य सिन्धु में
सुलग, सोख उसको अविराम,
बिखरा देते तारावलि - से
नभ में उसके रत्न निकाम !

धीरे - धीरे संशय - से उठ,
बढ़ अपयश - से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड मोह - से
फैल लालसा - से निशि भोर;

इन्द्रचाप - सी व्योम भृकुटि पर
लटक मौन चिन्ता - से घोर
घोष भरे विप्लव भय - से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर !

पर्वत - से लघु धूलि, धूलि - से
पर्वत बन, पल में, साकार—
काल चक्र - से चढ़ते - गिरते
पल में जलधर, फिर जलधार,

कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव भूति ही - से निस्सार !

नग्न गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का - सा जाल,
अम्बर के उडते पतंग को
उलझा लेते हम तत्काल;

फिर अनन्त उर की करुणा से
त्वरित द्रवित होकर, उत्ताल—

आतप में मूर्छित कलियों को
जाग्रत् करते हिम जल डाल !

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि वसन, वसुधा के मूल;

नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल !

व्योम वेलि, ताराओं की गति,
चलते - अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तन्द्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;

पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल अनल के विरल वितान,
व्योम पलक, जल खग, बहते-थल
अम्बुधि की कल्पना महान !

× × × ×

धूम धुंआरे, काजरकारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के बीर बहादुर,
पावस के उड़ते फणिधर;

चमक - झमकमय मन्त्र वशीकर,
छहर - घहरमय विष सीकर,
स्वर्ग सेतु - से इन्द्रधनुषधर,
कामरूप घनश्याम अमर !

(अप्रैल, १९२२)

स्मृति

(उच्छ्वास की बालिका के प्रति)

आँख में 'आँसू' भर अनजान,
अधर पर धर 'उच्छ्वास',
समाती है जब उर में प्राण !
तुम्हारी सुधि की सुरभित सांस;
डुबा देता है मुझे सदेह
सूर सागर वह स्नेह !

रूप का राशि-राशि वह रास,
दृगों की यमुना श्याम;

तुम्हारे स्वर का वेणु विलास,
हृदय का वृन्दा धाम,
देवि मथुरा था वह आमोद,
दैव ! व्रज, अह, यह विरह विषाद !
आह, वे दिन ! —द्वापर की बात !
मूर्ति—! भारत को ज्ञात !
(नवम्बर, १९२२)

विश्वछवि

मुसकुराते गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा बचपन ?—
सुभग, मेरा भोला बचपन ?
ढुलकते हिमजल-से लोचन,
अधखिला तन, अखिला मन;
धूलि में भरा स्वभाव दुकूल,
मृदुल छवि, पृथुल सरलपन;
स्व-विस्मित-से गुलाब के फूल,
तुम्हीं-सा था मेरा बचपन !
रँगीले मृदु गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा यौवन ?—
प्राण, मेरा प्यारा यौवन ?
रूप का खिलता हुआ उभार,
मधुर मधु का व्यापार;
चुभे उर में सौ-सौ मृदु शूल,
खुले उत्सुक दृग द्वार;
हृदय ही-से गुलाब के फूल,
तुम्हीं-सा है मेरा यौवन !
सहज प्रमुदित गुलाब के फूल !
कहाँ पाया ऐसा जीवन ?—
सुहृद, ऐसा स्वर्गिक जीवन !
कँटीली जटिल डाल में वास,
अधर आँखों में हास;
झूलना झोंकों के अनुकूल,
हृदय में दिव्य विकास;
सजग कवि-से गुलाब के फूल,
तुम्हीं-सा हो मेरा जीवन !
मलिन, मुरझे गुलाब के फूल !
सुकृति ही है, हाँ, आश्वासन,
सुमन, बस अन्तिम आश्वासन !
किया तुमने सुरभित उद्यान,
दिया उर से मधुदान;

मिला है उन्हें आज वह मूल,
लिया जिससे आधान;
स्वप्न ही - से गुलाब के फूल,
नव्य जीवन है आश्वासन !

धूलि धूसर गुलाब के फूल !
यही हैं पीला परिवर्तन,—
प्रतनु, यह पार्थिव परिवर्तन !
नवल कलियों में वह मुसकान
खिलेगी फिर अनजान;
सभी दुहरायेंगी यह गान,—
जन्म का है अवसान;
विश्व छवि-से गुलाब के फूल !
करुण है पर यह परिवर्तन !

(अप्रैल, १९२२)

आकांक्षा

तुहिन बिन्दु बनकर सुन्दर
नभ से भू पर समुद उतर,
मा, जब तू सस्मित सुमनों को
आभूषित करती नित प्रात,
ऋतुपति के लीलास्थल में;
मैं न चाहती तब वे कण
हों मेरे मुक्ताभूषण,
पर, मेरे ही स्नेह-करों से
सुमन सुसज्जित हों वे मात,
फूले तेरे अंचल में !

जलद यान में फिर लघुभार,
जब तू जग को मुक्ताहार
देती है उपहार रूप मा,
सुन चातक की आर्त पुकार,
जगती का करने उपकार;
मैं न चाहती तब वह हार
करे, जननि, मेरा शृंगार,
पर मैं ही चातकिनी बनकर
तुझे पुकारूँ बारम्बार,
हरने जग का ताप अपार !

(अक्टूबर, १९२२)

बालापन

चित्रकार ! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अंचल में
चित्रित कर दोगे पावन ?

आज परीक्षा तो लो अपनी
कुशल लेखनी की ब्रह्मन् !
उसे याद आता है क्या वह
अपने उर का भाव रतन ?
जब कि कल्पना की तन्त्री में
खेल रहे थे तुम, करतार !
तुम्हें याद होगी, उससे जो
निकली थी अस्फुट झंकार ?

हाँ, हाँ, वही, वही, जो जल, थल,
अनिल, अनल, नभ मे उस बार
एक बालिका के क्रन्दन में
ध्वनित हुई थी, बन साकार;
वही प्रतिध्वनि निज बचपन की
कलिका के भीतर अविकार
रज में लिपटी रहती थी नित,
मधुबाला की-सी गुंजार;

यौवन के मादक हाथो ने,
उस कलिका को खोल अजान,
छीन लिया हा, ओस बिन्दु-सा
मेरा मधुमय, तुतला गान !
अहे विश्वसृज ! पुनः गूंथ दो
वह मेरा बिखरा संगीत
मा की गोदी का थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत !

वह ज्योत्स्ना मे हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय संसार,
तारों के विस्मय मे विकसित
विपुल भावनाओ का हार;
सरिता के चिकने उपलो-सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन,
वह अजानता की सुन्दरता,
वृद्ध विश्व का रूप नवीन;

अहो कल्पनामय, फिर रच दो
वह मेरा निर्भय अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह मा के
दूध से धुली मृदु मुसकान !

मेरा चिन्ता - रहित, अनलसित,
वारि बिम्ब - सा विमल हृदय,
इन्द्रचाप - सा वह बचपन के
मृदुल अनुभवों का समुदय;
स्वर्ण गगन - सा, एक ज्योति से
आलिंगित जग का परिचय,
इन्दु विचुम्बित बाल जलद - सा
मेरी आशा का अभिनय;
इस अभिमानी अंचल में फिर
अंकित कर दो, विधि ! अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर
करुण, लगा दो मेरे अंक !

विहग बालिका का-सा मृदु स्वर,
अर्ध खिले, नव कोमल अंग,
क्रीड़ा कौतूहलता मन की,
वह मेरी आनन्द उमंग;
अहो दयामय ! फिर लौटा दो
मेरी पद प्रिय चंचलता,
तरल तरंगों - सी वह लीला,
निर्विकार भावना लता !

धूलभरे, घुँघराले, काले,
भय्या को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर चुम्बित मेरे
गोरे, गोरे सस्मित गाल;
वह काँटों में उलझी साड़ी,
मंजुल फूलों के गहने,
सरल नीलिमामय मेरे दृग
अस्त्र - हीन, संकोच सने;

उसी सरलता की स्याही से
सदय, इन्हें अंकित कर दो,
मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालापन भर दो !
हा ! मेरे बचपन - मे कितने
बिखर गये जग के शृंगार !
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी जग की शोभालंकार;

जिनकी निर्भयता विभूति थी,
सहज सरलता शिष्टाचार,
औ' जिनकी अबोध पावनता
थी जग के मंगल की द्वार !

हे विधि, फिर अनुवादित कर दो
उसी सुधा स्मिति में अनुपम
मा के तन्मय उर से मेरे
जीवन का तुतला उपक्रम !
(मार्च, १९१९)

विश्व व्याप्ति

स्पृहा के विश्व, हृदय के हास !
कल्पना के सुख, स्नेह विकास !
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल ?
अनिल में ? बनकर ऊर्मिल गान,
स्वर्ण किरणों में कर मुसकान,
झूलते हो झोंकों की झूल ?
फूल ! तुम कहाँ रहे अब फूल ?
अवनि में ? बन अशोक का फूल,
बिलम अलि ध्वनि में, लिपटा धूल,
गये क्या मेरी गोदी भूल ?
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल ?
सलिल में ? उछल-उछल, हिल-हिल,
लहरियों मे सलील खिल - खिल,
थिरकते, गह-गह अनिल दुकूल ?
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल ?
अनल में ? ज्वाला बन पावन,
दग्ध कर मोह मलिन बन्धन,
जला सुधि मेरी चुके समूल ?
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल ?
गगन में ? बन शशि कला सकल,
देख नलिनी - सी मुझे विकल,
बहाते ओस अश्रु या स्थूल ?
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल ?
स्वप्न थे तुम, मैं थी निद्रित,
सुकृत थे तुम, मैं हूँ कलुषित,
पा चुके तुम भव सागर कूल,
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल ?
(जुलाई, १९१९)

याचना

बना मधुर मेरा जीवन !
नव-नव सुमनों से चुन-चुनकर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण,

मेरे उर की मृदु कलिका में
भर दे, कर दे विकसित मन !

बना मधुर मेरा भाषण !
वंशी-से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ' सरस वचन,
जैसा - जैसा मुझको छेड़ें,
बोलूं अधिक मधुर, मोहन !
जो अकर्ण अहि को भी सहसा
कर दे मन्त्र - मुग्ध, नत फन,
रोम - रोम के छिद्रों से मा
फूटे तेरा राग गहन !
बना मधुर मेरा तन, मन !

(जनवरी, १९१९)

स्याही की बूँद

गीत लिखती थी मैं उनके,—
अचानक, यह स्याही का बूंद
लेखनी से गिरकर, सुकुमार
गोल तारा - सा नभ में कूद,
सोचने को क्या स्वर का तार
सजनि, आया है मेरे पास ?

अर्ध निद्रित-सा, विस्मृत-सा,
न जागृत-सा, न विमूर्छित-सा,
अर्ध जीवित-सा औ' मृत-सा,
न हर्षित-सा, न विमर्षित-सा,
गिरा का है क्या यह परिहास ?

एकटक, पागल - सा यह आज;
अपरिचित-सा, वाचक-सा कौन
यहाँ आया छिप - छिप निर्व्याज,
मुग्ध-सा, चिन्तित-सा, जड़ मौन,
सजनि, यह कौतुक है या रास !

योग का - सा यह नीरव तार,
ब्रह्म माया का - सा संसार,
सिन्धु - सा घट में,—यह उपहार
कल्पना ने क्या दिया अपार,
कली में छिपा वसन्त विकास !

(मई, १९२०)

परिवर्तन

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगन्त छबि जाल,
ज्योति चुम्बित जगती का भाल ?
राशि-राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?
स्वर्ग की सुषमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार !
प्रसूनों के शाश्वत शृंगार,
(स्वर्ण भृंगों के गन्ध विहार)
गूंज उठते थे बारम्बार,
सृष्टि के प्रथमोद्गार !
नग्न सुन्दरता थी सुकुमार,
ऋद्धि औ' सिद्धि अपार !
अये, विश्व का स्वर्ण स्वप्न, संसृति का प्रथम प्रभात,
कहाँ वह सत्य, वेद विख्यात ?
दुरित, दुख-दैन्य न थे जब ज्ञात,
अपरिचित जरा मरण भ्रू पात !

(२)

हाय ! सब मिथ्या बात ! —
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर मे भरता सूनी साँस !
वही मधुऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार !
आज पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल
प्रात का सोने का संसार;
जला देती सन्ध्या की ज्वाल !
अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल;
कचो के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार;
गूंजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार !

(३)

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अन्धकार, अज्ञात !

शिशिर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल !
प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल !

मृदुल होंठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर;
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गम्भीर !

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर मधुर संयोग;
मिलन के पल केवल दो-चार,
विरह के कल्प अपार !

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय;
उठे - रोओं के आलिंगन
कसक उठते काँटों - से हाय !

(४)

किसी को सोने के सुख साज
मिल गये यदि ऋण भी कुछ आज
चुका लेता दुख कल ही ब्याज,
काल को नहीं किसी की लाज !

विपुल मणि रत्नों का छवि जाल,
इन्द्रधनु की-सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत् ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल;

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार !

(५)

खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण;
अभी उत्सव औ' हास हुलास,
अभी अवसाद, अश्रु उच्छ्वास !

अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश;
सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडगन !

(६)

अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन !
अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल !

(७)

अहे दुर्जेय विश्वजित् !
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ;
घूमते शत-शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ;
तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित
करते हो संसृति को उत्पीडित, पद मर्दित;
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित !
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात उत्पात, अमंगल,
वह्नि, बाढ़, भूकम्प, —तुम्हारे विपुल सैन्य दल;
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल - हिल उठता है टल - मल
पद - दलित धरा तल !

(८)

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय मृचन
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण !
विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि-से घुस पल-पल;
तुम्हीं स्वेद-सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषिफल !
अये, सतत ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ्मण्डल

नैश गगन - सा सकल
तुम्हारा ही समाधिस्थल !

(९)

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास;
विश्व का अश्रु - पूर्ण इतिहास
तुम्हारा ही इतिहास !
एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर;
भूमि चूम जाते अभ्र ध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडम्बर !
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
गिर-गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडुगन;
आलोडित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत-शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन !

(१०)

जगत की शत कातर चीत्कार
बेधतीं बधिर, तुम्हारे कान !
अश्रु स्रोतों की अगणित धार
सींचतीं उर पाषाण !
अरे क्षण-क्षण सौ - सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश !
चतुर्दिक् घहर - घहर आक्रान्ति !
ग्रस्त करती सुख-शान्ति !

(११)

हाय री दुर्बल भ्रान्ति ?
कहाँ नश्वर जगती में शान्ति ?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति !
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम !
एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन !
—यही तो है असार संसार,
सृजन, सिंचन, संहार !
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार;

उलूकों के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार !
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल !

(१२)

अरे, देखो इस पार—
दिवस की आभा में साकार
दिगम्बर, सहम रहा संसार !
हाय, जग के करतार !
प्रात ही तो कहलायी मात,
पयोधर बने उरोज उदार,
मधुर उर इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल आकार;
छिन गया हाय, गोद का बाल,
गड़ी है बिना बाल की नाल !
अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हलदी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन शून्य कपोल;
हाय ! रुक गया यहीं संसार
बना सिन्दूर अँगार !
वात हत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार ! !

(१३)

काँपता उधर दैन्य निरुपाय,
रज्जु-सा, छिद्रों का कृश काय !
न उर में गृह का तनिक दुलार,
उदर ही में दानों का भार !
भूँकता सिड़ी शिशिर का श्वान
चीरता हरे ! अचीर शरीर:
न अधरों में स्वर, तन में प्राण,
न नयनों ही में नीर !

(१४)

सकल रोओं से हाथ पसार
लूटता इधर लोभ गृह द्वार;
उधर वामन डग स्वेच्छाचार
नापता जगती का विस्तार !
टिड्डियों - सा छा अत्याचार
चाट जाता संसार !

(१५)

बजा लोहे के दन्त कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा लोल;
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोर
फुहुंकता अन्ध रोष फन खोल!
लालची गीधों-से दिन-रात
नोचते रोग शोक नित गात,
अस्थि-पंजर का दैत्य दुकाल,
निगल जाता निज बाल!

(१६)

बहा नर शोणित मूसलधार,
रुण्ड मुण्डों की कर बौछार,
प्रलय घन-सा घिर भीमाकार
गरजता है दिगन्त संहार!
छेड़ खर शस्त्रों की झंकार
महाभारत गाता संसार!
कोटि मनुजों के, निहत अकाल,
नयन मणियों से जटित कराल
अरे, दिग्गज सिंहासन जाल
अखिल मृत देशों के कंकाल;
मोतियों के तारक लड हार
आँसुओं के शृंगार!

(१७)

रुधिर के है जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निःश्वासों के आकाश;
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल;
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल!!
वृथा रे, ये अरण्य चीत्कार,
शान्ति सुख है उस पार!

(१८)

आह भीषण उद्गार!—
नित्य का यह अनित्य नर्तन
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्वपूर्ण दर्शन!

अतल से एक अकूल उमंग,
सृष्टि की उठती तरल तरंग,
उमड़ शत-शत बुद्बुद संसार
बूड़ जाते निस्सार!
बना सैकत के तट अतिवात!
गिरा देती अज्ञात!

(१९)

एक छवि के असंख्य उडुगण,
एक ही सबमें स्पन्दन;
एक छवि के विभात में लीन,
एक विधि के आधीन!
एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख-दुख, निशि भोर;
इन्हीं से पूर्ण त्रिगुण संसार,
सृजन ही है, संहार!
मूंदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात,
शिशिर की सर्व प्रलयकर बात
बीज बोती अज्ञात!
म्लान कुसुमों की मृदु मुस्कान
फलों में फलती फिर अम्लान,
महत् है, अरे, आत्म बलिदान,
जगत केवल आदान-प्रदान!

(२०)

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास;
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास;
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास!
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झंकार!

(२१)

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार;

स्वरों में ध्वनित मधुर, सुकुमार
सत्य ही प्रेमोद्गार;
दिव्य सौन्दर्य, स्नेह साकार,
भावनामय संसार !

(२२)

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार;
कहीं राखी बनता सुकुमार,
कहीं बेड़ी का भार !

(२३)

कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार;
चूम सुख - दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार !
पिघल होंठों का हिलता, हास
दृगों को देता जीवन दान,
वेदना ही में तपकर प्राण
दमक, दिखलाते स्वर्ण हुलास !
तरसते हैं हम आठों याम,
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम;
झेलते निशि दिन का संग्राम,
इसी से जय अभिराम;
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल !

(२४)

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार;
दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार !

(२५)

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार
जगत जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु, गति क्रम का ह्रास !

(२६)

हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे, निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;
गँवाने आये हैं अज्ञात
गँवाकर पाते स्वीय स्वरूप !

(२७)

जगत की सुन्दरता का चाँद
सजा लांछन को भी अवदात,
सुहाता बदल, बदल, दिन-रात
नवलता ही जग का आह्लाद !

(२८)

स्वर्ण शैशव स्वप्नों का जाल,
मंजरित यौवन, सरस रसाल;
प्रौढता, छाया वट सुविशाल,
स्थविरता, नीरव सायंकाल;
वही विस्मय का शिशु नादान
रूप पर मँडरा, बन गुंजार,
प्रणय से बिंध, बँध, चुन-चुन सार,
मधुर जीवन का मधु कर पान;
साध अपना मधुमय संसार
डुबा देता निज तन, मन, प्राण !
एक बचपन ही में अनजान
जागते, सोते, हम दिन-रात;
वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात;
मूँद प्राचीन मरण,
खोल नूतन जीवन !

(२९)

विश्वमय हे परिवर्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ-से विपुलाकार,
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !
अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भयंकर,
इन्द्रजाल-सा तुम अनन्त में रचते सुन्दर;
गरज-गरज, हँस-हँस, चढ़ गिर, छा ढा भू अम्बर,

करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर;
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप वर
अहे तुम्हारी भीम भृकुटि पर
अटका निर्भर !

(३०)

एक औ' बहु के बीच अजान
घूमते तुम नित चक्र समान,
जगत के उर में छोड़ महान
गहन चिह्नों में ज्ञान !
परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरन्तर,
अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर !
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणतर
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट, अगोचर;
शिक्षास्थल यह विश्व मंच, तुम नायक नटवर,
प्रकृति नर्त्तकी सुघर
अखिल में व्याप्त सूत्रधर !

(३१)

हमारे निज सुख, दुख, निःश्वास
तुम्हें केवल परिहास;
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर आश्वास !
ऐ अनन्त हृत्कम्प ! तुम्हारा अविरत स्पन्दन
सृष्टि शिराओं में संचारित करता जीवन;
खोल जगत के शत - शत नक्षत्रों-से लोचन,
भेदन करते अन्धकार तुम जग का क्षण - क्षण;
सत्य तुम्हारी राज यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन,
भूप, अकिंचन,
अटल शास्ति नित करते पालन !

(३२)

तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार;
तुम्ही में निराकार साकार,
मृत्यु जीवन सब एकाकार !
अहे महाम्बुधि ! लहरों-से शत लोक, चराचर,
क्रीडा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुंग तरंगों से शत युग, शत - शत कल्पान्तर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत सहस्र रवि शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण,

जलते-बुझते हैं स्फुलिंग - से तुममें तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल, दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरन्तन
अहे विवर्तन हीन विवर्तन !

(अप्रैल, १६२४)

छाया काल

स्वस्ति, जीवन के छाया काल !
सुप्त स्वप्नों के सजग सकाल !
मूक मानस के मुखर मराल !
स्वस्ति, मेरे कवि बाल !

तुम्हारा मानस था सोच्छ्वास,
अलस पलकों में स्वप्न विलास;
आँसुओं की आँखों में प्यास,
गिरा में था मधुमास !
बदलता बादल - सा नित वेश
तुम्हारा जग था छाया शेष;
निशा, अपलक नक्षत्रोन्मेष,
दिवस, छवि का परिवेश !

दिव्य हो भोला बालापन,
नव्य जीवन, पर, परिवर्तन,
स्वस्ति, मेरे अनंग नूतन !
पुरातन मदन दहन !

(दिसम्बर, १६२५)

गुंजन

विज्ञापन

गुंजन पाठकों के सामने है। इसमें सभी तरह की कविताओं का समावेश है; कुछ नवीन प्रयत्न भी। सुविधा के लिए प्रत्येक पद्य के नीचे रचना-काल दे दिया है। यदि गुंजन मेरे पाठकों का मनोरंजन कर सका, तो मुझे प्रसन्नता होगी, न कर सका तो आश्चर्य न होगा, यह मेरे प्राणों की उन्मन गुंजन मात्र है।

'मेंहदी' में दूसरे वर्ण पर स्वरपात मधुर लगता है, तब यह शब्द चार ही मात्राओं का रह जाता है, जैसा कि साधारणत: उच्चरित भी होता है। प्रिय प्रियाऽह्लाद से 'प्रिय प्रि-आह्लाद' अच्छा लगता है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता मैंने कहीं-कहीं ली है। 'अनिर्वचनीय' के स्थान पर 'अनिर्वच', 'हरसिंगार' के स्थान पर 'सिंगार' आदि।

'पल्लव' की कविताओं में मुझे 'सा' के बाहुल्य ने लुभाया था। यथा—

अर्ध-निद्रित-सा, विस्मृत-सा,
न जागृत-सा, न विमूर्छित-सा इत्यादि।

'गुंजन' मे 'रे' की पुनरुक्ति का मोह मै नहीं छोड सका। यथा—

'तप रे मधुर-मधुर मन'—इत्यादि।

'सा' से, जो मेरी वाणी का सम्वादी स्वर एकदम 'रे' हो गया, यह उन्नति का क्रम सगीत-प्रेमी पाठको को खटकेगा नही, ऐसा मुझे विश्वास है।

इति

नक्षत्र
कालाकाँकर राज
(अवध)

सुमित्रानंदन पंत

गुंजन

वन - वन उपवन—
छाया उन्मन - उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन!
रुपहले, सुनहले आम्र मौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौंर,
रे गन्ध - अन्ध हो ठौर - ठौर

उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन!

वन के विटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल-लाल,
फैली नव मधु की रूप ज्वाल,

जल-जल प्राणों के अलि उन्मन
करते स्पन्दन, भरते गुंजन!

अब फैला फूलों में विकास,
मुकुलों के उर में मदिर वास,
अस्थिर सौरभ से मलय-श्वास,

जीवन-मधु-संचय को उन्मन
करते प्राणों के अलि गुंजन!

(जनवरी १९३२)

१

तप रे मधुर-मधुर मन!

विश्व वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन!

अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन;
ढल रे ढल आतुर मन!

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन
निज अरूप में भर स्वरूप मन!
मूर्तिमान बन, निर्धन!
गल रे गल निष्ठुर मन!

(जनवरी, १९३२)

२

शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल, चंचल?
सोये वीणा के सुर
क्यों मधुर स्पर्श से मर्‌मर्
बज उठते प्रतिपल, प्रतिपल!
आशा के लघु अंकुर
किस सुख से पर फड़काकर
फैलाते नव दल पर दल!
मानव का मन निष्ठुर
सहसा आँसू में झर-झर
क्यों जाता पिघल-पिघल गल!
मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन-मुग्ध किसके बल!

(फरवरी, १९३२)

३

आते कैसे सूने पल
जीवन में ये सूने पल?
जब लगता सब विशृंखल;
तृण, तरु, पृथ्वी, नभमण्डल!

खो देती उर की वीणा
झंकार मधुर जीवन की,
बस साँसों के तारों में
सोती स्मृति सूनेपन की!

बह जाता बहने का सुख,
लहरों का कलरव, नर्तन,
बढ़ने की अति-इच्छा में
जाता जीवन से जीवन!

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता;
जल जल है, लहर लहर रे,
गति गति, सृति सृति, चिर भरिता!

क्या यह जीवन ? सागर में
जल भार मुखर भर देना !
कुसुमित पुलिनों की क्रीडा
व्रीड़ा से तनिक न लेना ?

सागर संगम में है सुख,
जीवन की गति में भी लय;
मेरे क्षण-क्षण के लघु कण
जीवन लय से हों मधुमय !

(जनवरी, १६३२)

४

मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख,
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख !

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन !

जग पीडित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जायें
दुख सुख से औ' सुख दुख से !

अविरत दुख है उत्पीडन,
अविरत सुख भी उत्पीड़न,
दुख-सुख की निशा-दिवा में,
सोता-जगता जग-जीवन !

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का;
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का !

(फरवरी, १६३२)

५

देखूं सबके उर की डाली—
किसने रे क्या-क्या चुने फूल

जग के छवि-उपवन से अकूल !
इसमें कलि, किसलय, कुसुम शूल !
किस छवि, किस मधु के मधुर भाव ?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव !
कवि से रे किसका क्या दुराव !
किसने ली पिक की विरह तान ?
किसने मधुकर का मिलन गान ?
या फुल्ल कुसुम, या मुकुल म्लान ?
देखूं सबके उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण फूल
सब में कुछ दुख के करुण शूल—
सुख-दुःख न कोई सका भूल ?
(फरवरी, १९३२)

६

सागर की लहर लहर में
है हास स्वर्ण किरणों का,
सागर के अन्तस्तल में
अवसाद अवाक् कणों का !
यह जीवन का है सागर,
जग-जीवन का है सागर,
प्रिय प्रिय विषाद रे इसका
प्रिय प्रि' आह्लाद रे इसका !
जग जीवन में हैं सुख-दुख,
सुख-दुख में है जग जीवन;
हैं बँधे बिछोह - मिलन दो
देकर चिर स्नेहालिंगन !
जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक !
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक !
(जनवरी, १९३२)

७

आँसू की आँखों से मिल
भर ही आते हैं लोचन,
हँसमुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन !
अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुंजन,

करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन - कम्पन !

विश्वास चाहता है मन,
विश्वास पूर्ण जीवन पर;
सुख-दुख के पुलिन डुबा कर
लहराता जीवन - सागर !

दुख इस मानव-आत्मा का
रे नित का मधुमय - भोजन
दुख के तम को खा-खा कर
भरती प्रकाश से वह मन !

अस्थिर है जग का सुख-दुख,
जीवन ही सत्य चिरन्तन !
सुख-दुख से ऊपर; मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।

(जनवरी, १९३२)

८

कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा,
इन म्लान, मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा !

वन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना !

काँटों मे कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली !

अपनी डाली के काँटे
बेधते नहीं अपना तन,
सोने-सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन !

दुख-दावा से नव अंकुर
पाता जग-जीवन का वन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव जीवन-कण !

(फरवरी, १९३२)

९

जाने किस छल-पीड़ा से
व्याकुल-व्याकुल प्रतिपल मन,
ज्यों बरस-बरस पड़ने को
हों उमड़-उमड़ उठते घन !

अधरों पर मधुर अधर धर,
कहता मृदु स्वर में जीवन—
बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन-यौवन-धन !

पुलकों से लद जाता तन,
मुँद जाते मद से लोचन
तत्क्षण सचेत करता मन—
ना, मुझे इष्ट है साधन !

इच्छा है जग का जीवन,
पर साधन आत्मा का धन;
जीवन की इच्छा है छल
आत्मा का जीवन जीवन !

फिरतीं नीरव नयनों में
छाया - छवियाँ मन-मोहन,
फिर-फिर विलीन होने को
ज्यों घिर-घिर उठते हों घन !

ये आधी, अति इच्छाएँ
साधन भी बाधा बन्धन;
साधन भी इच्छा ही है,
सम-इच्छा ही रे साधन !

रह-रह मिथ्या - पीड़ा से
दुखता-दुखता मेरा मन,
मिथ्या ही बतला देती
मिथ्या का रे मिथ्यापन !

(फरवरी, १९३२)

१०

क्या मेरी आत्मा का चिर धन ?
मैं रहता नित उन्मन, उन्मन !

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुरवर,
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर;
निज सुख से ही चिर चंचल मन,
मैं हूँ प्रतिपल उन्मन, उन्मन !

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का;
लगता अपूर्ण मानव - जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन !
जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे;
चाहिए विश्व को नव जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन !
(फरवरी, १६३२)

११

खिलतीं मधु की नव कलियाँ
खिल रे, खिल रे मेरे मन !
नव सुषमा की पंखड़ियाँ
फैला, फैला परिमल-घन !

नव छवि, नव रँग, नव मधु से
मुकुलित, पुलकित हो जीवन !
सालस सुख की सौरभ से
साँसों का मलय - समीरण !

रे गूँज उठा मधुवन में
नव गुंजन, अभिनव गुंजन,
जीवन के मधु-संचय को
उठता प्राणों में स्पन्दन !

खुल-खुल नव-नव इच्छाएँ
फैलातीं जीवन के दल,
गा - गा प्राणों का मधुकर
पीता मधुरस परिपूरण !
(फरवरी, १६३२)

१२

सुन्दर विश्वासों ही से
बनता रे सुखमय - जीवन,
ज्यों सहज - सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पन्दन !

हँसने ही में तो है सुख
यदि हँसने का होवे मन,
भाते हैं दुख में आते
मोती - से आँसू के कण !

महिमा के विशद जलधि में
हैं छोटे - छोटे - से कण,
अणु से विकसित जग - जीवन
लघु अणु का गुरुतम साधन !

जीवन के नियम सरल हैं;
पर है चिर गूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधु-क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बन्धन !

(फरवरी, १९३२)

१३

सुन्दर मृदु-मृदु रज का तन,
चिर सुन्दर सुख-दुख का मन,
सुन्दर शैशव यौवन रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन !

सुन्दर वाणी का विभ्रम,
सुन्दर कर्मों का उपक्रम,
चिर सुन्दर जन्म-मरण रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन !

सुन्दर प्रशस्त दिशि - अंचल,
सुन्दर चिर लघु, चिर नव पल,
सुन्दर पुराण - नूतन रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन !

सुन्दर से नित सुन्दरतर,
सुन्दरतर से सुन्दरतम,
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन !

(फरवरी, १९३२)

१४

गाता खग प्रात: उठकर—
सुन्दर, सुखमय जग-जीवन !
गाता खग सन्ध्या-तट पर—
मंगल, मधुमय जग-जीवन !

कहती अपलक तारावलि
अपनी आँखों का अनुभव,—
अवलोक आँख आँसू की
भर आतीं आँखें नीरव !

हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ !

उठ-उठ लहरें कहतीं यह
हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह
नित आगे बढ़ती जावें !

कँप-कँप हिलोर रह जाती —
रे मिलता नहीं किनारा !
बुद्बुद् विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा !

(जनवरी, १९३२)

१५

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुंज-पुंज,
कल कूजित कर उर का निकुंज,
चिर सुभग, सुभग !

किस स्वर्ण किरण की करुण कोर
कर गयी इन्हें सुख से विभोर ?
किन नव स्वप्नों की सजग भोर ?
हँस उठे हृदय के ओर-छोर
जग-जग खग करते मधुर रोर
मैं रे प्रकाश में गया बोर !

चिर मुँदे मर्म के गुहा-द्वार,
किस स्वर्ग रश्मि ने आर-पार
छू दिया हृदय का अन्धकार !
यह रे किस छवि का मदिर तीर ?
मधु मु:र प्राण का पिक अधीर
डालेगा क्या उर चीर-चीर !

अस्थिर है साँसों का समीर,
गुंजित भावों की मधुर भीर,
झर झरता सुख से अश्रु-नीर !

बहती रोओं में मलय वात,
स्पन्दि: उर, पुलकित पात-गात,
जीवन में रे यह स्वर्ण प्रात !

नव रूप, गन्ध, रँग, मधु, मरन्द,
नव आशा अभिलाषा अमन्द,
नव गीत-गुंज, नव भाव-छन्द,—

(ये)

विहग, विहग
जग उठे जग उठे पुंज-पुंज,
कूजित-गुंजित कर उर-निकुंज,
चिर सुभग, सुभग !

(जनवरी, १९३२)

१६

चाँदनी

जग के दुख-दैन्य-शयन पर
यह रुग्णा जीवन - बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला !

पीली पड़, निर्बल, कोमल,
कृश देह लता कुम्हलाई;
विवसना, लाज मे लिपटी,
साँसों में शून्य समाई !

रे म्लान अंग, रँग, यौवन !
चिर मूक, सजल, नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर,
बस मृत्यु शेष है जीवन !

वह स्वर्ण भोर को ठहरी
जग के ज्योतित आँगन पर,
तापसी विश्व की बाला
पाने नव जीवन का वर !

(फरवरी, १९३२)

१७

मानव

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने,
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहचाने !

मेरे विमुग्ध - नयनों की
तुम कान्त - कनी हो उज्ज्वल;
सुख की स्मिति की मृदु रेखा,
करुणा के आँसू कोमल !

सीखा तुम से फूलों ने
मुख देख मन्द मुसकाना,

तारों ने सजल नयन हो
करुणा किरणें बरसाना !

सीखा हँसमुख लहरों ने
आपस में मिल खो जाना,
अलि ने जीवन का मधु पी,
मृदु राग प्रणय के गाना !

पृथ्वी की प्रिय तारावलि !
जग के वसन्त के वैभव !
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव !

मेरे मन के मधुवन में
सुषमा के शिशु ! मुसकाओ,
नव - नव साँसों का सौरभ,
नव मुख का सुख बरसाओ !

मैं नव - नव उर का मधु पी,
नित नव ध्वनियों में गाऊँ,
प्राणों के पंख डुबाकर,
जीवन - मधु मे घुल जाऊँ !

(जनवरी, १९३२)

१८

झर गयी कली, झर गयी कली !

चल सरित पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गयी चली !

आयी लहरी चुम्बन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने,
फेनिल मोती से मुँह भरने,
वह चंचल-सुख से गयी छली !

आती ही जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी ?
कितनी ही तो कलियाँ फहरीं,
सब खिलीं, हिलीं, रहीं सँभली !

निज वृन्त पर उसे खिलना था,
नव - नव लहरों से मिलना था,
निज सुख-दुख सहज बदलना था,
रे गेह छोड़ वह बह निकली !

है लेन - देन ही जग जीवन,
पर अपना सबका अपनापन,
खो निज आत्मा का अक्षय-धन,
लहरों में भ्रमित, गयी निगली !

(फरवरी, १६३२)

१६

भावी पत्नी के प्रति

प्रिये, प्राणों की प्राण !

न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं की - सी वाण,
बाल रति - सी अनुपम, असमान—
न जाने, कौन कहाँ, अनजान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

जननि-अञ्चल में झूल सकाल
मृदुल उर कम्पन - सी वपुमान,
स्नेह सुख में बढ़ सखि ! चिरकाल
दीप की अकलुष शिखा समान;
कौन - सा आलय, नगर विशाल
कर रही तुम दीपित, द्युतिमान ?
शलभ-चंचल मेरे मन-प्राण,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

नवल मधुऋतु निकुंज में प्रात
प्रथम कलिका - सी अस्फुट गात,
नील नभ-अन्तःपुर में, तन्वि !
दूज की कला सदृश नवजात,
मधुरता, मृदुता - सी तुम, प्राण !
न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात,
कल्पना हो, जाने, परिमाण ?
प्रिये, प्राणों की प्राण !

हृदय की पलकों में गति-हीन
स्वप्न संसृति - सी सुखमाकार,
बाल भावुकता बीच नवीन
परी - सी धरती रूप अपार,
झूलती उर में आज, किशोरि !
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान,
लाज मे लिपटी उषा समान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास,
स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ का सार
मनोभावों का मधुर विलास,
विश्व सुखमा ही का संसार;
दृगों में छा जाता सोल्लास
व्योम-बाला का शरदाकाश;
तुम्हारा आता जब प्रिय ध्यान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरुण अधरों की पल्लव - प्रात,
मोतियों - सा हिलता - हिम - हास,
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल - विद्युत् का पावस - लास
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले - अंगों का मधुमास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण !

खेल सस्मित सखियों के साथ
सरल शैशव - सी तुम साकार,
लोल कोमल लहरों में लीन
लहर ही-सी कोमल; लघु भार;
सहज करती होगी, सुकुमारि !
मनोभावों से बाल विहार
हंसिनी - सी सर में कल-तान
प्रिये, प्राणों की प्राण !

खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूंघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड खग - बाल
तुम्ही से कलरव, केलि, विनोद,
चूम लघु पद चंचलता, प्राण !
फूटते होंगे नव जलस्रोत,
मुकुल बनती होगी मुसकान
प्रिये, प्राणों की प्राण !

मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का - सा नव गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न - सा विस्मय - सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात!
विकम्पित मृदु-उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित पद; नमित-पलक-दृग-पात;
पास जब आ न सकोगी, प्राण!
मधुरता में - सी मरी अजान
लाज की छुईमुई - सी म्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण!

सुमुखि, वह मधु-क्षण! वह मधु-वार!
धरोगी कर में कर सुकुमार!
निखिल जब नर-नारी संसार
मिलेगा नव सुख से नव बार;
अधर-उर-मे उर-अधर समान
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान!
प्रिये, प्राणों की प्राण!

अरे चिर गूढ़ प्रणय आख्यान!
जब कि रुक जायेगा अनजान
साँस - सा नभ उर में पवमान;
समय निश्चल, दिशि-पलक समान;
अवनि पर झुक आयेगा, प्राण!
व्योम चिर विस्मृति से म्रियमाण!
नील सरसिज-सा हो-हो म्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

(एप्रिल, १९२७)

२०

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से?
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन से!

लहरें अधीर सरसी में
तुमको तकतीं उठ-उठ कर,
सौरभ-समीर रह जाता
प्रेयसि, ठण्डी साँसें भर!

हैं मुकुल मुँदे डालों पर,
कोकिल नीरव मधुवन में
कितने प्राणों के गाने
ठहरे हैं तुमको मन में!

तुम आओगी, आशा में
अपलक हैं निशि के उडुगण !
आओगी, अभिलाषा से
चंचल, चिर नव, जीवन-क्षण !

(फरवरी, १९३२)

२१

मुसकुरा दी थीं क्या तुम, प्राण !
मुसकुरा दी थीं आज विहान ?
आज गृह-वन उपवन के पास
लोटता राशि-राशि हिम-हास,
खिल उठी आँगन में अवदात
कुन्द-कलियों की कोमल-प्रात !
मुसकुरा दी थीं, बोलो प्राण !
मुसकुरा दी थीं तुम अनजान ?
आज छाया चहुँदिशि चुपचाप
मृदुल मुकुलों का मौनालाप,
रुपहली कलियों से कुछ लाल,
लद गयी पुलकित पीपल-डाल
और वह पिक की मर्म-पुकार
प्रिये ! झर-झर पड़ती साभार,
लाज से गड़ी न जाओ, प्राण !
मुसकुरा दीं क्या आज विहान !

(अक्तूबर, १९२७)

२२

नील कमल-सी हैं वे आँख !
डूबे जिनके मधु में पाँख—
मधु में मन-मधुकर के पाँख;
नील-जलज सी हैं वे आँख !

मुग्ध स्वर्ण किरणों ने प्रात
प्रथम खिलाये वे जलजात;
नील व्योम ने ढल अज्ञात
उन्हें नीलिमा दी नवजात;
जीवन की सरसी उस रात
लहरा उठी चूम मधु वात;
आकुल लहरों ने तत्काल
उनमें चंचलता दी ढाल;
नील नलिन-सी हैं वे आँख !

जिनमें बस उर का मधुबाल
कृष्ण कनी बन गया विशाल;
नील सरोरुह - सी वे आँख !
(जनवरी, १९३२)

२३

तुम्हारी आँखों का आकाश !
सरल आँखों का नीलाकाश—
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! इनमें खग अज्ञान !
देख इनका चिर करुण प्रकाश,
अरुण कोरों में उषा विलास,
खोजने निकला निभृत निवास,
पलक पल्लव प्रच्छाय निवास,
न जाने ले क्या-क्या अभिलाष
खो गया बाल विहग नादान !
तुम्हारे नयनों का आकाश
सजल, श्यामल, अकूल आकाश !
गूढ़, नीरव, गम्भीर प्रसार,
न गहने को तृण का आधार;
बसायेगा कैसे संसार,
प्राण ! इनमें अपना संसार !
न इनका ओर-छोर रे पार,
खो गया वह नव पथिक, अजान !
(अक्तूबर, १९२७)

२४

नवल मेरे जीवन की डाल
बन गयी प्रेम-विहग का वास !
आज मधुवन की उन्मद वात
हिला रे गयी पात-सा गात,
मन्द द्रुम मर्मर - सा अज्ञात
उमड़ उठता उर में उच्छ्वास !
नवल मेरे जीवन की डाल
बन गयी प्रेम-विहग का वास !
मदिर कोरों-से कोरक जाल
बेधते मर्म बार रे बार,
मूक चिर प्राणों का पिक बाल
आज कर उठता करुण पुकार;

अरे अब जल-जल नवल प्रवाल
लगाते रोम-रोम में ज्वाल,
आज बौरे रे तरुण रसाल
भौंर मन मँडरा गयी सुवास !

(मार्च, १९२८)

२५

आज रहने दो यह गृह-काज,
प्राण ! रहने दो यह गृह-काज !
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास,
प्रिये, लालस-सालस वातास,
जगा रोंओं में सौ अभिलाष !
आज उर के स्तर-स्तर में, प्राण !
सजग सौ-सौ स्मृतियाँ सुकुमार,
दृगों में मधुर स्वप्न-संसार,
मर्म में मदिर स्पृहा का भार !
शिथिल, स्वप्निल पंखड़ियाँ खोल
आज अपलक कलिकाएँ बाल,
गूँजता भूला भौंरा डोल,
सुमुखि, उर के सुख से वाचाल !
आज चंचल-चंचल मन-प्राण,
आज रे शिथिल-शिथिल तन-भार,
आज दो प्राणों का दिन-मान
आज संसार नहीं संसार !
आज क्या प्रिये, सुहाती लाज !
आज रहने दो सब गृह-काज !

(फरवरी, १९३२)

२६

मधुवन

आज नव मधु की प्रात
झलकती नभ-पलकों में प्राण !
मुग्ध-यौवन के स्वप्न समान,—
झलकती, मेरी जीवन-स्वप्न ! प्रभात
तुम्हारी मुख-छवि सी रुचिमान !
आज लोहित मधु-प्रात
व्योम-लतिका में छायाकार
खिल रही नव पल्लव-सी लाल,

तुम्हारे मधुर कपोलों पर सुकुमार
लाज का ज्यों मृदु किसलय जाल !
आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान,
तुम्हारे शयन शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण !
आज स्वर्णिम मधु-प्रात
व्योम के विजन कुंज में, प्राण !
खुल रही नवल गुलाब समान,
लाज के विनत वृन्त पर ज्यों अभिराम
तुम्हारा मुख-अरविन्द सकाम !
प्रिये, मुकुलित मधु-प्रात
मुक्त नभ - वेणी में सोभार
सुहाती रक्त पलाश समान;
आज मधुवन मुकुलों में झुक साभार
तुम्हें करता निज विभव प्रदान !

(२)

डोलने लगी मधुर मधुवात
हिला तृण, व्रतति, कुंज तरु-पात,
डोलने लगी प्रिये ! मृदु वात
गुंज-मधु-गन्ध-धूलि-हिम - गात !
खोलने लगीं, शयित चिरकाल,
नवल कलि अलस पलक-दल जाल,
बोलने लगी डाल से डाल,
प्रमुद, पुलकाकुल कोकिल-बाल !
युवाओं का प्रिय पुष्प गुलाब,
प्रणय-स्मृति-चिह्न, प्रथम मधुबाल,
खोलता लोचन-दल मदिराभ,
प्रिये, चल अलिदल से वाचाल !
आज मुकुलित-कुसुमित चहुँ ओर
तुम्हारी छवि की छटा अपार ;
फिर रहे उन्मद मधु-प्रिय भौंर
नयन पलकों के पंख पसार !
तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लग गयी मधु के वन में ज्वाल,
खड़े किंशुक, अनार, कचनार
लालसा की लौ-से उठ लाल !
कपोलों की मदिरा पी, प्राण !
आज पाटल गुलाब के जाल !

विनत शुक-नासा का धर ध्यान
बन गये पुष्प पलाश अराल !
खिल उठी चल दशनावलि आज
कुन्द कलियों में कोमल आभ,
एक चंचल चितवन के व्याज
तिलक को चारु छत्र-सुख लाभ !
तुम्हारे चल पद चूम निहाल
मंजरित अरुण अशोक सकाल,
स्पर्श से रोम-रोम तत्काल
सतत सिंचित प्रियंगु की बाल !
स्वर्ण-कलियों की रुचि सुकुमार
चुरा चम्पक तुमसे मृदु-वास,
तुम्हारी शुचि स्मिति से साभार,
भ्रमर को आने दे क्यों पास ?
देख चंचल मृदु-पटु पद - चार
लुटाता स्वर्ण-राशि कनियार,
हृदय फूलों में लिये उदार
नर्म - मर्मज्ञ मुग्ध मन्दार !
तुम्हारी पी मुख - वास तरंग
आज बौरे भौंरे, सहकार,
चुनाती नित लवंग निज अंग
तन्वि ! तुम-सी बनने सुकुमार !
लालिमा - भर फूलों में, प्राण !
सीखती लाजवती मृदु लाज,
माधवी करती झुक सम्मान
देख तुम में मधु के सब साज !
नवेली बेला उर की हार,
मोतिया मोती की मुस्कान,
मोगरा कर्णफूल-सा स्फार,
अँगुलियाँ मदनबान की बान !
तुम्हारी तनु-तनिमा लघु-भार
बनी मृदु व्रतति-प्रतति का जाल,
मृदुलता सिरिस-मुकुल सुकुमार,
विपुल पुलकावलि चीना-डाल !
प्रिये, कलि-कुसुम-कुसुम में आज
मधुरिमा मधु, सुखमा सुविकास,
तुम्हारी रोम-रोम छवि-व्याज
आ गया मधुवन में मधुमास !

(३)

वितरती गृह-वन मलय-समीर
साँस, सुधि, स्वप्न, सुरभि, सुख, गान,

मार केशर - शर मलय - समीर
हृदय हुलसित कर, पुलकित प्राण !

बेलि - सी फैल - फैल नवजात
चपल, लघु - पद, लहलह, सुकुमार,
लिपट लगती मलयानिल गात
झूम, झुक - झुक सौरभ के भार !

आज, तृण, छद, खग, मृग, पिक, कीर,
कुसुम, कलि, व्रतति, विटप, सोच्छ्वास
अखिल आकुल, उत्कलित, अधीर,
अवनि, जल, अनिल, अनल, आकाश !

आज वन में पिक, पिक में गान,
विटप में कलि, कलि में सुविकास,
कुसुम में रज, रज में मधु, प्राण !
सलिल में लहर, लहर में लास !

देह में पुलक, उरों में भार,
भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण,
अधर अमृत, हृदय में प्यार,
गिरा में लाज, प्रणय में मान !

तरुण विटपों से लिपट सुजात,
सिहरतीं लतिका मुकुलित गात;
सिहरतीं रह - रह सुख से, प्राण,
लोम - लतिका बन कोमल - गात !

गन्ध - गुंजित कुञ्जों में आज
बँधे बाँहों में छायाऽलोक,
मर्मरित छत्र, पत्र-दल व्याज
लिये द्रुम, तुमको खड़ी विलोक !

मिल रहे, नवल बेलि तरु, प्राण !
शुकी-शुक, हंस - हंसीनि संग,
लहर-सर, सुरभि-समीर विहान,
मृगी-मृग, कलि-अलि, किरण- पतंग!

मिलें अधरों से अधर समान,
नयन से नयन, गात से गात,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
भुजों से भुज, कटि से कटि शात !

आज तन-तन मन-मन हों लीन,
प्राण ! सुख-सुख स्मृति-स्मृति चिरसात्,
एक क्षण, अखिल दिशावधि-हीन !
एक रस, नाम - रूप - अज्ञात !

(अगस्त, १९३०)

२७

रूप-तारा तुम पूर्ण प्रकाम,
मृगेक्षिणि ! सार्थक - नाम !
एक लावण्य - लोक छविमान,
नव्य नक्षत्र समान,
उदित हो दृग-पथ में अम्लान
तारिकाओं की तान !
प्रणय का रच तुमने परिवेश
दीप्त कर दिया - मनोनभ - देश;
स्निग्ध सौन्दर्य-शिखा अनिमेष !
अमन्द, अनिन्द्य, अशेष !
उषा-सी स्वर्णोदय पर भोर
दिखा मुख कनक - किशोर;
प्रेम की प्रथम मदिरतम - कोर
दृगों में दुरा कठोर;
छा दिया यौवन - शिखर अछोर
रूप किरणों में बोर,
सजा तुमने सुख - स्वर्ण - सुहाग,
लाज - लोहित - अनुराग !
नयन - तारा बन मनोभिराम,
सुमुखि, अब सार्थक करो स्वनाम !
तारिका-सी तुम दिव्याकार,
चन्द्रिका की झंकार !
प्रेम - पंखों में उड़ अनिवार
अप्सरी सी लघु - भार,
स्वर्ग से उतरीं क्या सोद्गार
प्रणय - हंसिनि सुकुमार ?
हृदय-सर में करने अभिसार,
रजत-रति स्वर्ण-विहार !
आत्म - निर्मलता में तल्लीन
चारु चित्रा - सी, आभासीन !
अधिक छुपने में खुल अनजान
तन्वि ! तुमने लोचन मन छीन,
कर दिये पलक प्राण गति - हीन,
लाज के जल की मीन !
रूप की - सी तुम ज्वलित विमान,
स्नेह की सृष्टि नवीन !
हृदय - नभ - तारा बन छविधाम
प्रिये ! अब सार्थक करो स्वनाम !
प्रथम यौवन मेरा मधुमास,
मुग्ध उर मधुकर, तुम मधु प्राण !

शयन लोचन, सुधि स्वप्न - विलास,
मधुर-तन्द्रा प्रिय - ध्यान !
शून्य जीवन निसंग आकाश,
इन्दु - मुख इन्दु समान;
हृदय सरसी, छवि पद्म - विकास;
स्पृहाएँ ऊर्मिल - गान !
कल्पना तुममें एकाकार,
कल्पना में तुम आठों याम;
तुम्हारी छवि में प्रेम अपार,
प्रेम में छवि अभिराम;
अखिल इच्छाओं का संसार
स्वर्ण छवि में निज गढ़ छविमान,
बन गयी मानसि ! तुम साकार
देह दो एक - प्राण !

(नवम्बर, १९२५)

२८

कलरव किसको नहीं सुहाता ?
कौन नहीं इसको अपनाता ?

यह शैशव का सरल हास है,
सहसा उर में है आ जाता !
कलरव किसको नहीं सुहाता ?
कौन नहीं इसको अपनाता ?

यह ऊषा का नव विकास है,
जो रज को है रजत बनाता !
कलरव किसको नहीं सुहाता ?
कौन नहीं इसको अपनाता ?

यह लघु लहरों का विलास है,
कलानाथ जिसमें खिच आता !

(१९२२)

२९

अलि ! इन भोली बातों को
अब कैसे भला छिपाऊँ !
इस आँख मिचौनी से मैं
कहु ? कब तक जी बहलाऊँ ?
मेरे कोमल भावों को
तारे क्या आज गिनेंगे ?

कह ? इन्हें ओस बूँदों - सा
फूलों में फैला आऊँ ?

अपने ही सुख में खिल-खिल
उठते ये लघु लहरों - से
अलि ! नाच-नाच इनके सँग
इनमें ही मिल-मिल जाऊँ ?

निज इन्द्रधनुष - पंखों में
जो उड़ते ये तितली से,
मैं भी फूलों के वन में
क्या इनके सँग उड़ जाऊँ ?

क्यों उछल चटुल मीनों-से
मुख दिखला ये छिप जाते !
कह, डूब हृदय - सरसी में
इनके मोती चुन लाऊँ ?

शशि की - सी कुटिल कलाएँ
देखो, ये निशि-दिन बढ़ते,
अलि ! उमड़-उमड़ सागर-सी
अम्बर के तट छू आऊँ !

चुपके दुविधा के तम में
ये जुगुनू - से जल उठते,
कह, इनके नव दीपों से
तारों का व्योम बनाऊँ !

—ना, पीले तारों - सी ही
मेरी कितनी ही बातें
कुम्हला चुपचाप गयी हैं,
मैं कैसे इन्हें भुलाऊँ !

(१९३२)

३०

आँखों की खिड़की से उड़-उड़
आते ये आते मधुर विहग,
उर-उर से सुखमय भावों के
आते खग मेरे पास सुभग !

मिलता जब कुसुमित जन समूह
—नयनों का नव मुकुलित मधुवन—
पलकों की मृदु पंखुड़ियों पर
मँडराते मिलते ये खग गण !

निज कोमल पंखों से छूकर
ये पुलकित कर देते तन - मन,

अस्फुट स्वर में मन की बातें
कहते रे मन से ये क्षण - क्षण !

उर-उर में मृदु-मृदु भावों के
विहगों के रहते नीड़ सुभग,
इस उर से उस उर में उड़ते
ये मन के सुन्दर स्वर्ण - विहग !

(फरवरी, १६३२)

३१

जीवन की चंचल सरिता में
फेंकी मैंने मन की जाली,
फँस गयी मनोहर भावों की
मछलियाँ सुघर, भोली-भाली !

मोहित हो, कुसुमित पुलिनों से
मैंने ललचा चितवन डाली,
वह रूप रंग रेखाओं की
अभिलाषाएँ देखी - भाली !

मैंने कुछ सुखमय इच्छाएँ,
चुन लीं सुन्दर, शोभाशाली,
औ' उनके सोने - चाँदी से
भर ली प्रिय प्राणों की डाली !

सुनता हूँ, इस निस्तल जल में
रहती मछली मोतीवाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल जल-माली।

आयेगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर;
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूंगा उसकी छवि जी-भर !

(फरवरी, १६३२)

३२

मेरा प्रतिपल सुन्दर हो,
प्रतिदिन सुन्दर, सुखकर हो,
यह पल - पल का लघु जीवन
सुन्दर सुखकर, शुचितर हो !

हों बूंदें अस्थिर, लघुतर,
सागर में बूंदें सागर;

यह एक बूँद जीवन का
मोती - सा सरस, सुघर हो !

मधुऋतु के कुसुम मनोहर,
कुसुमों की ही मधु प्रियतर,

यह एक मुकुल मानस का
प्रमुदित, मोदित मधुमय हो !

मेरा प्रतिपल निर्मय हो,
निःसंशय मंगलमय हो,

यह नव - नव पल का जीवन
प्रतिपल तन्मय, तन्मय हो !

(जनवरी, १९३१)

२३

आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान !

खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छवि का देश;
बजा भौंरों ने मधु के तार
कह दिये भेद भरे सन्देश;

आज सोये खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गयी प्रभात;
गूढ़ संकेतों में हिल पात
कह रहे अस्फुट बात;

आज कवि के चिर चंचल-प्राण
पा गये अपना गान !

दूर, उन खेतों के उस पार;
जहाँ तक गयी नील झंकार,
छिपा छाया - वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार !

वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़ - उड़ कर पास;
इन्हीं में छिपा कहीं अनजान
मिला कवि को निज गान !

आज शिशु के कवि को अम्लान
मिल गया अपना गान !

(जनवरी, १९३२)

३४

लायी हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन-वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल ?

फैल गयी मधुऋतु की ज्वाल,
जल-जल उठतीं वन की डाल !
कोकिल के कुछ कोमल बोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत—
फूट रहे नव-नव जल स्रोत !
जीवन की ये लहरें लोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

विरल जलद-पट खोल अजान
छायी शरद रजत मुसकान;
यह छवि की ज्योत्स्ना अनमोल ?
लोगी मोल, लोगी मोल ?

अधिक अरुण है आज सकाल—
चहक रहे जग-जग खग-बाल;
चाहो तो सुन लो जी खोल
कुछ भी आज न लूँगी मोल !

(एप्रिल, १९२७)

३५

जीवन का उल्लास,—
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल-फूल करता विलास !
रे फैल-फैल फेनिल हिलोल
उठती हिलोल पर लोल-लोल;
शत युग के शत बुद्बुद् विलीन,
बनते पल-पल शत-शत नवीन,
जीवन का जलनिधि डोल-डोल
कल-कल छल-छल करता किलोल !
डूबे दिशि-पल के ओर-छोर
महिमा अपार, सुषमा अछोर !
जग-जीवन का उल्लास;—

यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल - फूल करता विलास !

(फरवरी, १९३२)

३६

प्राण ! तुम लघु-लघु गात !
नील नभ के निकुंज में लीन
नित्य नीरव, निःसंग, नवीन,
निखिल छबि की छबि ! तुम छबि-हीन
अप्सरी - सी अज्ञात !

अधर मर्मर युत, पुलकित अंग,
चूमती चल - पद चपल तरंग,
चटकतीं कलियाँ पा भ्रू - भंग,
थिरकते तृण, तरु पात !

हरित - द्युति चंचल अंचल - छोर
सजल - छबि, नील - कंचु, तन गौर
चूर्ण - कच, साँस सुगन्ध - झकोर;
परों में सायं - प्रात !

विश्व-हृत्-शतदल निभृत - निवास,
अहर्निश साँस - साँस में लास,
अखिल जग - जीवन हास - विलास,
अदृश्य अस्पृश्य, अजात !

(१९३०)

३७

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु - लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन !

बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय-घन,
स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में,
उर-अंगों में सुख-यौवन !

छू-छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण-तरु में चेतन,
मृणमरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन !

बरसो सुख बन, सुषमा बन,
बरसो जग - जीवन के घन !
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !

(जून, १९३०)

३८

नीरव तार हृदय में
गूँज रहे हैं मंजुल लय में;
रहस स्पर्श से अरुणोदय में !
नीरव तार हृदय में—
चरण - कमल पर अर्पण कर मन,
रज - रंजित कर तन,
मधुरस - मज्जित कर मम जीवन
चरणाऽमृत - आशय मे !
नीरव तार हृदय में—
नित्य - कर्म - पथ पर तत्पर धर;
निर्मल कर अन्तर;
पर -सेवा का मृदु - पराग भर
मेरे मधु संचय में !

(१९१९)

३९

विहग के प्रति

विजन वन के ओ विहग कुमार,
आज घर - घर रे तेरे गान;
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान !

सहज चुन-चुन लघु तृण, खर, पात,
नीड़ रच-रच निशि-दिन सायास;
छा दिये तूने, शिल्पि सुजात,
जगत की डाल - डाल में वास !

मुक्त पंखों में उड़ दिन-रात,
सहज स्पन्दित कर जग के प्राण,
शून्य नभ में भर दी अज्ञात
मधुर जीवन की मादक तान !

सुप्त जग में गा स्वप्निल गान
स्वर्ण मे भर दी प्रथम प्रभात,

मंजु गुंजित हो उठा अजान
फुल्ल जग-जीवन का जलजात !
श्रान्त, सोती जब सन्ध्या-वात,
विश्व-पादप निश्चल, निष्प्राण,—
जगाता तू पुलकित कर पात
जगत-जीवन का शतमुख गान !
छोड़ निर्जन का निभृत निवास,
नीड़ में बँध जग के सानन्द
भर दिये कलरव से दिशि-ग्रास
गृहों में कुसुमित, मुदित, अमन्द !
रिक्त होते जब-जब तरु-वास
रूप धर तू नव-नव तत्काल,
नित्य नादित रखता सोल्लास
विश्व के अक्षय-वट की डाल !
मुग्ध रोओं में मेरे, प्राण !
बना पुलकों के सुख का नीड़,
फूँकता तू प्राणों में गान
हृदय मेरा तेरा आक्रीड़ !
दूर वन के ओ राजकुमार !
अखिल उर-उर में तेरे गान,
मधुर इन गीतों से सुकुमार,
अमर मेरे जीवन, मन, प्राण !
(अगस्त, १९३०)

४०

एक तारा

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त !
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर !
खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि हीन,
धूसर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण !
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या-प्रशान्ति को कर गभीर !
इस महा शान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो आर-पार !
अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन !
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल !

लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गयी नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर !

तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग !

मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल-कोमल
छाया तरु-वन में तम श्यामल !
पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमन्द नक्षत्र एक !

अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक !

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिये हुए ? किसके समीप ?
मुक्तालोकित ज्यों रजत सीप !

क्या उसकी आत्मा का चिर धन ? स्थिर अपलक नयनों का चिन्तन ?
क्या खोज रहा वह अपनापन !

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन !
आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन-विवेक !

चिर आकांक्षा से ही थर्-थर्, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर !

अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उडुगन,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन !

रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ? क्या नीरव-नीरव नयन सजल !
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल !

एकाकीपन का अन्धकार, दुस्सह है इसका मूक भार,
इसके विषाद का रे न पार !

× × ×

चिर अविचल पर तारक अमन्द !
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध !

वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन !

निष्कम्प शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत-जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र वह सम !

... ...

गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार
हलका एकाकी व्यथा भार !

जगमग-जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन !

(फरवरी, १९३२)

४१

चाँदनी

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि !

वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन
छू लेती अग-जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
जो लहराती जग-जीवन !

वह फूली बेला की वन
जिसमें न नाल, दल कुड्मल,
केवल विकास चिर निर्मल
जिसमें डूबे दश दिशि-दल !

वह सोयी सरित-पुलिन पर
साँसों में स्तब्ध समीरण,
केवल लघु-लघु लहरों में
मिलता मृदु-मृदु उर स्पन्दन !

अपनी छाया में छिपकर
वह खड़ी शिखर पर सुन्दर,
है नाच रही शत-शत छबि
सागर की लहर-लहर पर !

दिन की आभा दुलहिन बन
आयी निशि-निभृत शयन पर
वह छवि की छुई-मुई-सी
मृदु मधुर लाज से मर-मर !

जग के अस्फुट स्वप्नों का
वह हार गूँथती प्रतिपल,
चिर सजल-सजल करुणा से
उसके ओसों का अंचल !

वह मृदु मुकुलों के मुख में
भरती मोती के चुम्बन,
लहरों के चल करतल में
चाँदी के चंचल उडुगण !

वह लघु परिमल के घन-सी
जो लीन अनिल में अविकल,
सुख के उमड़े सागर-सी
जिसमें निमग्न उर-तट स्थल !

वह स्वप्निल शयन - मुकुल - सी
हैं मुँदे दिवस के द्युति दल,
उर में सोया जग का अलि,
नीरव जीवन - गुंजन कल !

वह नभ के स्नेह - श्रवण में
दिशि की गोपन - सम्भाषण,
नयनों के मौन मिलन में
प्राणों की मधुर समर्पण !

वह एक बूँद संसृति की
नभ के विशाल करतल पर,
डूबे असीम सुषमा में
सब ओर - छोर के अन्तर !

झंकार विश्व जीवन की
हौले - हौले होती लय
वह शेष, भले ही अविदित,
वह शब्द - मुक्त शुचि आशय !

वह एक अनन्त प्रतीक्षा
नीरव, अनिमेष विलोचन,
अस्पृश्य, अदृश्य विभा वह,
जीवन की साश्रु - नयन क्षण !

वह शशि किरणों से उतरी
चुपके मेरे आँगन पर,
उर की आभा में खोयी,
अपनी ही छबि से सुन्दर !

वह खड़ी दृगों के सम्मुख
सब रूप, रेख, रँग ओझल;
अनुभूति मात्र-सी उर में
आभास शान्त, शुचि, उज्ज्वल !

वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना - सी वह,
जिसमें अचेत जीवाशय !

(फरवरी, १९३२)

४२

अप्सरा

निखिल कल्पनामयि अयि अप्सरि !
अखिल विस्मयाकार !
अकथ, अलौकिक, अमर अगोचर
भावों की आधार !

गूढ़, निरर्थ, असम्भव, अस्फुट
भेदों की शृंगार !
मोहिनि, कुहकिनि, छल-विभ्रममयि,
चित्र - विचित्र अपार !
शैशव की तुम परिचित सहचरि,
जग से चिर अनजान
नव शिशु के सँग छिप-छिप रहती
तुम, मा का अनुमान;
डाल अँगूठा शिशु के मुँह में
देती मधु स्तन दान,
छिपी थपक से उसे सुलाती,
गा - गा नीरव - गान !
तन्द्रा के छाया-पथ से आ
शिशु-उर में सविलास,
अधरों के अस्फुट मुकुलों में
रँगती स्वप्निल हास,
दन्त-कथाओं से अबोध शिशु
सुन विचित्र इतिहास
नव नयनों में नित्य तुम्हारा
रचते रूपाभास !
प्रथम रूप-मदिरा से उन्मद
यौवन में उद्दाम
प्रेयसि के प्रत्यंग अंग में
लिपटी तुम अभिराम;
युवती के उर में रहस्य बन,
हरती मन प्रतियाम,
मृदुल पुलक-मुकुलों से लद कर
देह - लता छबि - धाम !
इन्द्रलोक में पुलक - नृत्य तुम
करती लघु - पद - भार,
तड़ित - चकित् चितवन से चंचल
कर सुर - सभा अपार।
नग्न देह में सतरँग सुरधनु
छाया - पट सुकुमार,
खोंस नील - नभ की वेणी में
इन्दु कुन्द - द्युति स्फार !
स्वर्गंगा में जल-विहार जब
करती, बाहु - मृणाल !
पकड़ पैरते इन्दु - बिम्ब के
शत - शत रजत मराल;
उड़ - उड़ नभ में शुभ्र फेन कण
बन जाते उडु - बाल,

सजल देह - द्युति चल लहरों में
बिम्बित सरसिज - माल !
रवि - छबि - चुम्बित चल जलदों पर
तुम नभ में, उस पार,
लगा अंक से तड़ित्-भीत शशि —
मृग - शिशु को सुकुमार,
छोड़ गगन में चंचल उडुगण
चरण - चिह्न लघु - भार,
नाग - दन्त - नत इन्द्रधनुष - पुल
करती तुम नित पार !
कभी स्वर्ग की थी तुम अप्सरि,
अब वसुधा की बाल;
जग के शैशव के विस्मय से
अपलक पलक - प्रवाल !
बाल युवतियों की सरसी में
चुगा मनोज्ञ मराल,
सिखलाती मृदु रोम हास तुम
चितवन-कला अराल !
तुम्हें खोजते छाया - वन में
अब भी कवि विख्यात
जब जग - जग निशि - प्रहरी जुगनू
सो जाते चिर प्रात;
सिहर लहर, मर्मर कर तरुवर,
तपक तड़ित् अज्ञात,
अब भी चुपके इंगित देते
गूंज मधुप कवि - भ्रात !
गौर - श्याम तन, बैठ प्रभा - तम,
भगिनी - भ्रात सजात
बुनते मृदुल मसृण छायांचल
तुम्हें तन्वि ! दिन-रात,
स्वर्ण - सूत्र में रजत - हिलोरें
कंचु काढ़ती प्रात,
सुरँग रेशमी पंख तितलियाँ
डुला, सिराती गात !
तुहिन - बिन्दु में इन्दु रश्मि-सी
सोयी तुम चुपचाप
मुकुल - शयन में स्वप्न देखती
निज निरुपम छवि आप,
चटुल लहरियों से चल - चुम्बित
मलय - मृदुल पद - चाप,
जलजों में निद्रित मधुपों से
करती मौनालाप !

नील रेशमी तम का कोमल
खोल - खोल कच - भार,
तार - तरल लहरा लहरांचल
स्वप्न-विकच स्तन-हार;
शशि - कर - सी लघुपद, सरसी में
करती तुम अभिसार,
दुग्ध - फेन शारद ज्योत्स्ना में
ज्योत्स्ना-सी सुकुमार !

मेंहदी - युत मृदु करतल छबि से
कुसुमित सुभग सिंगार,
गौर देह-द्युति हिम शिखरों पर
बरस रही साभार;
पद - लालिमा उषा, पुलकित - पर
शशि-स्मित घन सोभार,
उडु - कम्पन मृदु-मृदु उर-स्पन्दन,
चपल वीचि पद-चार !

शत भावों के विकच दलों से
मण्डित, एक प्रभात
खिली प्रथम सौन्दर्य पद्म - सी
तुम जग में नवजात;
भृंगों-से अगणित रवि, शशि, ग्रह
गूंज उठे अज्ञात,
जगज्जलधि हिल्लोल विलोड़ित
गन्ध-अन्ध दिशि-वात !

जगती के अनमिष पलकों पर
स्वर्णिम स्वप्न समान,
उदित हुई थी तुम अनन्त
यौवन में चिर अम्लान;
चचल अंचल में फहरा कर
भावी स्वर्ण विहान,
स्मित आनन में नव प्रकाश से
दीपित नव दिनमान !

सखि, मानस के स्वर्ग-वास में
चिर सुख में आसीन,
अपनी ही सुषमा से अनुपम,
इच्छा में स्वाधीन;
प्रति युग में आती हो रंगिणि !
रच-रच रूप नवीन,
तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्सरि !
त्रिभुवन भर में लीन !

अंग-अंग अभिनव शोभा का
नव वसन्त सुकुमार,

भृकुटि-भंग नव नव इच्छा के
भृंगों का गुंजार;
शत-शत मधु आकांक्षाओं से
स्पन्दित पृथु उर-भार;
नव आशा के मृदु मुकुलों से
चुम्बित लघु पदचार!
निखिल विश्व ने निज गौरव
महिमा, सुषमा कर दान,
निज अपलक उर के स्वप्नों से
प्रतिमा कर निर्माण,
पल-पल का विस्मय, दिशि-दिशि की
प्रतिभा कर परिधान;
तुम्हें कल्पना औ' रहस्य में
छिपा दिया अनजान!
जग के सुख-दुख, पाप-ताप,
तृष्णा-ज्वाला से हीन,
जरा-जन्म-भय-मरण-शून्य,
यौवनमयि, नित्य नवीन;
अतल विश्व शोभा वारिधि में
मज्जित जीवन-मीन,
तुम अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी;
निज सुख में तल्लीन!
(फरवरी, १९३२)

४३

नौका-विहार

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल!
अपलक अनन्त, नीरव भूतल!
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल!
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि-मुख से दीपित-मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल!
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर!
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर!

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर!

सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर !
मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर, लघुतरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालों के पर !
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण-भर !
कालाकांकर का राजभवन सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन
पलकों पर वैभव-स्वप्न सघन !

नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर !
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अन्तस्तल ;
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल !
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल !
लहरों के घूंघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक-रुक !

अब पहुंची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार !
दो बाँहों से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर !
अति दूर क्षितिज पर विटप-माल लगती भ्रू-रेखा-सी अराल,
अपलक-नभ नील-नयन विशाल;
मा के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप,
वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक !

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार !
डाँडों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार !
चाँदी के साँपों-सी रलमल नाचतीं रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं-सीं खिच तरल-सरल !
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ शशि, सौ-सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल !

अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह !

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार !
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम !
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन-नौका विहार !
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान !

४४

[क]

तेरा कैसा गान,
विहगम ! तेरा कैसा गान ?
न गुरु मे सीखे वेद पुराण,
न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान,
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य, रस, छन्दों की पहचान ?
न पिक - प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर, मनन, शकुनि नादान ;
हँसते है विद्वान्,
गीत खग, तुझ पर सब विद्वान् ।
दूर, छाया - तरु - वन में वास,
न जग के हास - अश्रु ही पास,
अरे, दुस्तर जग का आकाश,
गूढ रे छाया ग्रथित प्रकाश,
छोड़ पंखों की शून्य उड़ान,
वन्य खग ! विजय नीड के गान !

[ख]

मेरा कैसा गान,
न पूछो मेरा कैसा गान !
आज छाया वन-वन मधुमास,
मुग्ध मुकुलों में गन्धोच्छ्वास ;
लुढ़कता तृण-तृण मे उल्लास,
डोलता पुलकाकुल वातास ;

फूटता नभ में स्वर्ण विहान,
आज मेरे प्राणों में गान !
मुझे न अपना ध्यान,
कभी रे रहा न जग का ज्ञान !
सिहरते मेरे स्वर के साथ
विश्व - पुलकावलि से तरु - पात
पार करते अनन्त अज्ञात
गीत मेरे उठ सायं - प्रात;
गान ही में रे मेरे प्राण,
अखिल प्राणों में मेरे गान !
(जुलाई, १९२७)

४५

चींटियों की-सी काली पाँति
गीत मेरे चल फिर निशि - भोर,
फैलते जाते है बहु भाँति
बन्धु ! छूने अग-जग के छोर !

लोल लहरो - से यति-गति हीन
उमड़ - बह, फैल अकूल अपार,
अतल से उठ-उठ, हो-हो लीन
खो रहे बन्धन गीत उदार !

दूब से कर लघु - लघु पदचार—
बिछ गये छा - छा गीत अछोर,
तुम्हारे पदतल छू सुकुमार
मृदुल पुलकावलि बन चहुँ ओर !

तुम्हारे परस-परस के साथ
प्रभा में पुलकित हो अम्लान,
अन्ध-तम में जग के अज्ञात
जगमगाते तारों से गान !

हँस पड़े कुसुमों में छबिमान
जहाँ जग में पद - चिह्न पुनीत,
वहीं सुख के आँसू बन, प्राण !
ओस में लुढ़क, दमकते गीत !

बन्धु ! गीतों के पंख पसार
प्राण मेरे स्वर में लयमान
हो गये तुम से एकाकार
प्राण में तुम औ, तुम में प्राण !
(अगस्त, १९३०)

ज्योत्स्ना

सोमा को

सन्ध्या

ज्योत्स्ना — इन्दु

सुरभि — पवन

कल्पना — स्वप्न

उषा — अरुण

छाया, विहग, किरण, ताराएँ,

ओस, झींगुर, जुगनू, भृंग,

कुसुम, लहर, तितली,

आदि

सेवक-सहचर

एक

सिन्दूरी रंग के अस्ताचल पर, गेरू की ईंटों से निर्मित, सन्ध्या का एकान्त निवास; उत्तर, दक्षिण, पूर्व की ओर तीन बड़े-बड़े वृत्तचूड़ झरोखे, जिनमें हलके धानी रंग के परदे दूरवर्ती दिगन्त का आभास दे रहे हैं। पश्चिम की ओर प्रवाल का विशाल प्रवेश-द्वार, जिसके ऊपरी भाग में लाल पोतों की अर्धवृत्त लड़ियाँ झूल रही है। आसमानी रेशम की छत पर, इधर-उधर, साँझ के बादलों की टुकड़ियों की तरह, गुलाबी, रेशमी जालियाँ लटकी हैं; बीच-बीच में पक्षियों के दो-तीन उड़ते हुए चित्र कढ़े हैं।

मूँगे के फर्श पर, धुनी रुई की तरह, ढेर-ढेर कोमल सुनहला प्रकाश बिछा है; जिस पर गेरुए मलमल की धोती पहने, प्रौढ़-उम्र सन्ध्या, निष्कम्प दीप-शिखा की तरह, दत्तचित्त बैठी है। मृणाल-सी लम्बी, पतली, खुली बाँहें; वक्षःस्थल के माँझ के सरोज बारीक सुनहली कंचुकी से कसे; दमकते भाल पर दो-एक चिन्ता की रेखाएँ; भौंहें पतली, कुछ अधिक झुकी हुई; स्निग्ध, शारद आनन; शान्त, गम्भीर मुद्रा; कपोलों, कन्धों एवं पृष्ठ-भाग पर रुपहले-सुनहले बाल बिखरे।

सामने एक बड़ा-सा नीले रेशम का चँदोवा फैला है, जिस पर वह, कुछ चिन्तित भाव से, चाँदी के तार से सितारे काढ़ती एवं उत्सुक दृष्टि से बार-बार बाहर की ओर देखती जाती है।

प्रवेश-द्वार के सामने दूर तक फैला आँगन, जिसमें यत्र-तत्र कुन्द, बेला, जुही, चमेली की अधखिली कलियाँ महक रही हैं। एक ओर खूँटे पर बँधी, गेहुँए रंग की गाय आराम से बैठे-बैठे जुगाली कर रही है, दूसरी ओर सोने की किरणों का बड़ा सा खाली पींजड़ा पड़ा है। चहार-दीवारी के बाहर, चारों ओर, आम्र, अशोक, वट, पीपल आदि पेड़ों की पाँति क्षितिज-रेखा की तरह फैली है, जिसके अन्तराल से अस्तमित किरणें स्वर्ण-निर्झर की तरह फूट रही हैं।

नेपथ्य में संगीत-ध्वनि; सिर से पाँव तक लटकते हुए, पतले, ढीले, जाली के लबादे की तरह, एक असाधारण लम्बी, दुबली स्त्री-आकृति, वृक्षों के झुरमुट से बाहर निकल, गाती हुई, आँगन में टहलती है। यह स्त्री-आकृति छाया है, जो दोपहर की धूप न सह सकने के कारण, दिन-भर पेड़ों के नीचे सो रहने के बाद, स्निग्ध सन्ध्या का उपभोग करने बाहर निकली है, और बहुत प्रसन्न जान पड़ती है दिन-भर के आलस्य की थकान मिटाने के लिए अपने कुम्हलाये अंगों को बार-बार खींचकर ही मानो उसने अपनी आकृति इतनी लम्बी बना ली है। वह अपनी स्वच्छन्दता के सुख को गाकर, ताली देकर, हँसकर, कलियों की माला गूँथकर तरह-तरह से प्रकट करती है।

गीत

अलस पलक, सघन अलक,
श्यामल छबि छाया !
स्वप्निल मन, तन्द्रिल तन,
शिथिल वसन भाया !

जीवन में धूप-छाँह,
सुख-दुख के गले बाँह;
मिटती सुख की न चाह,
अमिट मोह माया !

जग के मग में उदास
आओ यदि, पान्थ ! पास,
हरूँ सकल ताप-त्रास,
शीतल हो काया !

[**छाया गाती, माला गूंथती प्रवेश-द्वार से अन्दर प्रवेश करती है ।**]

सन्ध्या : कौन छाया ?

छाया : (**सन्ध्या के खुले बालों में बेला-कलियों की माला पहनाती हुई, नमस्कारपूर्वक**) हाँ, मैं हूँ जीजी !

सन्ध्या : (**छाया की ओर स्नेह-दृष्टि से देखकर**) आज का वेश तो तेरा बड़ा विचित्र है री !

छाया : (**चाटु-तुष्टि से**) मेरे लबादे को कहती हैं ? यह बसन्त के नये कोंपलों की परछाईं है, जीजी ! सुबह उठी, तो देखा, मेरे अंगों में नया लबादा झूल रहा है । घर की छत के छिद्र हरी-भरी मरमराहट से भर गये हैं; उनसे अब धूप नहीं टपकती । इधर-उधर छितरी हुई शिशिर की धन्नियाँ-कड़ियाँ सर्वत्र हरियाली से लिप-पुत गयी हैं । पैरों के नीचे कोमल हरित फर्श अंकुरित हो उठा है । मारे खुशी के मेरे कुम्हलाये अंग जैसे खिल उठे ! उन पल्लवों की अस्फुट मर्मर से स्वर मिलाकर मैं कब तक गाती रही, कब दोपहर हुआ, कब सो गयी---कुछ भी याद नहीं ! दिन-भर नये बौरों की सुगन्ध के साथ भौंरों की गूंज ने मन में पैठकर कितने ही मधुर स्वप्नों की सृष्टि कर डाली ! दिन ढल चुकने पर जब आँखें खुलीं तो किसी तरह आलस की थकान दूर कर आपसे मिलने चली आयी ।

सन्ध्या : मैं पहले ही समझ गयी थी री तेरे स्वर में अब तरुण पत्रों का मर्मर एवं नये वसन्त का उल्लास भर गया है ।

छाया : (**प्रसन्न होकर**) मैं कभी एक-सी नहीं रह सकती, जीजी ! प्रत्येक घड़ी बदलती रहती हूँ । जब जैसी हवा चलती है, अपने को वैसा ही पाती हूँ । मैं क्या हूँ, मैं स्वयं नहीं जानती !

सन्ध्या : (**स्नेह के तिरस्कार से**) तभी तो तुझे माया कहते हैं ।

छाया : (**हंसती है**) आपको सदैव मैं वैसा ही देखती आयी हूँ, जीजी ! शिशिर-वसन्त, शीत-ताप, बाल्य-यौवन के परे, इस

कर्म और आकांक्षामय विश्व के अस्ताचल पर आपका आसन पहले ही से अटल है। आपके तापसी वेश और सेवामूर्ति के सामने सूर्य का प्रकाश भी मन्द पड़ जाता है। वे इस विश्व-चक्र के साथ घूमते रहने पर भी आपके श्री-चरणों में विनत पद्म-अंजलि देना नहीं भूलते।

सन्ध्या : (**सितारे काढ़ती हुई**) तू आजकल वाक्-पटु भी हो गयी है।

छाया : (**ध्यानपूर्वक नीले रेशम के चँदोवे को देखती हुई, उसका सिरा हाथ में लेकर**) लेकिन, आज यह क्या देख रही हूँ, जीजी! आपकी छत्र-छाया तो अपनी ही नीरव शान्ति के लिए प्रसिद्ध है। उसमें यह लोलुप आँखों की उत्सुकता कहाँ से आ गयी? मेरी ओर कोई इस तरह आँखें फाड़कर देखे, मैं तो सहमकर मर जाऊँ, इसीलिए रजनी जीजी के यहाँ—

सन्ध्या : तुझे नहीं मालूम क्या, आज वसन्त-पूर्णिमा है? तू तो इन्दु को जानती ही है।

छाया : जानती क्यों नहीं, रजनी जीजी के अनुरूप ही उनका लाड़ला लडका है, जिसे दुलार से चन्दो-चन्दो कहकर उन्होंने आसमान पर चढा दिया है। विलास की सजीव प्रतिमा! उसके कलंक की बात भला संसार मे किससे छिपी है?

सन्ध्या : दुर, पगली! तू कला के महत्त्व को क्या समझे? इन्दु का सौन्दर्य-बोध और कला-प्रेम स्वर्ग मे भी प्रसिद्ध है, इसी से उसे कलाधर, कलानाथ की उपाधि मिली। संसार को पहले उसी ने सौन्दर्य के सम्मोहन का परिचय दिया। उसी ने जीवन के जड निश्चेष्ट समुद्र में उच्चाकांक्षाओं की तरंगें उठायीं। मनुष्य का हृदय अनादि काल से इच्छाकांक्षाओं में लहराता रहा है। इन्दु ने ही प्रकृति के सौन्दर्य को पहचान-कर उसे अपनी कला से सजीव किया।

छाया : (**विनम्र हो**) जीजी, मै क्या जानूँ जीवन क्या है, कला क्या है। मैं जो पूछ रही थी—

सन्ध्या : वही तो तुझे समझा रही हूँ। सुन, आज वसन्त-पूर्णिमा है। आज इन्दु अपने शासन की बागडोर बहू ज्योत्स्ना को देनेवाला है। उसी के राज्याभिषेक के लिए मैं यह छत्र बना रही हूँ। आज से संसार में आदर्श साम्राज्य स्थापित होगा। ज्योत्स्ना के जीवन का ध्येय विलास नहीं, प्रेम है। वह अपने साम्राज्य में स्नेह, सहानुभूति, सौन्दर्य आदि उन्नत भावनाओं का प्रचार करेगी।

छाया : (**आश्चर्य से**) ज्योत्स्ना का राज्य? वह जिसे गाँव-भर में जुन्हाई, जम्हाई, न-जाने क्या कहते हैं! उसी ज्योत्स्ना का आदर्श साम्राज्य?

सन्ध्या : हाँ, आदर्श साम्राज्य! वह मनुष्य के हृदय में नवीन कल्पना, नवीन उच्छ्वास, उसकी पलकों में नवीन सौन्दर्य, नवीन स्वप्नों की सृष्टि करेगी। पशु-वृत्तियो से मनुष्य को ऊपर उठाकर उसके स्वभाव को मार्जित बनायेगी। चारों ओर स्नेह,

सुख, सौन्दर्य, संगीत का सागर उमड़ उठेगा। एक शब्द में, संसार में स्वर्ग उतर आयेगा।

छाया : (**आनन्द और आश्चर्य से**) संसार में स्वर्ग ! ऐसा क्या सम्भव हो सकता है, जीजी ?

सन्ध्या : संसार कभी से आदर्श स्थिति के स्वप्न देखता आ रहा है। मनुष्य अपनी उर्वर बुद्धि के अनेक विचारों, हृदय की मनोरम भावनाओं-कल्पनाओं से निर्मित, सब प्रकार से पूर्ण, आदर्श परिस्थितियों के लोक में रहना चाहता है। समय-समय पर उसने जीवन की पूर्णता को अनेक स्वरूप दे डाले हैं। ज्ञान-विज्ञान के बल से अनेक मानसिक, भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली है। अब वह आदर्श स्थिति का उपभोग करना चाहता है।

छाया : विधाता के विधान का रहस्य अज्ञेय है, जीजी ! मैं अनादि काल से देखती आयी हूँ, संसार में चिरकाल तक कोई भी स्थिति नहीं ठहर सकती; इससे सृष्टि के स्वतन्त्र विकास में बाधा पड़ती है।

[**सहसा दक्षिण की खिड़की का परदा हिलने लगता है। पवन झरोखे से कूदकर अन्दर आता है। पवन सुन्दर, स्वस्थ, अनिलातप से पोषित स्मितमुख युवक; बदन में हलके आसमानी रंग की जाली, जिसमें यत्र-तत्र फूलों का पराग लगा है; घुँघराली, भरी अलकों से उलझी कलियाँ; हाथ में आम की मंजरी, गले में पत्तों की लचीली टहनी का धनुष। पवन के प्रवेश करते ही कमरा सुगन्ध से भर जाता है, वह गहरी साँसें ले रहा है।**]

पवन : (**स्नेह-मिश्रित स्वर में**) चाची, ओ चच्ची !

सन्ध्या : क्या है रे ?

[**पवन छाया को देखकर, अट्टहास कर डराने के अभिप्राय से दोनों हाथ उसे पकड़ने के लिए फैलाकर, चारों ओर घूमने लगता है। छाया भयभीत हो, थर-थर काँपती हुई द्वार की ओर भागती है।**]

सन्ध्या : ओ गँवार, ओ धूर्त !

छाया : (**आँगन की ओर दौड़ती**) जाती हूँ, जाती हूँ।

सन्ध्या : (**आर्द्र स्वर में**) जाओ, छाया। तुम दोनों तो साथ रह ही नहीं सकते !

छाया : (**रुष्ट होकर**) धूर्त अन्धड का कुपूत ! संसार-भर के कूड़े की टोकरी ढोनेवाला !

[**पेड़ों की आड़ में ओझल हो जाती है**]

पवन : (**सन्ध्या का अंचल झकोरता हुआ**) थक गया हूँ, चाची ! थककर चूर-चूर हो गया हूँ।

सन्ध्या : (**स्नेह-उपालम्भ से**) थकेगा नहीं, तो क्या होगा ? एक जगह तेरे पाँव रहते हैं ? दिन-भर धूप में आवारा फिरता है।

पवन : (**हाथ पर हाथ मारकर**) आज दिन-भर शिकार के पीछे

जंगलों में भटकता रहा ! जिधर निकला, भयभीत हिरनों के झुण्ड की तरह ढेर-ढेर पत्तों को मार भगाया ! वन की भोली-भाली प्रजा डर से काँपकर पीली पड़ जाती थी ! बड़ा आनन्द रहा ! मारे प्यास के गला सूख गया, तो एक बड़ी-सी झील में कूद पड़ा, लहरों के फनों पर सवार हो उन्हें नचाया ! इस कालिय-दमन के बाद, घण्टों फेन की गोलियाँ बना, मछलियों को छकाता रहा ! जब जी ऊब गया, जाकर देर तक पके हुए गेहूँ और सरसों के खेतों में झूलता रहा ! (**फिर ताली देता है**) अभी घर लौट रहा था, रास्ते में, दक्षिण ओर, नदी किनारे, कुछ बादलों के दल, बगुलों की तरह पंख फैलाये, कतार बाँधे उड़ रहे थे; उनका पीछा किया। ऐसे छक्के छुड़ाये कि सिर पर पैर रख भागते नजर आये ! (**अट्टहास**)

सन्ध्या : तेरा लड़कपन न-जाने कब छूटेगा ! खेलने-कूदने के सिवा कोई चिन्ता ही नहीं ! जा, बहुत हुआ, अब उस पीपल के पेड़ पर जाकर आराम कर।

पवन : पीपल पर मैं नहीं सो सकता, चाची ! चिकने-चिकने नये पत्तों के झूले में झूलने को जी करता है।

सन्ध्या : पागल कहीं का ! जा, आम में नये बौर आये हैं, उनकी गन्ध पीकर तू झूमने लगेगा, बड़ी जल्दी पलकें झँप जायेंगी।

पवन : वहाँ भौंरों का जो डर रहता है ! गाना क्या आता है, बस हर घड़ी गुनगुनाते रहते हैं। मेरी तरह सीटी बजायें, तो जानूँ। मैं बरगद पर जाकर सोता हूँ, चाची !

[**पवन गाता, सीटी बजाता, ताली देता आँगन की ओर आता है।**]

गीत

सर् सर् मर्-मर् झन्-झन् सन्-सन्—
गाता कभी गरजता भीषण,
वन-वन, उपवन,
पवन, प्रभंजन !

मेरी चपल अँगुलियों पर चल
लोल लहरियाँ करता नर्तन,
अधर-अधर पर धर चल चुम्बन,
बाँह-बाँह में भर आलिंगन ! सर्-सर्—

मेरा चाबुक खा, मृगेन्द्र-सा
आहत घन करता गुरु गर्जन,
अट्टहास कर, विद्युत् पर चढ़,
जब मैं नभ में करता विचरण ! सर्-सर्—

[**पवन वट के पास जाकर अदृश्य हो जाता है। दूर से उड़ता हुआ सुग्गा आकर गाय की पीठ पर बैठता और पुकारता है।**]

सुग्गा : अम्मा, अम्मा !

सन्ध्या : (**प्रसन्न मन, द्वार के पास खड़ी होकर**) आ गया तू ? सब

कुशल से तो हैं ?

[**सुग्गा आठ साल का लड़का, हरे वस्त्र, गले में लाल रेशमी रुमाल बाँधे, दिन-भर के बाद, शाम को घर लौट आने की प्रसन्नता में, कुन्द की झाड़ियों में इधर-उधर फुदकता, गरदन मटका-मटकाकर कहता है—**]

सुग्गा : आ गया, मैं आ गया !

सन्ध्या : (**स्नेह-उपालम्भ से**) क्यों रे, तुझे घर आने की बड़ी उतावली रहती है न ? मुनिया को कहाँ छोड़ आया ?

[**पूर्व दिशा से पक्षियों के चहकने का स्वर सुनायी पड़ता है ।**]

सुग्गा वह सुनो, मैया हरियल सबको लिये आ रहे हैं ।

सन्ध्या : अच्छा, सबको आ जाने दे; समय भी हो गया, मैं ठाकुरजी के द्वार में दीया जला आती हूँ । (**भीतर प्रवेश**)

सुग्गा : सत्यं, शिवं, सुन्दरम्; सत्यं, शिवं, सुन्दरम् । (**रटता है**)

[**सन्ध्या छत पर नीली रेशमी डोरी से टँगे, चाँदी के छोटे-से डिब्बे को नीचे उतारती और उसका ढकना खोलकर रस्सी को फिर ऊपर चढ़ा देती है । चमचमाते हीरे की तरह शुक्र का प्रकाश कमरे में फैल जाता है । सन्ध्या घुटनों के बल बैठ, आँखें मूँद, हाथ जोड़ ईश-वन्दना करती है ।**

बाहर झुण्ड-झुण्ड पक्षी आकर आँगन में चहकते हैं । सन्ध्या के बाहर आते ही मुनिया, फुलसुँही, खंजन, चटक आदि उसके चारों ओर पंख फड़फड़ाकर मँडराते एवं कन्धों, बाँहों और गोद से लिपट एक साथ पुकारते हैं ।]

पक्षी : अम्मी, अम्मी !

[**मुनिया, खंजन, फुलसुँही, कुररी, श्यामा, हरियल, महोख, कपोत, कोयल, चटक, नीलकण्ठ आदि सब अपने-अपने रंग-बिरंगे परों से भूषित, छोटे-बड़े बालक-बालिकाओं के रूप में अभिनय करते हैं ।**]

सन्ध्या : (**वात्सल्य से**) सब बच्चे आ गये ? आ गयी मुनिया, आ गये खंजन ? मेरी आँख का तारा ! (**फुलसुँही के ऊपर हाथ फेरती हुई**) तू भी आ गयी फूलकुमारी, रानी बिटिया ! (**प्यार करती है**)

फुलसुँही : मैं रानी बिटिया हूँ ! सूँघो, अम्मा ! मेरा मुँह सूँघो । बताओ, किस फूल का पराग है ? अच्छा, मेरे पंख सूँघो, आती है गुलाब की महक ?

सन्ध्या : पगली !

गुलदुम : फूल, अम्मा से क्यों पूछती है ? अम्मा को गन्ध-मरन्द की बिलकुल भी पहचान नहीं । आ, मैं बताऊँ ।

[**दोनों फुदककर बेला, चमेली, गुलाब की झाड़ियों के पास जाते हैं ।**]

चटक : (**सामने आकर**) अम्मी, ओ अम्मी !

सन्ध्या : क्या है रे चिरौंटे ? थक गया क्या? बड़ा चंचल, बड़ा नटखट है ! (कुररी की ध्वनि)
वह कौन ? कुररी आ रही है क्या ?

महोख : (अपने भारी स्वर में) अम्मा, यह हमेशा पिछड़ जाती है, बड़ी बोदी है ।

कुररी : और तू ?

महोख : मेरे तो पंख ही साँझ के हैं, देखती नहीं । (अपने सिन्दूरी पंख फड़फड़ाता है) मैं ही तो अपने पंखों पर साँझ को लाता हूँ ।

तीतर : (बुलबुल से) आज की बाजी मेरे हाथ रही । (गरदन झटकाकर हर्ष प्रकट करता है)

बुलबुल : मुझे लड़ना बिल्कुल पसन्द नहीं, विवश होकर ऐसा करना पड़ता है । (गुलाब का फूल सूंघता है)

हरियल : ओह ! आज गोली के निशाने से बाल-बाल बचा ! अभी तक जी धड़क रहा है ।

लवा : (सहानुभूतिपूर्वक) मनुष्यों की यह कैसी निर्दयता है । हमारे आकाश से उन्मुक्त पंखों के आनन्द को देख नहीं सकते !

[आम की डाली पर कोयल कूक उठती है। मोर अपना वहं-भार फैलाकर सन्ध्या के पैरों से लिपटता है ।]

सन्ध्या : (मोर के पीठ पर हाथ फेरती) सब बच्चे आ गये ? आरती का समय टल रहा है । आओ, मिलकर आरती गा लो ।

[सब पक्षी दोनों ओर अर्धवृत्त पाँति में बैठ, सन्ध्या का अनुसरण कर आरती गाते हैं। नेपथ्य में वीणा, बेला, क्लेरिओनेट आदि बाजे बजते हैं। मधुर-श्लक्ष्ण, कोमल-तीव्र स्वरों के मिश्रण से वायु-मण्डल गूंज उठता है ।]

गीत

जीवन का श्रम-ताप हरो, हे !
सुख-सुखमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जन-गृह-द्वार भरो, हे !
लौटे गृह सब श्रान्त चराचर,
नीरव तरु-अधरों पर मर्मर,
करुणा-नत निज कर-पल्लव से
विश्व-नीड़ प्रच्छाय करो, हे !
उदित शुक्र, अब अस्त भानु-बल,
स्तब्ध पवन, नत-नयन पद्म-दल,
तन्द्रिल पलकों में निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बनकर विचरो, हे !

[आरती समाप्त हो जाने पर कुछ पक्षी पंखों में मुंह छिपाकर सोने का उपक्रम करते हैं, कुछ अपनी चोंचें बच्चों के मुंह में डाल उन्हें खिलाते हैं ।]

कोयल : अम्मी, मैं आम की डाल पर सोता हूँ ! (प्रस्थान)

हरियल, नीलकण्ठ } हम पीपल पर सोयेंगे, वहाँ ठण्डी हवा मिलती है।

(प्रस्थान)

चटक खंजन } हम बाँसों के झुरमुट में छिप जाते हैं। (प्रस्थान)

सुग्गा आदि : हम तो पिंजड़े में सोयेंगे।

[मैना, श्यामा, सुग्गा, लाल, अगिन आदि पिंजड़े में सोने का उपक्रम करते हैं :

चकोर : चार दिन की चाँदनी यौवन! इसमें प्रेम के अंगारे चुगने ही में आनन्द है! जीवन के रुपहले पलों को निद्रा की विस्मृति में खोना मूर्खता नहीं, तो क्या है? जाऊँ, किसी एकान्त सरित-पुलिन पर बैठकर, पूनो की अपार चांदनी में, अनिमेष आँखों से, प्रेयसी के चन्द्र-मुख की शोभा का पान करूँ। (प्रस्थान)

टिटहरी : मैं भी जाती हूँ, कहीं हम पर आसमान न टूट पड़े, हवा में टँगकर उसे रोकती हूँ। (प्रस्थान)

[सन्ध्या आँगन की चहारदीवारी से सटा आबनूस का बड़ा-सा किवाड़ बन्द कर देती है। अन्धकार के काले परदे में सारा दृश्य ओझल हो जाता है।]

दो

रात्रि का प्रथम प्रहर। इन्दु का विशाल, अष्टकोण, नीलम का अन्तःपुर; नीहार की आसमानी छत पर जाज्वल्यमान मणि-रत्नों का नक्षत्र-लोक अविराम-लय में घूमकर शीतल प्रकाश विकीर्ण कर रहा है। वायु-मण्डल में, मधुर झंकारों की तरह, विद्युत् रेखाएँ लहरा कर विलीन हो रही हैं। शीशे की विशाल शिलाओं से खचित दीवारों के निम्न भागों में एक ही आकृति अनेक प्रतिच्छवियों का रूपाभास प्रतिफलित करती है। ऊपरी भाग में, प्रवाल के फ्रेमों में, सुरांगनाओं के पूर्णाकृति, निरावृत चित्र टँगे हैं।

मुख्य दिशाओं की ओर चार दीवारों में चार विशाल वृत्तचूड द्वार है, जिनमें किरणों की डोरियों में गुँथी ओस की लड़ियाँ झिलमिला रही हैं। शेष दीवारों में चार बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ, जिनमें बिजली से आलोकित बादलों के पतले-पतले परदे पड़े हैं।

अन्तःपुर का घन-तरल नीहारिका का फर्श सुर-बालाओं के चंचल पद-क्षेपों में स्पन्दित हो, पद-तलों को चूम, प्रतिपल पद्म-बिम्बों से खिल-खिल उठता है; और कमरे के बीच में तरंग की तरह उठकर, निश्चल हो, अँगूठे के बल नृत्य-भाव में झुकी हुई अप्सरा की आकृति का अर्ध-वृत्त तल्प बन गया है, जो बैठते ही संकोच के कारण मन्द गतिलय में दोलित होने लगता है। तल्प पर कोमल-धवल बादलों की रोमिल तहें बिछी हैं, जिनसे लटकती हुई बिजली की रुपहली-सुनहरी रेखाएँ, जरी की झालर की तरह, झूल रही हैं। तकियों के स्थान पर मन्दार, मल्लिका, पारिजात के ढेर हैं। पास ही हाथी-दाँत की छोटी-सी मेज पर, सुधा से

पूर्ण स्फटिक की पारदर्शी सुराही और शंख का प्याला रखा है। स्वर्गीय सौरभों की साँसों से अन्तःपुर महक रहा है।

मुख्य द्वारों से चित्रा, रोहिणी, विशाखा, पुष्पा आदि ताराओं का गाते हुए प्रवेश : आठ से चौदह साल तक की कुमारियाँ, अंगों में हल्की दूध-फेन-सी बादलों की जाली लिपटी है; रुपहली अलकों में कुन्द के फूल। ताराएँ अंग-भंगी पूर्वक तल्प के चतुर्दिक् घूमकर हिलते हुए नीलिमा के चिकने फर्श पर, नृत्य करती एवं गाती हैं।

नृत्य गीत

कुन्द-धवल, तुहिन तरल,
तारा-दल, ए—
नारक चल हिम-जल-पल,
नील-गगन विकसित दल
नीलोत्पल, ए—(हम)—
नृत्य-निरत सकल सतत,
रवि, शशि, उड्, ग्रह अविरत
पुलकित अणु-अणु गति-रत,
प्रेम-विकल, ए—(हम) —
निखिल जगत प्रेम-ग्रथित,
मोहित चर-अचर भ्रमित,
प्रेम अजर, अमर प्रथित,
जीवन चल, ए—(हम)—

[अचानक एक हिरन कमरे में घुसकर उनके चारों ओर दौड़ने लगता है। हिल्लोलित फर्श पर उसके पाँवों की अस्पष्ट चाप सुनकर, सब ताराएँ कानों में उँगलियाँ डाल, एक-दूसरे की ओर देखती हैं। गीत-नृत्य थम जाता है।]

रोहिणी : आर्द्रा, जा तो, इस उद्धत हिरनौटे को जल्दी से रजनी जीजी की कज्जल-कोठरी में बन्द कर आ। सम्राज्ञी ज्योत्स्ना स्वर्गंगा में जल-विहार कर आती ही होंगी। इस प्रकार का उत्पात-उपद्रव वह नहीं सह सकतीं। अभी उस रोज बहन पुष्पा, नृत्य करते-करते, नीहार के आँगन के चिकने फलक पर फिसल गयी थी—

विमला : (**आश्चर्य भाव से**) हाँ?

रोहिणी : तू अभी नयी आयी है, बहन! इस तरह कई तन्वंगी ताराएँ नृत्य के उल्लास में फिसल पड़ती हैं। मर्त्य-लोकवाले इसे तारे का टूटना कहते हैं। हाँ, हमारी सम्राज्ञी उसके गिरने की आवाज से मूर्च्छित होते-होते बचीं। तभी से उन्होंने एक नवीन प्रकार के भाव-नृत्य एवं मूक अभिनय की सृष्टि की है। इन्द्रलोक के कुशल कलाविद् और गन्धर्व, खासकर काने आचार्य, उस नृत्य की बड़ी प्रशंसा करते हैं।

[आर्द्रा हिरन को पकड़ ले जाती है]

चित्रा : वह देखो, सम्राट् और सम्राज्ञी आ रहे हैं।

[इन्दु और ज्योत्स्ना का प्रवेश। साथ में चारों ओर

मोतियों की बौछारें करती हुई ताराएं। सारा अन्तःपुर आलोक से हँस उठता है। इन्दु सुन्दर, स्वस्थ युवक; स्मिति-दीप्त आनन आभा-चक्र से शोभित है; चूर्ण रुपहली अलकों में चन्द्रमणि का तरल-आलोक जगमगा रहा है, बदन से चिपका हुआ रुपहली रश्मियों का चुस्त अँगरखा, जिसमें बाँहें नहीं। बायीं बाँह में आलोक-कनियों का केयूर; कमर से नीचे आधी जांघों तक गलित मोतियों की लड़ियां लटक रही हैं, पाँवों में चाँदी के तार का फुलस्लीपरनुमा जूता। गले में फूलों का धनुष, बायें हाथ में फूलों का बाण। दायाँ हाथ शश-शावक को छाती से चिपकाये, और बायीं बाँह ज्योत्स्ना के कटि-प्रदेश से लिपटी है।

ज्योत्स्ना अनिन्द्य सुन्दरी, आलोक-बिम्ब आनन; उषा-स्मित कपोल; विशाल नील-नभ नयन; प्रलम्ब, पक्ष्मिल पलकें; विद्युत-रेखाओं-सी भृकुटि; प्रवाल-ज्वाल अधर; मुक्तातप दशन, लम्बी सौन्दर्य-शिखाओं-सी उँगलियाँ, आलोक-रोओं की आधी-बाँह कंचुकी; कदम्ब-गेंद-से उठे उरोज; सलमे-सितारे की हलकी नीहारिका की साड़ी; पृष्ठदेश से लहराती हुई रेशमी चाँदनी, बादलों से छनते हुए आलोक-प्रसार की तरह झूलकर, फर्श को चूम रही है: जिसके दोनों ओर लटकती हुई ओस की लड़ियों के छोर ताराएँ पकड़े हैं। गोरी कलाइयों में किरणों में गुम्फित स्वर्नदी के दो स्फार मुक्ताफल, गले में ताराबिन्दुओं की एकावली; जिसमें तरल के स्थान पर इन्दु का छोटा-सा चित्र, इन्दु के बायें कन्धे पर दायाँ कपोल, एवं दायीं बाँह बायीं बाँह में डाले है।

छोटी ताराएँ इन्दु के आने पर धीरे-धीरे अदृश्य हो जाती हैं। चित्रा, आर्द्रा आदि तल्प के चारों ओर अनेक राशियों में विभक्त हो, मौन-नाट्यपूर्वक भावनृत्य करती हैं।]

इन्दु : (प्रवेश करते हुए) तुम्हें कुछ भी अदेय नहीं, प्रिये! (कुसुम-बाण को मेज पर, शश-शावक को तल्प पर रख) मैं अपने समस्त शासनाधिकार तुम्हें सौंप चुका हूँ। आज पृथ्वी पर सम्राज्ञी ज्योत्स्ना का साम्राज्य रहेगा, यह बात स्वर्ग में प्रसिद्ध हो चुकी है। तुम संसार में नये युग की विभा बनकर अवतीर्ण होओ। नव-जीवन की सन्देश-वाहक बनकर प्राणियों को प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श दिखाओ। तुम्हारे हृदय को मैं समझता हूँ, वह जीवमात्र के सुख एवं कल्याण की कामना से ओत-प्रोत है।

ज्योत्स्ना : स्वामी का मुझ पर अटल स्नेह एवं विश्वास है, इससे मैं कृतार्थ हो गयी। मैं देख रही हूँ, नाथ! मर्त्यलोक से मान-वीय भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम-विश्वास,

सत्य-न्याय, सहयोग और समत्व, जो मनुष्य-आत्मा के देव-भोजन हैं, एकदम दुर्लभ हो गये हैं। पशु-बल, घृणा, द्वेष और अहंकार सर्वत्र आधिपत्य जमाये हैं। अन्ध-विश्वासों की घोर अन्ध-निशा मे, चारों ओर जाति-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भाषा-भेद, देशाभिमान, वंशाभिमान, दानवों की तरह किमाकार रूप धरकर मानवता के जर्जर हृदय पर ताण्डव-नृत्य कर रहे हैं। विश्व का विशाल आँगन, राष्ट्रवादों की व्योमचुम्बी भित्तियों से अनेक संकीर्ण काराओं में विभक्त हो गया है, जिनके शिखरों पर दिन-रात, विनाश के बादल घुआँधार मँडरा रहे हैं। अर्थ और शक्ति के लोभ में पड़कर, संसार की सभ्यता ने, मनुष्य-जाति के उन्मूलन के लिए, संहार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी!

इन्दु : संसार की समस्या का तुमने जो निदर्शन किया, वह सत्य है, रानी! स्वर्ग के वायुमण्डल के निचले स्तर आजकल मर्त्य-लोक की आर्त पुकारों से पीड़ित हो उठे हैं। जीव-मात्र की चिन्ता में निरत स्वर्ग के देवता संसार के भविष्य के लिए शंकित एवं उद्विग्न हो उठे हैं। मनुष्य-जाति के भाग्य का रथ-चक्र इस समय जड़वाद के गहरे पंक में धँस गया है। शासक-शासित, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षितों के बीच बढ़ते हुए भेद-भावों की दुरन्त खाई, मानव-सभ्यता को निगल जाने के लिए मुँह बाये हुए है। मनुष्य के आत्म ज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद-विवादों के मरु में लुप्त हो गया है। और, सभ्य जातियाँ इन्द्रिय-परायणता की मृग-तृष्णा में भटककर सन्देह-वादिनी हो गयी हैं।

जाओ रानी! देवगण तुम्हारे सहायक हों। तुम संसार में अवतरित होकर मानव-जाति को सत्य और समत्व का सन्देश दो। विश्व के लिए प्रेम के प्रकाश का नवीन केन्द्र बनो; जिसके चारों ओर, सौरमण्डल की तरह, वर्तमान अनेक संस्कृतियाँ, वाद-विवाद, ज्ञान-विज्ञान, राष्ट्र-जातियाँ, अर्थ और शक्तियाँ, यथ स्थान एकत्रित होकर, एक विराट् विश्व-संस्कृति की परिधि के भीतर, भविष्य के आकाश मे नृत्य करने लगें। तुम जाकर, अनादि काल से अनन्त गता-गत जीवों की भावनाओं से पोषित, प्राणि-मात्र के अनश्वर स्नेह से सिंचित, स्वयं जाग्रत, आत्म-प्रकाश के प्रदीप को, विश्व-भर के कल्याण के लिए मानव-जाति के हाथों में रख आओ।

ज्योत्स्ना : **(हाथ जोड़कर गद्गद स्वर में)** स्वामी का आशीर्वाद सफल हो।

इन्दु : मैं अभी तुम्हारी यात्रा का प्रबन्ध किये देता हूँ। **(पुकारता है)** खेचर! खेचर!

(पुष्य का प्रवेश)

पुष्य : **(झुककर)** स्वामिन्!

इन्दु : कौन ? पुष्य तुम्हारे मुख पर सदैव कुहासा ही रहता है ! जाओ, किरणों से कहो, सम्राज्ञी ज्योत्स्ना का यान सुसज्जित कर शीघ्र उपस्थित करें। सम्राज्ञी छाया-पथ से मनुष्य-लोक की यात्रा करेंगी।

पुष्य : जो आज्ञा स्वामिन् ! **(प्रस्थान)**

इन्दु : आओ रानी, जाने से पहले तुम्हारे साथ कुछ मनोरंजन कर लूं। फिर भला सम्राज्ञी को इस सेवक की सुधि कहाँ रहेगी ?

[इन्दु ज्योत्स्ना को बाँह पकड़कर तल्प पर बिठाता है। तल्प एक मधुर गीत-लय के साथ दोलित हो उठता है। ऊपर, छत्र की तरह, दो बादलों के टुकड़े अपने पंख फैलाकर मँडराने लगते हैं, जिन पर दो इन्द्र-धनुषी आभा के मण्डल चक्राकार घूमते हैं।]

ज्योत्स्ना : सुधि ? **(हार का तरल दिखाकर)** आप ही की छवि तो निरन्तर मेरे हृदय-स्पन्दन में झूमती है, नाथ ! अच्छा, क्या मुझे मर्त्य-लोक में आकर दर्शन दीजियेगा ?

इन्दु : जब भी तुम मेरा स्मरण करोगी, मैं मनोगति से आकर तुमसे मिलूंगा, प्रिये !

ज्योत्स्ना : इस स्वर्ग-सुख को छोड़कर ?

इन्दु : जहाँ तुम रहो, वही मेरा स्वर्ग है, कुमू !

[इन्दु मेज पर से सुराही उठाकर शंख के प्याले में अमृत उँडेलता और ज्योत्स्ना के ओठों तक ले जाकर उत्सुक दृष्टि से उसका मुख देखता है। ज्योत्स्ना अपनी प्रलम्ब पलकें प्याले की ओर झुकाकर हँस पड़ती एवं ओठ फेर लेती है।]

ज्योत्स्ना : ऊँ हूँ, मैं पान नहीं करूँगी। फूल में विकास की तरह हृदय में जो सहज प्रसन्नता व्याप्त है, वह क्या कम है ? मैं पान नहीं करूंगी, नाथ !

इन्दु : **(पीता हुआ)** जानता हूँ, तुम्हारे अधरामृत को यह देवलोक का अमृत नहीं पा सकता। पर जब मैं सुधा-पात्र को तुम्हारे लाल-लाल ओठों के पास ले जाता हूँ, उसकी बूंद-बूंद में सुरा का रंग आ जाता है; जैसे ओस के सरोवर में उषा उदय हुई हो। मैं पूछता हूँ, यह जड़ अमृत भी तुम्हारे ओठों से सहमकर लज्जा से लाल हो उठता है ?

ज्योत्स्ना : **(स्नेह-तिरस्कार से)** आपको सुधा-पान और रसिकता के सिवा कोई काम भी है ?

इन्दु : यही नहीं, जब तुम इस सुराही की ओर चंचल चितवन फेरती हो, मुझे भ्रम हो जाता है, इसमें मछलियाँ खेल रही हैं ! जानती हो, किसकी चितवन की चाँदनी से सरोवर में सरोज सहम जाते हैं ?

ज्योत्स्ना : **(लज्जाधीर होकर)** रहने दो, स्वामी !

इन्दु : तुम्हारे मुख से शशि का स्नेह-सम्बोधन कभी से नहीं सुना, कुमू !

ज्योत्स्ना : **(प्रेम-भाव का छिपे-छिपे उपभोग करने के अभिप्राय से)**

मुझे विनोद के लिए समय ही कहाँ मिलता है ? (**मेज पर से कुसुम-बाण उठाकर, धीरे-धीरे पंखड़ियाँ नोचकर फर्श पर बिखराती हुई**) मैं चाहती हूँ, प्रेम की भाषा अधिक संस्कृत, प्रेम प्रकट करने के हाव-भाव और भी नवीन एवं मार्जित हों ।

इन्दु : (**ज्योत्स्ना का हाथ पकड़कर**) यह क्या कर डाला, रानी ! काम का कुसुमों का बाण छिन्न-भिन्न कर पैरों-तले कुचल दिया । (**ज्योत्स्ना खिलखिलाकर हँस पड़ती है**) तुम्हारे चंचल कटाक्षों के सामने काम के कुसुम-बाण भले ही व्यर्थ हों, लेकिन मनुष्य-लोक का कार्य अंगों की इच्छाओं के बिना कैसे चल सकेगा ? एकान्त शयन-गृह में रूठे दम्पतियों को बकुल, हरसिंगार और रजनीगन्धा की सुगन्ध कौन-सा सन्देश सुनाकर मिलने को उत्सुक करेगी ? रात के लम्बे-लम्बे प्रहर किन मधुमय स्वप्नों की सृष्टि कर उन्हें सुख मे आत्म-विस्मृत करेंगे ?

[**ज्योत्स्ना की अनिमेष भाव-पूर्ण दृष्टि इन्दु की उत्सुक दृष्टि से मिलती है । इन्दु विह्वल हो उसे आलिंगन पाश में बाँध लेता है, दोनों के मुख झुक जाते हैं । ताराएँ उल्लसित हो उनके चारों ओर नृत्य करती एवं गाती हैं ।**]

गीत

जब मिलते मौन-नयन पल-भर,
खिल-खिल अपलक कलियाँ सुन्दर
देखतीं मुग्ध, विस्मित, नभ पर ! जब०

तुम मदिर अधर पर मधुर अधर
धरते, झरते हिम-कण झर्-झर्,
मोती के चुम्बन से चूकर
मृदु मुकुलों के सस्मित मुख पर । जब०

तुम आलिंगन करते, हिमकर !
नाचती हिलोरें सिहर-सिहर,
सौ-सौ बाँहों में बाँहें भर
सर में, आकुल, उठ-उठ, गिरकर । जब०

जब रहस-मिलन होता सुखकर,
स्वर्गिक सुख-स्वप्नों से सुन्दर
भर जाता स्नेहातुर होकर,
अग-जग का विरह-विधुर अन्तर । जब०

[**ज्योत्स्ना अपने को बलपूर्वक इन्दु की बाँहों से छुड़ाकर खड़ी हो जाती है । उसके संकेत से गीत-नृत्य थम जाता है । ताराएँ, उसी तरह, त्रिविध राशियों में विभक्त हो, तल्प के चारों ओर भावाभिनय करती हैं ।**]

ज्योत्स्ना : ना, ना, ना,— स्वामी ! मैं मनुष्यों के लिए इससे भी सुन्दर एवं सूक्ष्म भावनाओं की सृष्टि करूँगी । उनके मनोरंजन के लिए नवीन स्फूर्ति, नवीन उन्मेष, नवीन हाव-भावों की मानसी प्रतिमाएँ गढ़ूँगी । मनुष्य की रुचि को मार्जित कर उसे आदर्श सौन्दर्य, आदर्श प्रेम सिखाऊँगी ।

इन्दु : (**मुसकुराकर**) जो एक बार इन विद्रुम की प्यालियों का मधु पान कर लेता है, सौन्दर्य के अस्फुट गुलाब-से इस मुख का गन्धोच्छ्वास पीकर बेसुध हो जाता है, वह सदैव के लिए सुरुचि-कुरुचि के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अरुचि तो उसके पास फटकती ही नही। कलियों के अधरों पर मँडराने का आनन्द भौंरा जानता है; आम्र-मंजरियों की गन्ध कोयल ही पहचानता है; पंखों से पंख सटाकर रहने का सुख कपोत को ज्ञात है।

ज्योत्स्ना : मनुष्य को पशु-पक्षियों की आँखों से देखकर उसका मूल्य नही आँका जा सकता, नाथ ! उसे पशु-पक्षियों से अपना आदर्श सीखना नही। अपनी ही आत्मा के प्रकाश मे अपना महत्त्व समझकर उसे अपनी वृत्तियों का विकास करना है। ना, ना, स्वामी ! उन्मत्तों की तरह ओठ-से-ओठ टकराने की इस कुरूप प्रथा का मैं किसी तरह समर्थन न कर सकूँगी, किसी तरह भी नही।

इन्दु : (**ज्योत्स्ना की आदर्श तृषा से मन-ही-मन प्रसन्न हो परिहास-पूर्वक**) दक्षिण-पवन कलियों से कहे, मेरे स्पर्श से तुम्हारी पंखुड़ियाँ पुलकित न हों; लहरों से कहे, मेरे छूते ही तुम सिहर मत उठो; या दीप पतंग से कहे, मेरे प्रकाश से आत्म-विस्मृत हो तुम प्राणों का बलिदान न करो—यह कैसे हो सकता है, प्रिये !

[**पुष्य के साथ यान-वाहक किरणों का गाते हुए प्रवेश।**]

गीत

हम स्वर्ग-किरण, आलोक वरण, सुकुमारी,
हम चिर अदृश्य अप्सरियाँ भू-नभ-चारी।
छवि की अलकों-सी स्मिति की रेखाओं-सी,
जग-जीवन की झंकारों-सी सुखकारी।
हम संसृति के पट के तानों-बानों-सी,
जीवन-अंकुर-सी, सृजन-सूत्र-सी न्यारी।
हम ज्योति-वाहिनी, दृष्टि-दायिनी जग की,
सब रूप, रंग, रेखाएँ जिन पर वारीं।
आशीर्वाद-सी झुकी स्वर्ग की भू पर,
पुलकित अग-जग, अणु-अणु, तृण-तृण छविधारी।
हम सूक्ष्म शिराओं-सी छाईं दिशि-दिशि में,
बहती जिनमें जीवन-आभा उजियारी।

पुष्य : यान उपस्थित है, स्वामिन् !

किरणें : जय सम्राज्ञी ! जय सम्राट् !

इन्दु : अच्छा रानी, तुम्हे अधिक विलम्ब नही करूँगा। जाओ, तुम्हारा प्रकाश तुम्हारा पथ-प्रदर्शक बने। मैंने व्योमचरों को भू-लोक में भेजकर तुम्हारे शुभागमन का समाचार सदागति पवन के पास पहुँचा दिया है। पवन तुम्हारे स्वागत का यथोचित प्रबन्ध कर देगा।

ज्योत्स्ना : (इन्दु को प्रणाम कर) तुम्हारे प्रेम और शुभ कामनाओं को अपने साथ ले जा रही हूँ, नाथ ! मर्त्यलोक के संकटों से वे मेरी रक्षा करें।

इन्दु : प्रसन्न मन से जाओ, रानी ! अपने रूप-सौन्दर्य से तुमने संसार को जिस तरह मुग्ध किया, अपने भाव-सौन्दर्य से भी अब उसी प्रकार मुग्ध करो।

[ज्योत्स्ना दूज की कला के यान में बैठती है, जिसके चारों ओर ओस की लड़ियाँ झूल रही हैं। सप्त रंगों में आभूषित किरणें यान को कन्धों पर रख, विरल, जलद-पंख खोलकर चलने का उपक्रम करती हैं।]

ज्योत्स्ना : किरणो, मधुर ध्वनि में गाते हुए, मुझे छाया-पथ से ले चलो। भू-लोक के मानस-सरोवर में मेरा यान उतरेगा।

किरणें : हम लोग पलक मारते ही, संगीत की मधुर झंकार की तरह, पृथ्वी के निद्रित कर्ण-कुहर में प्रवेश करती हैं। सम्राज्ञी भार-मुक्त हैं, यान के बोझ से हम अभ्यस्त हैं।

[सहसा कमरे का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। यान और इन्दु के बीच अँधियाली का पर्दा पड़ जाता है। एक ओर से श्याम-वर्ण रजनी प्रवेश करती है। सलमे-सितारे की काली रेशमी साड़ी; लम्बे-लम्बे सघन नील आलुलायित कुन्तल स्कन्ध, पृष्ठ एवं वक्ष पर बिखरे हुए, एड़ी तक लटक रहे हैं, जिनमें जुगनुओं की लड़ियाँ जगमगा रही हैं। साथ में ठिगने, बौने, गदबदे मनुष्य के वेश में उलूक है। भूरे रंग के वस्त्र, टेढ़ी नुकीली नाक; बिल्ली की तरह बड़ी-बड़ी गोल, चमकीली आँखें, जिनके चारों ओर रोओं की भौंरियाँ उठी हैं; पीठ पर रोमिल पंख; सिर पर बालों की चोटी।]

रजनी : (स्नेह-भाव से) तुम्हारी यात्रा का समाचार सुन तुम्हें आशीर्वाद देने आयी हूँ, बहू ! तुम लाड़-प्यार में पली, दूध में नहाई, भोली-भाली बच्ची हो। अभी भले-बुरे का बोध भी तुम्हें अच्छी तरह नहीं हुआ। तुम्हें मर्त्य-लोक में किसी प्रकार का कष्ट न हो, अपने विश्वस्त अनुचर उलूक को तुम्हारे साथ किये देती हूँ। दुस्समय में यह तुम्हारी सहायता करेगा। मर्त्य-लोक के प्रत्येक गली-कोने से यह भली-भाँति परिचित है। (उलूक से) बहू का साथ मत छोड़ना रे, अच्छा !

उल्लू : (भारी स्वर में) हूँ-ऊँ।

[ज्योत्स्ना रजनी को प्रणाम करती, रजनी उसे आशीर्वाद देती है। किरणें पंख खोलकर, गाते हुए, उड़ने का उपक्रम करती हैं।]

गीत

रजत किरण, रजत वरण,
पुलकित तन, चपल चरण !

तड़ित-चकित चल चितवन,
तुहिन-शुभ्र स्मिति वितरण ! रजत०

[उल्लू पंख मारता हुआ सबके आगे निकलकर ओझल हो जाता है, यान अभी अदृश्य नहीं होता, परदा गिरता है।]

तीन

रात्रि का द्वितीय प्रहर; भूलोक के निर्जन पर्वत-प्रान्त का एक दृश्य; अन्तरिक्ष के नीरव-कूलों में चाँदनी का अपार फेनिल सागर उमड़ रहा है। चारों ओर सीप के पंख में उड़ते हुए व्योमचर आनेवाले अलौकिक दृश्य की सूचना दे रहे है। वायु के प्रश्वासों से वनौषधियाँ, फासफरस की तरह सुलगकर, रंग-बिरंगे आलोक उद्गत कर रही है। दूध की तरंगों के समान उठे हिम-शिखरों की अधित्यका में, पृथ्वी के विशाल अंचल-सा मानस-सरोवर फैला हुआ है। हिम की उज्ज्वल शिलाओं में पुन-पुन: प्रतिफलित चन्द्रातप, आँखों को चकाचौंध कर अनेक वर्णों की रत्नच्छाया प्रसारित कर रहा है।

सरोवर के बीच में बेला, जुही एवं कुन्द-कलियों की बन्दनवारों से सज्जित, चाँद की कला के आकृति की, विशद रुपहली नाव है; नाव पर चाँदी की चौकड़ी भरते हिरनों की पीठ पर मोतियों से खचित हाथीदाँत का सिंहासन, जिसमे फेन-कोमल मखमल की जरीदार गद्दियाँ और तकिये लगे है। दोनों ओर से उड़ते हुए चाँदी के हंस, जिनके पंखों पर हीरे की कनियाँ दमक रही हैं। ऊपर आसमानी रेशम का घूमता हुआ छत्र मणि-किरणें विकीर्ण कर रहा है; छत्र की परिधि से मोतियों की लड़ियाँ झूल रही है।

सिंहासन के चतुर्दिक् हँसमुख, किशोर-वयस ओसों की पाँति; आठ से दस साल के बच्चे, चमकीले टसर के वस्त्र अबरक के पत्रों-से झलमला रहे है; चाँदी की चूर्ण अलकों में छोटे-छोटे मोती बिखरे है; उत्सुक अधीर दृष्टि; अंगों को हिला-डुलाकर बाल-सुलभ चंचल हाव-भाव प्रकट कर रहे हैं। बायीं ओर पुष्पों के हृदय से उच्छ्वसित दुर्निवार कामना-सी सुरभि, पुष्पों की चटकीली पंखड़ियों से लदी, लालसा-से लाल पल्लवों की चोली पहने, मदिर गन्ध निर्गत करती, केसरी अलकों में रजनीगन्धा की माला बाँध रही है। दायीं ओर छरहरे बदन का सुन्दर, स्वस्थ, युवक पवन अनिमेष अतृप्त दृष्टि से सुरभि का उन्मुक्त सौन्दर्य पान कर रहा है। सरोवर में कुई का वन, अँगूठे के बल खड़ा, मुग्ध दृष्टि से आकाश की ओर देख रहा है। इधर-उधर कुछ राजहंस लम्बी-लम्बी ग्रीवाएँ पीठ पर रखे सो रहे है।

[ओस-बाल कौतूहल-वश चारों ओर कुदक-कुदककर, चंचल नाट्य-पूर्वक गाते हैं। नेपथ्य में बेला और जलतरंग बजता है।]

गीत

जीवन चल जीवन कल,
जीवन हिम-जल-लघु-पल !
विश्व सुखद, विश्व विशद,
विश्व विकच प्रेम-कमल !
खिल खिलकर, झिलमिलकर
हिल-मिल लें, बन्धु ! सकल;
जन्म नवल, अगणित पल
लेंगे कल, सृजन प्रबल ! जी०

पवन : सम्राज्ञी के आने में न जाने क्यों विलम्ब हो रहा है !

[आकाश में मधुर संगीत-ध्वनि गूंजती है]

सुरभि : वह सुनो, सम्राज्ञी का आगमन-सूचक मंगल-संगीत सुनायी पड़ता है। आकाश से मधुर स्वरों की पुष्प-वृष्टि हो रही है।

[धीरे-धीरे गीत-ध्वनि स्पष्ट हो उठती है। नेपथ्य में बाजा बजता है।]

पवन : जान पड़ता है, चिरकाल से मूक आकाश-वीणा, आज अपने ही आनन्द से मुखरित हो, मधुर, मन्द झंकारों में गूंज उठी है।

[किरणों का मधुर, श्लक्षण स्वर सुनायी पड़ता है]

आकाश-गीत

सजल स्निग्ध स्मित, मधुर मन्द गति री
इन्दु-किरण अमृतोज्वल !
चटुल लहर पर चपल लास कर,
मुकुल अधर पर मृदुल हास भरती
चूम-चूम स्वप्निल-दल !
रजत-स्वर्ण परियों-सी सुन्दर,
उतर मुग्ध तन्द्रिल पलकों पर,
सुख-स्वप्नों में नित हँस-हँस रँगतीं
जगती के दृग अंचल ! सजल०

पवन : **(आकाश की ओर संकेत कर)** वह देखो उस तीव्र वेग से घूमते हुए ज्योति-बिन्दु को !

[सब उत्सुक दृष्टि आकाश को देखते हैं]

एक ओस : मोती, देखो सम्राज्ञी का यान ! **(ताली बजाता है)**

पवन : अब देखो, राजहंस की तरह प्रकाश के पंख फैलाये—

मोती : चटुल ! पोत ! **(उँगली उठाकर)** वह देखो; विमल ! रत्नी ! देखो ! **(सब प्रायः आश्चर्यचकित देखते हैं)**

पवन : असंख्य किरणों के पंख फैलाये, एक नवीन आलोक-सृष्टि पृथ्वी पर अवतरित हो रही है। जान पड़ता है, भू-लोक को समीप जानकर चतुर यान-वाहकों ने अपना वेग मन्द कर लिया है।

[आकाश-वाणी]

किरणें : सम्राज्ञी ! इन्द्र, गन्धर्व, मेघ, मरुत-लोकों को पार कर अब

हमारा यान भू-लोक के समीप आ गया है। वह देखिए, नीचे पृथ्वी-तल का दृश्य !

ज्योत्स्ना : देख रही हूँ,—दूर से, शून्य दिगन्त में घूमती हुई जो पृथ्वी गोल लट्टू के समान छोटी जान पड़ती थी, और नीचे उतरने पर जो भूमि-रेखा समुद्र के उच्छ्वसित वक्ष में मुँह छिपाये स्तनपान करते हुए शिशु-सी लगती थी, वही पास पहुँचने पर, उच्च हिम-किरीट से शोभित, सरिताओं के चंचल मुक्ता-हारों से मण्डित, शस्य-श्यामल अंचला, अनन्त सन्तप्त प्राणियों की पुण्य-धात्री, अचला के रूप में बदल गयी है। वे जुगनुओं की तरह चमकते शायद धनिकों के प्रासाद हैं। और, इधर-उधर निष्प्रभ छींटों-सी छितरी, निर्धनों की दीन-हीन बस्तियाँ। बीच-बीच में लम्बे, पतले, साँपों की तरह बल खाये, टेढ़े-मेढ़े, वे शायद रास्ते हैं।

एक किरण : सूर्य के मुक्त प्रकाश में नृत्य करती, वायु के नील रेशमी अंचल को फहराती, हरित शस्य की चोली पहने, हँसमुख चंचल बालिका-सी यह पृथ्वी सदैव से देवताओं की दुलारी रही है।

ज्योत्स्ना : ठीक कहती हो। असंख्य कोटि के जीवों एवं मनुष्यों से युक्त, वन-उपवन, मरु-उर्वर, पर्वत-समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक है। ये अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी एकता को नष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार यह बाहर से एक है, उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्व-चक्र एक ही अखण्डनीय सत्ता है, एक ही विराट् शक्ति के नियमों से संचालित है। मानव-जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गयी है। उसे इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँधकर, समस्त विभिन्नता को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियन्त्रित करना होगा। अनियन्त्रित प्रकृति विकृति मात्र है। एक बार मैं समस्त मानव-समाज को महासागर की असंख्य तरंगों की तरह एक ही भावोच्छ्वास से आन्दोलित-उद्वेलित, एक ही नृत्य-लय में उठते-गिरते, और एक ही मानव-प्रेम के राग से मुखरित-उल्लसित देख पाती !

किरणें : समस्त जीव-जगत् निद्रा की सुखद गोद में विश्राम कर रहा है। साँसों के आवागमन के सिवा प्राणियों के मनोलोक में सम्पूर्ण मानसी क्रियाएँ निश्चेष्ट हो सो रही हैं। इस समय जड़-चेतन में कुछ भी भेद नहीं जान पड़ता।

ज्योत्स्ना : किरणो, मेरा यान इसी मानस-सरोवर में उतरेगा, जो कुई की असंख्य आँखें खोल, अनिमेष हो, मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

किरणें : ऐसा ही होगा, सम्राज्ञी !

[पुनः गीत-ध्वनि, नेपथ्य में बाजा बजता है। सब लोग एकटक आकाश की ओर देखते हैं।]

गीत

तुम चन्द्र-वदनि, तुम कुन्द-दशनि,
तुम शशि-प्रेयसि, प्रिय-परछाईं।
नभ की नव-रँग सीपी से तुम
मुक्ताभा सदृश उमड आयी।
उर मे अविकच स्वप्नो का युग,
मन की छवि तन में छन छायी।
श्री, सुख, सुखमा की कलि चुन-चुन
जग के हित अंचल भर लायी।

[धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ता है एवं सारा दृश्य आलोक-प्लावित हो उठता है। इन्द्रधनुषी किरणों द्वारा वाहित, मधुर-मुखरित, ज्योत्स्ना का दिव्य यान नाव पर अवतरित होता है। सरोवर में राजहंसों का दल, असमय आँख खुल जाने पर, ग्रीवा उठा-उठाकर कल-ध्वनि करता है।]

ओस : (एक साथ) सम्राज्ञी की जय !

पवन-सुरभि : सम्राज्ञी की जय !

[ज्योत्स्ना सिंहासन पर आसीन होती है। दायें-बायें पार्श्वों में पवन और सुरभि, उनके चतुर्दिक् किरणें अपना स्थान ग्रहण करती हैं। ओस स्वागत-गान गाते हैं।]

गीत

सरल चटुल, विमल विपुल,
हिम-शिशु हुलसाये !
दल-दल पर, झलमल कर,
मोती मुसकाये !
मुकुल-मुकुल पर विलास,
कलि-कलि पर हास-हास,
तृण-तृण पर नरल लास,
भू पर उडु छाये !
स्वागत, सम्राज्ञि ! आज,
श्री-सुख के सजे साज,
चल-छवि कल तुहिन-ताज,
मणि-द्युति गल जाये।

[ज्योत्स्ना के संकेत से गीत-नृत्य थम जाता है। ओस सिंहासन के दोनों ओर दो टोलियों में बँटकर चंचल नाट्य-पूर्वक मूक-अभिनय करते हैं।]

ज्योत्स्ना : (प्रसन्न भाव से) तुमसे और सुरभि से मिलकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई, पवन !

पवन : सदैव से स्वच्छन्द-प्रकृति पवन को सम्राज्ञी के सौजन्य ने वशीभूत कर लिया।

सुरभि : सुरभि सम्राज्ञी की सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत रहेगी।

ज्योत्स्ना : पवन ! संसार की इस समय क्या स्थिति है, मुझे संक्षेप में सुनाओ। तुम सदागति हो, तुमसे कोई भेद छिपा नहीं रहता।

पवन : सम्राज्ञी, इस युग के मनोजगत में सर्वत्र ऊहापोह और क्रान्ति मची है। एक ओर धर्मान्धता, अन्ध-विश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से संग्राम चल रहा है; दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह-शृंखला की तरह जकड़े हुए है। बुद्धि का अहंकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़कर, मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव एवं आदर्श-प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोंक से छेद रहा है। विद्वान् लोग जीवन के गूढ़ प्रश्नों एवं विश्व की जटिल समस्याओं पर विज्ञान का नवीन प्रकाश डालकर सृष्टि के गूढ रहस्यों को नवीन ढंग से सुलझाने की चेष्टा कर रहे हैं। विकासवाद के दुष्परिणाम से, भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एवं इन्द्रिय-सुख से लुब्ध मनुष्य-जाति, समस्त वेग से जडवाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है। मानव-सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्त्वावलोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शों, विचारों, संस्कारों, नैतिक नियमों एवं आचार-व्यवहारों के प्रति विश्वास उठ गया है। मनुष्य मनुष्य न रहकर एक ओर निरंकुश धनपति, दूसरी ओर आर्त श्रमजीवी बन गया है। इस आन्तरिक विपर्यय के कारण संसार का मनोलोक, द्रवित वाष्प-पिण्ड की तरह प्रलय-वेग से घूमकर, अपने अन्तरतम जीवन में समस्त विरोध उन्मूलक एवं विश्व-व्यापी परिवर्तन का आह्वान करना चाहता है। अपने अस्पष्ट भविष्य को सुस्थ, स्पष्ट एवं सबल स्वरूप देकर मनुष्य संसार की सभ्यता के इतिहास में नवीन स्वर्ण-युग का निर्माण करना चाहता है। जब तक वह किसी सन्तोषजनक परिणाम पर नहीं पहुँच सकेगा, सृष्टि के सरल, सुगम, सनातन नियमों पर उसका अविश्वास ही बना रहेगा। और, चारों ओर अज्ञान, अन्धकार, पशुबल एवं तामसी प्रवृत्तियों का बोल-बाला रहेगा।

ज्योत्स्ना : जान पड़ता है, मनुष्य को यथार्थप्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि, अनन्त जीवन पर अनन्त दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है! ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नहीं हो सकता। सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शान्ति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है। आदर्श चिरन्तन अनुभूतियों की अमर प्रतिमाएँ हैं, वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता; उन्हें निरपेक्षत: मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नहीं; वह सर्व है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष मूल्य भी है। आदर्श व्यक्ति के लिए असीम है। देश, काल, समाज आदर्शों की सीमाएँ हैं, सार नहीं;

उनके इतिहास है, तत्त्व नहीं।

(नेपथ्य में झिल्ली की कर्कश झंकार सुनायी पड़ती है)

ज्योत्स्ना : पृथ्वी पर उतरते ही मर्त्यलोक के प्राणियों का तर्क-वितर्क, ऊहापोह, चीत्कार-धिक्कार कानों के परदे फाड़ने लगा। इस आनन्दपूर्ण सृष्टि का अर्थ इन्होंने जीवन-संग्राम समझ लिया है। रात-दिन द्वन्द्व-संघर्ष, वाद-विवाद, ईर्ष्या-कलह के सिवा इन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। हाय, इन्द्रियों की मदिरा पीकर यह मनुष्य-जाति उन्मत्त हो गयी है। इसने अपनी आत्मा के अमर आनन्द को क्षण-भंगुर इन्द्रियों के हाथ बेच दिया है! इसकी समस्त शक्ति मृगतृष्णा के स्वर्ग का निर्माण करने में लगी है, जो इसे विनाश के मरु में भटकाकर सदैव और भी दूर भागता जाता है! प्रकृति की इस अपार रूप-राशि पर मुग्ध होकर मनुष्य का प्रकृतिवादी बन जाना आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु इससे मुक्त न हो सकना अवश्य ही दुख की बात है।

[एक नाटे कद, गठीले बदन के बलिष्ठ मनुष्य के वेश में झींगुर का प्रवेश। ताँबे का-सा रंग; दृढ़ पुट्ठे; लोह-तार-सी नाड़ियाँ; सख्त चौड़ा पंजा, मोटी, न मुड़नेवाली उँगलियाँ; काँच की-सी चमकीली, भाव-शून्य आँखें; मोटे होंठ; तीर-सी तनी लम्बी-लम्बी खड़ी मूँछें। इस मनुष्य के अंगों में मांस का लचीलापन नहीं, वे मशीन के पुरजों की तरह एक निश्चित यान्त्रिक भाव से संचालित हो रहे हैं। मुखाकृति में एक प्रकार की अविश्वासजनित तीव्र सतर्कता व्याप्त है। इसके कन्धों पर लोहे की बुनी जाली, कलाइयों पर लोहे के पट्ठे बँधे हैं। कमर में पिस्तौल, तलवार, चाकू आदि अस्त्र-शस्त्र लटक रहे हैं। हाथ में वाद्य के ढंग का लोह-यन्त्र है, जिस पर वह आरानुमा लोहे का गज फेरकर, एक प्रकार का कर्कश घर्घर-रव पैदा करता हुआ, पुरुष स्वर में गा रहा है।]

गीत

जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य संसार उसे!

दुर्बल का कातर दैव स्वर,
सम्भव बन सकता भार उसे।
'जैसे को तैसा' नियम यही,
होना ही है संहार उसे!

है दास परिस्थितियों का नर,
ढलना उनके अनुसार उसे।
जीता है योग्य सदा जग में,
दुर्बल ही है आहार उसे!

तृण, झष पशु से नर-तन देता
जीवन-विकास का तार उसे,
वह शासन क्यों न करे भू पर
चुनना है सबका सार उसे ! जो०

ज्योत्स्ना : पवन, इस मर्त्यलोक के दूत से कहो, अपना बेसुरा आलाप बन्द करे, नहीं तो हम बहरे हो जायेंगे।

[**बाजे में कर्कश-नाद करते हुए झींगुर का प्रस्थान।**]

ज्योत्स्ना : मनुष्य का ऐसा बर्बर वेश देखकर, उसके मुँह से पाशविक सिद्धान्तों एवं आसुरी उद्‌गारों को सुनकर आश्चर्य होता है। 'समर्थ और शक्तिशाली को ही जीने का अधिकार है', 'दुर्बलों का दैव भी घातक है', आदि,—नैतिक अतिवाद जीवन के नियम बन रहे हैं। सर्वत्र अतृप्ति ही अतृप्ति है! घृणा से घृणा ही बढ़ती है। वैमनस्य से वैमनस्य ही पैदा होता है। स्नेह, समत्व, सहृदयता आदि मानव-स्वभाव की उच्च विभूतियों से विश्वास ही उठ गया है। ना, ना, इस तरह मेरा कार्य नहीं चलेगा। मनुष्य को इस अपूर्ण एकांगी बुद्धिवाद से ऊपर उठना पड़ेगा। (**पवन और सुरभि से**) पवन! तुम्हारे स्वभाव की उत्तेजनशील भाव-प्रवणता और सुरभि के सौन्दर्य की अतिशय मादकता से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। सुरभि! तुम तरुण वसन्त के हृदयोच्छ्वास से निःसृत, यौवन की उद्दाम लालसा की सजीव प्रतिमा हो। तुम दोनों के मधुर-सम्मिलन से, मनुष्य-जाति के मंगल के लिए मैं दो सूक्ष्म तत्त्वों को जन्म देना चाहती हूँ, जो अपनी ही सूक्ष्मता के प्रभाव से संसार के मनोलोक में प्रवेश कर, मनुष्यों के हृदय में उन्नत, संस्कृत भावनाओं का विकास एवं प्रचार करेंगे।

पवन-सुरभि साम्राज्ञी की इच्छा-सिद्धि के लिए पवन और सुरभि अपना जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है।

ज्योत्स्ना : (**प्रसन्नता-पूर्वक**) मुझे तुम लोगों से यही आशा थी। मेरी अलौकिक शक्ति तुम्हारे इस आत्मत्याग में सहायक होगी।

[**ज्योत्स्ना खड़ी होकर, दोनों हाथों से अपने अंचल-छोर को नाव पर बैठे हुए ओस और किरणों के ऊपर फेरती है। चाँदनी के स्वप्निल भाव से सब लोग अपने स्थान पर बैठे, ऊँघने लगते हैं; एवं माथा झुकाकर धीरे-धीरे तन्द्रामग्न हो जाते हैं। चारों ओर हरे रंग का आलोक फैल जाता है। वायु-मण्डल में बुक्के का चूर्ण प्रकाश-कणों की तरह बरस-बरसकर चमकने लगता है। ज्योत्स्ना ताली बजाती है। छोटे-छोटे पंख फैलाये हुए दीपों से जगनू, ऊपर से परियों के बच्चों की तरह उतरकर, चारों ओर उड़-उड़कर, मौन-नाट्य-पूर्वक नृत्य करते हैं। पाँच से सात साल तक के बालक, हलके वस्त्र पहने, पीठ पर बिजली का छोटा-सा बल्ब लगाये जुगनुओं का अभिनय करते हैं। नेपथ्य में बाजा बजता है।**

प्रकाश धीरे-धीरे नीला, पीला, गुलाबी, बैंगनी, कई प्रकार के रंग बदलता है, और जुगनुओं का रंग भी उसी प्रकार परिवर्तित होता जाता है। कोमल मधुर कण्ठों का स्वर वायु में गूँज उठता है।]

गीत

जगमग-जगमग हम जग का मग,
ज्योतित प्रतिपग करते जगमग!

हम ज्योति-शलभ, हम कोमल प्रभ,
हम सहज सुलभ दीपों के नभ!

चंचल, चंचल, बुझ-बुझ, जल-जल,
शिशु-उर पल-पल, हरते छल-छल!

हम पटु नभचर, हँसमुख सुन्दर,
स्वप्नों को हर लाते भू पर!

झिलमिल-झिलमिल, स्वप्निल, तन्द्रिल
आभा हिल-मिल, भरते झिलमिल!

[इसी बीच में ज्योत्स्ना पवन और सुरभि को अपनी छिगुनी से छू देती है; दोनों उद्दीपित हो एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। पवन निर्निमेष दृष्टि से सुरभि के मुख को देखता हुआ धीरे-धीरे उसके पास पहुँचता है। दोनों की चार आँखें होतीं, सुरभि का सिर झुक जाता है। पवन सुरभि का हाथ अपने हाथ पर लेता है। दोनों देर तक एक दूसरे का मुख देखते हुए अपने को भावावेश मे भूल जाते हैं। नेपथ्य में गीत की लय द्रुत-से-द्रुततर होती जाती है। जुगनू उसी प्रकार गाते रहते हैं।]

पवन : (गीत थम जाने पर) सुरभि!

सुरभि : नाथ!

पवन : तुम अपनी मादक साँसें पिला पिलाकर मेरी आँखों के सामने यह किस छाया-जाल की सृष्टि कर रही हो, प्रिये! मैं आत्म-विस्मृत हो देश-काल से परे, एक दूसरे ही स्वप्न-जगत में घूम रहा हूँ! इस लोक की सौन्दर्य-सुषमा के सामने यह संसार फीका और बासी लगता है। तुम्हारे इस अस्फुट हृदय में इतना लावण्य, इतनी मादकता और मधुरता कहाँ छिपी थी, प्रियतमे!

सुरभि : मेरे अनन्त यौवन का मधु तुम्हारे ही लिए है, प्रियतम! मेरी हृदय-कली के तुम्हीं एकमात्र मधुप हो!

[प्याली की आकृति की अधखिली कली पवन के ओठों से लगाती है। पवन मधुपान करता है।]

पवन : तुम्हारे पिलाये मधु से तृप्ति ही नहीं होती। (फिर पीता है) ओह, मेरे अंग-अंग शिथिल होते जा रहे हैं। अलस इच्छाओं के सुख से पलकें लदकर झपने लगी हैं! इच्छामयी! कामनामयी! (मुँदती हुई आँखों को चेष्टापूर्वक खोलकर) प्रियतमे!

सुरभि : प्रियतम !

[पवन सुरभि को पास बिठाकर अपनी बाँहों में बाँध लेता है। दोनों देर तक इसी प्रकार प्रेम-विह्वल एवं बेसुध रहते हैं। ज्योत्स्ना जुगनुओं को संकेत करती है। जुगनू पवन और सुरभि के चारों ओर मँडराकर गाते हैं; नेपथ्य में बाजा बजता है।]

गीत

हम है प्रकाश के शिशु सस्मित,
जग के तम में हँस-हँस पड़ते !
जीवन की चिनगारियाँ अमर,
फिर-फिर बुझते, फिर-फिर जलते !
हम एक ज्योति की बहु बूँदें,
जग-करतल में चू-चू झरते !
हम जागृति के उज्ज्वल लघु-पल,
जगती की चिर - निद्रा हरते !
दुविधा के तम मे ज्योति दिखा,
हम पथ-प्रदीप उर के बनते !
छाया-पथ मे हर स्वप्नों को
सन्देश सुखद जग से कहते !

पवन : (आँखें बन्द किये) आँखों के सामने परदे के बाद परदे खुल रहे है। कैसा अपार सौन्दर्य है ! कैसा असीम आनन्द ! यह छाया-जगत् ही संसार का मनोलोक है, जिसके नेपथ्य में छिपी हुई अदृश्य सूक्ष्म शक्तियाँ विश्व के रंगमंच पर अभिनय करने को अवतरित होती है। रूप, छवि, प्रतिच्छवि! --सब कुछ सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम होता जा रहा है ! ओह, इस भावना का कहीं अन्त है !

सुरभि : कैसा सम्मोहन ! कैसी परितृप्ति है ! मेरा हृदय देह के बन्धनो से मुक्त हो, सदैव के लिए इस सौन्दर्य के स्वप्न मे लीन होकर तदाकार बन जाना चाहता है ! कैसा मधुर-मधुर आकर्षण है !

पवन : प्रिय, यह जागृति है या स्वप्न ?

सुरभि : नाथ, यह सत्य है या कल्पना ?

[स्वप्न और कल्पना साकार हो दो देव-दूतों की तरह, ऊपर से उतरकर पवन और सुरभि के सामने झूलने लगते हैं। स्वप्न सुन्दर, सुकुमार युवक; विस्मय से पूर्ण निर्मल नील नयन; गुलाब-से सस्मित कपोलों पर पीले भौरों की पाँति की तरह सुनहली अलकें बिखरीं। बदन में रेशमी आलोक की छाया वस्त्र की तरह लिपटी है, जिससे देह की आभा बालातप सी झलक रही है। दोनों कन्धों पर विस्फारित पलकों की तरह दो आलोकित पंख हैं। नीचे की देह में नीहारिका की तरह हलका आसमानी वेष्टन झूल रहा है।

कल्पना विकच-यौवना, सर्वांग सुन्दरी; अकूल नील

नयन; कोमल दृष्टि; मेघावी नासिका; सरल अकलुष स्मिति; सजीव कपोल; स्वभाव-संस्कृत मुखाकृति; अनेक रंगों का छायातप झीने पट की तरह अंगों में झूल रहा है, दोनों कन्धों पर मयूर-पुच्छ की तरह दो पंख हैं।]

पवन : कैसा स्वर्गीय सौन्दर्य है !

सुरभि : कैसा स्वर्गीय सम्मोहन !

[ज्योत्स्ना ताली बजाती है; गीत-नृत्य थम जाता है। जुगनू धीरे-धीरे ओझल हो जाते हैं। पवन और सुरभि आलिंगनपाश खोल, यत्न-पूर्वक उठकर अपने-अपने स्थानों पर खड़े हो जाते हैं। ओस और किरणें आँखें खोलते है। स्टेज पर हलका आसमानी प्रकाश छा जाता है। स्वप्न और कल्पना पृथ्वी पर अवतरित हो सम्राज्ञी का अभिवादन कर गाते हैं। सब लोग आँखें मल-मलकर एकटक उनकी ओर देखते है। नेपथ्य में बागेश्री की धुन बजती है।]

गीत

शिशुओं के अविकच उर मे
हम चिर रहस्य बन रहते !
छाया - वन के गुंजन में
युग - युग की गाथा कहते !
अनिमिष तारक पलकों पर
हम भावी का पथ तकते !
नव युग की स्वर्ण - कथाएँ
ऊषा अंचल पर लिखते !
सीमाएँ बाधा - बन्धन,
निःसीम सदैव विचरते;
हम जगती के नियमों पर
अनियम मे शासन करते !
हम मनोलोक से जग में
युग - युग में आते - जाते,
नव जीवन के ज्वारो में
दिशि - पल के पुलिन डुबाते !

स्वप्न और कल्पना : इन मानवीय भावनाओं के वस्त्र पहना एवं मानवीय रूप, रंग और आकार ग्रहण कराकर हमें आपने उन्मुक्त निःसीम से किस दिव्य प्रयोजन के लिए अवतीर्ण करवाया, सम्राज्ञी ! वह कौन-सा देव-कार्य है ? स्वप्न और कल्पना उसे जानने को उत्सुक है।

ज्योत्स्ना : तुम्हारी उत्सुकता स्पृहणीय है। स्वप्न और कल्पने ! सुनो, इस बुद्धिवाद के भूलभुलइये मे खोयी हुई, जडवाद, सापेक्षवाद, विकासवाद आदि अनेक वाद-विवादों की टेढ़ी-मेढ़ी पेचीली गलियों म भटकी हुई, नास्तिकता और सन्देहवाद से पीडित, पशुओं के अनुकरण मे लीन मानव-जाति का परित्राण करना है। उसकी आँखो के सामने जीवन का नवीन आदर्श, सौन्दर्य

का नवीन स्वप्न, स्नेह-सहानुभूति एवं समत्व का नवीन प्रकाश, सुख और शान्ति का नवीन स्वर्ग निर्माण करना है। उसे प्रेम के अधिक विस्तृत राजमार्ग पर चलना है। धर्मान्धता, रूढ़िप्रियता, प्रेत-पूजा, निर्मूल प्रथाओं एवं निरर्थक रीति-नीतियों के बन्धनों से मुक्त करना है। उसकी बुद्धि को अधिक सरल, हृदय को अधिक उज्ज्वल बनाना है। उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करना है।

स्वप्न-कल्पना : हमारा आना सार्थक हुआ।

ज्योत्स्ना : काव्य, संगीत, चित्र, शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवीय मूर्तियों को स्थापित करना है। इसके लिए कौन-सी राह सुगम होगी, कौन-सी पद्धति अचूक होगी, यह तुम लोगों को सोचना है। तुम दोनों मानव-जाति के कल्याण एवं मुक्ति का द्वार खोलने में मेरी सहायता करो। तुम्हारी अलौकिक शक्ति, वायवी प्रतिभा एवं मायावी आकर्षण के प्रभाव से यह कार्य अधिक सुगमता से सम्पन्न हो सकेगा, इसीलिए मैंने तुम्हारा आवाहन किया है।

कल्पना : सम्राज्ञी के उन्नत उदार हृदय का परिचय पाकर मैं कृतज्ञ हुई। समय-समय पर मानव-जाति के सम्मुख एक-से-एक ऊँचे आदर्श रखे गये, पर कोई भी आदर्श उसका सम्पूर्णतः परिष्कार नहीं कर सका। सदैव से मनुष्य में उसी तरह सद्-असद् प्रिय-अप्रिय का सम्मिश्रण रहा है, भले ही उसमें मात्राओं का न्यूनाधिक भेद रहा हो। विगत युगों का मनुष्य मनस्तत्त्व की विवेचना में अधिक सफल नहीं हुआ, इसीलिए मनोजगत् को अनिर्वचनीय, माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग-विराग की सहायता से अपने को भुलावे में डाल, उसने जीवन को अज्ञान-जनित, दुख-जनित समझ लिया। और, अपनी आत्मा के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग का इन्द्रजाल निर्मित कर इस जन्म-मृत्यु, सुख-दुख के चिर आलिंगन पाश में बँधी हुई जीवन की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पाने के लिए उसने अनेक छाया-सत्यों पर अवलम्बित एक मिथ्या आत्म-प्रवंचना का आश्रय ग्रहण किया। जिस असीम जीवन-शक्ति के अमर स्पर्शों से यह चेतना-शून्य मिट्टी अनेक रूप-रंगों में पुष्पित-पल्लवित हो, मृत्यु के अन्धकार से चेतना के प्रकाश में आ, असंख्य जीवों एवं प्राणियों का सुन्दर आकार-प्रकार धारण कर ऐश्वर्यमयी होती रहती है, उसके स्नेह-पाश से मुक्त होकर फिर से श्वास को वायु में, देह को मिट्टी में मिला देना ही उसका चरम लक्ष्य रहा! इस युग के मनुष्य का ध्यान भूत-प्रकृति की ओर गया है। संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है, जिसके लिए

उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। वह देश-काल एवं भौतिक शक्तियों को हस्तगत कर रहा है। यह भूत-प्रकृति ही उसके कष्टों का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक-ठीक निर्णय वह अभी नहीं कर पाया। मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रों एवं विभागों को संगठित एवं सीमित कर, अपने आन्तरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है!

स्वप्न : **(अपनी विस्मित-पूर्ण दृष्टि एकत्रित कर)** मनुष्य-जाति को सदैव से सौन्दर्य-विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इन्द्र-जाल और दारुण दुर्गम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसन्द रहा है। उसके सूक्ष्म वायवी हृदय-तत्त्व को एवं सीमा-हीन आकांक्षाओं को इसी में परितृप्ति मिलती है। मनुष्य सत्य की ओर आँख उठाने में डरता ही नहीं, एकदम नग्न-सत्य को देख सकने में असमर्थ भी है। सम्राज्ञी का मनोरथ सहज ही में सिद्ध हो जाये, यदि मनुष्य के लिए एक और भी अधिक उत्तेजक, मादक, मोहक, सूक्ष्म और मार्जित छलना की सृष्टि कर दी जाये; जिसके सौन्दर्य-जाल पर मुग्ध होकर वह विलासिता, कदर्य पशुता, जड़वाद आदि की दासता से मुक्त हो सके। सम्राज्ञी की आज्ञा हो तो मैं अपनी दिव्य वायवी शक्तियों का परिचय दूँ, और मनुष्य की आँखों के सामने एक ऐसे अननुभूत ऐश्वर्य और स्वर्गीय सौन्दर्य का अलौकिक इन्द्रजाल उछाल दूँ कि वह इन्द्रियों की देह से मुक्त होकर एक अभिनव सूक्ष्म शोभा के भावाकाश में विचरण करने लगे।

ज्योत्स्ना : **(आशान्वित होकर)** उपायों के बारे में तर्क कर समय खोना ठीक नहीं; कोई भी उपाय हो, उन्नत और कल्याणकारी हो। समय पर और भी सुन्दर उपाय पैदा होते रहते हैं। स्वप्न! मुझे तुम्हारी विश्व-मोहिनी शक्ति पर पूरा विश्वास है। मेरे विचारों के प्रचार एवं मनोरथों की पूर्ति के लिए तुम जिन उपायों को उचित समझो, स्वतन्त्रतापूर्वक काम में लाओ। मैं तुम्हें पूर्ण अधिकार देता हूँ।

स्वप्न : **(प्रफुल्लित होकर)** सम्राज्ञी को विजय प्राप्त करने में विलम्ब नहीं होगा। मैं अभी कल्पना के साथ दिन-भर के काम-काज से श्रान्त एवं निद्रा में निमग्न मनुष्य-जाति के मनोलोक में प्रवेश कर उसकी पलकों में नवीन स्वप्नों का चित्रपट बुनता हूँ; उसके मन को स्थूल वासनाओं के मोह से मुक्त कर अभिनव सौन्दर्य, अभिनव सुख, अभिनव संस्कृति के आकाश में उड़ा देता हूँ। सम्राज्ञी यहाँ बैठे-बैठे मेरे विश्व-विदित सम्मोहन का जादू देखें। मैं अपना मायावी चित्रपट आपके सामने खोले देता हूँ। पलकों में स्वप्नों की तरह, मानव-जाति का समस्त भविष्य, अनेक रहस्य-पूर्ण रूपों एवं छाया-छवियों में उसमें प्रतिबिम्बित होता रहेगा। **(स्वप्न आकाश की ओर**

संकेत करता है। ऊपर से एक स्वच्छ पट, परदे की तरह, यवनिका के सामने झूलने लगता है।)

ज्योत्स्ना : मैं आनन्द एवं उत्सुकता के साथ तुम्हारी दिव्य प्रतिभा का चमत्कार देखूंगी।

स्वप्न-कल्पना : तो आज्ञा दीजिए।

ज्योत्स्ना : अवश्य, तुम जाकर अपना कार्य आरम्भ करो ; शुभ कार्य शीघ्र हो जाने से और भी मोहक बन जाता है।

[सहसा प्रकाश मन्द एवं धुंधला पड़ जाता है। तन्द्रालोक का मृदुल, शिथिल, घन-अलस वायु चारों ओर व्याप्त होने लगता है, जिसके मधुर सुख-स्पर्शों से सब लोग झूम-झूमकर अपूर्व स्वप्नावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जलते हुए नक्षत्रों की तरह अनेक रंग-बिरंगे उज्ज्वल प्रकाश-मण्डल आंखों को चकाचौंध कर दृश्य-पट पर चक्राकार घूमने लगते हैं; जिनसे धीरे-धीरे कई आलोक आकृतियां, मनोहर वर्णों की जगमगाहट में स्वरूप ग्रहण कर, परदे पर अवतरित होती हैं। जान पड़ता है, जैसे स्वर्ग का सौन्दर्य, अपने ही उल्लास की अतिशयता से, अनेक आलोक-निर्झरों में फूट-फूट पड़ा हो। शनैः-शनैः ये आकृतियाँ अधिक स्निग्ध एवं स्पष्ट आकार धारण करती हैं। नेपथ्य में बाजा बजता है, अनेक वाद्यों की मधुर मिश्रित झंकारों से समस्त वायु-मण्डल, संगीत के श्वास-प्रश्वासों से मधुमय हो, गूँज उठता है।

स्वप्न और कल्पना सुप्त मनुष्य-जाति के मनोलोक में प्रवेश कर मनुष्यों में नवीन संस्कार एवं भावनाएँ जाग्रत करते हैं। फलतः नवयुग का निर्माण करने के लिए, मनःस्वर्ग से देव बाल और बालाएँ प्रकट होकर, अनेक मनोरम मानसी प्रतिमाओं का आकार-प्रकार ग्रहण कर चित्रपट पर अवतरित होते हैं। ये आकृतियाँ विविध प्रकार के दिव्य, रमणीय वस्त्रों से विभूषित हैं। कोई बारीक रेशमी रोओं से आच्छादित, कोई किसलयों की लालिमा एवं पुष्पों के पराग से परिवृत, कोई इन्द्रधनुषी छायाभास से मण्डित, कोई साँझ के विरल जलदों, रंगीन वाष्पों, अभ्रक के पत्रों एवं झिलमिलाती रश्मियों से वेष्टित हैं। कुछ छोटे-छोटे बालक एवं बालिकाएँ नग्नप्राय हैं; इनके कन्धों से पैरों की ओर हलकी फेन की जालियाँ लिपटी हैं।

इन आकृतियों के पाँव फर्श को नहीं छूते, प्रत्युत, अपने ही हलकेपन के कारण, संगीत की उठती-गिरती लहरों पर, ताल-लय पूर्वक नृत्य करते एवं गाते हुए, ये ऊपर-नीचे तथा एक ओर से दूसरी ओर वाहित होते रहते हैं। इन सृजन और पालन शक्तियों में कुछ के रूप व्यक्त, कुछ के अभी अर्द्धव्यक्त एवं अव्यक्त है। कुछ के नाम हैं; कुछ के नहीं; उनके लिए अभी शब्द नहीं बने। वे भविष्य में अपने आकार एवं नाम ग्रहण करेंगे।

यह सारा दृश्य चित्रपट पर अंकित टाँकी के ढंग का होगा।]

गीत-नृत्य

हम मनःस्वर्ग के अधिवासी;
जग-जीवन के शुभ-अभिलाषी !
नित विकसित, नित वर्धित, अर्चित
युग-युग के सुरगण अविनाशी !
हम भक्ति, शक्ति, हम क्षमा, त्याग,
हम सत्य, श्रेय, समताऽनुराग,
हम ऋद्धि-सिद्धि, साधना, धर्म,
हम श्री, समृद्धि, निष्काम कर्म !
(**कुछ श्लक्ष्ण स्वर में**) हम नाम-हीन, अस्फुट नवीन,
छवि में विलीन, अति रूप क्षीण !
हम करुणा, ममता, स्नेह, प्रीति
हम विद्या, प्रतिभा, कान्ति, कीर्ति !
हम महिमा, सुखमा, ज्ञान, ध्यान,
हम चित्र, नृत्य, हम काव्य, गान।
लज्जा - सज्जा, आशाऽभिलाष
क्रीड़ा-विनोद, हम मनोल्लास !
नेपथ्य लोक में चिर अदृश्य,
नव युग-अभिनायक, उद्भासी !
हम हैं प्रकाश के अमर-पुत्र,
उर-उरवासी, मंगल-आशी !

[गीत-नृत्य बन्द हो जाने पर, परदे पर प्रतिफलित छायाछवियाँ भाव-भंगी-पूर्वक मूक-नाट्य एवं भाव-नृत्य करती हैं।]

ज्योत्स्ना : (**स्वप्नावेश से उठकर**) धन्य है स्वप्न के उर्वर हृदय और कल्पना की सूक्ष्म सूझ को ! मैं उन्हीं सृजन और पालन-शक्तियों का प्रादुर्भाव एवं विकास चाहती हूँ ! उनके सम्मोहन में बँधकर मनुष्य-जाति अपनी तामसी वृत्तियों की जघन्यता एवं कुरूपता से अवश्य मुक्त हो जायेगी। इस पृथ्वी पर स्वर्ग की विभूतियाँ अभिसार करने लगेंगी।

सुरभि : सम्राज्ञी का स्वप्न सफल होगा, इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं।

पवन : इन स्वर्गीय शक्तियों का आविर्भाव संसार की मनोभूमि पर अवश्य हो गया है, पर अब यह देखना है कि मनुष्य की मिट्टी का अन्धकार इन प्रकाश-पुत्रों के रूप-रंगों को कहाँ तक ग्रहण कर सकता है। संसार के सैकत-तट पर इन देव-दूतों के दिव्य पद-चिह्न कब तक ठहर सकते हैं। पाषाण को प्रतिमा का स्वरूप देकर उसमें जीवन के हाव-भाव भर देना सरल है, किन्तु स्वप्नों के वायवी सौन्दर्य को स्थूल वास्तविकता के पाश में बाँध देना असम्भव नहीं, तो दुष्कर अवश्य है। सम्राज्ञी

की कृपा से मुझे इस पृथ्वी पर अनेक नवीन युगों की ध्वजाएँ फहराने का भार सौंपा गया है, मैंने पशु-प्रवृत्तियों की तामसी सन्तानों को सहज में परास्त होते नहीं देखा। इस भू-लोक के कुछ दार्शनिक तो तमोगुण के तिरोभाव को असम्भव मानते हैं, और उसे सृष्टि के विकास के लिए एक आवश्यक उपादान समझते हैं।

सुरभि : फिर भी न जाने हृदय क्यों चाहता है कि संसार से यह तामसी विनाश उठ जाये, और यह सृष्टि प्रेम की पलकों में, अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य का स्वप्न बन जाये!

[छायाकृतियाँ मूक-अभिनय समाप्त कर धीरे-धीरे अन्तर्धान हो जाती हैं। दृश्य-पट पर आसमानी प्रकाश, आकाश की तरह, फैल जाता है, और उसमें पुंज-पुंज प्रकाश-मण्डलों से अवतरित हो, सौरचक्र के विविध ग्रह, उपग्रह एवं नक्षत्र, उज्ज्वल आलोकमयी मानवाकृतियाँ धारण कर सूर्य के चारों ओर घूमने लगते हैं।]

सुरभि : वह देखिए, सम्राज्ञी! नेत्रों को चकाचौंध करनेवाला सौर-मण्डल का जाज्वल्यमान दृश्य!

[नेपथ्य में गीत-वाद्य; प्रकाश-मूर्तियाँ ताल-लय के अनुरूप, नृत्य-पूर्वक, सूर्य की परिक्रमा करती हुई गाती हैं।]

गीत

चिन्मय प्रकाश में विश्व उदय,
चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय।
रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह तारा-चय,
अग-जग प्रकाशमय है निश्चय!

चित्-शक्ति एक रे जगज्जननि,
धृत ज्योति-योनि में लोकाशय,
पलते उर में नव जगत सतत,
होते जग-जीर्ण उदर में क्षय!

चिर महानन्द के पुलकों में
भर-भर नित अगणित लोक-निचय,
नाचते शून्य में समुल्लसित
बन शत-शत सौर-चक्र निर्भय!

अविराम प्रेम-परिणय अग-जग,
परिणीत उभय चिन्मय-मृण्मय,
जड़ चेतन, चेतन जड़ बन-बन
रचते चिर सृजन-प्रलय अभिनय!
उन्मुक्त प्रेम की बाँहों में
सुख-दुख, सदसत् होते तन्मय,
वह विश्वात्मा रे अग-जग का
वह अखिल चराचर का समुदय!

[शनैः-शनैः सौरमण्डल का दृश्य क्षीण होकर अदृश्य हो जाता है। उसके स्थान पर शून्य में घूमता हुआ भूगोल

का दृश्य सामने आता है, जिससे सूर्यातप में, समुद्र की नील तरंगों पर नृत्य करती हुई, अनन्त-यौवना, मातृ-स्वरूपा पृथ्वी अवतीर्ण होती है। नील-अनिल का फहराता हुआ रेशमी दुकूल; विशाल पयोधरों पर हरीतिमा की कंचुकी; अंगों में अनेक मणिरत्नालंकार; गले में लम्बी-लम्बी उज्ज्वल मोतियों की लड़ियाँ; प्रशान्त प्रसन्न आनन; शिर पर बालेन्दु से मण्डित रजत-हिमकिरीट; दायें हाथ में धान की सुनहली बालियाँ, बायें हाथ में सलिल-सुधा से पूर्ण स्वर्ण-पात्र। नेपथ्य में वादन-समारोह पूर्वक नाट्य-गान।]

गीत

धन्य मातृ धन्य धातृ,
धन्य पुत्र सचराचर !
निखिल शस्य पुष्प-निकर,
कोटि कोटि, खग, पशु, नर,
विविध जाति, वंश प्रवर,
पुण्य धूलि-जात अमर !
प्रचुर अन्न बहु जल-फल,
सुरँग वसन, भूषण कल,
रजत, स्वर्ण रत्न-अचल,
धरणि-धाम सुर गुनकर !
कलरव, क्रीड़ा, विनोद,
मुखरित नित अवनि गोद,
प्रिय जग-जीवन-प्रमोद
कुसुमित वन, जनाश्रय घर !
रवि शशि स्मित दिशि मण्डल,
नील-सिन्धु चल-मेखल,
हिमगिरि, शत सरित चपल,
तड़ित-चकित नभ सुन्दर !
रजत दिवस, स्वर्ण प्रात,
तारा-शशि चित्रित रात,
मधुर मरुत मलय-जात,
पड्ऋतु-नर्तन मनहर !
पत्नी-पति, भगिनि भ्रात,
दुहिता-सुत, पिता-मात,
स्नेह-बद्ध सकल तात,
पुरजन, परिजन, सहचर !
सर्वदेश, सर्वकाल,
धर्म जाति वर्ण जाल,
हिलमिल सब हों विशाल,
एक हृदय, अगणित स्वर !

[पृथ्वी के तिरोहित हो जाने पर, परदे पर एक रमणीक उपवन का दृश्य प्रतिफलित होता है, जिसमें भाँति-

भाँति के फूल एवं फलों के वृक्ष शोभा-भार से लदे हुए हैं। शाखाओं पर तरह-तरह के पक्षी कुदक-कुदककर कलरव कर रहे हैं। इधर-उधर हिरनों और पालतू पशुओं के निर्भीक झुण्ड विचर रहे हैं। बीच-बीच में छोटे-छोटे सुन्दर गृह एवं पट-मण्डप बने हैं। मनोहर वेशों में सुन्दर स्वस्थ बालक-बालिकाओं और युवक-युवतियों के गिरोह उपवन में टहलते एवं कुंज-वितानों में क्रीड़ा-कौतुक, आमोद-प्रमोद करते, फूल चुनते, हार गूँथते, फलों का आस्वादन करते दृष्टिगोचर होते हैं।]

[युवक युवतीगण नृत्य वादन-पूर्वक गाते हैं]

गीत

न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर,
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन बन्धन !
है रे न दिशावधि का मानव,
वह चिर पुराण, वह चिर नूतन,
मानव के हैं सब जाति, वर्ण,
सब धर्म ज्ञान संस्कृति, बल, धन !
मृण्मय - प्रदीप में दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल,
ज्योतित जिनसे जग का आँगन !
हम पृथ्वी की प्रिय तारावलि,
जीवन वसन्त के मुकुल, सुमन,
सुरभित सुख से गृह-गृह, उपवन
उर उर में पूर्ण प्रेम मधु धन !

[धीरे-धीरे उपवन का दृश्य हट जाता है, और उसका एक भाग स्पष्ट एवं वृहद् आकार में परदे पर झूलने लगता है।

मौलसिरी की छाया में हरी-भरी दूर्वावृत पृथ्वी पर जॉर्ज नामक एक युवक बैठा हुआ उपवन की शोभा देख रहा है; उसकी जाँघ पर कुहनी के बल नवयुवती यमुना लेटी है। जॉर्ज फीन रंग को पौपलीन की कमीज और जाँघियाँ पहने है। पाँवों में उसी रंग के रेशमी हूज हैं। यमुना हलकी आसमानी रंग की साड़ी, उससे गहरे रंग का जम्पर पहने है। पाँवों में मखमली जूती हैं।]

सुरभि : वह देखिए, सम्राज्ञी ! नवीन मानव-जाति का एक और दृश्य ! जान पड़ता है, उन प्रकाश-पुत्रों ने विश्व की मनोभूमि पर अवतीर्ण होते ही अपने दिव्य प्रभाव से मनुष्य-जाति की सभ्यता में नवीन स्वर्ण युग का समारम्भ कर दिया !

ज्योत्स्ना : अब हम लोग चुपचाप रहकर, अनिमेष दृष्टि से नवीन युग की मानव-जाति के दृश्यों का अनुशीलन करें। देखें, ये लोग उन सूक्ष्म सृजन-शक्तियों की सात्त्विक भावनाओं एवं स्वप्न और कल्पना के वायवी सौन्दर्य को किसी सन्तोषजनक मात्रा तक अपने जीवन में अनुवादित कर सके हैं या नहीं।

[**छायाकृतियाँ वार्तालाप करती हैं।**]

यमुना : (**अपने आप**) जॉर्ज, जॉर्ज, जॉर्ज ! (**जॉर्ज से**) जितना ही तुम्हारा नाम रटती हूँ, वह और भी मधुर होता जा रहा है ! उसका विदेशीपन न-जाने कहाँ खो गया ! प्राचीन छोटी-मोटी संस्कृतियों ने, दुर्भेद्य दीवारों की तरह उठकर, मनुष्य-मनुष्य के बीच, कितना बड़ा व्यवधान खड़ा कर दिया था ? पर्वत और समुद्रों को वश करने में मनुष्य को उतना प्रयास नहीं करना पड़ा, जितना उन भिन्न-भिन्न धर्म और संस्कृतियों के अमोघ दुर्गों पर विजय प्राप्त करने में !

जॉर्ज : (**यमुना का हाथ हाथ में लेकर**) तुम्हारे साँवले रंग की तरह मेरे नाम का विदेशीपन भी मानव-प्रेम के उन्मुक्त प्रकाश में धुल गया, यमुने ! नहीं तो ग्वालिनों और गोपियों के संस्कारों से मुखर यमुना आज कुमारी मरियम के दूध से पले एक विदेशी युवक के गले का हार कैसे बन सकती ? (**हँसता है**)

यमुना : दुत्—जिन प्राचीन संस्कृतियों के बुझते हुए अंगारों से हमारे नवीन प्रकाश की लौ उठी है, उन्हें हमें सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए। नहीं तो हम जीवन के अखण्डनीय सत्य को नहीं समझ सकेंगे।

जॉर्ज : क्षमा करो, यमुने ! मुझे क्या मालूम था कि साँवला-प्रेम लोहे की बेड़ियों की तरह ही कठिन होता है, उसका बन्दी किसी तरह भी मुक्ति नहीं पा सकता !

यमुना : (**उसी परिहास को बढ़ाकर**) जानते हो, मेरा जन्म बन्दीगृह में हुआ था ! तब मेरी माँ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के युद्ध में कारावास भुगत रही थीं। तुम्हारे पिता ने ही उन्हें कैद किया था। माँ की मृत्यु के साथ ही मैं देश, जाति और धर्म की कारा से मुक्ति पा गयी ! सलीम के प्रेम की धारा ने मेरे हृदय को चारों ओर से टापू की तरह घेरकर मेरा सम्बन्ध समस्त प्राचीन रूढ़ियों के जगत से विच्छिन्न कर दिया। हमारे विद्यार्थी-जीवन में ही वह प्रेम का स्रोत उद्गत हो गया था। सलीम की अकाल-मृत्यु हो जाने पर मुझे ज्ञान पड़ा कि मेरे चारों ओर बालू की सूनी बेला ही शेष रह गयी है ! (**आह भरती है**) सलीम का वह सुन्दर मुख अब भी मेरी आँखों में घूमने लगता है ! (**उदास हो जाती है**)

जॉर्ज : (**उसके गाल पर थपकी देकर**) मृत्यु को मुर्दों के लिए ही रहने दो, यमुने ! (**यमुना का जी बहलाने के लिए गुनगुनाता है**)

जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक !
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे भाविक !

यमुना : (**अपने को सँभालकर**) हाँ, तो उन्हीं दिनों तुम, न जाने, उस बालू में भटकते हुए प्यासे हिरन की तरह कहाँ से मेरे पास पहुँच गये; तुमसे मिलने पर मेरे हृदय में जीवन की नवीन बाढ़ उमंगें लेने लगी। (**हँसती हुई**) और मैंने भी तुम्हारे पिता की लोहे की बेड़ियों का बदला तुम्हें सोने की बेड़ियों में बाँधकर लेना निश्चय कर लिया !

जॉर्ज : (**यमुना के गाल पर हल्की-सी चपत मारकर**) ऊँह, उन पुरानी स्मृतियों के प्रेतों को आँखों के सामने मत आने दो ! पिछले युग के संकीर्ण आकाश में जो जाति-विद्रोह का घना कुहासा छाया हुआ था, वह अब लुप्त हो गया ! मानव-प्रेम के नवीन प्रकाश में राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, जाति और वर्ण के भूत-प्रेत सदैव के लिए तिरोहित हो गये हैं। इस समय देश-जाति के बन्धनों से मुक्त मनुष्य केवल मनुष्य है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी अब पाँवों की बेड़ी या जीवन का बन्धन नहीं रहा। वह एक स्वाभाविक आत्मसमर्पण और जीवन की मुक्ति बन गया है। निरन्तर साहचर्य, परस्पर सद्भाव एवं सह-शिक्षा के कारण आधुनिक युवक-युवती का प्रेम देह की दुर्बलता न रहकर हृदय का बल एवं मन का संयम बन गया है।

[**सात साल के, मातृ-पितृ हीन, हँसमुख बालक, मुहम्मद का हाथ पकड़े, मलमल की गुलाबी साड़ी पहने, गुलाब का फूल सूंघते, विधवा युवती 'रोज़' का प्रवेश; जॉर्ज और यमुना उसका स्वागत करते हैं। यमुना मुहम्मद की बाँहें पकड़कर उसे जोर से हिलाती है; बालक खिलखिलाकर हंस पड़ता है। सब लोग बैठते हैं।**]

यमुना : प्रसन्नता ही बच्चों का स्वास्थ्य और सौन्दर्य है। स्नेह के हाथों की देख-रेख बच्चों के सम्यक् और स्वाभाविक विकास के लिए कितनी आवश्यक है, यह मुझे तुम्हारे मुहम्मद को देखने से मालूम हुआ, रोज़ ! वास्तव में, प्रेम का प्रकाश ही प्रसन्नता है !

रोज़ : (**मुहम्मद को गोद में बिठाकर**) दो साल हुए, जब अतुल मुझे छोड़कर संसार से चल बसा, तो मुझे यह मुहम्मद मिल गया। इसके माँ-बाँप हमारे पड़ोसी थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर इसे मैंने ले लिया (**फूल सूंघती है**)

मुहम्मद : (**हाथ बढ़ाकर**) यह गुलाब का फूल हम लेंगे, मम्मी !

रोज़ : लो, (**फूल देती है**) जाओ, दौड़कर सामने की झाड़ी से अपने लिए और फूल तोड़ लाओ। देखना, हाथ में काँटा न लगने पाये।

मुहम्मद : हाथ में काँटा क्यों लगेगा ? मैं नहीं लगने दूँगा, मम्मी !
[मुहम्मद प्रसन्नता से कुदकता हुआ फूल लेने जाता है।]

यमुना : तुम तो अभी बिल्कुल बच्ची हो, रोज़ ! क्या उम्र है ?

रोज : बाईसवाँ साल होगा।

जॉर्ज : अकेले जी लग जाता है ? प्रकाश तो आपको बहुत चाहता है, आपकी सौन्दर्य-प्रियता और मुक्त-हृदय की बड़ी प्रशंसा करता था।

रोज : हाँ, बड़े ही मधुर स्वभाव के आदमी हैं। आजकल सन्ध्या को प्रायः नित्य ही मेरे यहाँ आ जाते है। वे दूसरी शादी करना चाहते हैं। मै आयशा को उनसे मिलाऊँगी। अगर मैं उन्हें ठीक-ठीक समझ सकी हूँ, तो आयशा के साथ वे बहुत सुखी होंगे।

यमुना : और तुम ?

रोज : (हँसती है) मेरा तो शादी करने को अब जी नही करता, बहन ! अतुल का प्रभाव मेरे हृदय मे इतना अधिक है कि पूर्व-प्रेम की स्मृति मेरे हृदय में काफी आनन्द, सजीवता और स्फूर्ति पैदा करती रहती है।

यमुना : तुम छुटपन से ही ऐसी भाव-प्रवण रही हो।

रोज : और फिर बहन ! समय भी नही मिलता। बहुत-सा समय अस्पताल में बीमारों की नर्स करने मे चला जाता है, उसका मुझे बेहद शौक है। फिर पड़ोसियों के बच्चे आ जाते हैं, उनके छोटे-मोटे काम रहते हैं। मुहम्मद तो उन सबका राजा बन बैठा है, इसे वे छोड़ते ही नही। (मुहम्मद को आते देखकर) वह देखो, ढेर-के-ढेर फूल तोड लाया है।

जॉर्ज : मानव स्वभाव से आदर्शों की तुलना करने पर, जान पडता है कि आदर्शों को सबके लिए बन्धन-स्वरूप बना देने पर वे अपना मूल्य खो बैठते है। उनसे, स्वभाव का विकास होने के बदले, ह्रास होने लगता है। हमारे युग की एक विशेषता यह भी है कि आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते हैं। तुम और रोज इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हो यमुने !

[छाती और बाँहों के बीच ढेर-ढेर फूलों को दबाये मुहम्मद का प्रवेश ! मुहम्मद फूलों को यमुना के पाँवों के पास डाल देता है। रोज उसके जाँघिए और कमीज के बटन दुरुस्त करती है। यमुना फूलों के दो छोटे-छोटे गुलदस्ते बना देती है। मुहम्मद बचे हुए फूलों को नोच-नोचकर बिखरा देता है।]

रोज : (हँसकर) इसी तरह बिगाड़-बिगाड़कर बच्चे बनाना सीखते हैं।

[नेपथ्य से संगीत-ध्वनि सुनायी पड़ती है। भिन्न-भिन्न देशों के बाल-वृद्ध युवक-युवतीगण, सुरँग सुरुचिपूर्ण वेशों में, पुष्पों से एक-दूसरे को अलंकृत करते, आमोद-प्रमोद-पूर्वक वसन्तोत्सव मनाते हुए एक ओर से प्रवेश कर गीत-

नृत्य करते हैं ! यमुना, रोज, जॉर्ज और मुहम्मद भी उनमें मिल जाते हैं ।]

नृत्य-गीत

जग-जीवन नित नव-नव,
प्रतिदिन, प्रतिक्षण उत्सव !
जीवन शाश्वत वसन्त,
अगणित कलि कुसुम वृन्त,
सौरभ सुख श्री अनन्त,
पल - पल नव प्रलय प्रभव !
रवि शशि ग्रह चिर हर्षित
जल स्थल दिशि समुल्लसित,
निखिल कुसुम कलि सस्मित,
मुदित सकल हों मानव !
आशा, इच्छानुराग,
हो प्रतीति शक्ति त्याग,
उर - उर में प्रेम - आग,
प्रेम स्वर्ग - मर्त्य - विभव !

(सबका गाते-गाते प्रस्थान)

[वयोनुकूल, अचपल रंगों के वस्त्र पहने, सुन्दर सुधीर वेशों में कुछ प्रौढ़ वयस्क विद्वान् और विदूषियों का टहलते एवं वाद-विवाद करते हुए प्रवेश ।]

वेदव्रत : प्रत्येक युग के सामने एक गूढ़ प्रश्न रहता है, जिस ओर उस युग की समस्त ज्ञान-विज्ञान की नाड़ियाँ प्रधावित रहती है । पिछला युग भी अपवाद नहीं था । अपने समय की गम्भीर समस्याओं को सुलझाकर ही प्रत्येक युग का विजेता मनुष्य एक पग आगे उन्नति कर अपने पराक्रम से अर्जित नवीन विभवों का उपभोग करता है । जिस प्रकार पूर्व की प्राचीन सभ्यता अपने एकांगी आध्यात्मिक तत्त्वालोचन के दुष्परिणाम-स्वरूप, काल्पनिक मुक्ति के फेर में फँसकर, नाम-रूप पर स्थित जन-समाज की ऐहिक उन्नति के लिए बाधक हुई, एवं जीवन के प्रति मनुष्य के हृदय में विरक्ति पैदा कर गयी, उसी प्रकार अभी पिछली पश्चिमी सभ्यता एकांगी जड़वाद के दुष्परिणाम-स्वरूप विकासवाद, प्रकृतिवाद एवं जडविज्ञान के फेर में पड़कर, नाम-रूप के संसार के प्रति अतिशय आसक्ति पैदा कर, अर्थ-लोलुपता, इन्द्रिय-प्रियता, पशु-बल एवं विनाश के दलदल में डूब गयी । एक संकलनात्मक बुद्धि का दुष्परिणाम था, तो दूसरा विश्लेषणात्मक बुद्धि का दुष्फल । उन दोनों सभ्यताओं के संघर्ष से ही हमारे नवीन युग का जन्म हुआ । पाश्चात्य जड़वाद की मासल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि पंजर में भूत तथा जडविज्ञान के रूप-रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया ।

उसी पूर्ण मूर्ति के विविध अंग-स्वरूप पिछले युग के अनेक वाद-विवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके हैं।

राबर्ट : इसीलिए इस युग का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का; पूर्व और पश्चिम दोनों ही मनुष्य के बन गये हैं।

सुलेमान : (मनोवैज्ञानिक) आप बहुत ठीक कहते हैं, मिस्टर वेदव्रत! किन्तु पिछले युग के तानों-बानों को सुलझाने एवं नवीन युग का पट निर्माण करने में मनोविज्ञान के विकास ने सबसे अधिक मदद दी, हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए। अज्ञात-काल से जन-समाज के मनःप्रवाह में बहते हुए, कुल-गोत्र-हीन निर्जीव विचारों के कर्दम ने जमा होकर, मानव-जीवन के स्रोत को शत-शत शीर्ण धाराओं में विभक्त कर गति-हीन एवं पंगु बना दिया था! पिछले युग के मनुष्य के हृदय पर भूतकाल के आकर्षण का इतना भयंकर भार रहा है कि उसकी समस्त विकास-प्रिय प्रवृत्तियाँ अधोमुखी हो गयी थीं। प्राचीन निर्मूल सभ्यताओं की इतिहास-भूमि से उखड़े हुए, निरर्थक, जीर्ण-शीर्ण आदर्शों, विचारों एवं रूढ़ियों के शुष्क ठूँठ, अपने ही अपरिचय के अन्धकार में, किमाकार भूत-प्रेतों एवं नराकृति कंकालों की तरह सिर उठाकर, अपने अस्पष्ट, अर्थ-हीन, मूक इंगितों से मानव समाज को भयभीत और कर्तव्य-विमूढ़ बनाते रहे। पिछले युग का इतिहास, एक प्रकार से, उन्हीं प्राचीन लुप्तप्राय संस्कृतियों के मरणोन्मुख प्रेतों से मानव-मुक्ति के विकट युद्ध का इतिहास है! विचारों के ऐतिहासिक अनुशीलन एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन से हमें कम-से-कम यह तो प्रत्यक्ष हो गया कि संसार की भिन्न-भिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के स्वर्गवासी देवी-देवता एवं नरक-वासी राक्षस-गण, जो हमारे आधुनिक युग की किशोरावस्था में मनुष्यों पर आतंक जमाते रहे हैं, केवल मनुष्य के मनो-जगत् में व्याप्त सद् एवं असद् प्रवृत्तियों के कल्पित स्वरूप एवं चित्र-मात्र हैं। कला की दृष्टि से भले ही उनका कुछ मूल्य हो! हमारे सत्य की उपासना ने अब अपना स्वरूप बदल दिया है। हम यह जान गये हैं कि जो सत्य मानव-जीवन एवं मानव-जाति के लिए कल्याणकारी नहीं, जो उसकी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एवं लौकिक उन्नति का समग्र रूप से पोषक नहीं, वह सत्य मानवीय सत्य नहीं हो सकता। फलतः हम जन-समाज के कल्याण की दृष्टि से अपनी प्रवृत्तियों का अच्छा-बुरा मूल्य आँक सकते है। जिस प्रकार समस्त जीवन सत्य पर अवलम्बित है, उसी प्रकार समस्त सत्य जीवन पर। सत्य जीवन के बाहर नहीं मिल सकता।

वेदव्रत : इसमें क्या सन्देह, यह अन्योन्याश्रय का भाव समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

मेरी : मैं भी आपसे सहमत हूं, सुलेमान भाई! त्याग, विराग, अहिंसा, क्षमा, दया आदि अनेक आदर्शों को धार्मिक प्रवृत्ति

के लोग पहले से निरपेक्ष सत्य समझते आये हैं। इसलिए उनका धर्म मनुष्यों का धर्म न बनकर आदर्शों का धर्म बन गया। अपने आदर्शों के लिए उनकी अपार सहिष्णुता देखकर हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। जीवन की सम्पूर्णता से मानव-जीवन को विच्छिन्न कर हम ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श की ओर भी अग्रसर हों, तो वह अन्त में अर्थ-शून्य एवं सारहीन हो जाता है! मानव-जीवन का सत्य सापेक्ष है। त्याग और भोग एक-दूसरे को सार्थक करते हैं। इसी समत्व पर सत्य अवलम्बित है।

हेनरी : मैं आप लोगों से मतभेद रखता हूँ। जीवन सत्य पर अवश्य अवलम्बित है, पर सत्य अपने ही में स्थित, निरवलम्ब, निराधार है, इसीलिए वह सत्य है। हाँ, लौकिक सत्य एवं लोक-जीवन अवश्य एक-दूसरे के आश्रित हैं। एक बात और है, नवीन आदर्शों का जन्म होने एवं व्यवहार में आने से पहले, अथवा लोक-समाज का बाह्य विकास होने के पूर्व ही उसकी मानसिक अवस्था में एक आन्तरिक परिवर्तन पैदा हो जाता है। इसे चाहे आप सूक्ष्म परिवर्तन कहिए, चाहे अन्तर्गत, विश्वगत या आध्यात्मिक परिवर्तन कहिए। लेकिन मनोजगत् या मनस्तत्त्व स्वयं ही एक सूक्ष्म आन्तरिक विकास के कारण बदल जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

सुलेमान : (**रोककर**) क्या वह बदलाव सदैव विकास ही के लिए होता है?

हेनरी : समष्टि-रूप में, हाँ;—लेकिन इस प्रश्न को इस समय छोड़ दीजिए। क्योंकि जिस आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक (meta-psychological) दृष्टिकोण का इस युग में विकास होने लगा है, मैं इस समय केवल उसी को लक्ष्य करके बातें कर रहा हूँ। पिछले युग का मनोविज्ञान मन की सीमाओं में बँधे रहने के कारण अधूरा था। एक आध्यात्मिक नियम के वशवर्ती होने के कारण मनस्तत्त्व स्वयं ही परिवर्तनशील है, उसका स्वभाव (Quality) ही बदल सकता है, इस तथ्य का आभास पा लेने से, आधुनिक युग के मन की आधिभौतिक सीमाएँ तोड़कर उसे एक विस्तृत प्रकाश-पूर्ण आधिदैविक भूमि पर रख दिया है। यह उसकी सर्वोपरि विजय है।

सुलेमान : आप दार्शनिक हैं, इन जटिल पहेलियों को आप ही समझ सकते हैं।

हेनरी : (**नम्रतापूर्वक**) विषय दुरूह होने के कारण मेरी बातें कठिन हो गयीं, मुझे खेद है। राग-विराग, त्याग-भोग के बारे में भी जो कुछ आप कह रहे थे, वह एकांगी सत्य था, क्योंकि सभी वृत्तियाँ, समस्त प्राकृतिक विकार अक्षय है, उनका एक सार्वकालिक मूल्य भी है। प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग ((Positive negative attitudes) सदैव ही रहेंगे, दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सार्थक हैं। पहला भोक्ता के लिए, दूसरा द्रष्टा के

लिए, जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।

वेदव्रत : आपने जीवन के दोनों छोरों को अपने अध्यात्मज्ञान के पुल से जोड़ दिया है। चलिए, आगे चलकर तालाब के किनारे बेंच पर बैठें।

हेनरी : चलिए। **(सबका प्रस्थान)**

[अन्न-वस्त्र की चिन्ता से मुक्त, स्वस्थ, साक्षर, सिद्ध कृषकों, श्रम-जीवियों एवं व्यवसायियों के नर-नारियों एवं बालक-बालिकाओं का चटकीले रंगों के वस्त्र पहने गीत, वाद्य, नृत्य, व्यंग्य, विनोदपूर्वक वसन्तोत्सव मनाते हुए धीरे-धीरे प्रवेश।]

गीत

गूंजे जय-ध्वनि से आसमान—
'सब मानव मानव हैं समान !'

निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कर्म निरत हों भेद भूल,
बन्धुत्व-भाव ही विश्व-मूल,
सब एक राष्ट्र के उपादान ! गूंजे०

लोकोन्नति का हो खुला द्वार,
पथ-दर्शक सबका सदाचार
हों मुक्त कर्म, वाणी, विचार,
हों श्रेय-प्रेय रे एक प्राण ! गूंजे०

हो सहज स्नेह-संस्कृत स्वभाव,
उर में उमंग, उत्साह, चाव,
धन, अन्न, वस्त्र का मुक्त स्राव,
हो एक विश्व जीवन महान ! गूंजे०

सब श्रम, उद्यम गौरव-प्रधान,
सब कर्मों का हो उचित मान
सब कण्ठों में हो एक गान—
मानव मानव सब है समान ! गूंजे०

(गाते-गाते प्रस्थान)

[गरिमा-पूर्ण वेशों में कुछ शान्त, स्निग्ध, शारदाकृति, शासन और शिक्षा विभाग के अधिकारियों का विविध विषयों की चर्चा करते हुए प्रवेश !]

मि० मेरिस : सभ्यता के विकास के साथ ही मनुष्य सदैव से नियन्त्रण एवं शासन का पक्षपाती रहा है। राजनीतिक बन्धन ही नहीं, नैतिक, सामाजिक, मानसिक, कायिक अनेक शृंखलाओं में अपने को बाँधकर मनुष्य ने मिथ्या के अनियमों एवं स्वभाव के विद्रोह से मुक्ति पायी है। लोक-समाज की वह आदर्श स्थिति, जिसमें उसे शासन की आवश्यकता न रहे, ऐतिहासिक कल्पना-मात्र है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि या तो मानव-समाज का चरम विकास हो गया है, या उसका आगे को विकास होना रुक गया है। चूँकि निरन्तर विकास

ही का नाम जीवन है, दोनों ही परिणाम असम्भव हैं।

मि०माथुर : समस्त विश्व सत्य और सदाचार के नियमों से शासित है, मनुष्य अपवाद होकर नहीं रह सकता। विगत युग मे शासक और शासितों में सामंजस्य नहीं रहा, क्योंकि वह सत्य और सदाचार का नहीं, शक्ति और स्वत्वाधिकार के शासन का युग था। राज्यतन्त्र, प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र आदि सभी प्रकार के शासन, सत्य एवं सदाचार के अभाव से, केन्द्र-भ्रष्ट एवं लक्ष्य-हीन हो गये थे। जिस सामंजस्य की लय में समग्र सौरचक्र नृत्य करता है, उससे विद्रोह कर, मानो समस्त ग्रह, उपग्रह और नक्षत्र, अपनी-अपनी शक्ति एवं स्वत्वो को ध्येय बना भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त हो, एक-दूसरे पर विजय पाने की लालसा के प्रलयावर्त में, ताण्डव-नृत्य करने लगे थे। इसीलिए राज्यवादी, शक्ति-उन्मद, पदासक्त शासनाधिकारियों के रूप में विकृत हो गया।

मि०नीलरतन : और यही दशा प्रजातन्त्र और लोकतन्त्रों की हुई। जिस प्रकार समुद्र की मुखर लहरें, असंख्य स्वरूप एवं स्वरों की स्वतन्त्रता पा लेने पर भी, समुद्र के अन्तस्तल की अनन्त शान्ति की वाणी नहीं दे सकतीं, उसी प्रकार अपने ही को समझने में अक्षम, अशिक्षा-पीड़ित, भिन्न-भिन्न स्वार्थों के झोंकों के वश उठते, गिरते, मिलते, बिछुड़ते लोक-समूह भी शान्ति के स्थापन एवं अपने ही एकान्त-श्रेय के संरक्षण में असफल प्रमाणित हुए। बाजे के समस्त परदों को एक साथ ही दबा देने से, या कुछ चुने-चुने परदों पर बेमिलसिले हाथ फेर देने से ही राग का जन्म नहीं होता; राग के अनुरूप परदों को बजाने से ही राग का स्वरूप प्रकट हो सकता है। इसी प्रकार चाहे राज्यतन्त्र हों अथवा प्रजातन्त्र, मानव-सत्य के नियमों से परिचालित होने पर ही वे मनुष्य-जाति की सुख-समृद्धि के पोषक बन सकते हैं। सच तो यह है, मनुष्य को शासन-पद्धति अथवा उसके नियमों का आविष्कार नहीं करना है, उसे केवल सत्य की जिस शासन-प्रणाली से समस्त विश्व चलता है, उसका अन्वेषण कर, उसे पहचान भर लेना है। गत युग अपने को बाह्य सामंजस्य देने की चेष्टा करता रहा, जब कि उसे एकमात्र आन्तरिक सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता थी।

मि० सुबोध : शायद वह आन्तरिक विरोधों को एकदम मिटा सकने में तब असमर्थ था, उसके लिए समय की प्रतीक्षा आवश्यक थी।

मि० खेर : उस युग का सबसे विकट परिणाम समाजवाद का वह स्वरूप था, जो मनुष्य को समाज के गज के बौने गिरहों एवं इंचों में सीमित कर देना चाहता था। मानव-आत्मा की वह प्रवृत्ति, जो अपनी स्वार्थ की गिरह खोलकर, समाज के बौने गज से आगे बढ़कर, मानव-सत्य का मापदण्ड बन जाना चाहती है, उसके विकास के लिए समाजवाद में उपयुक्त

साधन एवं सुविधाओं का एकदम अभाव था ! जिस प्रकार व्यक्ति समाज का मान नहीं हो सका, उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति का मान नहीं बन सकता। हमारे सामाजिक एवं वैयक्तिक आदर्शों का वैषम्य एवं विभिन्नता इसका ज्वलन्त प्रमाण है। समाज एवं व्यक्ति में सामंजस्य स्थापित करना ही होगा।

सुश्री कमला : हमारे युग में शासकों का जनता के प्रति जो सेवकों का-सा भाव है, यह लोक-मनोविज्ञान की चरम परिणति का स्वरूप हमारे युग की सबसे बड़ी विशेषता है। इससे शासक-शासितों के बीच भेद-भाव का असौन्दर्य एवं विद्रोह नहीं रह गया। अधिकारों का उपभोग ही पिछले युग के शासकों का पातक रहा है। हमारा शासक वर्ग शासन के बाह्य रूप-रंगों से लुब्ध न होकर एवं शासन-नीति को हृदय की पवित्र वस्तु मानकर जनता के हृदय में व्यवधान ही खड़ा नहीं होने देता। मनुष्य-जाति को समस्त बाह्य भेदों से ऊपर उठकर अपने हृदय को अक्षुण्ण देखने की आवश्यकता है। हृदय के अवलम्बन पर ही, इस युग में मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं, दोषों एवं पातकों के लिए अत्यन्त क्षमा-पूर्ण दृष्टिकोण हो गया है। हमारा दण्ड-विधान मानव-सद्भावों का घातक नहीं। हमारे कारागार सबसे बड़े शिक्षालय हैं, इसीलिए उन्हें अब शिक्षागार कहते हैं। हम दण्ड के बदले चारित्रिक शिक्षा देते हैं।

मि०रहमान : वास्तव में हमारे युग का हृदय हमारा शिक्षा-विभाग है। नवयुवक और नवयुवतियों में उच्च मानवीय आदर्शों एवं विश्वजनीन भावों का पूर्ण विकास हो सके, उनके हृदय मानव-प्रेम के मधु से एवं सदाचार के सौरभ से ओत-प्रोत भर जायें,—इसी ओर हमारी सबसे अधिक शक्ति झुकी है। शिक्षा हृदय की साधना है। ज्ञान-पद्म के मूल हृदय के सरोवर में हैं। बुद्धि से जान लेना नहीं। हमारी समस्त चेष्टा इस ओर रहती है कि हमारे विद्यार्थी बुद्धि द्वारा जिस सत्य के दर्शनमात्र करते हैं, उसे हृदय की अविराम साधना से अपने में साकार कर लें। वे अपने ज्ञान की सजीव मूर्ति बन जायें। उनके हृदय की समस्त शक्ति, भावनाओं की समस्त शिराएँ उनके ज्ञान को खींचकर, उनमें सत्य का बोध ही नहीं, सत्य का प्रेम अंकुरित कर दें।

सुश्री कमला : आपका कहना अक्षरशः सत्य है। हृदय की शिक्षा में ही हमारी विश्व-संस्कृति के, मानव-प्रेम के एवं समस्त जीव-कल्याण के मूल अन्तर्हित है। जो शिक्षा हमारे हृदय के कपाट खोलकर मनुष्य के भीतर विश्व-प्रेम की उन्मुक्त वायु नहीं भर सकती, वह शिक्षा हमारे सत्य की कुंजी नहीं हो सकती।

मि०रहमान : चलिए न, हमारे विद्यार्थियों में से बहुत-से युवक और

युवतियाँ यहाँ वसन्तोत्सव में आये हुए हैं ! आप देखेंगे कि वे सच्ची शिक्षा के प्रभाव से क्या हो गये हैं !

सब लोग : (प्रसन्नतापूर्वक) चलिए, चलिए ।

(सबका प्रस्थान)

[सुभग सुरँग वेश-पूर्ण युवक-युवतियों के गिरोह के साथ, जिसमें कुछ कवि, कवयित्री, चित्रकार, कलाविद् एवं साहित्य-मर्मज्ञ हैं, कवि कुमार का मधुर भाव-प्लुत स्वर में कविता-गान करते हुए प्रवेश, कुछ युवक-युवतियाँ कोमल-श्लक्ष्ण स्वर में कुमार के पदों को दुहराते आ रहे हैं । कुछ कवि के भाव-विकास एवं शब्द-विलास की प्रशंसा कर रहे हैं । कुमार गोरा, लम्बा, इकहरे कद का युवक है । लम्बे, सुनहले, घुंघराले बाल, खुले गले का ढीला, लम्बा सफेद रेशमी कुरता; चौड़े मोहरे का रेशमी पायजामा, कमर में आसमानी रंग की रेशमी डोरी खूबसूरती से बँधी लटक रही है; बायीं कलाई में जुही की माला लिपटी; पाँव में मखमली जूता ।]

गीत

निर्भय हो, निर्भय मानव !
निर्भीक - विचर पृथ्वी पर,
विचलित मत हो विघ्नों में,
निज आत्मा पर रह निर्भर !
    है पूर्ण सत्य अविनश्वर,
    है पूर्ण सत्य रे नश्वर,
    है पूर्ण, सत्य यह, मानव;
    हैं पूर्ण निखिल सचराचर !
मत हो विरक्त जीवन में,
अनुरक्त न हो जीवन पर,
जग परिधि मात्र जीवन की,
स्थित केन्द्र अमर उर भीतर !
    बन शान्त धीर क्षमतामय,
    बन स्नेही, सहृदय, सहचर,
    गुण-दोष-युक्त जग-जीवन,
    निज गुण से पर-अवगुण हर !
बढती नित घृणा घृणा से,
तू उसे प्रेम से दे भर,
है दीप दीप से जलता,
है प्रेम प्रेम पर निर्भर !
    निश्चय आत्मा है अक्षय,
    निश्चय मृन्मय तन नश्वर,
    यह जीवन चक्र चिरन्तन,
    तू हँस-हँस जी, हँस-हँस मर !

[गीत समाप्त होने पर सब लोग प्रशंसा-सूचक ध्वनि

करते हुए दूर्वादल पर बैठ जाते हैं।]

कुसुम : (फूलों की माला गूँथती एवं 'निश्चय आत्मा है अक्षय' पद दुहराती हुई) जन्म-मरण के प्रति यह भाव है तो सत्य, किन्तु जीवन के इन रूप-रंगों एवं सौन्दर्योपभोग के अतृप्त सुख के लोभ को छोड़कर, हँसते-हँसते मृत्यु के कंकाल को आलिंगन करने की कल्पना बड़ी कठिन जान पड़ती है।

कुमार : (कुसुम की अलकों में छिपे गुलाब मुकुल को बाहर निकालते हुए) तुम जीती-जागती कविता हो, प्रिय कुसुम ! जीवन का समस्त माधुर्य एवं प्रेम तुम्हारे लावण्य में सजीव हो उठा है। तुम्हारे मधुर स्वर में सृजन-संगीत झंकृत हो उठता है। तुम्हारी इन नील अकूल आँखों के सौन्दर्य पर काल पलक की तरह अनिमेष एवं मुग्ध होकर अपनी गति भूल जाता है। तुम्हें मृत्यु का भय नहीं, प्यारी कुसुम ! तुम्हारे प्रेम-पाश में बँधकर मरण भी जीवित हो उठेगा। वह कंकालों का प्रेमी न रहकर तुम्हारे इस रूप-रंग का प्रेमी बन जायेगा।

[कुछ चित्रकार कुसुम की रूप-रेखा अंकित कर रहे हैं।]

सतीश : (रेखाएँ खींचता हुआ, कुसुम से) आपकी गति-हीन रेखाओं से खिंचकर प्रत्येक मनुष्य चित्रकार बन सकता है। मधुर झंकारों की तरह परस्पर लय होती हुई आपकी रेखाओं का सामंजस्य तूलिका से संगीत की सृष्टि करने लगता है। रंग जीवन का स्पन्दन पाकर सजीव हो उठते है, और छाया-प्रकाश की संगति रूप में सौन्दर्य की तरह निखर उठती है।

[फिर चित्र बनाने में लीन हो जाता है]

कुसुम : (हँसती हुई) मैं भी अपने को आपकी आँखों में देख सकती !

कुमार : कुसुम ! जन्म-मरण, सुख-दुख, जीवन के बाह्य विरोधों एवं प्रतीप-आविर्भावों के बीच मनुष्य को, अपनी सहज बुद्धि से काम लेकर, एक बार सामंजस्य स्थापित करना ही पड़ता है। मनुष्य के आगे में अधिक असन्तोष का कारण बुद्धिजन्य है। जीवन के सम्यक् ज्ञान से ही जीवन का सम्यक् उपयोग हो सकता है। समस्त विरोधों के भीतर जीवन की अविच्छिन्न एकता पाकर उस पर हृदय केन्द्रित कर लेना होता है। तब मनुष्य जीवन के उस चरम सूत्र को ग्रहण कर लेता है, जिसके छोरों में बँधे सुख-दुख, जन्म-मरण आदि द्वन्द्व, तुला के पलड़ों की तरह, उठते-गिरते रहते है।

[कुसुम गम्भीर हो जाती है।]

इसी चरम सत्य के दर्शन कराना, अनेकता में जीवन की एकता का आभास दिखाना कवि, चित्रक एवं कलाकार का काम है। और, यही कला का सौन्दर्य है। मुट्ठी-भर धूल में कला समस्त ब्रह्माण्ड के दर्शन करा देती है। अनेकता के असमंजस में खोये हुए हृदय को एकत्रित कर कला उसे मनुष्य की आत्मा में केन्द्रित कर देती है। जीवन के विराट वैचित्र्य के ताने-बाने सुलझाकर, उसे सरल, सुगम बनाकर

एक ही सूत्र में उसे मनुष्य के हाथ में दे देती है ।

कुसुम : मैं यही सरलता की मुक्ति चाहती हूँ ।

कुमार : हमे जीवन को सार-रूप में ग्रहण कर सकते हैं, संसार-रूप में नहीं । जीवन के इस सार से, सत्य के इस सारल्य से, मनुष्य को मिलाकर, कला उसे सबसे मिला देती है । यही सत्य का एकत्व, काव्य का लोकोत्तरानन्द रस है ।

एलफ्रेड : विगत युग में, कला को कला के लिए महत्त्व देते आये हैं । अब हम जानते हैं कि कला सत्य नहीं, जीवन ही सत्य है । कला में जो कुछ सत्य है, वह उसके जीवन की परछायीं होने के कारण । कलाकार या कवि जीवन को विश्व के आविर्भाव रूप में ही सीमित नहीं रखता, वह उसके दर्शन समस्त विश्व में व्याप्त जीवन के सत्य स्वरूप में करता है । सत्य ज्वाला है, उसके स्पर्श से समस्त भेद-भावों के विरोध भस्म हो जाते हैं । कला अपना अस्तित्व जीवन में लय कर जब तक उससे तदाकार नहीं हो जाती, उसके मूर्त हाथ सत्य की ज्वाला को नहीं पकड सकते । सर्वोच्च कलाकर वह है, जो कला के कृत्रिम पट में जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थि-मांस की इन सजीव प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की साँसें भरता है, उन्हें सम्पूर्णता का सौन्दर्य प्रदान करता है, उनके हृदय-प्रदीप को जीवन के प्रेम से दीप्त कर देता है ।

कुमार : आप ठीक कहते हैं । दार्शनिक जिस सत्य के दर्शन प्रज्ञा द्वारा करता है, कवि को उस सत्य को हृदय से खींचकर सजीव कर देना होता है, उसे अपने जीवन में परिणत कर देना पडता है, उस सत्य की मूर्ति बन जाना पडता है । सच्चा कवि वह है, जो अपने सृजन-प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है । अपने को जीवन के सत्य और सौन्दर्य की प्रतिमा बना लेता है । कवि का सबसे बडा काव्य स्वयं कवि है ।

(सतीश कुसुम का रेखा-चित्र तैयार कर लेता है; सब लोग उसे देखकर भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ।)

दारा : वाह, आपने रेखाओं के भीतर ही रेखा-हीन सौन्दर्य के दर्शन करा दिये ! चित्र की संगति में जैसे रेखाएँ अपना भेद भूल गयी हैं ! और, पलकें अनिमेष होकर जैसे चंचल नेत्रों के सौन्दर्य पर पहरा दे रही हैं ।

कुमार : **(चित्र देखकर)** A thing of beauty is a joy for ever.

कुछ लोग : बडा ही सुन्दर चित्र बना है !

कुसुम : आपको हार्दिक धन्यवाद है, मिस्टर सतीश !

सतीश : **(हँसकर)** आप इससे भी अधिक मुझे चित्र खीचने का आनन्द दे चुकी हैं, मिस कुसुम !

(कुसुम माला समाप्त कर सतीश के गले में डाल देती है ।)

सतीश : जान पड़ता है, आज वसन्तोत्सव के दिन मुझे स्वयं वसन्त-श्री

ने वरण कर लिया है !

कुमार : सतीश और कुसुम एक-दूसरे के लिए ही बने हैं। क्यों, तुम्हारी अपनी बहन के लिए क्या राय है, मि० प्रफुल्ल ?

प्रफुल्ल : कुसुम की रुचि बड़ी मार्जित है, मुझे उस पर विश्वास है ! **(कुमार कुसुम का हाथ सतीश के हाथ में देता है। सब लोग हर्ष ध्वनि करते हैं, एवं नव-दम्पति को बधाई देते हैं।)**

[वसन्तोत्सव समाप्त हुआ चाहता है ! चारों ओर से झुण्ड-के-झुण्ड नर-नारी आकर आमने-सामने दो पाँतियों से प्रार्थना के लिए खड़े होते हैं। कुमार द्वारा प्रफुल्ल आदि भी उनमें सम्मिलित हो जाते हैं। सतीश और कुसुम सबके बीच में खड़े होते हैं। उनका मुख सामने की ओर रहता है।]

प्रार्थना-गान

मंगल चिर मंगल हो !
मंगलमय सचराचर,
मंगलमय दिशि-पल हो ! मंगल०
तमस-मूढ़ हो भास्वर,
पतित, क्षुद्र, उच्च प्रवर,
मृत्यु-भीत नित्य, अमर,
अग-जग चिर उज्ज्वल हो ! मंगल०
शुद्ध, बुद्ध हों सब जन,
भेद - मुक्त, निर्भय - मन,
जीवित सब जीवन - क्षण,
स्वर्ग यहीं भू-तल हो ! मंगल०
लुप्त जाति - वर्ण - विवर,
शान्त अर्थ - शक्ति - भँवर,
शान्त रक्त - तृष्णा समर,
प्रहसित जग-शतदल हो ! मंगल०

[प्रार्थना समाप्त कर चुकने पर सब लोग प्रसन्न-मन एक-दूसरे से विदा लेते हैं। धीरे-धीरे उपवन रिक्त हो जाता है। यवनिका पर पुनः हिम-शिखरों की उपत्यका का दृश्य झूलने लगता है। रंगमंच पर पूर्ववत् हलका आसमानी प्रकाश छा जाता है। स्वप्न और कल्पना प्रवेश करते हैं।]

स्वप्न-कल्पना : सम्राज्ञी की जय !

सब लोग : स्वप्न और कल्पना की जय !

स्वप्न-कल्पना : सम्राज्ञी के मनोरंजन एवं लोक-कल्याण के लिए स्वप्न और कल्पना ने अनेक मायावी रूप धर कर, पलकों के असंख्य मंद द्वारों से, निद्रा के नीरव छाया-लोक में प्रवेश कर, मानव-जाति के मानस-पट पर छाया-प्रकाश के अनेक मनोरम स्वर्गीय चित्र अंकित कर दिये हैं। एक ही समुद्र की अगणित तरंगों की तरह, एक ही प्रकाश की अनेक दीप-शिखाओं की तरह, हमने शतशः नाम-रूपों में विभक्त हो, एक अभिनव

सौन्दर्य-सृष्टि का निर्माण कर, मानव-जाति की आँखों के सामने उसके भविष्य को साकार कर दिया है ! चेतना के निःसीम प्रांगण में, साँसों की डोरियों में झूलते हुए हृदय के स्पन्दित पलनों पर सोयी हुई असंख्य निश्चेष्ट आत्माएँ, स्वप्न और कल्पना के वायवी पखों में उडकर, अभिनव भावनाओं के स्वर्ग-लोक में अभिसार कर आयी हैं। नवीन सौन्दर्य के उन्माद से उत्तेजित होकर वे विश्राम करना भूल गयी हैं। उन पर फिर से निद्रा की प्रगाढ़ विस्मृति का अंचल डालकर उन्हें सुला देना चाहिए, जिससे वे मानसिक क्लान्ति से मुक्त हो, कल स्वस्थ होकर जग सकें। कल का प्रभात सोने का प्रभात होगा।

ज्योत्स्ना : स्वप्न ! तुम्हारे और कल्पना के दिव्य कौशल एवं क्रिया-चातुर्य से मुझे अपार आनन्द हुआ। तुम लोगों ने संसार के सामने वही आदर्श रखे, जिन्हें मनुष्य सहज में अपना सकें, एवं दैनिक जीवन के कार्य-कलाप में परिणत कर सकें। समय-समय पर उनके सामने और भी दिव्य आदर्श रखे जायेंगे।

स्वप्न-कल्पना : यह सब सम्राज्ञी के स्नेह और सहयोग का फल है। सम्राज्ञी की कृपा से हमारा कार्य सफलता-पूर्वक समाप्त हो गया है। अब हमें मुक्ति प्रदान हो। (**अपने अंगों की ओर इंगित कर**) जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्त्व के इन नाम-रूप के कोषों को धारण किये रहेंगे, मानव-जाति विश्राम नहीं ले सकेगी। अतएव हमें पुनः अनन्त में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिए। बीज संसार को पत्र-पुष्प-फल देकर फिर बीज ही में परिणत हो जाता है। यही सृष्टि का रहस्य है।

ज्योत्स्ना : अच्छी बात है। इन स्वर्गीय स्वप्नों की स्मृतियों के भार से मेरा हृदय भी स्वर्ग-लोक के लिए व्याकुल हो उठा है। किरणो, मेरा यान उपस्थित करो।

[**ज्योत्स्ना खड़ी होती है, और अपनी बाँहें फैलाकर धीरे-धीरे सबके ऊपर फेरती है; सब लोग बैठे-बैठे ऊँघने लगते हैं; प्रकाश धुँधला पड़ जाता है। ज्योत्स्ना स्वप्न और कल्पना को छू देती है। दोनों पख खोलकर धीरे-धीरे ऊपर उठते जाते हैं। प्रकाश और भी मन्द पड़ जाता है; स्वप्न और कल्पना उड़कर अन्तर्धान हो जाते हैं। क्षण-भर के अन्धकार के बाद क्षीण धुँधले प्रकाश में, एक प्रौढ़ नारी के वेश में 'निद्रा' प्रकट होती दिखायी पड़ती है। निद्रा का पीला वर्ण है; कोमल कुम्हलाये अंग; मुँदी हुई पलकें। मुख पर मातृत्व का भाव; बड़े-बड़े पयोधरों पर धूप-छाँह की अलस-शिथिल कंचुकी; छायावर्ण की हलकी रेशमी साड़ी; विस्मृति-सी सघन कोमल केश-राशि; गले में मुँदे नयनों की तरह कमल-मुकुलों की माला; दायें हाथ में पोस्ते के फूलों का गुलदस्ता। नेपथ्य में मधुर-मन्द वाद्य ध्वनि होती है; निद्रा कोमल-कण्ठ से लोरी के ढंग का गीत गाती एवं अभिनय**

द्वारा नाद के अलस सुख एवं पूर्ण विश्राम के भाव दरसाती है।]

गीत

सोओ, सोओ, तात !
सोये तरु-वन में खग
सरसी में जलजात !
सजग गगन के तारक
भू - प्रहरी - प्रख्यात,
सोओ जग दृग-तारक,
मूंदो पलक - निपात !
चपल वायु-सा मानस,
पा स्मृतियों के घात
भावों में मत लहरे,
विस्मृत हो जा गात !
जाग्रत उर मे कम्पन
नासा में हो वात,
सोएँ सुख, दुख, इच्छा,
आशाएँ अज्ञात !
विस्मृति के तन्द्रालस
तमसांचल में, रात,
सोओ जग की सन्ध्या,
होवे नवयुग प्रात !

[गीत समाप्त होने पर निद्रा मूक अभिनय करती हुई दीखती है; प्रकाश और भी मन्द होता हुआ क्षण-भर के लिए अन्धकार में विलीन हो जाता है और निद्रा भी उसी अन्धकार में अदृश्य हो जाती है। सर्वत्र पूर्ववत् प्रकाश फैल जाता है।]

पवन-सुरभि : सम्राज्ञी का मनोरथ पूर्ण हो गया, इससे पवन और सुरभि चिर कृतार्थ हुए। सम्राज्ञी के इस अभूतपूर्व सहवास में जो स्वर्गीय दृश्य हमें देखने को मिले है, उनकी अलौकिक स्मृति सदैव के लिए मन में अंकित रहेगी। अब प्राय: सभी कार्य समाप्त हो चुके है, हम लोगों की पलकें भी नीद से भारी हो, झँपने लगी है। सम्राज्ञी का यान भी उपस्थित है।

[किरणें यान उठाकर सामने खड़ी हो जाती हैं।]

ज्योत्स्ना : **(यान पर बैठती हुई)** अच्छा, मैं भी तुम सब लोगों से विदा माँगती हूँ। इस घड़ी-भर के मधुर मिलन ने मुझे सदैव के लिए तुम्हारे स्नेह-पाश में बाँध दिया है। तुम लोगों से बिछुड़ते हुए मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। पवन, तुम्हारी और सुरभि की सुखद स्मृति मेरे हृदय-पटल पर सदैव जीवित रहेगी।

पवन-सुरभि : पवन और सुरभि सदैव सम्राज्ञी के अनुचर रहेंगे।

[किरणें यान कन्धों पर रखकर उड़ने का उपक्रम करती हैं। ओस यान को चारों ओर से घेरकर गाते हैं।]

गीत

ओस :

छल छल, टल टल,
जीवन के पल
सजल सजल रे मूक अश्रु-दल !
मधुर मिलन के मोती चंचल,
विधुर-विरह से पिघल-पिघल गल,
छल छल, टल टल,
अश्रु-हार रे बन जाते स्मृति में गुँथ अविरल !

पवन-सुरभि :

चल सुख, चल दुख,
जीवन का मुख—
छल छल टल टल,
जन्म मरण का विरह-मिलन का हास-अश्रु का रे रंगस्थल !

[यान धीरे-धीरे उड़कर ओझल होने लगता है। किरणों का मधुर स्वर वायुमण्डल में गूँजने लगता है। ओस एकटक आकाश की ओर देखकर गीत सुनते हैं।]

गीत

प्रिय स्वर्ग-लोक का वास हमें,
प्रिय चन्द्रलोक का हास हमें !
प्रिय शान्त प्रसन्नाकाश हमें
प्रिय भू का स्वल्प प्रवास हमें !

(धीरे-धीरे संगीत-ध्वनि विलीन होती है; परदा गिरता है।)

चार

रात्रि के तृतीय प्रहर का शेषांश; भू-लोक के एक सघन निर्जन वनप्रान्त का दृश्य; चन्द्रमा के ग्रह-ग्रसित हो जाने के कारण भू-लोक का एक भाग एकाएक तमसाच्छन्न हो गया है; विषण्ण अन्धकार में, किमाकार दानवों-से खड़े वन के वृक्ष बीच-बीच में हिल-डुलकर अस्पष्ट अर्थ-शून्य इंगित कर रहे हैं। वायु जैसे भय से सिहर-सिहरकर फिर-फिर निःस्पन्द हो जाता है; निशीथ की प्रगाढ़ निद्रा को प्रतिध्वनित कर घुग्घू की भीषण चीत्कार भावी दृश्य का भयंकर विज्ञापन देती हुई सन्नाटे में गूंज-गूंज उठती है। और साथ ही बौने कद के गदबदे आदमी की आकृति का एक उल्लू पेड़ की डाल से धम्म-से नीचे कूद पड़ता है। उसकी गोलाकार आँखें दो उपरक्त चाँदों की तरह दीख रही हैं। उल्लू के कूदते ही एक आर्त चीख सुनायी पड़ती है। पेड़ के नीचे का अन्धकार मानो हिलने-डुलने लगता है। यह अदृश्य तमसाकृति छाया है, जो अँधेरे में छिपी हुई वन के एकान्त में वृक्षों के नीचे सोयी हुई थी !

छाया : (पेड के नीचे का अन्धकार जैसे बोल उठा हो) आह, दुष्ट

ने कमर तोड़ दी ।

उल्लू : (**भारी स्वर में**) हा, हा, हा, हा, ! कौन ? (**ध्यानपूर्वक देखकर**) आहा ! तुम हो छाया मौसी ?

छाया : कौन छोकरा यह मुझसे मौसी कहता है ?

उल्लू : यह लो ! देख नहीं पातीं क्या ? आहा ! तुम्हें रात को रतौंधी न हो जाती है ! मौसी, मैं हूँ उल्लू ।

छाया : (**क्रोध से**) उल्लू कहीं का ! छोकरे ने, ऊपर से अट्-से कूद-कर, मेरी कमर के दो टुकड़े कर दिये !

उल्लू : (**हँसता हुआ**) मुझे क्या मालूम था कि पेड़ के नीचे तुम सोयी हुई हो ? देखूं, कहाँ कमर टूट गयी ? (**अँधेरे को टटोलकर**) वाह, मौसी, तुम्हारे कमर भी हो, जो मैं दो टुकड़े कर दूं !

छाया : मर कलमुँहे ! मुझसे मजाक करता है ! अरे छोकरे, पीठ, मेरी पीठ तो तोड डाली ।

उल्लू : गालों मत बको, मौसी ! तुम्हारा स्वभाव न जाने कभी क्यों इतना चिड़चिड़ा हो जाता है ! लाओ, तुम्हारी पीठ मल दूं । (**पीठ मलता है**) यह लो । अब उठो, मौसी यह भी कोई सोने का वक्त है ? देखो न, चारों ओर नीला-नीला प्रकाश छाया हुआ है ! रजनी नानी के समस्त चर अपने काम-धन्धों में जुटे हुए हैं ।

छाया : मैं क्या तेरी तरह देख पाती हूँ ?

उल्लू : आहा ! तुम्हें खबर है मौसी, राहू काका चन्दा मामा के यहाँ धावा बोलकर उनकी अमृत की सुराही झटक लाये । चन्दा मामा ब्रह्मा दादा के पास फरियाद करने गये । दादा ने उनसे कहा, मौसी, कि वे इसकी चिन्ता न करें ।

छाया : रहने दे अपने काका-मामा की बातें । बातूनी छोकरा, सोने नहीं देता !

उल्लू : अरे, असल बात तो सुन लो । हाँ, तो ब्रह्मा दादा ने चन्दा मामा को बताया, मौसी, आज असुर लोग अपना अन्तिम उत्सव मनानेवाले हैं । और, इसीलिए वे अमृत छीन ले गये हैं ! और मौसी, ब्रह्मा दादा ने कहा कि—

छाया : उल्लू छोकरा ! कै बार अब दादा-दादा कहेगा ?

उल्लू : सुन तो लो मौसी ! तो दादा ने, ब्रह्मा दादा ने कहा कि उस अमृत का असुरों पर बिलकुल उलटा असर होगा । वे अमृत पीकर कई साल तक, बल्कि मौसी, दादा ने कहा कि असुर लोग अमृत पीकर कई युगों तक बेहोश पड़े रहेंगे, और इस बीच पृथ्वी में आदर्श युग रहेगा । कल का प्रभात उस युग का सोने का प्रभात होगा । (**वन के अन्तराल की ओर संकेत कर**) वह देखो, मौसी, सब-के-सब दानव-पिशाच और भूत-प्रेत इसी ओर आ रहे हैं ! आह, मौसी ! कैसी-कैसी विकराल सूरतें हैं ! मुझे डर मालूम देता है ! (**चटपट पेड़ की डाल पर उछलकर गायब हो जाता है ।**)

छाया : (**चिढ़कर**) दूर हट मेरे सामने से ! छी-छी-छी ! छोकरा न जाने, किन नरक के भूत-प्रेतों की बातें कर रहा है ! मारे डर के मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं ! जाऊँ, और कहीं जाकर विश्राम करूँ ।

(**अदृश्य रूप से प्रस्थान**)

[**एकाएक वन के भारी निश्चेष्ट अन्धकार में भयानक खलबली एवं उथल-पुथल मच जाती है; चारों ओर घर्-घर् हर्-हर् का शब्द गूँज उठता है; वन-प्रान्त सायँ-सायँ साँसें भरने लगता है; पेड़ों की शाखाएँ सकपका उठती हैं; प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए पक्षीगण आर्त चीत्कार कर अपने-अपने नीड़ छोड़कर भयभीत हो भाग खड़े होते हैं; समस्त वन-भूमि भारी-भरकम पदाघातों से जैसे उद्वेलित हो उठती है।** अनेकों कदाकार, कुरूप, भयंकर छायाकृतियाँ वन के सघन अन्तरालों एवं पृथ्वी के अँधेरे गर्तों और खोहों से बहिर्गत हो चारों ओर घूम-घूमकर ताण्डव-नृत्य करने लगती हैं। ये कराला-कृतियाँ नर-पशु की तामसी प्रवृत्तियों एवं सदाचार के अभाव से उत्पन्न होनेवाले विविध रोग, शोक, आपदाओं एवं यन्त्र-णाओं के प्रचण्ड स्वरूप हैं, जो प्राकृतिक विकास-नियमों के अनुरूप सत्प्रवृत्तियों का अधिक प्रचार बढ़ने पर, प्रयोजन न रह जाने के कारण, पुनः तमोगुण में लय होकर सुप्तावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि प्रकृति के अज्ञेय अन्धकार से स्थूल, क्रूर, विनाशकारी असत्प्रवृत्तियों का जन्म एवं विकास केवल प्रकृति की रचनात्मक. सूक्ष्म सत्प्रवृत्तियों को जीवों के भीतर व्यक्त करने एवं तुलनात्मक संघर्ष द्वारा उनका विकास और रक्षा करने के लिए होता है। सृष्टि के विधान में तामसी प्रवृत्तियों का स्थान और उपयोगिता, अप्रत्यक्ष एवं तिर्यक् रूप से सृष्टि के विकास को सहायता पहुँचाना है। विश्व की बाह्य सत्ता तमोगुण में है, फलतः तामसी प्रवृत्तियाँ गौण रूप से सृष्टि का संहार करती हुई, सूक्ष्म दृष्टि से सृजन करने में सहायक होती हैं। ये सृष्टि रूपी फल को चारों ओर से घेरे हुए कठोर छिलके की तरह हैं, जो जीवों के अज्ञान-जनित समस्त आघात-प्रतिघात सहकर अपने अन्तस्तल में सात्विक सूक्ष्म वृत्तियों के रस एवं माधुर्य की रक्षा करती हैं। इसीलिए मनोवैज्ञानिक घृणा, क्रोध, भय आदि वृत्तियों को प्रेम, दया, आदर आदि का ही प्रतीप-रूप बतलाते हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—घृणा, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, दम्भ, मोह, हिंसा, कपट, मिथ्या, छल, स्वार्थ, कलह, अत्याचार, क्रूरता, पशुबल, भेद-भाव, भ्रम, आसक्ति, शक्तिमद, रूप-गर्व, जाति-द्वेष, धर्मान्धता, रूढ़ि-पूजा, अविश्वास, युद्ध, महामारी, प्लेग आदि संक्रामक रोग इत्यादि।

दीर्घकाल के प्रयत्न एवं संग्राम के बाद, मानव-जाति के हृदय में विश्व-संस्कृति, मानव-प्रेम, सदाचार आदि सद्वृत्तियों

के नवीन बीजों के अंकुरित हो उठने के कारण, पिछले युग की समस्त स्थूल प्रवृत्तियाँ, उपर्युक्त छायाकृतियों के रूपों में एकत्रित होकर इस दृश्य में अपने आदि निवास तमोगुण में लय हो रही हैं। अपने स्वभाव और कार्यों के अनुकूल इनके स्वरूप बड़े विकराल, भयोत्पादक, असुन्दर एवं कठोर हैं। कुछ हिलते हुए अस्थि-कंकाल-मात्र हैं; कुछ वृहत् महाकाय; कुछ दीर्घ किमाकार; कुछ अंग-हीन; कुछ कृश; कुछ एक-पाद, एक-हस्त; कुछ बहु-पाद, बहु-हस्त; कुछ उग्र-दन्त, उदग्र-नख, प्रचण्ड चक्षु, विरूपाक्ष, शूर्पकर्ण, उदग्रीव, प्रलम्ब-बाहु, लोलकराल जिह्व इत्यादि। कुछ काले-काले मोटे बालों और रोओं से आच्छादित; कुछ नीले, लाल, गहरे रंगों की ज्वालाओं से वेष्टित; अस्थि, चर्म, रुण्ड-मुण्डों से अलंकृत हैं। इनके पास तरह-तरह के चमकीले अस्त्र-शस्त्र हैं, ये खोपड़ियों के पात्रों में अमृत-पान करते, हड्डियों को कट-कटाकर ताल देते, एवं अनेक कर्कश शब्द करते हुए नाचते-गाते हैं। अमृत का प्रभाव इनके नीले-नीले ओठों को छूते ही, इनकी प्रकृति के अनुसार तीव्र मदिरा में परिणत हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश विविध रंगों में पड़ने पर उन्हीं रंगों के स्वरूप में प्रतिफलित होता है।]

प्रलय-गीत

डम-डम - डम डमरु - स्वर,
रुद्र - नृत्य प्रलयंकर !
कम्पित दिग्भू - अम्बर,
ध्वस्त अहंमद डम्बर !

क्रूर, शूर, खर, दुर्धर,
अन्ध तमस पुत्र अमर !
नित्य सर्व शिव अनुचर,
भव-भय तम-भ्रम-जित्वर !

मोह - मूढ़ चराचर,
मोह - रात्रि रात्रिचर
हरते भव - मोह, लोह
लोह काटता खरतर !

जीवन - तरु में शुभकर
कोमल कलि - कुसुमाकर;
आत्म - त्राण के कठोर
हम खर - कण्टक परिकर !

हम अभाव - जनित, अपर,
हममें सत्-चित् अक्षर,
नाम रूप गुण अन्तर
तम प्रकाश - रूपान्तर !

झंझा हर जीर्ण पत्र
बोता नव बीज - निकर,
पाता नित सद् विकास,
होता लय तम कट-मर !

[गीत-नृत्य समाप्त होने पर असुर-वर्ग मदिरा की ज्वाला से उन्मत्त हो, और लगातार उछलने-कूदने से क्लान्त एवं मृतवत् हो, वन के सघन अन्तराल की ओर हटते-हटते, गहरे दुर्भेद्य अन्धकार सागर में विलीन होकर अदृश्य हो जाते हैं।

समस्त वन-प्रान्त में पूर्ववत् निर्जन निस्तब्धता का साम्राज्य हो गया है। मन्द-मन्द शीतल समीर के स्पर्शों से वन के पत्र मधुर अस्फुट मर्मर करने लगते हैं, जैसे दीर्घप्रयास के बाद वन-भूमि मधुर, मनोरंजक, वार्त्तालापपूर्वक विश्राम-सुख प्रकट कर रही हो। क्रमशः चन्द्रमा धीरे-धीरे ग्रहण-मुक्त हो, छायातप से कानन-प्रान्त के सघन अन्धकार को द्रवित करने लगता है। सद्यः स्वस्थ, किन्तु दुर्बल रोगी के मुख की पीली कान्ति की तरह चारों ओर एक क्षीण आभा फैल जाती है।

मलिन-विधुर वेश में, सोहनी गाते-गाते, विरहिणी युवती कोकी का प्रवेश; हलके पीले रंग की धोती, जिसमें लाल, काली, हरी, पीली, नीली कई रंगों की धारियाँ हैं।]

गीत

नाथ, हो स्वर्ण-प्रभात !
त्रस्त, तिमिर-पीड़ित सचराचर,
जीवन - पथ अज्ञात !
लिपटे नभ-अंचल में आँसू
अग-जग के अवदात,
बन्दी है जग-जीवन का अलि,
खिले विश्व - जलजात !
तुम प्रकाश, तुम हो जीवन-धन,
स्वर्ण - सृष्टि के प्रात,
बरसे प्रेम-प्रभा दिशि-दिशि में,
हो आलोक - प्रपात !

(मन्द शिथिल पगों को बढ़ाते हुए कोकी का प्रस्थान)

[इस बीच में निखिल-वन-भूमि पूर्णेन्दु के रजत-प्रकाश से प्लावित हो जाती है। चतुर्दिक् पत्रों के कम्पित अधरों पर चाँदनी का चाँदी का समुद्र लहराने लगता है। चन्द्रिका के प्रभाव से पुनरुज्जीवित होकर छाया, रुपहली, घुँघराली अलकें छिटकाये, हलकी रेशमी धूप-छाँह की साड़ी पहने, चंचल ओस के मोतियों से अलंकृत, सुन्दर षोड़शी अप्सरा के वेश में पुनः प्रवेश करती है।]

छाया : (अपने आप) रात-भर न जाने कैसे दुःस्वप्नों ने दबाया।

कभी देखती हूँ, एक निशिचर मेरी पीठ पर सवार है ! कभी सुनती हूँ कि भूत-प्रेत मुझे निगलने आ रहे हैं ! ओह, बड़ा भयावना स्वप्न था ! उसी उनींदी हालत में भागते-भागते नदी के किनारे पहुँची, तो आँखें खुल गयीं । क्या देखती हूँ कि चारों ओर निर्मल चाँदनी छिटकी है ! आकाश की परियाँ उतरकर, अपने रुपहले पंख फैलाये, लहरों की चंचल गिलह-रियों पर सवार हो, रलमल-रलमल दौड़कर जल-क्रीड़ा कर रही हैं ! पानी में अपनी परछाईं देखी, तो अवाक् रह गयी ! जैसे मैं दूसरे ही स्वप्न-लोक में विचरने लगी होऊँ ! क्या देखती हूँ, मैं एक अप्सरा बन गयी हूँ । रुपहली अलकें हो गयी हैं ! अंगों में मोती झलमला रहे हैं ! यह सौन्दर्य ! यह रेशमी साड़ी ! यह उम्र ! ओह, बड़ी देर तक अपनी ही परछाईं से बातें करती रही ! अपने-आप बोलने, अपने मुँह अपनी प्रशंसा सुनने को जी करता है ! मैं कब कैसी हो जाती हूँ—अपने जीवन के इस रहस्य को मैं स्वयं नहीं समझ पाती !

[**सुन्दर युवक के वेश में कोक का प्रवेश; रंग-बिरंगी बूँदों से रँगे रेशमी वस्त्र; पीठ पर उसी तरह के दो पंख। छाया एक सुन्दर युवक को पास आते देखकर उस पर मुग्ध हो, एकटक उसकी ओर देखने लगती है।**]

कोक : (**पत्तों के अन्तराल से छनती हुई चाँदनी में खड़ी छाया को कोकी समझकर**) तुम्हें कहाँ-कहाँ खोज आया हूँ, प्रिये ! घण्टों नदी-किनारे बालू में लोटता रहा ! (**पास आकर**) हाय, तुम्हारी यह क्या दशा हो गयी है ! बाल बिखरे हुए हैं ! (**ओस-बूँद देखकर**) सारा आँचल आँसुओं से भरा हुआ है ! जैसे तुम्हारा रोआँ-रोआँ रोता रहा हो ! हाय, तुम इतनी दुबली कैसे हो गयीं, चकवी ! अंग-अंग जैसे कुम्हला गये हैं ! मैं यदि जानता कि मेरे बिना तुम्हारी यह दशा हो जायेगी, तो तुम्हें अकेली क्यों छोड़ता !

[**छाया अपने को छिपाने एवं मान दिखाने के अभिप्राय से पीठ फेर लेती है।**]

कोक : चकवी, प्रियतमे, क्या रूठ गयी !

छाया : (**विनोद के अभिप्राय से**) रूठूँगी नहीं, तो क्या ? मुझे अकेली छोड़कर किसके मुख-चन्द्र का अमृत पान करने गये थे ?

कोक : आज तुम्हें क्या हो गया, कोकी ! (**प्रेमाधिक्य से कोकी को कोको कहता है**) जो कोक अपने एक पत्नीव्रत के लिए स्वर्ग में भी प्रसिद्ध है, जिसके प्रेम की गाथाएँ गा-गाकर मनुष्यों ने प्रेम करना सीखा है, तुम्हें छोड़कर, वह स्वप्न मे भी पर-स्त्री से प्रेम कर सकता है ? तुम्हारे अधरामृत के बिना यह पूनो की सुधा का ज्वार भी मेरी तृषा तृप्त नहीं कर सकता ! (**चन्द्र की ओर इंगित कर**) प्रिये, इस चन्द्रमा की सृष्टि विधाता ने प्रेमियों के लिए ही की है ! तुम्हारे साथ, एकान्त में, नदी-किनारे, दूध-फेन-सी सैकत-शय्या पर, क्षण-भर आत्म-विस्मृत

होकर, एकटक तुम्हारे मुख-चन्द्र को देखने एवं अधर-सुधा पान करने की मेरी अतृप्त लालसा क्या इस जीवन में कभी पूरी नहीं हो पायेगी ?

[**छाया के सामने जाकर उसकी कमर में हाथ डालना चाहता है। छाया कुछ दूर हटकर, मुंह फिराकर खड़ी हो जाती है।**]

कोक : तुम्हारा प्रणय तो मान करना जानता ही नहीं था, चकवी ! मुझे भ्रम तो नहीं हो रहा है ? नहीं तो सच्चे प्रेम में यह आशंका क्यों उठती ?

[**पास जाकर छाया के कन्धे पर हाथ रखकर एकदम पीछे हट जाता है।**]

(**आश्चर्य से**) अरे, यह तो चकवी के कोमल गात का स्पर्श नहीं है ! उसके सौन्दर्य की कमनीयता और स्नेह का माधुर्य तो बिना स्पर्श किये ही मेरे शरीर को रोमांचित कर देता है ! मुझे अवश्य भ्रम हो गया है !

[**दूर से प्रभात-वाहक लावे का स्वर सुनायी पड़ता है।**]

जान पड़ता है, पौ फट गयी ! जंगल में पेड़ों की सघनता के कारण समय का अनुमान ही नहीं हो सका !

[**वृक्षों के अन्तराल से द्वाभा का हलका नीला-पीला आभास झलकने लगता है। शीतल मन्द समीर के झोंकों से अँधेरे से लिपी पुती पेड़ों की डालियाँ हिलने लगती हैं। वृक्ष की आड़ से छाया हलके, ढीले, पीले रंग के लबादे में लम्बी, क्षीण, स्त्री-आकृति के रूप में प्रकट हो, धीरे-धीरे, वायु की गति के कारण, झूलने लगती है। कोक उसे देखकर विस्मित एवं भयभीत हो एकदम पीछे हट जाता है।**]

कोक : ओह ! न जाने किस यक्षिणी के माया-जाल में फँसने से बच गया !

(सहसा प्रस्थान)

छाया : (**आगे बढ़कर इधर-उधर देखती हुई**) न जाने कौन खेचर अपनी प्रेयसी की खोज में भटकता हुआ यहाँ आकर मुझसे प्रणय-याचना कर रहा था ! मैंने भी खूब उल्लू बनाया ! ज्यों ही मैंने प्रभात की लम्बी अँगड़ाई ली, तो ऐसा डरा कि भागता नजर आया ! चलूँ, आज का दिन किसी रमणीय उपवन में बिताऊँ।

(प्रस्थान)

[**शनैः-शनैः द्वाभा का मधुर पीलापन वन-विटपों की हिलती हुई हरीतिमा के ऊपर बारीक रेशमी-पट की तरह झूलने लगता है। एक सुनहली अलकोंवाले, प्रसन्नमुख बालक के वेश में तुरही बजाते हुए लवे का गाते-गाते प्रवेश : भूरे रंग के रेशमी वस्त्र; अरुण जलदों के पंख, गले में चौड़े लाल रिबन का बो, कमर में सुनहली डोरी बँधी, दायें हाथ में लाल**

कमल की कली; नेपथ्य में ड्रम, क्लेरिओनेट, पाइप आदि वाद्य बजते हैं।]

गीत

हो आलोक ! हो आलोक !
इस जग के मलीन-मुख से द्रुत
मिटे अँधेरे का भय, शोक !
हो आलोक ! हो आलोक !
एक ज्योति के पाश में बँधे
भगिनि-भ्रात से भू-स्वर्लोक !
हो आलोक ! हो आलोक !
खिले पद्म-सा ज्योति-वृन्त पर
जीव-कोषमय यह जग-ओक !
हो आलोक ! हो आलोक !
मिलें प्रेम के स्वर्ण-प्रात में
फिर भू नभ के कोकी-कोक !
हो आलोक ! हो आलोक !
नव - ऊषा आशीर्वाद - सी
उतर रही वह, लो अवलोक !

[गीत समाप्त कर चुकने पर लवा बार-बार अपने हाथ की लाल कमल-कली की ओर देखता है, जिसकी पँखुड़ियाँ धीरे-धीरे खुलने का उपक्रम कर रही हैं, वह जैसे उसका काल-सूचक यन्त्र हो। द्वाभा कुछ गहरी हो, रक्तोत्पल वर्ण धारण करती है। सघन पत्रों के स्वप्न-नीड़ों में सोये विहग जग-जगकर कलरव करने लगते हैं। नेपथ्य से उनका प्रभात-गीत सुनायी पड़ता है।]

गीत

कौन अप्सरि अज्ञात,
उतरती नभ से आभाकार
स्वर्ग - की - शोभा - सी साभार
फुल्ल मधुऋतु की सी संसार,
विश्व श्री का कृश-गात !
स्रस्त छाया-तम का कच-भार,
नवाज सरोज उरोज उभार,
स्वर्ण विगलित नव-छबि सुकुमार
श्वास सुरभित मृदु वात !
अर्चि-मृत चल-जल भृकुटि-विलास,
अधर-पल्लव, स्मिति मुकुल-विकास,
चतुर्दिक् राशि-राशि हिम-हास
अरुण पद-तल जलजात !
जगत - जीवन की - सी झंकार,

निखिल इच्छाओं की गुंजार,
अपरिमित आशांचल विस्तार,
दृगों में नव युग-प्रात !

[**सहसा बरगद की शाखाएं हिलती हैं, और पवन उससे कूदकर नीचे उतरता है ।**]

पवन : (**पूर्व की ओर देखकर**) ओह, कब की पौ फट गयी, आज बड़ी देर में आँखें खुली ! कल न जाने किन फूलों की मादक गन्ध पी गया कि घड़ी-भर भी शान्तिपूर्वक नहीं सो पाया । रात-भर स्वप्न-लोक में विचरता रहा ! न जाने कैसे-कैसे अलौकिक स्वप्न देखे ! (**ताली पीटकर**) मैं, जो आजीवन क्वाँरा रहने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, स्वप्न में क्या देखता हूँ कि एक अनिन्द्य सुर-सुन्दरी से मेरी शादी हो गयी है ! (**हँसता है**) अवश्य किसी अप्सरा या सुर-बाला ने, स्वप्न-पथ से उतरकर, मुझे मायाभिभूत कर लिया था ! ऐसी रात तो आज तक कभी बीती ही नहीं ! और, अभी न जाने किसके गाने की ध्वनि कानों में गूंज रही थी कि नींद खुल गयी ! (**इधर-उधर देखकर, लवे से**) अहा, आप कौन हैं, कोई राजपुत्र या देवकुमार ? अब भी क्या मैं उस इन्द्रजाल के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाया ?

लवा : (**प्रसन्न मुख, पवन के निकट आकर**) मैं ज्योतिर्मयी उषा का दूत हूँ, प्रकाश का सन्देश-वाहक हूँ !)

पवन : आप ही ने गाकर मेरा सोने का सुख-स्वप्न भंग किया ?

लवा : (**आश्चर्य से**) सोने का सुख-स्वप्न भंग किया ! मैं तो संसार के लिए सोने का प्रभात और सुख के स्वप्न लाया हूँ ! आज का प्रभात स्वर्ण का प्रभात है, महाशय ! उषा स्वर्ग से नवीन प्रकाश लेकर पृथ्वी पर शुभागमन कर रही हैं । मैं आपको उसी का सन्देश देने आया हूँ । उषा की सोने की डाली नवीन आशा नवीन अभिलाषाओं से, नवीन रूप, नवीन रंग, नवीन गन्ध, नवीन कलि-कुसुमों से भरी है । चलिए, देवी का स्वागत करें ।

पवन : चलिए, दूतवर ! क्या आप मुझे अपनी पीठ पर कूदने देंगे ?

(**दोनों का प्रस्थान**)

[**यवनिका**]

पाँच

उदयाचल का दृश्य; प्रभात-काल; स्निग्ध, प्रशान्त, स्वर्णाभा से मण्डित उदयाद्रि, सोने के सुमेरु की तरह, अपना जाज्वल्यमान उत्तुंग मस्तक, अपनी ही गौरव-गरिमा में, निर्भीक हो, आकाश की ओर उठाये हुए है ! शिखर पर विशाल विजय-केतु-सा नीलाकाश बालातप की बीचियों में फहरा रहा है । चारों ओर फैला हुआ पलाश का प्रफुल्ल वन, वसन्तागम से नवीन जीवन की ज्वालाओं में सुलग उठा है । उपत्यका में, सरोवर

का राशि-राशि गलित-स्वर्ण-जल, सौ-सौ इच्छाकांक्षाओं में उमड़कर लोट-लोट रहा है। पूर्वांचल के भाल पर उषा का, आधुनिक रुचि से निर्मित, कुसुमित लताओं से वेष्टित, सुरम्य भवन शोभा दे रहा है, जिसके झरोखों पर कोमल किसलयों के कुसुम्मी परदे चारवायु में हिल रहे हैं। गिरजे के ढंग की ऊँची उठी, तिरछी, सुकोण छत, नीलम की स्लेटों से पटी, दमक रही है। पूर्व की ओर, रक्त पद्मराग का विशाल प्रवेश-द्वार है; जिसके सामने दूर तक फैला हुआ रमणीय उद्यान है। यत्र-तत्र हरित दूर्वा-परिवृत, देशी, विदेशी सुरंग कुसुमों की वर्ग वृत क्यारियाँ और विपट-कुंज एवं लता-मण्डप बने है। बीच में अपने ही आवेश में उठकर चूर-चूर होता हुआ सोने का फुहारा। इधर-उधर, लाल रंग की सर्पाकार पगडण्डियाँ।

उपवन में विविध वेशों में, हलके-गहरे, रंग-बिरंगे, ट्यूनिक, फ्रॉक, कुरते, साड़ी आदि पहने, देशी-विदेशी फूलों के हँसमुख बालक और बालिकाएँ छोटे-छोटे गिरोहों में घूम-फिरकर, परस्पर हास-परिहास, क्रीड़ा-कौतुक, आमोद-प्रमोद में निमग्न हैं। लम्बे-लम्बे ट्यूलिप, गोरे-गोरे नारसिसस, आसमानी बैंगनी हिायसिथ, चम्पई पोटेनटिला, बड़े-बड़े रेशमी हालीहाक, तितलियों-सी पंख फैलाये आइरिस, सुनहले, डैफोडिल, रंग-बिरंगे पिटूनियाँ, जैरेनियम, डेजी, पेंजी, लार्कस्पर, कार्नेशन, वायलेट, स्वीट पी तथा केना, पलाश, कचनार, कनियार, माधवी, मालती, मोतिया, चम्पा, गेंदा, गुलाब, चमेली, जूही, कुन्द आदि अनेक रंगों के वस्त्र पहने, एवं अलकों में अपने-अपने नाम के फूल खोंसे, ओस-बिन्दुओं की माला गूँथते, भौंरों और तितलियों की पाँखों को बटोरकर पंखा करते, वार्तालापपूर्वक इधर-उधर टहलते हुए प्रातःक्रीड़ा कर रहे हैं। परदा उठता है।

[कुछ फूलों के बालक गाते-गाते आते है, और उसी प्रकार चले जाते है।]

गीत

मुकुलित तन हो, प्रमुदित मन हो,
सुभग सुरंग अंग, सौरभ-घन हो!
वृन्त-शयन हो, तुहिन-चयन हो,
मधुर मलय, मधुमय गुंजन हो!
नव-बचपन हो, नव-यौवन हो,
क्रीड़न, आलिंगन, चुम्बन हो!
नील गगन हो, नव-मधुवन हो,
हास-लासमय जग-जीवन हो!

स्नोड्रॉप : तुम्हारी आँखें मुझे बड़ी सुन्दर लगती हैं, वायला!

वायलेट : तुम ऐसे ही भोले रहोगे क्या स्नोड्रॉप!

[दोनों के बीच में पेंजी आती है।]

स्नोड्रॉप : तुम्हारे पास बड़े ही सुन्दर फ्रॉक है, पेंजी! तुम्हारी रुचि बड़ी अच्छी है!

पेंजी : (**प्रसन्न होकर**) कैसा आनन्द है ! मुझे तो तितली होना चाहिए था !

[**दूसरी ओर जाते हैं।**]

ट्यूलिप : मैंने अपनी बड़ी-सी हथेली की कटोरी में तुम्हारे लिए कल रात बहुत-से मोती इकट्ठा किये हैं, पोटेन्टिला ! वही तुम्हें देने आया हूँ ।

[**ओस के मोती देता है।**]

पोटेन्टिला : इस भद्रता के लिए धन्यवाद देती हूँ, ट्यूलिप ! तुम सबसे लम्बे भी तो हो, तुम्हारे सिवा यह काम और कौन कर सकता है ! (**मोती देखकर**) ओह, मैं कैसी सुखी हूँ ! न जाने हार गूँथना मुझे इतना क्यों भाता है !

ट्यूलिप : इससे सुन्दर कोई मनोविनोद भी तो नहीं ! मुझे कल किरणों ने परी की कहानी सुनायी थी। तुम वही परी हो, पो !

पोटेन्टिला : मुझे परियों की कहानियाँ बेहद पसन्द हैं, क्या तुम नहीं सुनाओगे ?

[**दोनों टहलते हुए जाते हैं।**]

फॉरगेट मी नॉट : मुझे भूल न जाना, प्यारी पी ! तुम्हारे कोमल स्वभाव की मधुरता ने मुझे मोल ले लिया है ।

स्वीट-पी : मैं जानती हूँ, नो ! तुम प्रेम के लिए सर्वस्व निछावर कर सकते हो।

फॉरगेट मी नॉट : तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर मेरा जीवन सफल हो गया ! मैं सदैव इस प्रम का अमर स्मृति-चिह्न बनकर जीवन व्यतीत करूँगा ।

[**दोनों जाते है।**]

डैफोडिल . (**दोनों हाथों से ताली बजाता**) मुझे नाचना बड़ा अच्छा लगता है, बेहद अच्छा । यह जीवन का सुनहला पल बिना नाचे-कूदे, उदास मुख लटकाये बिता देना कैसी नादानी है !

पिटूनियाँ : ठीक कहते हो, डैफोडिल ! हँसी-खुशी, रास-रंग मनाने के सिवा जीवन का और ध्येय ही क्या हो सकता है ? अपने ही सुख में खिलकर अपने ही सुख में विलीन हो जाना ! आनन्द का एक क्षण,—यही तो जीवन है ? चलो, मैं तुम्हारे साथ नाचूँगा । तुम क्या हमारे साथ नहीं नाचोगी, डेजी ! तुम तो हमारे उपवन की तारिका हो ।

डेजी · (**प्रसन्न होकर**) जरूर नाचूँगी।

डैफोडिल : तुम कैसी हँसमुख लडकी हो !

डेजी : मैं शाम ही को सो जाती हूँ, इसीलिए सुबह एकदम स्वस्थ और प्रफुल्ल होकर उठती हूँ ।

कार्नेशन : प्रेम ही जीवन है ! प्रेम की मदिरा पीकर जब तक आँखें आरक्त नहीं हो उठतीं, तब तक जीवन का उपभोग कैसा ?

[**डैफोडिल, पिटूनियाँ, एमेरन्थस, डेजी आदि नृत्य करते हैं।**]

गीत-नृत्य

संयुक्त : हास - हास, लास - लास,
सांस-सांस में सुवास !

कुछ : दल-दल में रंग-रंग
पल-पल में नव-उमंग !
कलि-कलि में नव-विकास,
जग चिर जीवन-निवास !

कुछ : हिल हँस लें संग-संग,
जीवन चल - जल - तरंग !
काल-डाल मे विलास,
जीवन-क्षण हिम-हुलास !

कुछ : जीवन शाश्वत वसन्त,
जय जग-जीवन अनन्त !

कुछ : जन्म-मरण आस-पास;
जीवन रे मृत्यु-ग्राम !

कुछ : जीवन चिर-मुक्त द्वार,
जन्म-मरण चल किवार !

संयुक्त : आवागम - मुक्त - पाश;
जीवन अग-जग-प्रकाश !

हनीसकल : तुम परियों की फुलवारी के लिए बनी हो, प्यारी आइरिस, तुम्हारी रेशमी सुकुमारता स्वर्गीय वस्तु है !

आइरिस : मुझे यहाँ केवल तुम्हारी चूर्ण अलकों ने बाँध रखा है, ओनो डियर !

[**दोनों टहलते हुए जाते है।**]

रोज : रुष्ट न हो, प्यारी लिली !

लिली : मै रुष्ट नही होती, रोज ! मै चाहती हूँ, तुम प्रेम का सम्मान करो। प्रेम पर श्रद्धा रखो। प्रेम पाकर जब कोई उच्छृंखल और उन्मत्त होने लगता है, तो मुझे अच्छा नही लगता। तुम बड़े कामुक हो !

रोज : मैं वसन्त का पुत्र हूँ, लिली ! मेरी नाडियों में जिस नवीन यौवन के रक्त की लालिमा दौड रही है, रोओं मे जिस रूप की ज्वाला सुलग रही है, उस पर भी कुछ ध्यान दो ! मेरी साँस-साँस से केवल तुम्हारे प्रेम की सुगन्ध आती है।

लिली : यह मैं जानती हूँ।

रोज : तुम अनिन्द्य सुन्दरी हो, प्यारी लिली ! (**उसे बाँहों में बाँध-कर जोर से उसका मुँह चूमता है**) ज्यों-ज्यो तुम युवती हो रही हो, तुम्हारे अंग-अंग मे फूटते हुए लावण्य-विकास को देखकर मेरी पलकें प्रतिक्षण आनन्द और विस्मय मे विस्फारित होती जा रही हैं।

[**लिली लज्जाधीर हो सिर झुका लेती है, गुलाब उसे प्रेम-विवश करने के लिए गाता है।**]

गीत

सुखमा की जितनी मधुर कली,
उन सबमें सुन्दर सलज लिली !
वह छायातप में सहज पली
अपनी शोभा से स्वयं खिली !
वह तरुण प्रणय की पलकों को
सौन्दर्य-स्वप्न-सी प्रथम मिली,
वह प्यारी, गोरी, रूप-परी,
जग में मेरे ही संग हिली !

[दोनों का प्रस्थान]

[उषा, झरोखे से परदा हटाकर, अपना रक्तोत्पल-सा सुन्दर मुख बाहर निकाल, मन्द-मन्द मुसकुराती है। कुन्द, जुही, पिटूनियाँ, नरगिस, डेजी आदि उषा की ओर उँगली से इंगित कर ताली पीटते हैं। कोई बाहर आने का संकेत करता है, कोई पुकारता है।]

कुछ फूल : मम्मी ! मम्मी !
कुछ फूल : अम्मी ! अम्मी !
उषा : मेरा प्यार लो- -मेरा प्यार लो ! (हाथ बाहर निकालकर हिलाती है।)

[धीरे-धीरे सब फूल झरोखे के सामने एकत्रित होकर गीत-नृत्य करते हैं।]

गीत

लो, जग की डाली-डाली पर
जागी नव-जीवन की कलियाँ !
मिट्टी ने जड़ निद्रा तजकर
खोली स्वप्निल पलकावलियाँ !
मलयानिल ने सरका उर से
उर्वी का तन्द्रिल छायांचल,
रज-रज के रोएँ-रोएँ में
छू-छू भर दीं पुलकावलियाँ !
शशि-किरणों ने मोती भर-भर
गूँथी सौरभ-अलकावलियाँ !
गूँजी, मधु अधरों पर मँडरा
इच्छाओं की मधुपावलियाँ !
श्री, सुख, स्वप्नों में भर लायी
लो, ऊषा सोने की डलिया,
मुखरित रखती जग का आँगन
ये जीवन की नव रँगरलियाँ !

[अनेक चटकीले रेशमी रंगों के वस्त्रों से अलंकृत, नीली, पीली, लाल, हरी, बैंगनी एवं मिश्रित वर्णों की तितलियाँ रंग-बिरंगे पंख फैला, मुकुलवयसा बालिकाओं के

रूप में प्रवेश करती हैं। फूलों के बालक एवं तितलियाँ, भिन्न-भिन्न जोड़ों में बँटकर, परस्पर बाँहों में बँधे, एक-दूसरे का मुख चूम-चूमकर, सहज सुख व्यंजित करते हुए, गीत-नृत्य करते हैं।]

तितलियों का गीत-नृत्य

जीवन के सुखमय स्पर्शों-सी
हम खोल-खोल पलकों के पर,
उड़ती फिरतीं सुख के नभ में,
स्मिति के आतप में ज्यों स्मितिचर!

पा साँस चेतना की मानो
जड़ वृन्त-नीड़ से उड़ सत्वर
हम फूली फिरतीं फूलों-सी
पंखों की सुरँग पँखड़ियों पर!

पल-पल चल-पलकों में उड़ती
चितवन की परियों-सी सुन्दर,
हम, शिशु के अधरों पर खिलतीं,
स्वप्नों की कलियों-सी सुखकर!

चेतना रेशमी सुषमा की
सौ-सौ रुचि, रंग, रूप धरकर
उड़ती हो ज्यों रचना सुख में,
रँग-रँग जीवन के गति प्रिय पर!

[फूलों-तितलियों का संयुक्त गान]

तितली : हों जग में मधुर फूल-से मुख,
जीवन में क्षण-क्षण चुम्बन-सुख!

फूल : हो इच्छाओं के चंचल पर,
अधरों से मिलते रहें अधर!

तितली : हो हृदय प्रणय-मधु से मधुमय,
उर-सौरभ से जग सौरभमय!

फूल : हो सबके प्रिय स्नेही सहचर,
यह धरा स्वर्ग-सी हो सुखकर!

[गीत समाप्त होने पर दोनों मूक अभिनय कर अनेक हाव-भावों से जीवन का उल्लास प्रकट करते हैं। कुछ लोग उषा को बुलाते हैं।]

कुछ फूल : बाहर आओ ना, मम्मी!

तितलियाँ : आकर हमारे साथ खेलो ना, जीजी!

उषा : आती हूँ—आती हूँ। (झरोखे से मुख अदृश्य हो जाता है।)

गेंदा : तुम्हारी मित्रता से मैं अपने को गौरवान्वित समझता हूँ, मिस्टर डल्हिया!

डल्हिया : (चाटुकारी से विरक्त हो) ओ. ऐसी बात है, गेंदा!

[प्रभात-किरणों के साथ उषा और अरुण का प्रवेश; प्रभात-किरणें गुलाबी रेशम के वस्त्र पहने हैं, किशोर-वयसा, स्मित मुख एवं सद्य: स्वस्थ। उषा अनिन्द्य सुन्दरी सद्य.स्फुट,

गुलाब-सा आनन; अधखुले नील-नलिन-से नयन; तिमिर की दो रेखाओं-सी भृकुटियाँ; पीली-पीली घुँघराली केसरी अलकें; कीर की-सी नासिका; चम्पक-वर्ण, मदनबान की कलियों-सी उँगलियाँ; सोने की जरी की साड़ी, जरी की कंचुकी; उठे हुए वक्षस्थल मानो चकवा-चकवी के मधुर प्रभात-मिलन हों। गलेमें झूलती हुई क्रमशः छोटे-बड़े मोतियों की एकावली, बायीं बाँह में कुहनी के पास से गुलाबी रेशमी डोरी में लटकी सुनहरी तार की डाली, जिसमें अनेक खिले-अधखिले कलि-कुसुम भरे हुए हैं। अरुण,—सुन्दर, स्वस्थ ऋषि-कुमार-सा; गेरुए रंग के रेशमी वस्त्र; कान्तिमान आनन। प्रभात-किरणें उषा और अरुण को चतुर्दिक घेरकर गा रही हैं।]

गीत

तुम नील वृन्त पर नभ के जग,
ऊषे! गुलाब-सी खिल आयीं!
अलसायी आँखों में भरकर
जग के प्रभात की अरुणाई!
लिपटी तुम तरुण अरुण उर में
लज्जा लाली की-सी झाई!
भू पर उस स्नेह मधुरिमा की
पड़ती सखि, कोमल परछाईं!
तुम जग की स्वप्न-शिराओं में
नव जीवन रुधिर सदृश छायी,
मानस में सोयी, भावों की
लो अखिल कमल-कलि मुसकायी!
आशाऽकांक्षा के कुसुमों से
जीवन की डाली भर लायी,
जग के प्रदीप में जीवन की
लौ-सी उठ, नव-छवि फैलायी!

[मनोहर रंगों के परों से विभूषित बालक-बालिकाओं के रूप में प्रवेश कर, प्रभात-विहग गीत-नृत्य करते हैं।]

गीत

जागो, जीवन के आतप में
आओ, हिल-मिल खेलें जी-भर,
गयी रात, त्यागो जड़-निद्रा,
खुला ज्योति का छत्र गगन पर!
चहकें जुट जग के आँगन में
हो निज लघु नीड़ों से बाहर,
एक गान हो यह जग-जीवन,
हम उसके सौ-सौ सुखमय स्वर!

मुख से रे रस लें, जीवन फल
छेद प्रेम की चंचु से प्रखर,
डाल-डाल हो क्रीडा-कलरव
शाख-शाख हो इस जग की, घर !

मुक्त गमन है जग-जीवन का,
उड़ें खोल इच्छाओं के पर,
हो अपार उड़ने की इच्छा,
है असीम यह जग का अम्बर !

(किरणें विहगों के बाहु-पाश में बँधकर गाती हैं।)

कनक-किरण ! कनक-वरण !
स्वर्णिम महि-शतदल पर
शोभित लघु अरुण चरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
झुक-झुक मुख चूम-चूम
तृण-तृण कण प्रीति-भरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
दिशि-धनु शर-सी असंख्य
द्रुत भव-तम-भीति हरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
रवि-छवि से स्मित लघु पर,
अप्सरि-सी श्याम-तरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
शनकर धृत अंक लसित
सस्मित शिशु विश्व शरण !

कनक-किरण, कनक-वरण !
आतप से त्रस्त तिमिर,
जीवन में अस्त मरण !

[सब फूलों के शिशु उषा को चारों ओर से घेर लेते हैं। कोई उनकी साड़ी का छोर, कोई उँगलियाँ पकड़कर अनेक प्रकार से अपना लाड़-प्यार प्रदर्शित करते हैं। उषा किसी की ठोड़ी पकड़ती है, किसी का मुख चूमती, किसी के माथे पर हाथ फेरती, किसी का फ्राक, फीते का बो और ट्यूनिक की पेटी ठीक करती हुई मातृत्व का उपभोग करती है।]

सिरिस : (छोटा-सा इन्द्रधनुषी रेशमी रूमाल हिलाता हुआ) देखो अम्मी, इन्द्रधनुष पकड़ लाया हूँ।

कुन्द : (आगे बढ़कर) मेरे दाँत देखो, मेरे-से दाँत हैं किसी के ?

चम्पा : मेरी-सी सुन्दर हैं तुम्हारी उँगलियाँ ?

उषा : (नरगिस से) और तेरे क्या सुन्दर हैं ? आँखें, क्यों रे नरगिस !

नरगिस : (शरमाकर जुही की ओर इंगित कर) देखो अम्मी, जुही कैसी सुन्दर लड़की है !

उषा : और जुही तो तुझे प्यार नहीं करती रे नरगिस ! कहती है, तू साँवला है !

नरगिस : **(जुही से)** तुम मुझे प्यार नहीं करती ! क्यों जुही ?

[दोनों हाथ पकड़कर जाते हैं।]

जुही : प्यार क्यों नहीं करती ! तुम्हारे मुख का तिल कैसा सुन्दर लगता है ! **(दोनों एक-दूसरे का मुख चूमते हैं।)**

[कुसुम्भी रंग के वस्त्रों में, छोटे-छोटे बालकों के रूप में पल्लवों का; एवं रंग-बिरंगे सुन्दर वस्त्रों में, छोटी-छोटी बालिकाओं के रूप में कलियों का प्रवेश। दोनों एक-दूसरे की बाँहों में बँधकर गाते हैं।]

गीत-नृत्य

दोनों : जीव निखिल भगिनि-भ्रात
पुरुष-प्रकृति पिता-मात !

कलि : जीवन-कलि विविध वर्ण,

किसलय : जग-तरु हम तरुण पर्ण,

दोनों : बहुमणि ज्यों जटित स्वर्ण
शोभित नित संग जात !

दोनों : जीवन हो सफल, विफल
रहे, बहे सुख - परिमल,
प्रेम - मधु - मधुर उर - तल
दल - दल हों सकल साथ !

[गीत-नृत्य समाप्त हो जाने पर सब लोग परस्पर आमोद-प्रमोद एवं वार्तालाप करते हुए इधर-उधर उपवन में विचरने लगते हैं।]

उषा : इस जीवन के पास कितने रूप-रंग, कितने हाव-भाव, कितना सुख और सौन्दर्य है ? यह रूप-रंग रुचि-रेखा का संसार ही मुझे सबसे प्रिय है। इस जड़ मिट्टी के आवरण को फाड़कर, जीवन की अमर उर्वरता, अपने ही सृजन-सुख के कारण, असंख्य आकार-प्रकार धारण कर, नित्य नव-नव कलि-कुसुमों, भावनाओं-कल्पनाओं एवं हासोच्छ्वासों में फूट-फूट पड़ती है। जीवन की अकलुष स्मिति मिट्टी के अस्थिर अधरों पर से मानो कभी कुम्हलाना ही नहीं चाहती ! किसी अज्ञात सुख-स्पर्श से यह निर्जीव, चेतना-शून्य धूलि नयी-नयी हरीतिमा में, नव-नव अंकुरों में निरन्तर रोमांचित होती रहती है ! जीवन का यह आश्चर्यजनक अज्ञेय सृजन-रहस्य हृदय को विस्मय से अवाक् कर देता है। केवल इसके सामने श्रद्धापूर्वक झुक जाने को जी करता है। इन नवीन आशा-अभिलाषाओं एवं उमंगों से उल्लसित जीवन के नवीन शिशुओं के साथ ही मुझे सबसे अधिक सुख मिलता है।

अरुण : तुम्हारा भाव-प्रवण हृदय सृष्टि के सौन्दर्य पर अत्यन्त अनुरक्त है, प्रिये ! गृह और आँगन की कल्पना बड़ी ही सुन्दर और सुखमय कल्पना है। तुम जिस प्रकार सृजन के सौन्दर्य

पर मुग्ध हो, मैं उसी प्रकार संहार की निर्दयता से विस्मित हूँ ! किस प्रकार यह दुख-द्वन्द्व, पाप-परितापमय, उग्र नृशंस विनाश विधाता के इस मंगलमय विधान को सहायता पहुँचा रहा है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक मैं यही सोचता हूँ, इसी का अन्वेषण करता हूँ। जब मैं इस श्री-सम्पन्न आँगन को लाँघकर बाहर पैर रखता हूँ, जहाँ दसों दिशाओं के अनेकों चराचर मिलते हैं, तब मैं संकलन करना भूलकर विश्लेषण करने लगता हूँ ! और तब जीवन के जिस कुरूप अस्थिपंजर के दर्शन मुझे मिलते हैं, उसकी कदर्यता से मन का मोह मिट जाता है।

उषा : मोह का मिटाना ध्येय नहीं है, नाथ ! अनुरक्ति एवं मोह को पहचानना ही ध्येय है। जड़ भी निर्मोही होते है, पर ज्ञान घृणा नहीं करता। इस रूप और रंगों की सृष्टि से अधिक मनोहर मुझे कुछ नहीं लगता। जीवन-शक्ति के समस्त दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, भावना, कल्पना एवं गुणों की अन्तिम और ठोस परिणति इसी नाम-रूप के जगत् में है। यही साकार सत्य है ! विधाता की अनन्त क्रियात्मक कला—जन्म-मृत्यु, सृजन-संहार—समस्त द्वन्द्व, इसी विभिन्नता के वैचित्र्य में पूर्ण, मूर्त विश्व के रूप में चरितार्थ हो रहे हैं।

अरुण : तुम्हारा कहना सत्य है, प्रिये ! चाहे रूप से अरूप की ओर देखें, चाहे अरूप से रूप की ओर, दोनों ही प्रकार से परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप के दर्शन मिलते है।

[हरे-हरे वस्त्र पहने छोटी-छोटी दूब की बालिकाओं एवं सफेद वस्त्र पहने छोटे-छोटे ओस के बालकों का प्रवेश; दोनों परस्पर आलिंगन-पाश में बँध, एक-दूसरे का मुँह चूम-चूमकर नृत्य करते एवं गाते हैं।]

गीत

दूब-बालाएँ :
लघु लघु धर पग,
छा छा अग जग,
निरतीं हम अनन्त जीवन मग !

ओस-बाल :
जीवन के चल,
हम लघु लघु पल,
हँस हँस नित भरते जग अवल !

दूब :
छू छू कोमल
जीवन पद - तल,
पुलकित खिल पडते दूर्वा दल !

ओस :
चुटकी क्षण, क्षण,
दे - दे जीवन,
बरसाता लोकों के हिम कण !

दूब :
हम जग पथ पर

बिछ - बिछ मृदुतर
भव पथिकों का लेतीं दुख हर !

ओस : हम स्मित नभचर
उतर अवनि पर
धोते कलि-कलि का मुख कातर !

दूब : तृण तृण के कर
प्रभु करुणाकर
जीवन मोती से देते भर !

ओस : पतित क्षुद्र जन
को करुणा-घन
उठा, लगा उर, करते पावन !

[नेपथ्य से पवन की वंशी-ध्वनि सुनायी पड़ती है। पवन और लवे का प्रवेश।]

लवा : स्वागत, देवि, स्वागत !

उषा : प्रसन्न रहो, प्रकाश के सन्देश-वाहक !

पवन : छोटी चाची ! चलिए, उस सरोवर के किनारे बैठकर आपको प्रेम की विश्वमोहिनी वंशी-ध्वनि पर मुग्ध, आनन्द और उल्लास में आत्मविस्मृत चराचरों का नृत्य दिखाऊँ।

उषा : अच्छी बात है, चलो।

(सब लोग सरोवर की ओर जाते हैं।)

[उद्यान के दक्षिण ओर गिरि-उपत्यका में विशाल निर्मल सरोवर लहरा रहा है। जल का घूंघट हटाकर अर्ध-विकसित सरोज-बालाएँ अनिमेष दृष्टि से सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रही हैं।]

उषा : ये चेतना-शून्य पद्म-मुकुल भी निर्निमेष दृष्टि से प्रकाश की प्रतीक्षा कर रहे हैं ! समस्त चराचर एक ही नियम से परि-चालित होकर एक ही ध्येय की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

[पवन बांसुरी में तान छेड़ता है, जिसकी ध्वनि से जल-स्थल दोनों आनन्दोद्वेलित हो उठते हैं। सरोवर के वक्षःस्थल पर अनेक लहरें उठ-उठकर नृत्य करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। और गिरि-प्रान्त से अनेक वायु के झकोरे नृत्य करते हुए आकर उनसे मिल जाते हैं। लहरें नवयुवती बालिकाओं के रूप में; वायु के झकोरे नवयुवकों के रूप में। लहरें मछलियों की आकृति की सुन्दर, सुरंग सलवारें पहने एवं हलकी सुरंग चूनरी ओढ़े हैं। वायु के झकोरे, जो अपने ही हलकेपन के कारण पानी में नहीं डूबते, हलके आसमानी धूप-छाँह के बारीक वस्त्र पहने हैं - दोनों एक-दूसरे के बाहुपाश में बँधकर अंग-भंगी-पूर्वक गीत नृत्य करते हैं।]

लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल !

जीवन के फेनिल मोती को
ले-ले चल-करतल में टलमल !

जाने किस मधु का मलय परस
करता प्राणों को पुलकाकुल
जीवन की लहलह लतिका में
विकसा इच्छा के नव-नव दल !

सुन-सुन मधु मुरली की मृदु ध्वनि
गृह-पुलिन लाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल-मिल,
खस-खस पड़ता उर से अंचल !

चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर
हम आलिंगन करतीं पल-पल,
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर
फिर-फिर उसमें हो-हो ओझल !

हवा के झकोरों का गीत

हम चिर अदृश्य नभचर सुन्दर
अपनी ही लघिमा पर निर्भर !
शोभित मृदु नीलांशुक तन पर,
स्मित तुहिन-वाष्प मे पुलकित पर !

अपने ही सुख से सिहर-सिहर
नभ-वीणा के-मे स्वर्गिक स्वर
छा लेते हम जग का अम्बर
लहरा लहरों से लहरों पर !

अधरों मे भर अस्फुट मर्मर,
साँसों से पी सौरभ मुखकर
फिरते रहते हम निशि वासर
चढ़ चित्रग्रीव चल जलदों पर !

हम साँस-साँस मे लास अमर
करते, दुर उर उर के भीतर,
बनकर फिर झंझा से दुर्धर
द्रुत शीर्ण जगत दल लेते हर !

खिल उठते चपल परस पाकर
पुलकों से तृण तरुदल सत्वर,
नाचती संग विमना लहर
बाँहों में कोमल बाँहें भर !

संयुक्त-गीत

लहर : हम कोमल सलिल हिलोर नवल,
झकोर : हम मारुत मधुर झकोर चपल !
लहर : हम मुग्धा नव-यौवन चंचल,
झकोर : हम तरुण, मिलन-इच्छा विह्वल !
लहर : हम लाज-भीरु खुल पड़ता तन,
झकोर : सुन्दर तन का सौन्दर्य वसन !

लहर : श्लथ हुए अंग सब सिहर-सिहर,
झकोर : आकुल उर काँप रहा थर-थर !
लहर : हम तन्वि, भार यह नव-यौवन,
झकोर : नवला का आश्रय आलिंगन !
लहर : हम जल अप्सरि !
झकोर : हम वर नभचर !
दोनों : है प्रेम-पाश स्वर्गीय, अमर !

[दोनों गीत-नृत्य करते-करते सरोवर में ओझल हो जाते हैं। पवन बाँसुरी बजाना बन्द करता है। प्राची की ओर, गिरि-शिखरों के अन्तराल से, उदित होता हुआ सूर्य-बिम्ब दिखलायी पड़ता है। सरोवर में कमल खिल गये हैं। मध्यवर्ती एक विशाल नीलोत्पल पर आकाश से मानो आलोक का एक जाज्वल्यमान निर्झर बरस पड़ता है, जिसके भीतर उज्ज्वल रश्मियों से निर्मित, देवबाला की तरह, प्रकाश की सूक्ष्म आभा मूर्ति दिखायी पड़ती है। सारा विश्व आलोक-प्लावित हो उठता है।]

उषा : कैसा दिव्य स्वरूप है !

[सहसा वीणा की-सी गुंजार सुनायी पड़ती है। चारों ओर से नीले-पीले रेशमी वस्त्रों से भूषित, भौंरों के बालक और बालिकाएँ आकर, पंख खोले. नीलोत्पल के चतुर्दिक् मँडराकर गीत-नृत्य करते हैं। ओस. फूल, दूब, पल्लव, किरणें आदि सब किनारे पर एकत्रित होकर मूक-भाव-नर्त्य-पूर्वक प्रार्थना में सम्मिलित होते हैं।]

गीत

अविचल, अतल, अकूल, अमल जल,—
विकसित जिसमें, जीवन शतदल
नाम - नाल पर विपुल रूप-दल !
बहु छबि, बहुरँग - रुचि रंजित दल !
प्रचुर कामना चय मरन्द कल,
गुंजित, पुंजित दिशि-दिशि चंचल
अखिल चराचर आकुल अलिदल !
सुख - परिमल पुलकित भव - अंचल,
निखिल प्रेम मधुमय अन्तस्तल,
मधुरस पूरित, मुखरित प्रतिपल
विशद विश्व मधुमल-गृह अविकल !

[गीत अभी समाप्त नहीं होता, यवनिका गिरती है।]

परी तथा अन्य नाटक

प्रथमांक

(प्रथम दृश्य)

[ताल के किनारे, नैनी के पर्वत-प्रांत के बीचोबीच, प्रकृति के निर्मल अंचल की तरह फैला हुआ, सरोवर का राशि जल लहरा रहा है, जिसके किनारे लम्बे धूसर रंग की सांप की तरह बल खाती हुई, टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डी, एक सिरे से दूसरे सिरे तक चली गई है। तट पर मजनूं के झुके हुए पेड़ों की सुकुमार पंक्ति, सांध्य-समीर के फेनिल-स्पर्शों से और भी अधिक झुककर, सर्सर् मर्मर् सीत्कार करती, रह-रह सिहर उठती है। वृक्षों के अंतराल से, दक्षिण-पार्श्व में, आवागढ़ बोट-हाउस का एक भाग दिखलाई दे रहा है, और मजनूं के लम्बे-लम्बे पत्तों की झिलमिली के बार-बार हवा में हिल उठने के कारण ऐसा जान पड़ता है जैसे नदी के किनारे बँधा हुआ कोई बड़ा-सा बजड़ा तरंगों के आघात से ऊपर-नीचे हो रहा हो। पगडण्डी से कुछ ऊँचाई पर, विविध वेश-विभूषित, देशी-विदेशी नर-नारियों से खचित "माल रोड", सरोवर के कटि-प्रदेश में चाँदी की भारी करधनी की तरह पड़ी हुई है, जिसके किनारे लकड़ी की नीले रंग की बेंच पर बैठे हुए इन्दु और वेणु सरोवर के चंचल प्रसार की शोभा देखने तथा परस्पर वार्तालाप का रस लूटने में निमग्न हैं। उनके पहनावे में उनकी सुरुचि तथा सौंदर्यप्रियता स्पष्ट झलक रही है।

अपराह्न का समय। एक हल्की-सी बौछार ने समस्त पर्वत-प्रांत को अपने मोतियों की आभा से नहला दिया है। आकाश और भी नीला, सूरज और भी स्निग्ध: पृथ्वी और भी हरी हो गई है। इधर-उधर दो-एक बादलों के पंख अपने सीप के रंग खोलकर, धुले हुए आकाश का उपभोग कर रहे हैं। बीच-बीच में कुहरे का उभार रेशम की लच्छियों की तरह खुलकर, अपनी ही कोमलता में विलीन हो जा रहा है।

सरोवर के दूसरे छोर पर एकदम निर्भीक उदात्त भाव का कवच पहने हुए गम्भीर, मौन, धूमिल पर्वत-राशि खड़ी है, जिसकी सघन हरीतिमा के आवरण को फाड़कर, अपनी ही गौरव-गरिमा में उठा हुआ गिरि-शिखर, एकछत्र सम्राट् की तरह, आकाश की ओर भारी भ्रू-क्षेप कर रहा है। पहाड़ की चोटियों पर से अस्तमित किंतु उज्ज्वल सूर्य की सांद्र किरणें, तिरछी बौछार की तरह, पुञ्ज-पुञ्ज प्रभा में, ताल के हरित जल पर पड़ रही हैं। परदा उठता है।]

वेणु : (सरोवर पर पड़े हुए रश्मिजाल की ओर संकेत कर) कैसी अद्भुत सौंदर्य की ज्वाला है !

इन्दु : जैसे सूर्य से जलते हुए दर्पण का बड़ा-सा चमचमाता भाग उस पहाड़ की ऊँचाई से टकरा, एकदम चूर-चूर हो, इस गहरी घाटी में लुढ़क पड़ा हो ! अपने ही उत्ताप से गलकर सूरज की चाँदी, इस सरोवर के मरकत-पात्र में झरकर, लबालब भर गई है ! इन असंख्य चंचल-तरंगों में—पारे के चमकीले टुकड़ों में—दुहरे-तिहरे—सौ बार, सहस्र बार प्रतिबिम्बित होकर, वास्तविक पर्वत-प्रदेश अपनी ही एक वृहत् कल्पना में खो गया है ! पर्वत का प्रत्येक शिलाखण्ड, विटप, कुंज, पत्र-पुष्प और यह रोमांच-सी खड़ी हुई तृण-राशि ही नहीं—उस ऊँची चोटी पर निर्मलता की नील पताका की तरह फहराता हुआ आकाश भी—सभी—अपने इस अनेक और विचित्र रूपों वाली वृहत् प्रतिमा को देखकर, महान आश्चर्य से अभिभूत, मंत्रमुग्ध की तरह, अपने-अपने स्थान पर गड़ से गए है।

वेणु : सच कहते हो इन्दु !

इन्दु : यह सुन्दर सरोवर इस पर्वत-प्रांत के लिए, विधाता की प्रसन्नता का स्वरूप, एक स्वर्गीय वरदान है बिनू ! मुझे यह स्थान मसूरी से कहीं अधिक प्रिय है। मसूरी का वह पलाश के रंग का सूर्यास्त मैंने देखा है—वह भूलने की वस्तु नहीं। अनन्त प्रतीक्षा में आकाश की ओर उठी हुई पहाड़ की उन्मुक्त भुजाओं को देखकर, जिस समय सूर्य-बिम्ब, तेजस्विनी तरुणी के मुख-मण्डल की तरह, गरिमापूर्ण स्थान पर भी, किसी अज्ञात किंतु स्वाभाविक नियमवश, लज्जावश एकदम आरक्त हो उठता है—वह सौंदर्य सदैव के लिए हृदय को अपनी गहरी आभा में रंग देता है ! सीमांत की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पदार्थ, उस माधुर्य के भार का वहन करने लगता है ! जड़-चेतन, सबकी नाड़ियों में एक नवीन जीवन की स्वप्नमयी लालिमा बहने लगती है। जान पड़ता है, संसार में जड़ नाम का कोई पदार्थ नहीं। सबके हृदय में एक नीरव स्पंदन, मूक उच्छ्वास सबके कंठ में एक कोमल कलरव—सभी वस्तुओं में जीवन का एक अंश, एक स्वरूप, गुप्तरूप में वर्तमान है। सारी की सारी उपत्यका ताम्रवर्ण में गलित स्वर्ण की ज्वाला में जल कर, धीरे-धीरे शीशे की गाढ़ी गम्भीरता में जड़ीभूत होने लगता है। वह मसूरी का पहाड़ी प्रांत वह विशाल लोहित शतदल की तरह, अंधकार के काले भौंरों को अपने हृदय में छिपाकर, धीरे-धीरे, अपनी लाल-लाल पंखुड़ियों को बन्द करने लगता है। (**उस ओर— दूर पर— देहरादून के विद्युद्-दीपों का आकाश, ताराओं के आकाश के नीचे एक नवीन, निर्निमेष नक्षत्र-लोक की तरह, जगमग, जगमग झलमला उठता है।**)

वेणु : वाह, कैसी सुन्दर तुम्हारी उक्ति होती है ! तुम्हारी सजीव कल्पना ने तुम्हारी सौंदर्योपासना को स्वरूप दे दिया है ! सुन्दरता का यही स्वभाव है ! संयोग से सुन्दर वस्तु हमारी आँखों के सामने आकर

ओझल हो जाती है, उसका चित्र सदैव के लिए चुपचाप, हृदय में खिंच जाता है। इसमें हृदय को प्रयास नहीं करना पड़ता। जान पड़ता है, हमारा हृदय सौंदर्य संचय करने के अनुकूल नियमों से ही बनाया गया है।

इन्दु : लेकिन वेणु (**ताल की ओर इंगित कर**) मसूरी के पास ऐसा कुछ भी नहीं है।

वेणु : इस सरोवर-सा ?

इन्दु : हाँ, नीलाकाश के नीचे फैले गलित मरकत के सरोवर-सा! इस छायालोक की अस्फुट सृष्टि-सा! इन भीषण निष्ठुर पाषाणों के पास भी जैसे एक सजल सुकुमार हृदय है। इस वज्र के अस्थिपंजर के भीतर भी कोई सजीव वस्तु असीम करुण भाव से स्पंदित होती रहती है। अपने ही स्वभाव से गद्‌गद हो, किसी पर निछावर हो जाने को बार-बार उमड़-उमड़ उठती, छलक-छलक उठती है। किसी पर—(**रेशम के रूमाल को कसकर हाथ में लपेटता हुआ**) आह! ये अदृश्य-अदृश्य स्पर्श! यह राशि-राशि पुलकावलि! (**तल्लीन-सा हो जाता है**)

वेणु : क्या, इन्दु ?

इन्दु : कुछ नहीं, (**रुककर**) कई बार मुझे जान पड़ता है, इस सरोवर के होठों में हँसी, अन्तस्तल में किसी गम्भीर विषाद की छाया है। इन पहाड़ों की कारा में आकाश का असीम आनन्द, पृथ्वी का अविराम क्रंदन अनन्त काल के लिए बन्दी होकर एकरूप हो गए हैं! इस सरोवर की लहरों में नृत्य, अंग-भंगी में उल्लास ही नहीं—इसके प्रसार में एक उदार गरिमा, गहराई में गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। इसकी गहराई ही विस्तार में बदल गई हो, इसका अवाक् रहस्य ही इन तरंगों में मुखरित हो उठा हो! (**उत्तेजित होकर**) आह, इस प्रतिपल काँपती हुई कोमलता का कहीं छोर है? (**स्तब्ध रहकर, पुनः**) मनुष्य के हृदय की तरह यह भी प्रतिक्षण भीतर ही भीतर बहता रहता है! किसी विशाल पक्षी के फैले हुए पंख की तरह इसका रोआं-रोआं अपने ही हल्केपन में हिलता रहता है। अनन्त काल से स्वामी के अशिथिल भुजपाश में बँधी हुई नारी की तरह इसका सर्वांग प्रेम-विह्वलता से गलकर, अजस्र पुलकावलि में बदल गया है!

वेणु : इसी को भावावेश कहते हैं! तब तुम्हारे हृदय का संगीत पहाड़ी निर्झर की तरह सौ-सौ झंकारों में फूटकर मोतियों की सृष्टि करने लगता है। इस सरोवर के भीतर तुम अपनी ही कल्पना का सौंदर्य-सरोवर देखते हो।

इन्दु : कल्पना? (**रुककर, उदास भाव से**) वही होगा। तुम कल्पना को कुछ नहीं मानते वेणु ?

वेणु : मानता क्यों नहीं। वह शायद इस वास्तविक जगत से उच्च कोटि का सत्य है।

इन्दु : (वेणु का हाथ अपने हाथ में लेकर जोर से दबाता है। प्रसन्न होकर) यही तो, यही तो (उद्वेग-भाव से) लेकिन इस सौंदर्य का कहीं पार होता वेणु ! कहीं पार होता। मैं यही सोचता हूँ -- इसका कहीं तल नहीं, किनारा नहीं ! (गंभीर होकर) असीम ! अगाध ! इन लहरों का भी शायद कोई उद्देश्य नहीं ! बच्चों की सरल मुस्कान की तरह, मुग्धा के पलक-पात की तरह, बेला की ढेर-ढेर कलियों की तरह--यह अपने आप, केवल अपनी सुन्दरता के कारण ही, रात-दिन फूट-फूट पड़ती है ! समस्त ब्रह्माण्ड, एक विराट् वीणा की तरह, अपने असंख्य तारों से इस सौंदर्य के अनन्त स्वरूपों को झंकृत करता रहता है ! न इसका आदि है, न अन्त ! (स्तब्ध रहता है) इन मजनू के वृक्षों की अजस्र सिहरती सृष्टि को देखते हो ?

वेणु : देखता हूँ।

इन्दु : इस सौंदर्य को ग्रहण करने के लिए शायद ऐसी ही कोमल प्रकृति, ऐसा ही सूक्ष्म हृदय चाहिए ! हवा के हल्के-हल्के स्पर्श से भी इसका रोआँ-रोआँ झनझना उठा है। ये जैसे अपनी सत्ता को भूल गए हैं, केवल अतिशय आनन्द की तन्मयता में काँपते हुए रोमांच के ढेर हैं ! चीर-हरण के समय से, आधे जल आधे स्थल पर खड़े-खड़े, भाव-विमूढ़ गोपिकाओं की तरह, अपने ढेर-ढेर खुले केश-जाल में अपनी देह को छिपाए, मानो समस्त नारीकुल की मधुर-लज्जा का भार वहन करते-करते, इनके सिर, सदैव के लिए अवनत हो गये हैं।

वेणु : तुम पूरे कवि हो इन्दु ! कहते हैं, थोड़े बहुत अंशों में सभी में कवि रहता है। लेकिन तुम पूरे कवि हो। तुम्हारा सौंदर्य-प्रेम तुम्हें कभी इससे भी महत्तर सत्य के दर्शन कराएगा।

इन्दु : इस सरोवर के मधुर सहवास मे पला एक साधारण नीरस ठूंठ भी, मजनू के पेड़ में परिणत हो जाए तो आश्चर्य नहीं ! जैसे सरोवर की ऊँची-ऊँची तरंगें, अँगूठों के बल, किनारे पर खड़ी हों, फिर-फिर सरोवर में नहाने के लिए, झुक-झुक पड़ती हैं ! इनकी ये लम्बी-लम्बी सुकुमार अँगुलियाँ सौ-सौ बार संकेत कर, भीतर ही भीतर, मेरे प्राणों को गुदगुदा देती हैं। मेरे अंग-अंग, मेरे रोम-रोम गलकर शिथिल हो जाते हैं !

(सामने से एक युवती और एक युवक, जल में तैरते हुए जाते हैं।)

वेणु : जीवन का उपभोग करना यही लोग जानते हैं।

इन्दु : इसी तरह जीवन के समुद्र में, सुंदरता की सौ-सौ तरंगों के बीच सुख-दुख के कोमल-कठोर थपेड़े खा हम लोग निरन्तर बहते रहते हैं। कोई मधुर-मधुर दुर्निवार शक्ति हमें अपनी ओर खींचती रहती है। अधिकांश डूब जाते हैं, सुनता हूँ कोई पार भी पा जाता है; न जाने वह पार कैसा है !

वेणु : (संदिग्ध हँसी हँसकर) है भी या नहीं, कौन जानता है !

इन्दु : नहीं है ? (उद्विग्न हो जाता है : वेणु करुण भाव से उसकी ओर

एकटक देखता है) **(सरोवर की ओर दृष्टि गड़ाकर)** देखते हो वेणु, इस सरोवर के वक्ष-स्थल पर रुपहले-सुनहले, नीले-पीले, हरे-लाल—सहस्रों रंगों के इन्द्रजाल की सृष्टि कर, कचनार के फूल-सा सूरज, दिवस की डाल से टूटकर, पर्वत-शिखर के उस ओर ढलना ही चाहता है। जैसे किसी विराट् चित्रकार के हृदय-कम्पन मे असंख्य मधुर हाव-भाव, अनन्त मनोहर वर्ण और छायालोक के मृदु मेल से बनी हुई कोई विश्व-मोहिनी कल्पना-छवि झूल रही है ! इन असख्य तरंगों में बिम्बित असख्य सूर्यों की तरह, ससार मे, प्रत्येक पल की पलक पर एक-एक सौदर्य-स्वप्न उदय होकर अस्त होता रहता है। कैसा अस्थिर, कैसा क्षणभगुर है यह सौदर्य ! **(यकायक खड़े होकर)** यह कभी तृप्ति नही दे सकता, कभी तृप्ति नही दे सकता। **(अन्यमनस्क भाव से टहलने लगता है)**

वेणु : **(हँसकर)** तुम अपनी ही कल्पना मे अपने को भूल जाते हो इन्दु !

इन्दु : **(उसी भाव से)** सारी जलराशि सिंदूर की शिखा-सी जल उठी है ! यह सौदर्य की ज्वाला एक महासागर के जल में डूब कर भी नही बुझेगी। एक ही छवि के असख्य स्वरूपो की तरह, एक ही अग्नि की सौ-सौ लपटों की तरह, ये छोटी-छोटी चंचल लहरें न जाने कब उठती, कब गिरती है। इनकी जन्म-मृत्यु कवल अनुमान ही अनुमान, केवल कल्पना ही कल्पना जान पड़ती है। प्रत्येक तरंग की आड में एक ओर छाया, दूसरी ओर आलोक आँखमिचौनी खेल रहे हैं। कैसा सजीव है यह लहरो का लोक ! प्रत्येक लहर के साथ, अत्यन्त कोमल भाव से, एक-एक परी करवट बदल रही है। जैसे सुन्दरता अपनी सौ-सौ सुकुमार हथेलियो पर संसार के हृदय को लिए-लिए फिरती है ! अब देखो, आधा सरोवर एकदम शात, आधा और भी चंचल हो उठा है !

वेणु : कैसा अद्भुत दृश्य है ! **(ताल के दूसरे किनारे पर कोई मनुष्य बंसी पानी में डाले, पत्थर की चट्टान पर बैठा, भूपाली की धुन गुनगुना रहा है)** जान पड़ता है, उस ओर कोई पानी मे बंसी डालकर मछली मार रहा है। इस बंसी की तरह ही यह बाहर का संसार, अपने सूक्ष्म रूप धरकर, हमारे भीतर समा जाता है। अपने आप, बिना जाने, इन्हीं कोमल सुख-स्वप्नों की लहरों में खेलते-खेलते, एक बार, सहसा जान पड़ता है कोई तीक्ष्ण काँटा हमारे हृदय में गहरा चुभ गया है, जिसको निकालते-निकालते प्राण भी निकल जाएँगे।

इन्दु : **(ठीक-ठीक न समझकर)** कैसा काँटा वेणु ? मुझे तो चिड़ियों और मछलियों को मारने में सचमुच बड़ा कष्ट होता है ! ये जीती-जागती कविता हैं ! कैसे सुन्दर ये लहरों के जीव होते हैं ? ये चंचल लहरें ही सूरज और चाँद की किरणों मे अनेक मनोहर रूप-रंग की रेखाएँ और धूप-छाँह संचित कर कुछ काल के बाद, अचानक जीवन की साँस पा जाती हैं और सोने-चाँदी की मछलियों मे बदल, रुपहली-सुनहली फिरने लगती हैं !

वेणु : (अत्यन्त प्रसन्न होकर) तुम आधे से अधिक कल्पना, आध से कम मनुष्य हो।

इन्दु : हमारे हृदय की तरह इस सरोवर की सुकुमारता में भी इन मछलियों के रूप में कितनी ही कोमल भावनाएँ, कितनी ही मधुर कल्पनाएँ छिपी हुई हैं। जैसे अनन्त कोमलता में, उसी के बार-बार स्पर्श का सुख साकार होकर, अपने ही सहज आनन्द की उन्मुक्ति में अनायास तैर रहा हो। कभी-कभी जब ये चंचल जीव पानी से ऊपर उछल आते हैं, जान पड़ता है, संसार की समस्त सौंदर्य-श्री एक साथ ही कटाक्ष कर रही है। वह देखो, सरोवर के अन्तस्तल पर सहज निश्चित भाव से तैरती हुई संध्या की सुनहली मछली को, सूरज अपनी सघन किरणों के जाल में फँसाकर, समेट रहा है। सारा सौंदर्य-जाल जल की विचित्र पलकों में स्वप्नलोक की तरह खिलकर विलीन हो गया है! संध्या का आलोक मजनू के पेड़ों से सोने के पक्षी की तरह उड़ कर पर्वत-शिखर पर जा बैठा है। वहाँ से भी मुख खोलकर उड़ना ही चाहता है। अब जैसे संध्या अपनी नील वेणी खोलना ही चाहती है और यह मरकत का सरोवर प्रवाल से नीलम होता जा रहा है!

(नेपथ्य में मछली वाले का गाना सुनाई पड़ता है। दोनों ध्यान-पूर्वक सुनते हैं।)

[गीत भूपाली]

प्रेम की बंसी लगी न प्राण ?
तू इस जीवन के पट भीतर
कौन छिपी, मोहित निज छवि पर ?
चंचल री नव-यौवन के पर,
प्रखर प्रेम के बाण !

नेह लाड की लहरों का चल,
तज फेनिल ममता का अंचल,
अरी, डूब-उतरा मत प्रतिपल,
वृथा रूप का मान !

आए नव घन विविध वेश धर,
सुन री बहु मुख पावस के स्वर,
रूप वारि में लीन निरंतर
रह न सकेगी, मान !

लाँघ द्वार आवेगी बाहर,
स्वप्न-जाल में फँस सुमनोहर,
बचा कौन जग में लुक-छिप कर
बिंधते सब अनजान !

घिर-घिर होते मेघ निछावर,
झर-झर सर में मिलते निर्झर,

लिए डोर अग-जग की निज कर
हरता तन-मन-प्राण ! प्रेम···

(मछली वाला बंसी खींचता है—जिसके काँटे के साथ एक फड़फड़ाती हुई मछली खिंच आती है।)

वेणु : वह देखो, मछली फँस गई ! छोटी मछली के लिए काँटा, बड़ी के लिए जाल चाहिए। तुम शायद जाल में फँसोगे इन्दु !

इन्दु : तुम परिहास करते हो वेणु !

[मछली वाला वही धुन गाते हुए चला जाता है। प्रेम की बंसी सहज न जान, प्रेम को···]

इन्दु : कैसा मधुर लगता है संगीत ! यह सौंदर्य ही अपनी मधुरता में मौन न रह सकने के कारण स्वरों में बज उठता है ! हवा के इन मृदुल झकोरों में समीर के अंचल का ताना-बाना भी संगीत ही के स्वरों का बना हुआ है, नहीं तो वे इतना प्रिय कैसे लगते ! ये लहरें भी संगीत ही की झंकारें हैं। जैसे अपने आप अकेला न रह सकने के कारण इस पार से मिलने के लिए उमड़-उमड़ उठता, फूट-फूट पड़ता है, यही उसका स्वभाव है ! मिलन ही संगीत है वेणु ! मिलन ही सौंदर्य है !

वेणु : **(उसी भाव से)** बिछोह ही प्रेम है इन्दु, बिछोह ही जीवन है—यह दूसरा छोर है।

[सहसा सारा पहाड़ी प्रान्त विद्युद्-दीपों से जगमगा उठता है। बाँई ओर चाँद की कला वृक्षों के झरोखों से कटाक्ष करती है। सरोवर के वक्षस्थल पर चन्द्रमा के चाँदी के तीर, लहराते हुए, घुस पड़ते हैं। चारों ओर जल में विद्युद्-दीपों के प्रतिबिम्ब झलमलाने लगते हैं।]

इन्दु : वह वृक्षों की ओट से चन्द्रमा की कला झाँक रही है। जैसे चूर्णकुन्तल बाल-रजनी आज प्रथम बार कटाक्ष करना सीख रही है।

वेणु : **(परिहास के ढंग से)** यह चाँद कभी ढाल—कभी तलवार बन जाता है। देर हुई इन्दु, चलो। **(दोनों उठते हैं)**

[वायु सेवन के लिए निकली हुई सिरी का अन्य भद्र महिलाओं के साथ प्रवेश।]

एक सखी : जल्दी करो सिरी, पीछे न रहो।

दूसरी सखी : **(परिहास के ढंग से)** कैसी हो तुम सिरी ! चाँदनी की तरह अपने ही सुकुमारपन में छिपी जाती हो !

सिरी : **(सकुचाती हुई)** मैं चाँद देखने में लग गई थी।

दूसरी : यह कह कि अपने ही मुख की छवि पर रीझ गई थी। तुम दोनों साथ ही तो संसार में आए हो। **(ठोढ़ी पकड़कर)**

सिरी : **(हँसती हुई)** मुझसे पहले चाँद था ही नहीं।

[**इन्दु और सिरी की चार आँखें होना : सिरी का सकुचाते हुए अपनी सखियों के साथ प्रस्थान**]

वेणु : कैसा सच है, हमारे साथ ही प्रकट हुए—अकलुष रूप पाया है इस लड़की ने।

इन्दु : (**मुग्ध चिन्तित भाव से**) कहाँ इसे देखा था ?

वेणु : इसे जानते हो क्या ?

इन्दु : (**उसी भाव से**) वाह, इस पृथ्वी को छूने के पूर्व चाँद की प्रथम किरण से जैसे जूही की कली प्रस्फुटित हुई हो ! सुकुमारता ही स्वयं संदेह हो गई हो ! (**अस्थिर उत्सुक भाव से**) कितने असंख्य स्वरूप हैं इस सौंदर्य के। इसकी सहस्र अँगुलियों के अत्याचार से मनुष्य का हृदय मृणाल के कोमल तार की तरह एक साथ ही छिन्न-भिन्न होकर क्यों नहीं लुप्त हो जाता ? इस सरोवर के वक्षस्थल पर पड़ी हुई चाँदनी के मोतियों की लड़ी की तरह अपनी ही आनन्द-विह्वलता में टूक-टूक हो क्यों नहीं बिखर जाता ? ये चचल लहरें एक दूसरे के अंचल में आलोक का दीप जला कर जैसे इसी सौंदर्य के रहस्य को खोज रही हैं ! जड़-चेतन, स्थावर-जंगम सभी में सौंदर्य का मुग्ध-पुलक अनुभव करने के लिए कैसी तत्परता, कैसी तन्मयता जान पड़ती है। ताल के जल में पड़े हुए ये विद्युद्-दीपों के प्रतिबिम्ब भी अपनी अनन्त आँखें विस्फारित कर, अपनी अनिमेष, विस्मित, दीर्घ दृष्टि से इसी गूढ़ रहस्य, इसी अज्ञेय सौंदर्य को ढूँढ़ रहे हैं। सब इसी अक्षय क्षणभंगुर की प्रतीक्षा में इसी के अनुसंधान में लगे हैं ! ओह, कैसा है यह आकर्षण ! कैसी है यह तृष्णा !

[**उसी भाव में प्रस्थान**]

वेणु : (**परिहास में**) किसके सौंदर्य की बातें करते हो इन्दु ?

[**इन्दु के पीछे-पीछे प्रस्थान**]

(द्वितीय दृश्य)

[इण्डियन क्लब में इन्दु का बरामदे का कमरा : सामने की ओर चार बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ : जिनके बड़े-बड़े स्वच्छ शीशे जड़े हुए किवाड़ों पर, सूर्य के प्रकाश को कोमल करने के लिए, हल्के रंग की जापानी जाली के फूलदार परदे पड़े हैं। दोपहर का समय : ताल से उठ-उठ कर, ढेर-ढेर बादल आकाश में अपने विविध वर्णों के छाया-मेल का चंदोवा तान रहे हैं। इन्दु दाईं-बाईं ओर के खिड़कियों के परदे हटा देता है जिससे कमरे के पार्श्व आलोकित हो उठते हैं। बीच की खुली खिड़कियों के पथ से, सुदूर पर, नए मेघों की हलकी जाली से ढँकी नील-हरित पर्वत-श्रेणी का अर्ध-वृत्ताकार दृश्य दीखता है। नीचे, ताल के तरल-दर्पण में विशद जल-विहगों की तैरती हुई बादलों की, प्रतिच्छाया को देख, जान पड़ता है, जैसे पृथ्वी सचमुच ही, अश्रान्त क्षिप्रगति से घूम रही है। हवा की मन्द-मन्द हिलोरें, खिड़कियों की राह प्रवेश कर, कमरे के मध्य में स्थित, छोटी-सी गोल मेज के नीचे तक लटकते हुए जरीदार आवरण से बार-बार लिपट रहे हैं। मेज पर काँच के कामदार फूलदान में बरसाती फूलों का गुलदस्ता महक रहा है, जिसके सामने हाथी-दाँत के फ्रेम में सारल्य का चित्र है। पीछे की दीवाल के मध्य भाग में अंदर जाने के लिए दरवाजा है, जिस पर हल्के नीले रंग के पोत की सघन लड़ियों का परदा झूल रहा है। दरवाजे के दाईं ओर, दीवाल पर, बड़े पर बहुत कम चौड़े आबनूस के चौखट पर, किसी आधुनिक कुशल बंगाली चित्रकार की कला का प्राण, एक अनिमेष, स्वप्नाविष्ट अर्धस्फुटित युवती का चित्र जड़ा है, जिसके नीचे कुसुमाक्षरों में 'अनन्त प्रतीक्षा' शब्द अंकित है। बाईं ओर पाश्चात्य कला का एक प्रख्यात आदर्शस्वरूप सत्य का निरावृत चित्र टँगा है— एक पूर्णयौवना सुदीर्घ नारी-मूर्ति अपने सडौल ऊँचे उठे उठे हुए कर में प्रकाश की शिखा लिए है। दरवाजे के ठीक ऊपर एक बड़ा शीशा, जिसके स्वच्छ वक्षस्थल पर सरोवर का हरित बिम्ब लहरा रहा है। लहरों के कंपन में खेलती हुई पालवाली नाव दर्पण में ऐसी जान पड़ती है जैसे किसी कुशल जापानी चित्रकार ने प्रकृति के गतिशील रूप को चित्रित कर अपनी प्रतिभा के पंख दे दिए हैं। कमरे के दक्षिण-वाम पार्श्वों में शीशे की एक अलमारी, जिसके आधे खुले हुए परदे से अन्दर कुछ पुस्तकों की जिल्दें दीख रही हैं, तथा एक पियानो, क्रमशः, यथास्थान रखे हैं। पियानो चेयर के ऊपर खुले हुए केस में एक चिकारा बेला (वायलिन) : केस के अन्दर का भाग गहरे लाल रंग के प्लश (मखमल) से मढ़ा है। मेज के चारों ओर छोटी-बड़ी, सुंदर गद्दीदार कुर्सियाँ हैं जिनकी पीठ पर फूलदार तकिए लगे हैं। इन्दु और वेणु आमने-सामने बैठे बातें कर रहे हैं। परदा खुलता है।]

वेणु : अंग्रेजी में कहावत है; बॉर्न विथ ए सिल्वर स्पून · · · ·

इन्दु : (विरक्त भाव से) सोचते हो, मैं सुखी हूँ ? सुन्दर वस्तुएँ मुझे अवश्य प्रिय लगती हैं। जिस ठूँठी टहनी में अपने ही सजीव पल्लव न हों, वह आकाश से टपके हुए ओस के मोतियों के इन्द्रजाल में उलझी रहे तो बुरा नहीं। माताजी की याद नहीं; पिताजी का समस्त जीवन, वसन्त के मधुकर की तरह, इन्हीं सुन्दर वस्तुओं के चारु-चयन के बीच गूँजते-मँडराते व्यतीत हुआ। सुख-सम्पत्ति, विनोद-विलास की इस पर्याप्त

(अतुल) सामग्री के रहने पर भी, तरंगों की अराजकता में पड़े हुए निस्सहाय, एकाकी हंस की तरह, मैं अपनी ही व्याकुलता में केवल ऊपर-नीचे उतरता रहता हूँ। शायद अपने पंखों की स्वाधीनता खो बैठा हूँ। सोचता हूँ कोई और ही अनन्त आकाश है, जहाँ अजस्र स्वतंत्रता में उन्मुक्त पंख फैलाकर, अपने को भूल सकूँ!

वेणु : (हँसकर) कल्पना—उसके बाद कुछ नहीं—शून्य आकाश!

इन्दु : (विकल होकर) वही होगा वेणु! छुटपन से, मुझे याद है, कोई विराट् रहस्यमयी शक्ति, सोते-जागते, बार-बार, अपने सौ-सौ कटाक्षों से मेरे हृदय को जर्जरित कर, उसमें उथल-पुथल मचा देती है। तब जान पड़ता है, ऊपर को सिर उठाऊँ तो आकाश के नील आवरण को फाड़ कर उस पार का रहस्य जान सकता हूँ; पृथ्वी को पैरों से दबाऊँ तो नीचे, गंभीर-अंतस्तल में घुसकर उसकी विचित्र रत्नराशि मिल सकती है! कैसा विवेक-शून्य है यह आवेश! कैसा उन्माद! यह समस्त सुख-ऐश्वर्य, वैभव-विलास, आमोद-प्रमोद जैसे किसी विराट् सौंदर्य के अणुमात्र, स्फुलिंग मात्र हैं—अपूर्ण, निरर्थक! इनकी जैसे कोई सार्थकता नहीं।

वेणु : तुम विवाह कर लो, इन्दु!

इन्दु : विवाह? उससे मुझे सतोष मिलेगा? नही, वह मेरे लिए बंधन ही होगा! जब तक मैं स्वयं संतुष्ट न हो जाऊँ, मुझे कुछ भी संतुष्ट नहीं रख सकता। मैं अक्सर सोचता हूँ, जब तक स्त्री-पुरुष अपने ही में संपूर्ण, अपने ही में संतुष्ट नही, उनका सम्मिलन सुख का तीर्थ नहीं हो सकता! मैं स्त्री से सुख की आशा करूँ और वह मुझसे! ऊँहूँ-सुख अपने आप हमारे जीवन की शिराओं में बहे। वह मुझे अपना सुख दे, मैं उसे अपना सुख दूँ—दोनो के सुख का आदान-प्रदान विद्युत्-धाराओं की तरह प्रेम की ज्योति में जल उठे! और फिर वैवाहिक जीवन बड़ा ही संकुचित, बड़ा ही सीमित है वेणु! यह सौंदर्य जैसे सर्वव्यापी है—विशाल समुद्र की तरह असख्य स्वरूपों में आलोड़ित होता रहता है : एक अंश में संपूर्ण नही समा सकता वेणु! मुझे···

वेणु : तुम कल्पना ही नहीं करते, स्वप्न भी देखते हो! इसमें सदेह नहीं कि तुम्हारा हृदय बड़ी क्षिप्र गति से विकास कर रहा है। एक कठोर सत्य भी है—तुमने अभी उसके मर्मान्तिक स्पर्श का अनुभव नहीं किया—जब इस उद्दाम आकांक्षाओं का उन्मुख-प्रवाह उस अटल अंध पाषाण के निर्मम आघात से छिन्न-भिन्न हो जाएगा, तब तुम्हारी मधुर कल्पना का संगीत अनन्त रुदन में बदल जाएगा—देखोगे—चारों ओर केवल अनन्त क्रन्दन, अनन्त अशांति है; सुख-संतोष की खोज केवल भ्रम है, स्वप्न है! देखोगे, यह समस्त सुख-सम्पत्ति—सौंदर्य का संसार केवल जीवन-मृत्यु की आँख-मिचौनी, भूल-भुलय्या है। यह विश्वव्यापी रूपरंग का मांसल सौंदर्य इस अनन्त मृत्यु के कंकाल के मुख पर पड़ा हुआ आवरण मात्र है! सब कुछ नश्वर, क्षणभंगुर, परिवर्तनशील है! समस्त जीवन, समस्त प्रकृति अनन्त काल से

विकसित होकर सर्वग्राही मृत्यु की ओर अग्रसर हो रही है ! प्रत्येक पल प्रतिपल मरता जा रहा है ! मृत्यु ही परम विकास—संपूर्णता है !'

[इन्दु व्याकुल होकर कमरे में टहलने तथा बार-बार अपने हाथों को चूमने लगता है ।]

वेणु : **(करुण स्नेह-भाव से)** कैसे कोमल प्राण हो तुम !

इन्दु : कैसी सुन्दर है यह मनुष्य देह ! ये लहरों-सी लम्बी बाहें, कमल के फूल-सी हथेलियाँ, पीपल की कलियों-सी अँगुलियाँ, ये कुसुम-दल से नख, सब कुछ कैसे सुन्दर लगते हैं । यह कोमल रंग त्वचा—जैसे रेशमी बादलों के भीतर से प्रभात की ज्वाल फूट रही हो ! ये नीली-नीली नाड़ियाँ-- जिनके भीतर रुधिर का मधुर-मधुर संगीत गूँज रहा है—जिसकी रहस्यमय गुंजार यह जीवन है ! यह हृदय का अविराम स्पंदन-कम्पन ! जैसे कोई स्वर्ग के प्रकाश को प्राणों के पलने में झुला रहा हो ! जीवन मृत्यु की जड़ निद्रा को छुड़ा उसे बार-बार जगा रहा हो ! सब कुछ कैसा मधुर है ! और ये आँख, नाक, कान और रसना ! जिन्होंने मेरा सारे संसार से संबंध स्थापित कर रखा है ! इन नील-मयी आँखों में जैसे समस्त सौंदर्य है ! इस सौंदर्य की दीप-शिखा सी नाक में समस्त सौरभ : इन सीप के श्रवणों में समस्त संगीत और इस सजल रसना में समस्त स्वाद और मधुरिमा ! कैसा विचित्र—सब कुछ कैसा मधुर, कैसा सुन्दर, कैसा संपूर्ण --कहीं भी मृत्यु नहीं—सर्वत्र जीवन ही जीवन !

वेणु : **(इन्दु की तन्मयता को आदिम मौलिकता समझ, उच्च हास्यपूर्वक)** तुम्हारे प्राणों में अभी वास्तविकता का क्रन्दन जाग्रत नहीं हुआ । तुम जिस कनक-ओस को मोती समझ बैठे हो, वह केवल मृत्यु का अश्रु है ! रुदन का उपहास है ! यह सुख केवल पीड़ा की एक कविता है ! बड़े वेग से सर्वव्यापी मृत्यु की खाई में गिरते हुए जीवन-निर्झर का शून्य बुदबुद मात्र, स्फीत फेन मात्र है ! इस मृत्यु के मनोहर रूप को ही माया कहते हैं । यही तुम्हारा सौंदर्य है !

[वेणु हाथ में चिकारा लेकर गाने लगता है ।]

गीत

(भीमपलासी)

जीवन रे हिमजल का लघु-पल
कुटिल काल के चल-करतल में—
यह आँसू का हास सजल,
चिर निद्रा के स्वप्निल-दृगजल में—जीवन···
यह स्फुलिंग पल में जल उठता
निज छवि के ही चंचलपन में,
कोई सत्य न समझे साधो,
यह बहुरंग बुलबुल नल जल में—जीवन···

[इन्दु अस्थिर उद्विग्न-भाव से खिड़की से बाह्य प्रकृति को

ओर देखता है।]

[चारों ओर वृक्ष और पर्वत-शिखरों पर दुग्ध फेन की तरह सद्य:स्फुट नए मेघों की दुहरी-तिहरी झालर-सी लग गई है। इधर-उधर आँधी में उड़ते हुए श्याम मेघ-खण्डों को देखकर भ्रम होता है, जैसे पर्वत-शिखर अपने पंख खोल पृथ्वी से आकाश की ओर उठ रहे हैं। पूर्व की ओर एक किमाकार कज्जल का पहाड़ आकाश फाड़कर पृथ्वी की ओर उन्मुख हो रहा है, जिसका प्रतिबिम्ब सरोवर के वक्षस्थल में गहरी आशंका की तरह घुस गया है। हलके धुएँ के बादल पलक की तरह सूरज के ऊपर लग कर फिर हट जा रहे हैं। काले-काले मेघ आपस में टकरा कर बिजली की चिनगारियों से चूर-चूर हो रहे हैं और हलके इन्द्रधनुषी बादलों के भीतर से जैसे विद्युत् रेखाएँ चचल अप्सराओं की तरह केवल झाँक कर ओझल हो जा रही हैं। वृक्षों की मर-मर से मुखर हवा की हिलोरें अदृश्य वन्य पक्षियों की तरह खिड़की से भीतर घुस कर, अपने फेनिल पखों के स्पर्श से देह को पुलकित कर दे रही हैं. बाहर वृक्षों के पत्र मानों आँधी का सामना करने के लिए उलटती हुई हथेलियाँ कस-कस कर मुट्ठी बाँध रहे हैं। सरोवर के वक्षस्थल पर विलोड़ित होत हुई सर्पाकार लहरों को पंजों में दबाए आँधी के उद्धत झोंके पावस मयूरों से होड़ लगा रहे हैं।]

इन्दु : मनुष्य के हृदय में यह सुख-दुख, आशा-निराशा का अँधेरा-उजेला एवं भावनाओं-कल्पनाओं का उत्थान-पतन लगा ही रहता है। बाह्य-प्रकृति में भी, सर्वत्र, यही द्वन्द्व, यही ऊहापोह वर्तमान है! जान पड़ता है, यह जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं, उसके सौंदर्य को भी बढ़ाता है। हमारी इच्छा-आकांक्षाओं की तरह ये सलमल के बादल पल-पल में कितने मनोहर वेश बदल रहे हैं। कितने रूप-रंग, रेखा-रूपक, कितने आकार-प्रकार और हाव-भाव इस प्रकृति के पास हैं! इस पावस के आकाश और इन तरु-गिरि-शिखरों पर नील, श्यामल, धूमिल, फेनिल—सहस्रों छाया-प्रतिच्छाया के कपोतग्रीव मेघ झूल रहे हैं। और प्रत्येक मेघ की खुली हुई वेणी में जैसे किसी ने एक-एक इन्द्रधनुष बाँध दिया है! यह बादलों का लोक सचमुच ही इन्द्र-लोक है! और ये अप्सराओं के हँसमुख बच्चे हैं जो रेशमी आतप में अपने मोर के पंख खोल कर, चपल गति से, इधर से उधर, उधर से इधर फिर रहे हैं!

[इन्दु कल्पना के पंखों में उड़कर जैसे उसी मेघ-लोक में पहुँच जाता है— वेणु गीत का दूसरा पद बेला में गाता है।]

मधुर रूप-रंग ले वह हँसमुख
आती मृत्यु विश्व के वन में,
सुरभि साँस में, मधु रज में भर,
स्मित कलि-कुसुमों के अंचल में···

पल भर जगती की इच्छाएँ,
मधु-मुखरित चंचल-अलिदल में,
पुनः देख ले कोई, साधो,
ठूँठ-ठूँठ जग के जंगल में—जीवन⋯

[**मेघाकाश में, आकर्ण-चक्षुओं के चंचल कटाक्षों की तरह विद्युत् रेखाएं लहराती हुई, दुहरी-तिहरी, इस पार से उस पार चली जातीं, साथ ही मन्द्र घन घोष होता : जिसकी गम्भीर प्रतिध्वनि से गिरि-कन्दराएं मुखरित तथा सरोवर का वक्ष उच्छ्वसित हो उठता है।**]

इन्दु : इन गिरि-कन्दराओं में, गर्वित सिंह-शावकों की तरह, दुहरे-तिहरे विद्युद्-दाम से बधे हुए ये मेघ, अपने गम्भीर मन्द्र घोष से, जैसे इस पर्वत-प्रान्त को भयभीत कर देना चाहते है! इनकी सान्द्र स्तम्भित ध्वनि इस पृथ्वी के अँधेरे वक्षस्थल में खोए हुए सहस्रो बनैले गजों की नींद छुड़ा कर उन्हे जाग्रत कर रही होगी, और वे जीवन का स्पंदन प्राप्त कर अपने ग्रीवांकुर को मृत्तिका के अंचल से बाहर उठा कर नवागतों की तरह, इस संसार की उन्मुक्त वायु में पहली बार साँस लेकर आनन्दातिरेक से पुलकित हो रहे होंगे!

(**कमरे में किंचित् अंधकार छा जाता है**)—धीरे-धीरे बादल सारे आकाश में छा गए है! जान पड़ता है जैसे पाण्ण महाकाय विहंगम की तरह, उस पर्वत शिखर पर बैठ, अपने विशाल रोम-उष्ण पंख फैला कर इस पर्वत-प्रान्त को से रहा है। और शीघ्र ही जीवन की हरीतिमा, अपने अनेक मधुर मांसल रूप धर, इस जड़ मिट्टी के आवरण को तोड़ कर अनिलातप में बाहर निकल आएगी।

(**कमरे में सहसा विद्युत्-प्रकाश भर जाता है।**)

इन्दु : (**प्रफुल्लित होकर**) इसी तरह—इसी तरह—यह सौंदर्य की अप्सरा संसार के रोओं-रोओं में आकुल ज्वाला फैला कर, अपनी ही अस्थिरता की अतिशयता में अदृश्य हो जाती है! आह, अस्थिरता के सौंदर्य!—सौंदर्य की अस्थिरता!—तुम किसी को स्थिर नहीं रहने दोगे! (**कुछ रुककर**) बिजली के ऐसे मधुर मनोहर रूप मैंने और कहीं नहीं देखे! इन बादलों के रेशमी झरोखों में जैसे कोई परी एक ही चितवन के सौ-सौ कोणों से, सौ-सौ आलोक-शिखाओं से कटाक्ष कर रही है! चितवन की चारुता ही अपनी अत्यधिक चंचलता के कारण सर्वव्यापी बन गई है!⋯(**जैसे यहाँ की विद्युत् अभी-अभी युवती हुई हो! बचपन की चंचलता और हँस-हँस पड़ने की आदत न छूटी हो—साथ ही कपोलों की लाज में मादक लालिमा, और कटाक्षों के बाणों में उड़ने की शक्ति भी आ गई हो!**) [**फिर विद्युत्-हास**] **इसी तरह मेरे हृदय के परदे-परदे में, सोने-चाँदी की जाल-शिखाओं से कोई बार-बार अपना मधुर-मधुर नाम लिखकर मिटा देता है! ओह, कैसे आलोक के हैं ये स्पर्श! कैसी ज्वाला के ये आलिंगन!**

[**इन्दु तल्लीन हो जाता है : वेणु गीत का तीसरा पद गाता है।**]

स्तब्ध-निशा में नयन मूँद जब
विश्व खोजता अन्तस्तल मे,
एक अश्रु का विश्व दीखता
उसे विहँसते नभ-मण्डल में—जीवन···
आकुलता हँसमुख लहरों में,
ज्वाल सजल सन्ध्या अंचल में,
पाया भेद जगत का, साधो,
जग मोती का छल दृगजल में—जीवन···

[चूर्ण नील कुन्तल-जाल की तरह धीरे-धीरे हवा में खुल-खुल कर, रेशमी कुहासे का भार सघन होता हुआ सहसा अपने धूसर-आवरण से, समस्त पर्वत-प्रान्त को आच्छादित कर देता है—जैसे कोई अपरूप विनाश किमाकार दानव की तरह, संसार के समस्त रूप-रंग, दिशावधि को एक ही ग्रास में निगल गया हो। शनैः-शनैः कुहासा फटने लगता है : मेघ आँधी से छिन्न-भिन्न हो हलकी बौछारों में बरसने लगते हैं : बिखरे हुए पंख के सदृश जलदों के अन्तराल से सूर्य की किरणे छन-छन कर आकाश के अंचल में विशाल और छोरव्यापी इन्द्रधनुष बुनने लगती हैं।]

इन्दु : देखो, वेणु, ढेर का ढेर कुहासा आकाश की धूलि की तरह बरस कर, चारों ओर छा गया है! जैसे आकाश का विशाल नील-कमल, अपनी रेशमी पंखुड़ियों को समेट-समेट कर, भौंरे की तरह सदैव गूँजती हुई हमारी इस चंचल रूप-रंग की धरती को, सदा के लिए अपनी छाती में लगा लेना चाहता है! किमाकार कच्छप की तरह अपनी उत्तुंग पीठ के दर्प पर आकाश को उठाता हुआ वह गर्वोन्नत पर्वत एवं असंख्य तरंगों की सृष्टि में आलोड़ित होता हुआ वह सरोवर, पलक मारते ही शुभ्र कल्पना की तरह, छाया की तरह, अदृश्य हो गए हैं—कैसा अद्भुत है यह बादलों का देश। कैसा अनिर्वचनीय यह नीहारिका का नगर! जान पड़ता है प्रकृति ने सृष्टि के इन्द्रधनुषी वस्त्र का ताना-बाना खोल दिया है और उसे त्रिगुण-सूत में सुलझा कर फिर से सुप्तावस्था की रुई में तूम दिया है। यह जगत्-प्रपंच मोम के महल की तरह पिघल कर, छायाचित्र की तरह ओझल होकर, अपने नाम-रूप गँवा, एक अनाम अरूप अवस्था में विलीन हो गया है! स्पर्श को जो कुछ कठोर, दृष्टि को जो कुछ स्पष्ट और विचित्र लगता था—जैसे वह सब खो गया है! कुछ भी नहीं रह गया—ओह, कैसा विचित्र लगता है! केवल अपने अकेलेपन में मैं हूँ, और चारों ओर कुछ नहीं—शून्य!

वेणु : (**इन्दु की कल्पना पर मुग्ध होकर परिहासरूपेण**) तुम्हारे लिए बात की बात में शून्य में पहुँच जाना कठिन नहीं है!

[कुहासा तिरोहित होने लगता है।]

इन्दु : (**उसी भाव से**) अब देखो—धीरे-धीरे चिर विस्तृत अतीत की तरह, अब धूमिल चित्रपट की तरह, अब मद्यस्फुट नवीन सृष्टि की तरह

सब कुछ, जैसे, और भी समुज्ज्वल, और भी सजीव हो उठा है ! जिन लोगों ने संसार को असार माया का महल कहा, उन्होंने सत्य नहीं कहा है ! यह कठोर है, स्पष्ट है, अक्षय है। सब कुछ जैसे इसी संसार में है—इसके बाहर केवल कुहासा ही कुहासा ! ये विषाद के बादल, यह संशय और नैराश्य का कुहासा चिरस्थायी नहीं रह सकता। ओह, कैसा अस्थिर है यह सत्य—कैसी सत्य है यह अस्थिरता !

वेणु : इस मेघ और मारुत के संसार से मानव-संसार कितना मिलता-जुलता है ! सर्वत्र वही विषाद, अशांति, द्वन्द्व और संग्राम !

[सूर्यातप में कुहरा झरने लगता है : छोटी-छोटी बादलों की टोलियाँ रेशमी-पोतों की चिकनी-चमकीली बौछारों में बरस पड़ती हैं।]

इन्दु : हंसों की शुभ्र-पाँति की तरह पंखों में पंख मिला कर, ये बादलों के टुकड़े, पृथ्वी पर अपने मोती बिखराते हुए, चारों ओर कैसी क्षिप्रगति से उड़ रहे हैं ! इस धुले हुए सूर्यातप के रेशम में गुँथी हुई ये हँसमुख बौछारें कैसी सुहावनी लगती हैं ! जैसे छोटी-छोटी ताराएँ, चाँदी के जुगनुओं की तरह, उड़-उड़कर पृथ्वी पर उतर रही हैं। इन बौछारों का भी अपना एक मंजुल संगीत है। हरित सरोवर और नीलाकाश जैसे इन अविरल जल के सूतों में बँध जाएँगे। ये चंचल लहरें भी अपनी हथेलियों में मोती पकड़ती रहेंगी।

[बौछारें हलकी-फुही में परिणत हो जाती हैं, जो सूर्यातप में चाँदी के चूर्ण की तरह चमकने लगता है।]

वाह ! यह जैसे जूही नहीं—जल की जड़ बूँदें नहीं—मोतियों का चूर्ण भी नहीं—कोमलता के रेशमी कण भी नहीं—ये जैसे सजीव चेतना की चिनगारियाँ हैं ! हँसमुख शिशुओं की उज्ज्वल आत्माएँ हैं, जो इस धौत-प्रकाश में अपनी ही क्रीडाप्रियता में उड़ रही हैं ! ये हास की परियों के बच्चे हैं, जो पृथ्वी को छूने से पहले ही अपनी सरलता में ओझल हो जा रहे हैं—यह जैसे सौंदर्य रोमांचित होकर उड़ रहा है, और उसकी पुलकावलि अपने ही हर्षातिरेक में बह रही है ! यह क्या है ? जैसे फिर भी समझ में नहीं आता ! यह जैसे अनिर्वचनीयता है जो चारों ओर स्वर्गीय सौंदर्य का इन्द्रजाल उछाल रही है ! **(रुककर)** यह मोतियों का दिवस कभी नहीं भूलेगा ! चारों ओर जैसे अजस्र उल्लास सृष्टि कर रहा है। यह मानो समय के बंधन से मुक्त है ! क्षण भर का नहीं—सदैव का भी नहीं—केवल अनन्त अकलुष उल्लास है ! मृत्यु ऐसी मधुर, मनोहर और सजीव सृष्टि नहीं कर सकती वेणु ! यह उल्लास अपने ही सौंदर्य से मृत्यु को बाँधकर बन्दी बना सकता है ! मृत्यु में जीवन फूंक सकता है !

[वेणु मुग्ध-भाव से इन्दु की ओर देखता रहता है : इन्दु चिकारा उठाकर गाने लगता है।]

गीत पीलू

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर-अव्यय, नित-नूतन !

बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय घन
स्मिति-स्वप्न अधर पलकों में
उर अंगों में सुख यौवन

छू छू जग के मृत रज-कण
कर दो तृण-तरु में चेतन,
मृन्मरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन !

बरसो सुख बन, सुषमा बन,
बरसो जग जीवन के घन !
दिशि-दिशि में, ओ पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !

[**सूर्यातप में इन्द्रधनुष और** भी स्पष्ट होकर दोनों का ध्यान **आकर्षित करता है।**]

इन्दु : वह देखो, उस पर्वत-शिखर और आकाश के बीच में, रत्नालोक के पुल की तरह, एक ओर से दूसरे छोर तक फैला हुआ, वह विशाल इन्द्रधनुष जैसे अपने ही रंगों के भार से झुक गया है ! पृथ्वी और स्वर्ग सौंदर्य के एक ही आलिंगन में बँध गए हैं ! इस सौंदर्य के पथ से ही हम सत्य के स्वर्ग में पहुँच सकते हैं; यह बहुरंगी विजय-वैजयन्ती आकाश में फहराकर, जैसे इसी सत्य की घोषणा कर रही है ! कौन है वह अप्सरा ? यह नील रेशम का कुहासा जिसके कचजाल हैं—यह मोतियों की बौछार जिसका हास है; यह विद्युत् जिसके चंचल कटाक्ष, और यह इन्द्रधनुष जिसके सुरंग अंचल का उड़ता हुआ छोर है ! कैसा मधुर रूप है !

वेणु : वास्तव में बड़ा ही मनोहर दृश्य है। बड़ा ही नयनाभिराम !

[**वायु के स्निग्ध झोंके आकर इन्दु और वेणु के चारों ओर लिपट जाते हैं।**]

इन्दु : कैसा मधुर, कैसा शीतल और सजीव स्पर्श है ! ऐसी चपल, निरलस और क्रीड़ा-प्रिय वायु जैसे कहीं नहीं देखी ! यह सदैव कुमारी, सदैव बालिका ही रहेगी ! यह इस मृन्मय पृथ्वी के उपकरणों से बनी हुई नहीं—केवल व्योम की विभूति, स्वर्ग की सृष्टि है ! गुलाब की पखुड़ियों के सौरभ की तरह, नयन कोरों के स्नेह की तरह इसके अदृश्य ताने-बाने से मधुर शीतलता विकीर्ण होती रहती है। उच्च निर्जन गिरि-शिखरों की निर्मल शीतलता अपने अंचल में भरकर यह

अपने उन्मुक्त दान को चारों ओर बखेरती फिरती है !

वेणु : वाह !

इन्दु : दूर, अपने नीलाकाश के नीरव निकुंज में छिपे-छिपे, इन बादलों के रेशमी, ऊनी तथा रुई के रोओं को सूर्यातप में इच्छानुकूल रँगकर, शिल्प-कुशल सुरबाला की तरह, अपनी अदृश्य चटुल अँगुलियों को चलाकर, अपने नीलिमा के अंचल में सहस्रों रूप-रंग, छवि, प्रतिछवि की रेखाओं में, (**अनेक रुचि और यत्नों से**) यह कला के चारु नमूने बनाती रहती है। (**ये मेघों के मनोहर रूप इसी चंचल व्योम-बाला की सुभग कल्पनाएँ और सुकुमार भावनाएँ हैं।**) कुशल चित्रकार की तरह बादलों के अंचल में वह अपने मनोभाव चित्रित करती रहती है। ऐसी निपुण वायु और कहीं देखी ?

(**जब यह अस्पृश्य अप्सरा अपने ही पंखों के उल्लास में उतर, कुहासे के पारदर्शी नीलावरण की ओट में, पर्वत-शृंग पर अँगूठे के बल खड़ी होकर नृत्य करती है तब इन मेघों से लेकर तृण-तरु-पत्र तक आत्म-विस्मृत हो, अपनी प्रत्येक अंग-भंगी, प्रत्येक कर और अँगुली के संचालन के साथ, सौ-सौ तरह से, सौ-सौ आवेशों में झूम-झूम झुक-झुक पड़ते हैं ! तब यह सुकुमारी अपने ही चंचलपन में सरोवर में मरकत मुकुट पर उतर आती है—इसके चंचल पद-न्यास के साथ, सरोवर के वक्ष में ताल-ताल और छंद-छंद पर असंख्य लोल-लहरें उमड़-उमड़कर लोटने लगती हैं।**) इसका अदृश्य पदाचार चटुल वीचियों के रूप में जैसे साकार हो उठता है ! कभी यह कौतुक-प्रिय वायु ताल के इस छिन्न-भिन्न तरल-पट को जैसे अपनी सौ-सौ अँगुलियों में सुई नचाकर सीने लगती है !

[**इन्दु चिकारा लेकर गाने लगता है।**]

गीत

प्राण, तुम लघु-लघु गात !
नील नभ के निकुंज में लीन,
नित्य नीरव, निःसंग, नवीन,
निखिल छवि की छवि ! तुम छवि-हीन
अप्सरी-सी अज्ञात ! प्राण···
अधर मर्मरयुत, पुलकित-अंग
चूमती चल-पद चपल-तरंग,
चटकती कलियाँ पा भ्रू-भंग,
थिरकते तृण-तरु-पात ! प्राण···
हरित द्युति चंचल अंचल छोर
अरुण छवि, नील कंचु, तन-गौर,
चूर्ण-कच, साँस सुगंध-झकोर,
परों में सायं-प्रातः – प्राण···
विश्व-हृत्-शतदल निभृत-निवास,

अहर्निशि साँस-साँस में लास,
अखिल जग-जीवन हास-विलास,
अदृश्य, अस्पृश्य, अज्ञात—प्राण···

वेणु : इस पर्वत-प्रदेश को वास्तव में मेघ और मारुत का भूलभुलैया कहना चाहिए। यहाँ प्रकृति बड़ी स्वच्छ और क्रीड़ा-प्रिय जान पड़ती है।

[सूर्यातप और भी उज्ज्वल हो उठता है।]

इन्दु : कैसी सजीव है यह बाह्य प्रकृति! इसमें जहाँ भी देखो, जब भी खोजो, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द, उल्लास ही उल्लास झलक रहा है! इसका अन्तःकरण सौ-सौ रूपों में पुष्पित-पल्लवित हो फूट-फूट पड़ता है। जड़ चेतन का भेद भ्रम मात्र, मिथ्या कल्पना मात्र जान पड़ता है। प्रत्येक पदार्थ किसी अदृश्य-स्पर्श से पुलकित, प्रत्येक अणु-परमाणु जीवन के प्रवाह से स्पंदित जान पड़ता है! मनुष्य ही केवल अपवाद है। उसके हृदय-शतदल में एक कीट घुस गया है जो उसे रात-दिन कुरेदता रहता है! प्रत्येक पल उसके भीतर निराशा-निश्चेष्टता, अंधकार और उद्विग्नता का संग्राम लगा रहता है।

वेणु : क्योंकि इस मनुष्य में विधाता का अभिप्राय और भी पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है—इसलिए मनुष्य प्रकृति की मधुर प्रवंचना का दीर्घ काल तक दास नहीं रह सकता—वह अपनी प्रखर बुद्धि के प्रकाश में इस प्रकृति के मिथ्याडम्बर का शून्य नग्न-चित्र देख चुका है।

इन्दु : यही मुझे उसकी जय और पराजय दोनों जान पड़ती है, वेणु! मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रकाश में प्रकृति के रहस्यमय अंत:करण के भीतर देख भर सका है, उसे समझ नहीं सका! क्योंकि मनुष्य भी उसी प्रकृति का एक अंग है!

(गीत की पुनरावृत्ति)

विश्व-हृत् शतदल निभृत-निवास,
अहर्निशि साँस-साँस में लास!
अखिल जग-जीवन हास-विलास,
अदृश्य, अस्पृश्य, अज्ञात—प्राण··

[कुहासा बिलकुल तिरोहित हो जाता है : पश्चिम की ओर एक चित्रग्रीव विरल मेघ-खण्ड सूरज से सटकर, अत्यंत सुभगरूपेण, विशाल पत्राकार फैल जाता है, जिसके राशि-राशि रोओं से, कोमल-प्रखर, गहरे-हलके, सहस्रों रंगों की छाया मैत्री का रत्नार्मण प्रतिफलित होने लगता है। जान पड़ता है जैसे तरुण तेजस्वी, पौराणिक सूर्यदेव, जलद विमान में बैठ, इस छायालोक की इन्द्रपुरी में प्रविष्ट हुए हैं! इधर-उधर नीलाकाश में बिखरे हुए दुग्ध-फेनिल बादलों की विरल जालियों में, हलके-हलके रेशमी इन्द्रधनुष फँस गये हैं। स्निग्ध-सूर्यातप, वाष्प-वायु से चाँदी की चमकीली चूर्ण की तरह छन कर, धुली हुई हरीतिमा पर पड़ रहा है। असंख्य चंचल लहरें अपने पंखों में सूर्यातप के मोती गूँथने सरोवर से बाहर निकल पड़ी हैं, जिनकी स्मिति एक

दूसरे के मुख पर प्रतिबिंबित हो रही है।

ऐसे समय में भिन्न-भिन्न प्रदेशों से आए हुए झुण्ड के झुण्ड भद्र स्त्री-पुरुष, युवक-युवती, बाल तथा वृद्ध प्रकृति की इस सद्य-स्नात-श्री तथा स्निग्ध-आतप का उपभोग करने बाहर, माल रोड पर, निकल पड़े हैं—उनका स्पंदन कंपन, कण्ठ-कुंजन, आकृति-प्रभृति, उनकी सजधज, वेश-भूषा तथा हास-विलास की लहर-बहर को देख कर, जान पड़ता है, जैसे भारतवर्ष के निदाघ के दारुण अत्याचार से पीड़ित हो, जीवन का समस्त सौन्दर्य तथा आनन्दोल्लास इस पहाड़ी प्रांत की सजल छत्रछाया में एकत्रित हो, अपने अनेक रुचिर-रूप धारण कर, पग से पग, हाथ से हाथ मिला, इस स्वर्गीय सरोवर के चारों ओर अनवरत परिक्रमा कर रहे है।

उस पार मंगल गान करती हुई पहाड़ी स्त्रियाँ, वन्य परियों की रंग-बिरंगी टोलियों की तरह, अपने कोमल कण्ठ-रव से अनिल को पुलकित एवं गिरि-कन्दराओं को मुखरित करती हुई, एक दूसरे से सट कर, धीरे-धीरे, देवी-मन्दिर की ओर जा रही हैं। उनके अधिक गहरे रंग के वस्त्र दूर से ऐसे लगते हैं जैसे एक साथ ही छहों ऋतुएँ अपने विविध वर्णों के विलास में अनेक रूप परिधान कर, सरोवर के तट पर वायु-विहार कर रही हैं।]

इन्दु : (देर तक इस जीव-दृश्य को देख कर एक प्रकार के भावावेश में) इस अस्पष्ट कुहासे के साथ ही मेरे हृदय से भी जैसे चिरव्याप्त अन्धकार का एक आवरण तिरोहित हो गया है! इस समस्त विश्व की एकाग्रता, इन समस्त पदार्थों की अनन्यता, एक विशाल माया-चित्रपट की तरह मेरे भीतर स्पष्ट होकर झलक उठी है! संसार में सभी वस्तुओं का एक दूसरे से अभिन्न संबंध है! एक अदृश्य शृंखला सबको परस्पर बाँधे हुए है। जैसे एक दूसरे के संस्कृत-विकसित-स्वरूप हों एक दूसरे में अन्तर्हित हो। यह जड़-चेतन का भेद स्वाभाविक नहीं, केवल बुद्धि की सुविधा के लिए खड़ा कर दिया जान पड़ता है! इस जड़-चेतन का भी अतिक्रम कर आज मेरे हृदय में एक अत्यन्त सूक्ष्म सत्य उदभासित हो उठा है!

वेणु : कैसा सत्य?

इन्दु : आज मैं जैसे सबसे एकाकार हो गया हूँ। यह संध्या और प्रभात की लालिमा ही जैसे मेरी नाड़ियों के भीतर इस रुधिर में बह रही है, यह निर्मल वायु ही मेरी साँसों में सचारित हो रही है—आकाश की यह मौन-नीलिमा ही मेरे निस्तल अंतःकरण की गभीरता है—यह प्रकृति का ऊहापोह ही मेरा मन है; जो अनेक मनोरम रूप धारण कर, उनकी वासना में मग्न होता हुआ, किसी अनंत शक्ति की ओर अग्रसर हो रहा है—ये लहरें मेरी क्रीडाप्रियता है, यह विद्युत् मेरा अप्रतिहत हास, और यह स्निग्ध सूर्यातप ही जैसे मेरी आत्मा का प्रकाश है!

वेणु : (संदिग्ध भाव से) हूँ—

इन्दु : (**कुछ रुककर**) रज-पाषाण, तृण-तरु, पृथ्वी-आकाश से लेकर इन सस्मित नर-नारियों के कुसुम-सावक तक सभी जैसे उस एक सत्य के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। जड़-चेतन अपना विपरीत-भाव खोकर जैसे एक-दूसरे की सत्ता की पुष्टि कर रहे हैं—सभी वस्तुएँ अपना बाह्य भेद-भाव खोकर उसी सर्वव्यापी सत्य में विलीन से हो गए हैं—और उसी एकांत-सत्य की ज्योति में जैसे अपनी विभिन्नता (**विषमता**) बनाए हुए है!—कितने असख्य, कितने सुदर-सुंदर स्वरूपों में यह सत्य अपने को आभूषित कर सकता है! इन तृण-तरुओं की हरीतिमा ऐसी अजीब है। ये लहरें ऐसी हँसमुख! गिरि-शिखर ऐसे उन्नत और गरिमापूर्ण! आकाश ऐसा पुनीत गम्भीर! यह पृथ्वी ऐसी विशाल क्रीडा-कलरवपूर्ण! और यह मनुष्य? इस मनुष्य से भी सुन्दर और कुछ है?

(**इन्दु गाता है**)

मधुर जीवन-आतप सुकुमार
दो न मुझे कुछ काल—
मधु-बाल
छेड़ मधु-स्वप्नों की गुंजार!
आज झरता दिशि-दिशि उल्लास
मोतियो की कर मधु-बौछार--
मधुर रे मधु जीवन का हास,
मुग्ध स्नेहातप में संसार!
अनिल के खग, कर चल-कल रोर,
फेन-लोमिल हिम-पंख प्रसार,
उड़ रहे छू-छू तन के छोर,
छिपे छल-छवि में छायाकार!
भोग लें जीवन सुख कुछ काल
मधुर सुख ही सुख का उपचार,
आज कुसुमित रे उर की डाल
मधुर सुख जीवन का शृंगार!

वेणु : (**मनुष्य की प्रशंसा से उत्तेजित होकर**) कैसी बड़ी विडम्बना है! तुम्हारे सावन से संसार में बस हरीतिमा ही हरीतिमा है! तुम वास्तविक जगत् में न रह कर अपने एक अलग जगत् में रहते हो! तुम्हारा सत्य, शायद, हमारे इतिहास का सत्य, हमारे अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान का सत्य नही—जहाँ क्षण-क्षण, अविराम रूप से, ऊहापोह, उत्थान-पतन, चिंता-ग्लानि, तर्क-वितर्क, क्रय-विक्रय, चीत्कार-किलकार, संधि-संग्राम, लोभ-क्रोध, रोग-शोक, प्रलय, विनाश और हाहाकार का ताण्डव नृत्य हो रहा है! जहाँ मनुष्य की आशा-अभिलाषा और सद्भावनाएँ प्रतिपल मूर्छितप्राय हो रही हैं! जिसकी किमाकाय विकरालता देखकर मनुष्य की कल्याण-प्रिय आत्मा, भय और विस्मय से अमिट न हो, एकदम निश्चेष्ट और जड़ हो गई है! क्या इतनी बड़ी

और स्पष्ट कदर्थ-कुरूपता को देखने के लिए सूर्य के प्रकाश के अतिरिक्त और कोई प्रकाश चाहिए ? भूले-भटके इस संसार के पादप पर जो प्रसन्नता की कोकिला कभी बोल उठती है, तुम उसकी कूक पर इतने मुग्ध हो कि रात दिन जो काले-काले कौवे उसे अपने कुत्सित-पंखो के अँधियाले से ढँक कर, उस पर काँव-काँव करते हैं तुम उसे बिलकुल ही भूल जाते हो ! तुम जैसे सत्य का भीषण स्वरूप देखना ही नही चाहते उससे जैसे डरते हो !

इन्दु : डरता हूँ ? (**कहकर खिलखिला उठता है, वेणु भी उत्तेजना में कही गई अपनी बात पर, साथ ही, हँसता है।**)

इन्दु : देखो वेणु—इस दिन की ज्योति मे छायातप की मीमांसा करना ठीक नहीं—यह केवल स्वभाव की बात है। मै दुख और निराशा को दूर से देखता हूँ सही पर मेरा मन उसमें घुल-मिल नही सकता—मै स्वभाव से ही आशावादी हूँ—मेरे हृदय में बीच-बीच मे एक आनन्द-नृत्य, एक स्वर्गीय प्रेरणा-सी होती रहती है जो मेरा पथ निश्चित कर देती है : मैं भले-बुरे का निर्णय इसी से करता हूँ।

वेणु : आशावादी होने पर भी कोई यह अस्वीकार नही कर सकता कि संसार द्वन्द्वमय है ! यह सुख-दुःख, ज्योति-अन्धकार के ताने-बानों में बँधा हुआ है, इस सृष्टि मे सुन्दर-असुन्दर धूप-छाँह की तरह परस्पर गुँथे हुए है—तब सत्य के सुन्दर रूप पर ही कोई कैसे मोहित हो ?

इन्दु : (**म्लान मुसकराहट के साथ**) तुम तर्क कर रहे हो वेणु ! मैं किसी तरह की दार्शनिक गुत्थियों की जटिलता सुलझाने में जीवन का अतिव्यय करना नहीं चाहता—मनुष्य की संशयात्मक बुद्धि ने जितने दुर्गम पहाड उसके पथ में खड़े कर दिए हैं उनसे टकरा कर सिर चूर-चूर करना मुझे पसन्द नहीं—मनुष्य ने सत्य को कूट बनाने ही में अपनी विजय समझी है। सत्य के इन द्वार-रक्षक आचार्यों को दूर से प्रणाम कर, इस जीवन के व्यूह में मैं दूसरी ही राह से प्रवेश करना चाहता हूँ। सत्य का स्वरूप स्थिर करने के लिए, बुद्धि द्वारा विश्लेषण कर, मुझे जटिल सिद्धांतों का प्रतिपादन करना नहीं—वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मैं सत्य को नहीं देखता—अपने सत्य का केन्द्र मैं स्वयं हूँ। मानवी सत्य ही मेरे काम का है। साँप को सौंदर्य की तोल में सुन्दर पाकर मैं गले नहीं डाल सकता—उसका डसना उसके सुन्दर होने से मेरे लिए अधिक सत्य है। मैं अपने ही सम्बन्ध में वस्तुओं में सत्य देखना चाहता हूँ।

वेणु : तुम सम्भवत: भावना की बातें करते हो, पर बुद्धि और भावना में साम्य होना भी तो आवश्यक है ! जब तक भावना बुद्धि की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण नही हो जाती, उसका स्वर्ण अकलुष नहीं हो सकता ! वह मरीचिका भी हो सकती है।

इन्दु : दार्शनिकों का पक्ष न लो वेणु ! मैं सदाचार को मानता हूँ—सच तो यह है तुम सुख-दुःख के अँधेरे-उजेले को एक ही सत्य के दो विसर्ग—दो

भिन्न स्वरूप देखते हो, मैं ऐसा नही देखता। विषाद का अंधकार मेरे लिए अभाव में है। बुद्धि द्वारा सदसत् का विश्लेषण कर मैं जी सकता हूँ, रह नही सकता। बुद्धि मुझे मनुष्य के अस्थिपंजर की ओर ले जाती है! वह सोलोमन की तरह कहती है : जीवन जीने योग्य नही है। भावना उसके मांसल स्वरूप की ओर ले जाती है—जिसमें आकार-प्रकार, रूप-रंग, चित्र और रेखाएँ रहती है! एक शब्द में कविता रहती है।

वेणु : हूँ—

इन्दु : मैं मनुष्य के अन्तर मे छिपी हुई परिपूर्णता को—जिसे तुम आत्मा कहोगे—सत्य मानता हूँ। उस पर विश्वास करने से ही मेरे कार्यों की देख-रेख अपने आप होने लगती है। आनन्द को मानसिक स्थिति-विशेष ही कह कर मुझे संतोष नही हो जाता, यह केवल अति-कल्पना है। मैं देखता हूँ आनन्द सत्कार्यों का फलस्वरूप है—यहाँ पर यह सुख से अलग हो जाता है। (**किंचित् व्यंग्यपूर्वक**) जिसे पौराणिक शब्दो मे देव-वृत्ति, दार्शनिक शब्दो मे सात्विक वृत्ति कहोगे, उसे मैं मानवात्मा का स्वभाव मानता हूँ, जैसे गुलाब का सौरभ : मुझे अन्त मे मनुष्य के इसी सत्य-स्वभाव की विजय पर विश्वास है!

वेणु : गुलाब कभी दुर्गन्ध नही दे सकता, किन्तु मनुष्य मे असात्विक प्रवृत्तियाँ इतनी अधिक है!

इन्दु : मनुष्य मे क्या है, यह जानकर कोई लाभ नही। अपने से बाहर मनुष्य को देखना भी नही चाहिए! तब वह सत्य न रह कर कल्पना मात्र रह जाता है! और मनुष्य की यह मनुष्य के लिए कल्पना ही उसके लिए सबसे बड़ी न सुलझने वाली पहेली हो गई है। यह कल्पना मुझे ही—जो मेरे इतने निकट है—अपने को नही देखने देती! मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि मनुष्यात्मा भीतर ही भीतर सौन्दर्य और आनन्द की प्यासी है, और कोई अत्यन्त आकर्षक शक्ति मुझे रात-दिन अपनी ओर खींच रही है, वह शक्ति अत्यन्त प्रिय, अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त मधुर है। उसके स्पर्शमात्र से मेरे सर्वांग में एक संगीत की धारा प्रवाहित होने लगती है, मेरे रोम-रोम मे आनन्द पुलकित हो हँस पड़ता है, जैसे बसन्त में सहसा सेब का वन कुसुमित हो जाता है। मेरा सर्वस्व सत्य के आदर्श स्वरूप की ओर अग्रसर हो उठता है।

[**रतन सामने टेबुल लगाकर उसमें चाय का सामान एवं ऋतु-फल सजा देता है**]

वेणु : जैसे मेरा मन इस चाय की ओर अग्रसर हो उठा है।

इन्दु : (**हँसता हुआ**) तुम्हारे सिर मे तो कभी कुछ नही था, पेट मे भी कुछ नही रह गया जान पड़ता है।

वेणु : (**एकदम रतन के स्थूलाकार को लक्ष्य कर**) सत्य तुम्हारे इस रतन से अधिक गोल नहीं हो सकता। इसकी माप लेना भी उतना ही कठिन

है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई के विषय में हमेशा लोगों में मतभेद सम्भव है—किसे लम्बाई कहे, किसे चौड़ाई!

[रतन हँसी का कारण समझ, एक कोने में खड़ा हो जाता है।]

इन्दु : (उच्च-हास्यपूर्वक) इस अपढ़ पहाड़ी लड़के रतन को देखो, यह स्वभाव से ही ऐसा सौम्य और सुशील है! इसका सदाचार-ज्ञान बुद्धिगत नहीं, नैसर्गिक है। इन लोगों के पास बुद्धि की माप नहीं होती, ये अन्तःकरण की प्रेरणा, सहज ज्ञान से चलते हैं।

वेणु : मैं इसका कारण सोचकर स्वीकार करूँगा।

(इन्दु चाय बनाकर प्याला वेणु की ओर बढ़ाता है)

इन्दु : लो, हम अपने-अपने मतभेद, दूध और पानी की तरह मिलाकर कुछ देर के लिए एक मनोविनोद के प्याले में परिणत कर दें।

वेणु : (परिहास-भाव से) यह मतभेद भी बुद्धिगत नहीं, स्वभावगत है इन्दु! रात और दिन की तरह!

इन्दु : (उसी रूपक को बढ़ाकर) हम इस शान्त स्निग्ध सन्ध्या की तरह एक मधुर मिलन में बँध सकते हैं, जिसका सुनहला अंचल और वरवायु में लहराता हुआ इस खिड़की से भीतर आया चाहता है।

[इन्दु खिड़कियों के परदे हटा देता है: संध्यातप अस्तमित, तिर्यक् किरणों से स्वर्ण-चूर की तरह झरकर कमरे के फर्श तथा मेज के रूमाल पर फैल जाता है। इन्दु सितार उठाकर गाने लगता है।]

गीत

कौन, तुम रूपसि! कौन?
व्योम से उतर रही चुपचाप,
छिपी निज छाया-छबि में आप,
सुनहला फैला केश-कलाप,
मधुर, मन्थर, मृदु मौन—कौन?
मूँद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव-संकुल बंकिम भ्रू-चाप
मौन केवल तुम मौन...
ग्रीव तिर्यक्, चम्पक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात,
देह छबि छाया में दिन-रात,
कहाँ रहती तुम कौन...
मधुर नूपुर ध्वनि खगकुल रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल,
उड़ रही नभ में मौन!
लाज से अरुण अरुण सुकपोल,

अरुण तर अधर मुरा अनमोल
हृदय पावस का बना हिंदोल,
कौन ?
मधुर, मन्थर मृदु मौन !

वेणु : तुमने साँझ का गीत गाया, मैं रात का गाऊँगा—

(वेणु चिकारा लेकर एक अतिरूपक गीत गाता है)

गीत

निशा का नील तमाल—
खड़ा है दानव सा विकराल
धरा नभ में छितरा भुज-डाल—निशा...
प्रात-संध्या नव पल्लव लाल
दिवसद्युति सकल, सुमन सित जाल,— निशा...
सघन शाखाओं में शत-नीड़
सजग जिनमें उलूक उडु-बाल—निशा...
इन्दु, इसका फल अम्ल-रसाल,
जिसे खाते गीदड़ कंकाल—निशा...

इन्दु : **(खिलखिलाकर)** केवल इन्दु को भूखे गीदड़ों से नुचवाने के लिए तुमने इतना बड़ा अर्थहीन आडम्बर खड़ा कर दिया !

वेणु : इसमें प्राचीन आचार्यों की छाया पड़ गई है — अर्थ बिलकुल नहीं के बराबर समझो, केवल अलंकारों का चमत्कार खोजो— रस की परि-पुष्टि के लिए इतना और जोड़ दो--

छिपी छाया में राधा बाल,
सजनि ! यह नील लाल, नंदलाल ?

अभी मैंने पाँवों में साँप नहीं लिपटाए-**(वेणु का उच्च हास्य)**

[रतन चाय ले जाता है। इन्दु और वेणु अपनी कुर्सियाँ खिड़की के पास ले जाते हैं।]

इन्दु : **(सांध्य-शोभा को देखकर)** जान पड़ता है, इस नभ के नीलम पात्र में अपनी स्वर्ण-शिखा प्रज्वलित कर संध्या विश्वनियंता की आरती उतार रही है। यह सोने की आभा इस मर्त्यलोक पर जैसे स्वर्गीय आशीर्वाद की तरह बरस रही है। उस विरल-बादल से छन कर सूर्य की सघन-किरणें स्वर्ण के पीन-निर्झर की तरह ताल के जल पर छूट रही हैं। बाईं ओर उस काजल के बादल के चारों ओर जैसे सोने की नाखूनी जरी लग गई है। कुछ दूध के बादल, हलके स्फीत फेन की तरह, अपनी शुभ्रता ज्यों की त्यों बनाए हुए हैं। इधर-उधर मेघ-खण्डों में जैसे चित्र बनाने से पहिले किसी ने रंग की तूलिका फेर दी है। रुई में लपेटे हुए नवजात शिशु की तरह, जलद फेन से घिरी हुई उस पहाड़ी का केवल सिर ही सिर दीख रहा है। पार्श्ववर्ती छोटी-छोटी बादलों की थैलियों से जैसे साँझ का सोना टपका पड़ता है। सूर्यबिम्ब को ठीक

दो भागों में विभाजित करती हुई वह विरल मेघ-रेखा बड़ी सुहावनी लगती है। जान पड़ता है जैसे सूरज पहाड़ों के अन्तराल में न छिपकर फेन के समुद्र में डूब रहा हो।

वेणु : वास्तव मे बड़ा ही मनोहर दृश्य है ! पहाड़ों की उपत्यका पर पड़े हुए इस हलके मंध्यातप को देख कर, दूर से, एक अनन्त शांतिपूर्ण विराम का अनुभव हृदय में होने लगता है।

इन्दु : पहाड़ो के अंचल मे यह पावस का सूर्यास्त किसी भी प्रवीण चित्रकार के लिए सोने की सृष्टि है। रूप-रंग-रेखाएँ जैसे चित्र की एकाग्रता में अभिन्न हो गई हो। छायालोक का मधु-मिलन, कला-कौशल तथा रुचि और चयन सब एक दूसरे के आलिंगन में बँध गए है ! भाव की अभिव्यक्ति सजीव हो उठी है ! चित्र केवल संकेत मात्र रह गया है, उसके आवरण में जो विशाल विश्वात्मा झाँक रही है उसकी नीरव अनिमेष शान्ति में, देखने वाले की आत्मा, समुद्र मे जल-बिन्दु की तरह विलीन हो जा रही है।

वेणु : यहाँ पर मुझे यथार्थवादी कला की पराजय दीखती है : वह प्रकृति के रूप-रंग चुरा सकता है, इनमें सजीवता नही फूंक सकता। वह प्रकृति का रूप हो सकता है, अभिव्यक्ति नही हो सकता।

इन्दु : मैं कला को अनेक रूपों में ही देखना पसंद करूँगा वेणु ! वे रूप केवल सुन्दर हों। प्रत्येक स्वरूप की अपनी एक विशेषता होती है, और सभी में सत्य का एक अंश रहता है। संपूर्ण सत्य अनिर्वचनीय है। कला उससे बाहर नही है। कला की कसौटी केवल सुन्दरता है। कला सौन्दर्य द्वारा सत्य को अभिव्यक्त करती है, विज्ञान सत्य द्वारा सौदर्य को। इस सरोवर को देखो—इसमें गहनता है, विस्तार भी। इसकी निर्वाक् गहराई में भी, एक गम्भीर सत्य, गम्भीर सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, इसकी लोल लहरों से मुखरित परिधि मे भी एक छायालोक-पूर्ण चंचल सुन्दरता मिलती है। जहाँ इसकी चंचल तरगें गहराई की ओर इंगित करती हैं वहाँ हमें आदर्शवादी कला के दर्शन होते हैं—जहाँ इसकी गम्भीरता अनेक लोल लहरो के कलरव में डूब जाती है, हमे यथार्थवादी कला का उदाहरण मिलता है। पहिले मे अनेक में एक, दूसरे में एक मे अनेक का आभास रहता है और ये रूप एक दूसरे को समझाने में सहायक ही होते है—कला के सभी स्वरूप सुन्दर लगते हैं।

वेणु : तुमने बड़े सहज और सुन्दर ढग से कहा—

(नर-नारियों का एक सुन्दर समूह सामने से सड़क पर जाता है।)

वेणु : देखो इन्दु, तुम्हारे पावस की संध्या के समस्त रूप-रग जैसे इस मनुष्यों की पृथ्वी पर उतर पड़े हैं।

इन्दु : ये अपने देश के दीपमणि है वेणु, अपने आकाश के ज्योति-बिन्दु ! इस दरिद्र देश की मरुभूमि में लक्ष्मी ने अपने निवास-विलास के लिए जो इने-गिने कुंज-वितान और आराम-उपवन सजाए हैं, ये उन्ही के

चुने-चुने सौरभ-सुमन हैं। सभ्यता के शृंगार, विद्या-विज्ञान के विकास ! न जाने क्यों मुझे कुछ दिनों से जान पड़ता है कि ये अन्दर से ऐसे सुन्दर सस्मित नहीं, जैसे बाहर से लगते हैं। घर और वन के फूलों में बड़ा अन्तर है। इनके मुख का आलोक जैसे मन का आलोक नहीं। इस ऊब-डूब करते हुए अन्तः शून्य की तरह इनकी प्रसन्नता ऊपर ही ऊपर तैर रही है। इनकी हँसी में जैसे मोती नहीं। यद्यपि मुझे कुसुमित वस्त्र अच्छे लगते हैं – पर यह समस्त साज-शृंगार जैसे उस अन्तः सौन्दर्य की कमी को, उस अपूर्णता को नहीं भर सकता ! (रुककर) न जाने मेरा हृदय मानव जगत् में भी किस सौन्दर्य को खोजता है ! मेरे प्राण मनुष्य में कैसी पूर्णता चाहते हैं ! मुझे यह त्वचा की सभ्यता अब अच्छी नहीं लगती !

वेणु : केवल तुम्हारे सौरभ-सुमन ही नहीं—राजा से लेकर रंक तक, धनी-निर्धन, दुर्बल-सबल, भिक्षु-दाता, बालक-वृद्ध, नर-नारी, भिन्न-भिन्न धर्म, संस्कृति और प्रदेशों के लोग—सभी, तुम्हें यहाँ मिल सकते हैं। जैसे यह प्रदेश आधुनिक सभ्य संसार का एक छोटा-सा खण्ड-पृष्ठ हो। यहाँ तुम्हें विविध जाति, धर्म, संस्कृति और प्रदेशों के रहन-सहन की विशेषताएँ देखने को मिल जाएँगी। मनुष्यता के भिन्न-भिन्न सार, भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ और वर्गों को देखकर जान पड़ता है, जैसे विषमता ही सभ्यता का अर्थ रहा है, और रहेगा।

इन्दु : यह असत्य नहीं है, यद्यपि सत्य भी नहीं है। इस तरह बाह्य दृष्टि से देखने पर चकाचौंध के अतिरिक्त मर्म या रहस्य कुछ भी नहीं मिल सकता। विशेषता बुरी नहीं वेणु, यद्यपि उसे ही सब कुछ मान कर विषमता शोचनीय है। ये भिन्न-भिन्न धर्म, भिन्न-भिन्न संस्कृति, रीति-नीति, आचार-विचार, तथा जाति-वर्ण के भेद-प्रभेद जैसे मनुष्य और मनुष्य के बीच में हिमाकार छायारूप लेकर खड़े हो गए हैं। ये जैसे मनुष्य से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं ! मनुष्य मनुष्य के लिए रहस्य बन गया है, अपनी ही छाया में खो गया है ! वह यह नहीं जानता मैं कौन हूँ, मनुष्यता क्या है ? वह किसको प्रतिबिम्बित करता है, विश्वात्मा या विशिष्टता को !

वेणु : लो, तुमने उड़ान ली और मेरे सिर से ऊपर हो गए !

इन्दु : मुझे ऐसा जान पड़ता है वेणु, संसार में जितने प्रकार के नियम-बन्धन, आचार-विचार, भाव-भाषा, नीति-रीति, दर्शन-काव्य, संस्कृति तथा धर्म हैं उन सबका केन्द्र मनुष्य ही है—मानवात्मा है, विश्वात्मा है। मनुष्य ने ही अपने को विविध भाव-रूपों में परिणत कर दिया है। उसी ने विविध वस्तुओं के सम्बन्ध स्थापित कर अपने इच्छा-आकांक्षा, अनुभूति ज्ञान, विचार-आदर्श और अपनी जाति की कल्याण-कामना को विविध संस्कृतियों के स्वरूप में पुष्पित-पल्लवित कर, भिन्न-भिन्न दिशाओं को उर्वर-अलंकृत एवं कुसुमित कर दिया है। काल की शिराओं में अपनी अनुभूति को आदेश के रूप में अंकित कर दिया है ! भिन्न-भिन्न धर्म एवं संस्कृतियाँ मानवात्मा के विकास के पथ को

समय-समय पर आलोकित करने वाले दीपमन्दिर के तुल्य रहे हैं, जिन्होंने अपने ज्ञानालोक से मानव जाति के भविष्य के अन्धकार को कुछ दूर तक आलोकित करने का सफल प्रयत्न किया है। धीरे-धीरे एक दूसरे के संघर्ष में आ, परस्पर परिचय के आलिंगन में बँध, सभी धर्म, संस्कृति और सभ्यताएँ अधिक स्वस्थ और सम्पूर्ण होकर एक दूसरे में अपनी अभिन्नता स्थापित कर रही हैं- परस्पर मिलकर और भी वृहत् और उज्ज्वल रूप धारण कर रही हैं। भविष्य में मनुष्य मनुष्य के और भी सन्निकट आ जाएगा, मनुष्य की इस उन्नति को कोई भी नहीं रोक सकता।

वेणु : सोने के स्वप्न मैं भी देख सकता हूँ इन्दु, पर दिन के प्रकाश में संसार की इस विषमता का नग्न-चित्र मुझसे नहीं देखा जाता! मनुष्य या संसार का, भविष्य जैसा भी हो, इसके भूत एवं वर्तमान बड़े दयनीय हैं! यह जीवन-संग्राम तो आज बड़ा ही गर्हित हो उठा है जिसे तुम मानवात्मा के विकास का इतिहास कहती हो उसके पृष्ठों पर ऐसे-ऐसे काले कुत्सित धब्बे पड़ गए हैं कि शायद ही कभी उन्हें कोई मिटा सके।

[सड़क पर मिस्टर विलास और मिसेज़ विलास जाते हैं: मिस्टर विलास नीले सर्ज के चेक की अपटुडेट सूट पहने, हाथ में अपनी अभिन्न सहचरी छड़ी लिए हैं। मिसेज़ विलास अपने गौर अंगों में, सिर से पाँव तक, एकदम लाल रेशम का जम्पर और बिना किनारी की वैसी ही साड़ी पहने हुई हैं। उनकी लम्बी मुखाकृति और शुक नासिका सुंदर लगती है। आँधी से छिन्न-भिन्न बादलों की तरह चीथड़े लपेटे हुए एक भिखारी दूर ही से सलाम कर हाथ पसारता है।

विलास : हट जाओ, लकड़ी का चौकस कुन्दा!—ऐसे पड़े-पड़े पेट पालने वाले गंवार इसी हिन्द के देश में मिलते हैं।

[मिसेज़ विलास भिखारी को कुछ पैसे दे देती हैं —और वह आत्म-सम्मान-शून्य भिखारी, पैसे पाकर, प्रसन्नता के मारे आँखें मूँदे, तथा खिसियाहट से एकदम मुँह कानों तक फैलाकर, दोनों हाथों से सलाम करता हुआ एक ओर खिसक जाता है। दूसरी ओर से मिस्टर और मिसेज़ विलास का प्रस्थान।]

वेणु : (जैसे अपने आप कह रहा हो) आह! भिक्षा पशु बना देती है!

इन्दु : कौन हैं ये लोग?

वेणु : मिस्टर और मिसेज़ विलास—यहाँ के प्रसिद्ध रईसों में हैं। सुना है, मिस्टर विलास, हाल ही विलायत से डिग्री पाने में सक्षम नहीं हो सकने के कारण, एकदम साहब बनकर लौट आए हैं।

[दो एक भद्र नर-नारियों की ओर मुँह बनाता हुआ विमल का हँसते-हँसते सामने से प्रस्थान।]

इन्दु : और यह शायद तुम्हारा पॉकेट मित्र विमल है?

वेणु : बुलाऊँ ?

इन्दु : रहने दो, वेणु !

वेणु : मैं इसे इसलिए कभी साथ ले लेता हूँ कि इसे सँभाल सकूँ। यहीं का तो निवासी है। कैसा मुन्दर है ! कोई देखरेख करने वाला नहीं, एकदम गुण्डा बन रहा है। भीतर मे ऐसा है नही जैसा अपने को दिखलाने मे गौरव समझता है। बारह बरस का तो है ही, मुधर जाएगा—

इन्दु : न जाने क्यों, मैं किसी प्रकार की असुन्दरता को सहन नही कर सकता; मेरा जैसा बदन ऐंठने लगता है। ठीक जैसे एक गुलाब का फूल अपने मुरझाए हुए साथी को, चाहने पर भी, अपना रूप-रग और विकास नही अर्पण कर सकता, उसी प्रकार हम भी अपने सचय से शायद दूसरे की सहायता नही कर सकते ! कुछ चीजें सम्भवतः ऐसी है जिन्हें हमें स्वयं प्रकृति के इस अक्षय-उन्मुक्त भण्डार से ले लेना होता है, जो अभागा नही ले सकता उसका विनाश अवश्यम्भावी है ! लेकिन इसे हृदय स्वीकार नही करता !

[इसी समय दैनिक कार्य समाप्त करने के उपरान्त, कुछ मजदूर लोग, बाँसरी में पहाड़ी ग्राम्य-गत बजाते हुए, परस्पर सटकर माल-रोड के नीचे, संकरी ठण्डी सड़क पर जाते हैं। इन्दु और वेणु उससे एकदम आकर्षित जान पड़ते हैं।]

वेणु : इस पहाड़ी संगीत में रत्ती भर मधुरता नही होती।

इन्दु : तुम जिसे पहाड़ी संगीत कहते हो, वह शायद यहाँ का केवल ग्राम्यगात है। यह कभी छोटी-छोटी लोल लहरियों की तरह ऊबडूब खेलता है : कभी पर्वत-स्रोत की तरह बड़े वेग मे विलोड़ित होकर फिर एकदम प्रतिध्वनि की तरह दूर तक फैलकर भीतर ही भीतर गूंज उठता है। जैसे किसी ने इन ऊबड़-खाबड़ पहाड़ों के चढ़ाव-उतार को स्वरों में भर दिया हो—पहाड़ों का जीता-जागता चित्र है !

[पिरेम्बुलेटर में बच्चे वायु-सेवन के लिए ले जाती हुई आया का प्रवेश : उसके पीछे छोटे लड़कों का एक गिरोह, लाल-बादलों की ओर इंगित कर, ताली बजाता हुआ निकल जाता है। लड़के गाने के ढंग से चिल्ला रहे हैं :]

"दादी का सिंदूर गिरा और दादा जी का काजल,
अँधियाले का भालू आया — चल भय्या, घर को चल"

इन्दु : यह नवजात शिशु, ये किशोर लडके, युवक-युवतियाँ, प्रौढ़-वृद्ध, धनी और निर्धन, सभी जैसे किसी न किसी उद्देश्य से इसी एक पथ से जा रहे है। सभी जैसे अपने जीवन का लक्ष्य ढूँढने मे व्यग्र हैं। कोई अस्थिर, कोई धीर, कोई हँसमुख, कोई चिंतित जान पड़ते हैं। सदा इसी अनन्त यात्रा में हम, भाग्यवश, दो-एक घड़ी के लिए आपस में मिल जाते हैं। दूसरे की ओर देखकर कोई हंस देते, कोई मुँह फेर लेते हैं। यही क्षण भर का मिलन-बिछोह, भाव-विनिमय, स्नेह-वैमनस्य,

सुख-दुःख का परिचय और सत्य-मिथ्या का बोध जैसे हमारा संसार है। यही सनातन अस्थिरता है, यही अस्थिर सनातन है।

वेणु : वह देखो इन्दु, उस सरोवर के विशाल वृक्ष पर सध्या की चार-वायु में मन्द-मन्द गति से नृत्य करती हुई, वह सफेद पाल की नाव अपने शुभ्र पंखो को फैलाकर तरंगो के कोमल-आलिंगनो में तैरते हुए पहाड़ी हंस की तरह कैसी सुन्दर लगती है! पूर्णिमा समीप है, अब की पूनों, सरोवर में जागकर बिताएंगे इन्दु!

इन्दु : **(उसी गंभीर भाव से)** तुम्हारे विषाद की छाया मेरे हृदय में भी पड़ गई है वेणु! अथवा यह सध्या ही धीरे-धीरे गम्भीर होकर मेरे प्राणो में प्रवेश कर रही है। बूढे शेर की तरह सूर्य अपने सघन कुंज श्मश्रुओ से घिरे हुए निष्प्रभ मुंह को मोड़कर कभी का अपनी गोद में छिप गया है। बादलो की लालिमा धीरे-धीरे गाढ़ी होकर फीकी पड़ती जा रही है। दूरवर्ती गिरि-कन्दराओ और सघन झुरमुटो में सोया हुआ अन्धकार, विशालकाय दानव की तरह, मानो जागने से पहिले, करवट बदलकर, हाथ-पाँव खींचने पर शरीर को हिलाने-डुलाने लगा है।

[सामने से प्रबोध बाबू का प्रवेश। उनका दीर्घ डीलडौल दर्शनीय आकृति, उज्ज्वल स्निग्ध मुख और शुभ्र दीर्घ दाढ़ी सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।]

वेणु : वाह, वॉल्ट ह्विटमैन!

इन्दु : यही प्रबोध बाबू हैं वेणु! इनसे मिलने अभी तक नहीं जा सका! कहां ठहरे हैं, यह भी पता नहीं! कैसी उज्ज्वल, सौम्य, दर्शनीय मुखाकृति है!

वेणु : यही तुम्हारे पास अपनी लड़की की शादी का प्रस्ताव लाए थे?

इन्दु : तुमने उस रोज सिरी को देख तो लिया वेणु!

वेणु : सिरी? अरे, मैं तो मैं तब से कई बार देख चुका हूँ! वही इनकी देवोपम कन्या है! वह स्वर्ग की किरण! तुम मन पढ़ने हो इन्दु, तुम उसे देखकर भी अस्वीकार कर सके? इसी हृदय से, इसी वाणी से? मुझे विश्वास नहीं होता! तब अभी तुम्हारा हृदय स्वर्गीय ज्योति से मण्डित नहीं हुआ! तुम्हारा प्रतिपल स्पंदित प्राणों का पलना अभी रिक्त है! तुम्हारी नाड़ियों के भीतर, रुधिर-प्रवाह में, एक आत्म-विस्मृति भर देने वाला संगीत नहीं उठा हुआ! तुम्हारे रोम जी भर-कर नहीं हँसे---पलकों को अनिमेष विश्राम नहीं मिला दृष्टि को परितृप्ति नहीं प्राप्त हुई, और तुम्हारी श्रवणों की शक्तियां में अभी सोयी नहीं रहे—तुम अभी अमर नहीं हुए, इन्दु, तुमने अमृत नहीं पिया!

इन्दु : **(वेणु की इस वाचलता से विस्मित एवं प्रभावित होकर)** मैं खो गया हूँ वेणु, मैं बिलकुल खो गया हूँ! मुझे जान पड़ता है मेरे पाँव धरती पर नहीं, हवा में है! कल्पना, केवल कल्पना— मैं और कुछ नहीं रह गया हूँ! एक स्थिर नियमों के तानो-बानों में बँधे हुए, सर्वसम्मत

संसार मे मैं हूँ ही नही ! इन अस्थिहीन बादलों की तरह, मेरा मन प्रतिक्षण सौ-सौ रूप बदलता है, और मैं अपने ही परिवर्तन के भूल-भुलय्ये मे पड़कर भूल गया हूँ कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ! मैं अशान्त, अस्थिर, अधीर हो उठा हूँ ! चारो ओर से जैसे कोई सौ-सौ कटाक्षो से जर्जरित कर, सौ-सौ बाँहों में बन्दी कर, सौ-सौ संकेतो से उन्मन एवं अन्यमनस्क कर,— मुझे एक अपरिचित स्थिति में छोड दे रहा है ! मैं पल-पल पागल हो रहा, पल-पल सँभल रहा हूँ । जिस ओर देखता हूँ उसी ओर कुछ चचल, कुछ सुंदर, कुछ मादक, कुछ आकर्षक मेरे प्राणो मे उथल-पुथल मचा देता, मेरा हृदय छीन लेता है ! यही परी है वेणु, यही परी है—ओह ! यह सर्वव्यापी है ! **(इन्दु आँखें मींचकर, दोनों हाथों से मुख ढँक लेता है ।)**

वेणु : **(बाँह पकड़कर)** चलो इन्दु, कुछ देर बाहर की वायु का आनन्द ले ।

[पटाक्षेप]

जिन्दगी का चौराहा

मूक अभिनय

[एक निर्जन चौराहा, जैसा किसी छोटे कस्बे का होता है। इधर-उधर छोटे मकान और एक बाँस की झाड़ी है। मुर्गे की आवाज प्रभात के आगमन की सूचना दे रही है। इस अभिनय में, नेपथ्य में, भिन्न-भिन्न दृश्यों के अनुरूप हर्ष-विषाद, क्रोध-करुणा की भावनाओं को जागरित करता हुआ मंद मधुर दृप्त संगीत होता रहता है।]

एक दृश्य : उषा का कोमल स्वर्णिम प्रकाश बाँस की झाडी से अलग छन कर चौराहे पर पड़ रहा है, और बाँस के पत्तो के हवा मे हिलने के कारण, कुछ हलकी लम्बी छायाएँ चौराहे पर आँखमिचौनी-सी खेल रही है। एक बटोही चादर तान कर सड़क के किनारे सोया हुआ है। बाँसों के झुटपुट में चिड़ियाँ जोर-जोर से चहकना प्रारम्भ करती है। बटोही की चादर हिलती है। वह धीरे-धीरे जग कर बैठता है; अँगड़ाई लेता और हाथ-पाँव खीचता है, अपने चारों ओर देख कर खड़ा होता है और एक ओर को चला जाता है।

दूसरा दृश्य : प्रभात : कोयल की कूक दूर से सुनाई देती है : एक स्वस्थ नवयुवक और सुन्दर नवयुवती दो ओर से आ कर एक-दूसरे की ओर देखते और आँखे झुका लेते है। लड़की का मुख लज्जारुण हो उठता है। वे चचल दृष्टि से फिर देख कर आँखें झुका लेते हैं। युवक उच्छ्वसित होकर साँस खीचता है। लड़की हलकी-सी चीख के साथ काँटा चुभने का बहाना कर पाँव पकड़ कर बैठ जाती है। युवक उसकी सहायता के लिए उत्सुक होकर उसके पास खड़ा हो जाता है। लड़की काँटा निकालने का अभिनय कर खड़ी होती है। दोनों एक-दूसरे की ओर देखते है। दोनो के वक्ष उच्छ्वसित होते है : दोनो धीरे-धीरे दो ओर को चले जाते है, मुड़ कर एक-दूसरे की ओर देखते हैं, लौट कर एक साथ मुस्कराते हुए चले जाते हैं।

तीसरा दृश्य : दोपहर का समय : कौए की काँव-काँव की आवाज आ रही है : दो आदमी एक ओर से आते है। वे एक-दूसरे की ओर क्रोधपूर्ण दृष्टि से देख रहे है। धीरे-धीरे उनकी मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। वे रुक जाते है। एक दूसरे के पास आकर दूर हट जाते हैं—फिर पास आते है। उनकी साँसे जोर से चलने लगती है। एक दूसरे का गला दबा कर घोंटता है, दूसरा अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करता है। अन्त मे वह बेहोश होकर गिर पड़ता है : गला घोंटनें वाला क्षण भर हाँफता हुआ उसकी ओर एकटक देखता है, फिर घबड़ा कर उसके सीने पर हाथ

रख कर टटोलता है : भयभीत हो कर इधर-उधर देखता है : अपने बाल नोच कर पछताता है : और उसे गोद में उठा कर चला जाता है।

चौथा दृश्य : चौराहा खाली पड़ा है, उस पर मध्याह्न का तेज प्रकाश पड़ रहा है : धीरे-धीरे उसके ऊपर एक छाया पड़ती है जो गहरी होती जाती है। बादलों के गरजने और आँधी में पत्तों के सनसनाने की आवाज होती है। चौराहे पर धूल और पत्ते उड़ने लगते हैं। अंधड़ शान्त हो जाता है : चौराहा फिर प्रकाशपूर्ण हो जाता है।

पाँचवाँ दृश्य : अपराह्न : एक अधेड़ मनुष्य पीठ पर बहुत भारी बोझ लादे, अत्यन्त चिंतित-सा, कमर झुकाए हुए, धीरे-धीरे एक ओर से आता है। वह कमर सीधी कर लम्बी साँस छोड़ता है। कुछ देर लाठी के सहारे झुक कर खड़ा हो जाता है। फिर धीरे-धीरे दूसरी ओर चला जाता है।

छठा दृश्य : संध्या : एक नवयुवती मुँह पर घूँघट डाले एक वृद्धा के साथ एक ओर से आती है। वह सिसकती हुई वृद्धा से लिपट जाती है और वृद्धा के कंधे पर सिर रख कर खड़ी हो जाती है। दोनों कुछ देर रोकर, बिदा लेती हैं। एक जवान आदमी हाथ में लम्बी लाठी लेकर उसी ओर से आता है। युवती और युवक एक ओर, वृद्धा दूसरी ओर को धीरे-धीरे, पीछे देखती हुई जाती हैं।

सातवाँ दृश्य : एक संपन्न स्थूल मनुष्य और एक गरीब नंगा, जाड़े में काँपता हुआ, अस्थि-पंजर मात्र बुड्ढा आमने-सामने से आते हैं, एक-दूसरे की ओर देख कर चले जाते हैं।

आठवाँ दृश्य : एक अधेड़ औरत हाथ में पूजा का सामान ले चौराहे की पूजा करने आती है : जल और फूल चढ़ा कर, धरती पर माथा टेक कर चली जाती है।

नवाँ दृश्य : रात्रि का प्रथम प्रहर : चन्द्रमा का क्षीण प्रकाश : एक फेरी वाली बुढ़िया, दिन भर फेरी लगा कर, घर लौट रही है। वह बीमार होने के कारण कराह रही है : अचानक उसके सीने में दर्द मालूम देता है। वह पिटारी के ढँकने को, जिसमें उसका बेचने का सामान है, उतार कर जमीन पर रखती है और सीना दबा कर बैठ जाती है। उसका दर्द बढ़ता है, साँस फूलने लगती है। वह एक-एक कर पिटारी के ढँकने में चीजें उठा कर देखती और रख देती है। कुछ चीजें सड़क पर बिखर जाती हैं। एक गटापारचा का बच्चा है, एक झुनझुना है। एक काठ का छोटा-सा रंगीन मकान है, एक छोटा-सा दर्पण है : कुछ नकली गहने हैं। वह सब चीजों को उठा कर देखती है, शीशे में मुँह भी देखती है, कुछ सोचती है। शीशा रख देती है : बीच-बीच में सीने को दबाती जाती है : उसका दर्द बढ़ गया है : वह कराहती है, ऐंठती है : और चुपचाप लेट जाती है।

दसवाँ दृश्य : अर्धरात्रि : नीरव चाँदनी का प्रकाश : एक लम्बा सुडौल साधु गेरुवे वस्त्र पहन कर एक ओर से आता है : उसकी दृष्टि उस बुढ़िया पर पड़ती है : वह क्षण भर ठिठक कर कुछ सोचता है। वृद्धा की नाड़ी

हाथ में लेता है : और धीरे-धीरे उसे उठा कर ले जाता है।

एकादश दृश्य : प्रभात : एक सुन्दर स्वस्थ पाँच-छ: वर्ष का लड़का एक ओर से दौड़ता हुआ जाता है : उसके बाल सुन्दर हैं : बालों में गुलाब का फूल लगा है : वह आकर मुस्कराते हुए खड़ा हो जाता है और दाँतों तले उँगली दबा कर कुछ देर खड़ा रहता है। फिर इधर-उधर देखता है : उसकी नजर खिलौनों पर पड़ती है : एक-एक करके उन्हें उठाता है : देखता है और खुश होता है : शीशे में अपना मुँह देखता है : हँसता है।

[परदा गिरता है।]

अस्पृश्या

पात्र : पात्री

नलिनी या लीला

कुमुद या मिनि

भामा

तुषार

शेखर

सुशील

[एक मध्य गृहस्थ के घर का कमरा। कमरे में बाईं ओर पीछे की दीवार से सटा एक तखत लगा है, जिस पर धोतियों के रंगीन किनारों से बना तख्तपोश बिछा है। दाईं ओर को अन्दर जाने के लिए दरवाजा है जिस पर नीला परदा पड़ा है। तख्त पर गावतकिए के सहारे भामा बैठी है। उसके सामने कुमुद फर्श पर लेटी हुई किसी किताब पर झुक कर पढ़ने का बहाना कर रही है। तख्त के बाईं ओर सुशील एक मोढ़े पर बैठा भामा की बातें सुन रहा है। दाहिनी ओर का मोढ़ा खाली पड़ा है। फर्श पर दरी के ऊपर सामने की ओर एक सूती कालीन बिछा है, जिसके एक छोर पर सुशील के पास सिर झुकाए हुए नलिनी बैठी है, दूसरी ओर तुषार बैठे-बैठे इलस्ट्रेटड वीकली के पन्ने उलट रहा है। दाईं-बाईं ओर की दीवालों में एक-एक दरवाजा है जिन पर फालसाई रंग के परदे पड़े हैं। बाईं दीवार पर का बिजली का बल्ब, जो करीब-करीब 2० कैंडल पावर का है, जल कर कमरे में क्षीण प्रकाश बखेर रहा है, दाईं दीवार पर का बल्ब, जो ज्यादा तेज है, नहीं जलाया गया है। कमरे के वातावरण में असंतोष, उदासी और संदेह की गहरी छाया व्याप्त है।]

भामा : हाँ भइया, हमलोग कितने राधा-कृष्ण के भजन जानते थे, देवी-देवताओं के भजन, होली, झूला, बारहमासा गाते थे—घर में तिथि और त्योहारों के गाने होते थे। **(सीने पर हाथ रख कर साँस खींचता है, जैसे साँस रुक रही हो)** और फिर शादी-ब्याह के गीत, बन्ने सोहर रोज कुछ न कुछ लगा ही रहता था, अब की लड़कियाँ तो वे कुछ जानती ही नहीं—कुछ मानती ही नहीं है।

सुशील : **(जो सीने के ऊपर बाँहें मोड़े बैठा है)** अम्मा जी, अब इस तरह के गीतों की ओर फिर से लोगों का रुझान होने लगा है। अलग-अलग प्रांतों और देहातों के गाए जाने वाले गानों को लोग इकट्ठा कर रहे हैं—

भामा : **(प्रसन्न होकर)** अच्छा !

सुशील : अक्सर गाने अखबारों में निकलते रहते हैं। देहाती गीतों की दो-तीन किताबें भी छप गई है। उनमें औरतों के गाने भी हैं। लोग उन्हें बड़े चाव से पढ़ते हैं।

भामा : अवश्य पढ़ते होंगे भइया, वैसे गाने और कहीं नहीं मिलेंगे—सुन रही

हो लीला, मुझे तो ढेर से मालूम हैं भइया—(धीरे-धीरे गला खकार कर गाती है) 'हो रही जै जै कारी शिवा तेरे द्वारे—(खाँसती है)—द्वारे भवन में।' (फिर खाँसती है)

[नलिनी जो अब तक चुपचाप सिर झुकाए सब बातें सुन रही थी और अँगुली को फिर-फिर आंचल में लपेट रही थी, माँ के गाने से झल्ला कर और उसके देहातीपने से लज्जित होकर जैसे अपना गुस्सा मिनी पर उतारना चाहती है।]

नलिनी : (पतला आवाज में) किताब के ऊपर सिर गड़ा कर क्या पढ़ रही हो कुमुद, इस तरह आँखें खराब हो जाती हैं। अच्छी तरह बैठ कर पढो।

कुमुद : (जो घुटने तक का फ्राक पहने है, अकचका कर बैठती है और क्षुब्ध स्वर में कहती है) हमारा क्या कसूर? (बल्ब की ओर हाथ उठाती है) रोशनी ही कम है। (उठ कर दूसरी ओर की बिजली जलाने के लिए स्विच पर हाथ रखती है)

तुषार : (बड़े भाई की तरह रूखे स्वर में) क्या करती हो मिनी! उसे मत जलाओ। अम्मा को ज्यादह रोशनी अच्छी नही लगती।

भामा : अच्छी तरह बैठ कर पढो बिटिया! (सोने पर हाथ फेरती हुई सुशील से) अब तो मुझसे गाया ही नही जाता, साँस फूलने लगती है। नलिनी से कहते-कहते हार गई कि तू सीख ले बेटी, पर इसको···

नलिनी : मुझे तुम्हारे गाने नही पसंद है। (सुशील की ओर देख कर हँसती है) और फिर माँ गाती भी ऐसा हैं कि—

सुशील : लीलाजी को तो संगीत का बहुत अच्छा अभ्यास है। वह तो किसी भी सभा को मुग्ध कर सकती है। हाँ, नागरिक ढंग के गानों में प्रवीण हैं।

[नलिनी को सुशील के मुँह से अपना लीला नाम बहुत प्रिय लगता है। वह एक बार जल्दी से उसकी ओर देख कर आँखें नीची कर लेती है। जल्दी से सिर उठाने से उसका आंचल खिसक जाता है जिसका उसे ध्यान नहीं रहता। पाँव लम्बे कर कुछ और आगे खिसक कर बैठ जाती है।]

भामा : इसे तो इसके बाबूजी ने खराब कर दिया है। मैं तो देहात की औरत हूँ। मुझे यह शहराती बातें पसन्द नहीं आतीं। (नलिनी से) अच्छी तरह बैठो बेटी और सिर पर आँचल डालो। अब तुम बच्ची नहीं रह गई हो। वैसे सुशील घर का ही लड़का है। ब्याह के बाद तो लड़कियों को अपनी मरयादा का पालन करना होता है। (तुषार एक बार नलिनी की ओर देख कर फिर 'इलेस्ट्रेटेड' वीकली देखने लगता है।)

नलिनी : (सर पर आँचल डाल कर पाँव समेटते हुए) मुझे बात-बात पर ये बंधन अच्छे नही लगते।

भामा : (दु:खित होती हुई) तुम्हारी ही भलाई के लिए कहती हूँ बिटिया,

तुम्हारी ही भलाई के लिए।

नलिनी : इसमें बुराई ही क्या है, तमाम अच्छे-अच्छे घर की लड़कियाँ घर के बाहर भी सर खोल कर घूमती है।

भामा : गें ऐ हैं-हँ—हँ—अच्छा, मैं कुछ नहीं बोलूँगी, कुछ नही बोलूँगी। (**उसकी साँस जोर-जोर से चलने लगती है।**)

तुषार : माँ से नाहक उलझ रही हो नलिनी, जानती तो हो कि जो बात उन्हें नही भाती उससे उन्हे हौलदिली होने लगती है।

भामा : अँ—हँ—हँ—हँ—(**सीने के पास हाथ हिला कर सुशील से**) दिल का दौरा उठता है, भइया, दिल का दौरा !

[**तुषार मेज से 'स्मेलिंग साल्ट' की शीशी उठा कर माँ को देता है।**]

कुमुद : (**किताब पर से सिर उठा कर**) हमारे मास्टर साहब कहते हैं कि कालिदास ने शकुंतला को झूठ-मूठ मे दुर्वासा का शाप दिला कर अच्छा नही किया। इस तरह उन्होंने दुष्यंत को चरित्र-दोष से बचा कर पक्षपात किया—और कथा को एक नाटकीय कौशल का सहारा लेकर आगे बढ़ाया।

भामा : (**शीशी सूँघती हुई**) झूठ नहीं है बेटी, हमारे यहाँ बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और महात्मा हुए हैं जिनके शाप से देवता भी डरते थे। दुर्वासा मुनि हैं, विश्वासुर हैं—

कुमुद : विश्वासुर नहीं माँ, विश्वामित्र।

भामा : (**उसी तरह**) हाँ, विश्वामित्र हुए, सूरदास हुए, तुलसीदास हुए ! ये सब महात्मा थे बेटी, ये कभी झूठ नही कहते थे। तुलसीदास तो बेचारे जन्म से अंधे थे, झूठ क्यों बोलेंगे !

कुमुद : (**खिलखिलाकर हँसते हुए**) तुलसीदास नहीं माँ, सूरदास थे अंधे।

भामा : बहुत मत बोलो बेटी, लड़कियों को बहुत नहीं बोलना चाहिए। (**कलेजे पर हाथ फेरती है। 'स्मेलिंग साल्ट' सूँघती हुई तख्त से उठती है।**) मैं अन्दर जाकर लेट जाती हूँ। नलिनी, बेटी, जाओ, अन्दर जाकर रात के कपड़े निकाल कर रख दो। अभी मिनी के जीजा आते ही होंगे। अँ—हँ—हँ—हँ—

(**धीरे-धीरे बाईं ओर के दरवाजे से प्रस्थान**)

[**भामा के जाते ही कुमुद स्विच पर झपट कर बत्ती जलाती है : कमरा प्रकाश से भर जाता है। सब जैसे भीतर ही भीतर शांति की साँस लेते हैं।**]

नलिनी : (**जैसे अपने आपसे**) माँ को न जाने क्या हो गया है। उन्हें मेरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती। जब देखो बस टोकती रहती हैं। जी करता है कि इस दुनिया को छोड़ कर कहीं चली जाऊँ।

(**सुशील उसकी बात पर हँसता है**)

तुषार : **(अखबार से सिर उठा कर)** तुम माँ के कुछ कहने का ख्याल ही क्यों करती हो, जब तुम जानती हो कि उनकी तबीयत खराब है और किसी भी बात को वे ठीक ढंग से नहीं समझ सकती हैं।

[नलिनी चुप हो जाती है और उँगली को आँचल के कोने से लपेटने लगती है।]

सुशील : **(मोढ़े पर सीधा बैठ कर इस घटना को समस्या का रूप देकर)** असल में हमारे समाज में पुरानी और नई पीढ़ी के बीच, सभी जगह एक तरह का तनाव और असंतोष पाया जाता है। मध्यवृत्ति के गृहस्थों के लिए नई लड़कियों के आचरण का प्रश्न जल्दी ही एक समस्या का रूप धारण करने वाला है।

तुषार : **('इलेस्ट्रेटेड वीकली' से सिर उठा कर प्रश्नसूचक दृष्टि से सुशील की ओर देख कर)** कैसे ?

सुशील : **(रूमाल से मुंह पोंछते हुए)** इसके कई पहलू हैं। अगर हम अपने देश के भीतर से देखें तो हमारा समाज वास्तव में एक देहाती समाज है। हमारे आचार-विचार और अंधरूढ़ियों के मूल में गाँव की अपढ़ जनता अपने सदियों के अंधकार से खुराक पहुँचाती रहती है। इसलिए समाज की रीति-नीतियों के बदलने का अर्थ है, समूचे समाज का जीर्णोद्धार करना। वह तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक निनानवे सैकड़ा देहातियों को उनके नरक-तुल्य जीवन से छुटकारा न दिया जाए।

तुषार : लेकिन आप तो मध्यवृत्ति के लोगों की बात कर रहे थे।

सुशील : जहाँ तक आचार-विचार का प्रश्न है, आप समाज के ऊपर और नीचे के भागों को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते। अगर हमारा नया मध्यवर्ग—मेरा अभिप्राय है व्यवसायियों और अध्यापकों से लेकर बाबुओं तक—ऐसा सोचने की भूल करता है तो वह इसलिए कि विदेशी शासन ने उनकी पीठ पर हाथ रख कर उनमें यह भ्रम फैला दिया है। लेकिन यह संभव नहीं है। इसलिए हमारी मध्यवर्ग की शिक्षित लड़कियाँ जन-समाज में फैले आचार-विचार की भूमि से अलग होकर हवा में उड़ने का प्रयास तो करती हैं लेकिन पंख फड़-फड़ा कर फिर उसी में गिर पड़ती हैं। **(लीला की ओर देख कर)** लेकिन मैं इस पक्ष को महत्व नहीं देता, एक दूसरे ही पक्ष को महत्व देता हूँ। पुरानी-नई पीढ़ी की औरतों के मनमुटाव का प्रश्न वास्तव में एक संयुक्त समाज में स्त्री-पुरुषों के आपसी सम्बन्ध और आचरण का प्रश्न है।

[कुमुद, जो माँ के अन्दर चले आने के बाद से अधिक स्वतंत्रता का अनुभव कर रही है और किताब बन्द कर बातें सुनने में दत्तचित्त है, एकाएक सुशील और तुषार की ओर देख कर कह उठती है]

कुमुद : **(हथेलियाँ नचा कर सिर मटकाती हुई)** मेरे कहने का मतलब है,

अगर तुम बुरा न मानो तो··· **(उसकी उस बेतुकी बात पर सब लोग हँस पड़ते हैं)**

भामा : **(अन्दर से आवाज आती है)** नलिनी बेटी, अन्दर जाकर रसोई में महाराज की मदद करो।

नलिनी : इस समय मैं नहीं जाऊँगी माँ—हाँ सुशील बाबू ! इसी स्त्री-पुरुषों के मिले-जुले समाज की बातें कहिए सुशील बाबू ! **(वह खिसक कर सुशील के पास बैठ जाती है।)**

सुशील : इस मिले-जुले समाज की समस्या हमारे देश ही की नहीं, सारे संसार की समस्या है। कम से कम मैं यही सोचता हूँ। जान पड़ता है, हमें मनुष्य समाज को नये ढंग से गढ़ना पड़ेगा, जहाँ गृहस्थी के बाहर भी स्त्री-पुरुषों को परस्पर का सौहार्द मिल सके। मुझे पुरानी दुनिया के स्त्री-पुरुषों के समाज का यह नकशा पसन्द नहीं, जहाँ जगह-जगह पर रेखाएँ खिची हैं, ऊँची-ऊँची दीवारें हैं। स्त्री-पुरुष की चेतना तग अहातों के भीतर कैद कर दी गई है। पिछले युगों में मनुष्यता का धरातल अत्यन्त ही नीचा रहा होगा कि दुनिया को इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी। इस युग में अब केवल नारी को ही समाज में अपना स्थान नहीं खोज लेना है वरन् स्त्री-पुरुष दोनों को एक नवीन समाज में अपने परस्पर सम्बन्धों में सामंजस्य लाना है। समाज केवल पुरुषों की ही सम्पत्ति नहीं, स्त्री-पुरुष दोनों की सम्पत्ति है। संकीर्ण भावना, द्वन्द्व-भावना से मुक्त होकर उन्हें एक दूसरे को पहचानना है, तभी वे सुखी रह सकेंगे।

तुषार : आप स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी नैतिक बंधनों को तोड़ देना चाहते हैं। पर उनके बिना समाज का काम चल नहीं सकता।

सुशील : मैं कुछ भी तोड़ना नहीं चाहता—मैं समाज के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी दृष्टिकोण को ऊपर उठाना चाहता हूँ। उसमें मनुष्यता के कल्याण और विकास के परिवर्तन लाना चाहता हूँ, जिसमें स्त्री-पुरुष द्वन्द्व-जीवियों की तरह ही नहीं, मुक्त मनुष्यों की तरह भी विचरण कर सकें और पृथ्वी को मानवता की महिमा से मण्डित कर सकें।

(मन ही मन तुषार और नलिनी भी जैसे उसकी बात को समझना चाहते हैं।)

भामा : **(आवाज)** नलिनी बेटी, आओ, अंदर का काम देखो।

सुशील : बल्कि मैं तो कहूँगा कि घर के भीतर नारी का जो स्थान है, गृहस्थ के लिए नारीत्व का जो आदर्श है, उसकी रक्षा भी हम तभी कर सकते हैं, जब हम घर की चहारदीवारी के बाहर समाज में भी स्त्री का स्थान निर्धारित कर सकें। स्त्री-पुरुष-सबंधी सदाचार दुराचार में भी बदल सकता है अगर स्त्री-पुरुष के बीच स्नेह और सौहार्द के आदान-प्रदान के लिए गृहस्थ के बाहर कोई सामाजिक मार्ग का विशद राज-पथ भी नहीं खुला रहा, तो मनुष्य की द्वन्द्व-भावना और पशु की द्वन्द्व-भावना में कोई भेद नहीं रहेगा। मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि

मनुष्य और पशु की द्वन्द्व-भावना काम ही है—उसमें समतत्व का बड़ा भारी अंतर है।

[हाथ में टेनिस का बल्ला लिए शेखर कमरे में प्रवेश करता है।]

कुमुद : जीजा जी, जीजा जी, आइए।

[वह दौड़कर उनके हाथ से टेनिस का रैकेट छीन लेती है। नलिनी सिर का आँचल सँभालती है और मंद-मंद मुस्कराने लगती है। शेखर आकर मोढ़े पर बैठ जाता है।]

सुशील : आप कब आये ?

शेखर : मैं कल आया। आफिस में ३/४ दिन की ईस्टर की छुट्टियाँ थीं—परसों चला जाऊँगा। **(सुशील को ध्यान से देखते हुए)** अच्छा, आप हैं सुशील बाबू ! **(नलिनी की ओर देख कर मुस्कराते हुए)** चलने दो, चलने दो, जब तक चलता है। **(सुशील शेखर की बात का कुछ अभिप्राय न समझ कर उसकी ओर देखता है। सुशील को अपनी ओर जिज्ञासा की दृष्टि से देखते हुए देख कर)** मुझे तो अच्छा लगता है कि किसी आदमी को कई लड़कियों का प्यार मिल सके।

[महरी पान की तश्तरी लाती है। नलिनी उसके हाथ से तश्तरी लेकर सुशील को पान देती है—उसके हाथ काँप रहे हैं। सुशील उसके हाथों को देख अपने आप से कहता है—स्त्री को कमरे में बंद करके क्या पाया समाज ने ! निरर्थक ही वह अपने नारीत्व के प्रति गलत ढंग से सचेत हो गई है। उचित प्रशिक्षण के अभाव में सामान्य ढंग से मिलने के बदले वह ग्रन्थि-ग्रस्त हो गई है। सुशील को पान देने के बाद नलिनी शेखर को पान देती है। शेखर नलिनी की ओर देख कर हँसता है। उसकी हँसी से यह संकेत होता है जैसे वह जानता है कि सुशील और नलिनी एक दूसरे की ओर आकृष्ट हैं और वह बड़ी उदारता दिखाता रहा है। वह नलिनी की ओर देखता है।]

शेखर : अच्छा, तो इस बात पर नलिनी का एक गाना हो जाए ! **(सुशील से)** आप ही तो छुटपन में लीला को गाना सिखाते रहे हैं न ?

सुशील : मैंने कभी-कभी सहायता भर कर दी होगी। लीला जी तो मुझसे कहीं अच्छा गाती है।

शेखर : **(कुछ चिढ़े स्वर में)** तो लीला, गाओ···

कुमुद : हाँ जीजी, गा दो ना !

नलिनी : **(उँगली को आँचल से लपेटती हुई, कुछ सहमे भाव से)** क्या गाऊँ ? मुझे इस समय याद ही नहीं आ रहा है।

शेखर : गाओ, गाओ !

सुशील : गाइए न, कोई भी गीत ! कभी से आपका गाना नहीं सुना है। **(नलिनी धीरे-धीरे सिर झुका कर गाती है)**

गीत (यमन)

आम्र स्वर्ण मंजरित रि,
कुंज मधुप गुंजरित रि,

कोयल ध्वनि कुहू—
कुहू कुहू—कुहू कुहू !

मंद गंध संचरित रि,
हृदय करे उच्छ्वसित रि,

कोयल ध्वनि कुहू—
कुहू कुहू—कुहू कुहू !

आकुल मन, पुलकित तन,
अश्रु सजल लोचन रि,

प्रियतम छवि पर जीवन
प्राण करूँ अर्पित रि,

कोयल ध्वनि कुहू—
कुहू कुहू—कुहू कुहू !

सुशील : वाह, आपके संगीत का बड़ा निर्मल प्रभाव पड़ता है। कभी म्यूज़िक कान्फ्रेंस में गाएँ, तो मैं सच कहता हूँ, आप सुनने वालों को मंत्रमुग्ध कर देंगी।

[नलिनी सुशील की प्रशंसा से अत्यन्त प्रसन्न और साथ ही साथ लज्जित होकर वहाँ से जाने के लिए उठ कर खड़ी होती है। सुशील को जैसे अपनी की हुई प्रशंसा से संतोष न हुआ हो। वह भी खड़ा हो जाता है और नलिनी के बिलकुल निकट आकर दृढ़ और मधुर स्वर में कहता है।]

अपनी इस ईश्वरदत्त प्रतिभा को घर की चहारदीवारी के ही भीतर मत दफना दो बहन, इसकी बहुत बड़ी सामाजिक उपयोगिता भी हो सकती है।

[इसी समय अँ-हँ-हँ-हँ की आवाज करती हुई भामा अंदर आकर उनके पास खड़ी होकर उनकी ओर देखती है। फिर तख्त के सामने खड़ी हो जाती है। वह जोर-जोर से हाँफ रही है। नलिनी और तुषार मिल कर उसे तख्त पर बैठाते हैं।]

कुमुद : अम्मा को दिल का दौरा हो गया है! **(वह तेज ज्योति देने वाले बल्ब का स्विच जल्दी से बंद कर देती है। कमरे का प्रकाश फिर से मंद हो जाता है। सब लोग उठकर भामा के इर्द-गिर्द खड़े हो जाते है। कुमुद उसे पंखा झलने लगती है।)**

[भामा तख्त पर बैठ कर काँपने लगती है और हाँफती हुई, जैसे बहुत दूर से आती हुई आवाज में, चौपाइयाँ गाने लगती है।]

भामा :   कह ऋषि वधु सरस मृदु बानी
           नारि धर्म कुछ व्याज बखानी।

(**भामा रुककर हाँफने लगती है।**)

तुषार : अम्मा को जब हौलदिली होने लगती है तो वह रामायण की चौपाइयाँ गाने लगती है।

सुशील : (**गंभीर होकर विचारों में डूबा हुआ**) हूँ।

भामा : वृद्ध रोगवश जड धनहीना
अध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसेहु पतिकर किय अपमाना
नारि पाव यमपुर दुख नाना!
एकै धर्म एक व्रत नेमा
काय वचन मन पति पद प्रेमा।

[**गाते-गाते भामा आधी बेहोशी की हालत में तख्त पर लेट जाती हैं।**]

तुषार : 'स्मेलिंग सॉल्ट' कहाँ गया? नन्दिनी, जरा 'स्पिरिट एमोनिया' लाओ।

सुशील : अच्छा, मुझे आज्ञा दीजिए। (**सबको नमस्कार कर जाता है।**)

[**प्रस्थान**]

स्रष्टा

पात्र : पात्री

शिल्पी
पुरोहित
पुजारी लोग
भक्तगण
भद्रजन
कमला
भद्रजन की पुत्री
पुरोहित की पत्नी
पुरोहित का बेटा

[प्रथम दृश्य]

[श्यामली के सघन वन का एक भाग · पेड़ की घनी छाँह में एक रुग्ण स्त्री लेटी हुई है। पास ही उसका दो-तीन साल का बच्चा खेल रहा है। एक शिल्पकार प्रस्तर की शिला में मुरलीमनोहर की मूर्ति बना रहा है और बीच-बीच में गा रहा है—'मनमोहन मुरलीधर गिरिधर, बनवारी'। बसंत ऋतु है, रह-रह कर कोयल की कूक सुनाई देती है।]

स्त्री : (आर्त स्वर में) आ···हा ! (करवट बदलती है)

[शिल्पकार दत्तचित्त हो मूर्ति की ओर देख रहा है, और फिर छैनी पर हथौड़ा चला रहा है। लड़का कभी माँ की ओर और कभी पिता की ओर देख रहा है]

शिल्पी : (ध्यान से मूर्ति की ओर देखते हुए गर्व और आनन्द से) अब यह पाषाण शिला सजीव हो उठी। (उँगली उठा कर) वह बोल रही है—वह हँस रही है ! (मुग्ध और अवाक् होकर देखता है। चारों ओर देख कर मूर्ति को संबोधित करते हुए) मुरलीमनोहर, सारी सुन्दरता तुम्हारी इस प्रतिमा मे सहस्रगुना मनोरम हो उठा है। उसे जैसे आत्मा मिल गई है ! तुम्हारी मुरली का अश्रुत संगीत चुपचाप प्राणों को छू रहा है। उस पर सौ-सौ कोकिला निछावर हैं ! (ताली बजा कर गाने लगता है) श्यामसुन्दर मदनमोहन मुरलीधर आली !

स्त्री : (कराहते हुए) आ···ह ! पानी · पा···(लड़का अपने पिता के वस्त्र का छोर खींचता है) प्या···स ! पा···नी !

शिल्पी : ओह, प्यास मालूम देती है ? अभी पानी लाता हूँ। (अपने थैले में से बरतन खोज कर निकालता है) कैसा जी है ?

स्त्री : बड़ी बे··· चै··· नी है ! पा···नी···

शिल्पी : अभी लो (बरतन लेकर जल्दी से एक ओर जाता है। बच्चा माँ से लिपट कर रोने लगता है)।

स्त्री : (उसे लेटे-लेटे चुमकारती हुई) रोओ मत मुन्ना, मेरे लाल !

(शिल्पकार पानी लाकर घूंट-घूंट पिलाता है)

शिल्पी : सीने का दर्द कैसा है ?

स्त्री : इशारे से बतलाती है कि बढ़ रहा है और एकटक निराशापूर्ण दृष्टि

से उसकी ओर देखती है ।

शिल्पी : **(घबड़ा कर)** अपने को सँभालो कमला, जी कड़ा करो । तुम अच्छी हो जाओगी, अवश्य अच्छी हो जाओगी । **(उसके नाड़ी पर हाथ रखता है)** ओफ, तेज बुखार !

कमला : **(इशारे से बतलाती है)** अब मैं नहीं बचूँगी ।

शिल्पी : **(अपने-आप)** सारे बदन से जैसे आग निकल रही है । **(उसके माथे पर गीला कपड़ा रखता है ।)**

[बच्चा रोने लगता है । 'अम्मा-अम्मा', 'भूख-भूख' चिल्लाता है । स्त्री बच्चे के ऊपर हाथ फेरती है ।]

शिल्पी : भूख लगी है ! **(थैली टटोलता है)** ओह, अब आधी ही रोटी रह गई है ! हाय ! ईश्वर ! अब आगे क्या होगा ! **(बच्चे के हाथ में रोटी का टुकड़ा देता है)** आज दो दिन से इसी जंगल में पड़ा हूँ । घर-द्वार छोड़ कर निकला था कि किसी बड़े शहर में जाकर अपने भाग्य की परीक्षा करूँ । लेकिन मुसीबत कभी अकेले नहीं आती ! यहाँ पहुँचते-पहुँचते तुम बीमार पड गई ।

[स्त्री अर्ध-चेतनावस्था में है । उसे हिचकियाँ आने लगती हैं]

शिल्पी : कमला **(रुक कर)** कमला ! **(मुंह पर पानी देता है)** आह, तुम्हारी बेहोशी बढ़ती जा रही है ! लगता है अब तुम भी मुझे छोड़ दोगी !

[मुंह पर पानी के छींटे देता है । स्त्री कुछ होश में आती है । अपना हाथ शिल्पी के हाथ पर रखती है । बच्चे को पास बुलाने का इशारा करती है । शिल्पी बच्चे को उसके पास बैठाता है । वह एक हाथ से बच्चे को छाती से लगाती है ।]

स्त्री : स्वा···मी ! **(आँसू बहाती है)** आपको सदैव के लिए अकेला छोड़े जा रही हूँ ! ना···थ ! **(हिचकियाँ आने लगती हैं ।)**

शिल्पी : **(उसके मुंह पर पानी के छींटे मारता हुआ अवरुद्ध कंठ से)** कमला, आह, तुम्हें एक कलाकार की पत्नी होने का मूल्य चुकाना पड़ रहा है । मैं दैव के इस निर्मम आघात को कभी नहीं भूल सकूँगा । **(हाथों से मुंह छिपाता हुआ)** मै तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सका ।

[स्त्री आँखें खोल कर एकटक शिल्पी की ओर देखती है और बच्चे का हाथ उसके हाथ में देकर आँखें मूंद लेती है ।]

शिल्पी : **(रुआंसे स्वर में)** सब कुछ समाप्त हो गया ! **(उद्भ्रांत और निराश दृष्टि से चारों ओर देखता है । बच्चा अपनी माँ को हिलाता है और रोने लगता है । शिल्पी किंकर्तव्यविमूढ़-सा बच्चे की ओर देखता है । फिर उसकी दृष्टि एकाएक मुरलीमनोहर की मूर्ति पर पड़ती है । वह जैसे बहुत दूर से आवाज आ रही हो, ऐसे स्वर में कहता है ।)** आह, मुरलीमनोहर ! एक बार तुम्हारे चरणों के स्पर्श से शापभ्रष्ट शिला में प्राण-संचार होकर वह अहल्या के रूप में सजीव हो उठी थी, और आज, नाथ, एक सजीव नारी-मूर्ति तुम्हारे ही सामने

प्राणहीन होकर शिला की तरह निर्जीव हो गई है। (**एकटक मूर्ति की ओर देखता है**) आह, तुम वैसे ही मुस्करा रहे हो ! तुम्हारे अंगों से वैसा ही सौंदर्य बरस रहा है ! तुम्हारी भौंहों में बल भी नहीं पड़ा ! तुम वैसे ही मुरली की तान छेड़ रहे हो ! हृदयहीन ! निर्मम ! अच्छा, तुम सदैव वैसे ही सुन्दर, वैसे ही आनन्दमय बने रहो। तुम्हारी यही तो इच्छा है कि मैं अपनी एकमात्र सुख-दुःख की सभागिनी को तुम्हारे चरणों पर समर्पित कर दूं। (**पेड़ों की डालियों से फूल तोड़ कर मूर्ति पर चढ़ाता है और कुछ फूल उसके चरणों से उठा कर अपनी पत्नी के शव पर डालता है**) कमला, मेरे जीवन की सहचरी ! मैं इस नदी में तुम्हें और तुम्हारे साथ अपनी समस्त आकांक्षाओं को सदैव के लिए विसर्जित कर दूंगा। प्रिये, मेरे अपराध क्षमा कर देना। (**बच्चे को गोद में लेकर चिपकाता है**) तुम्हारी इस धरोहर की प्राण रहते मैं रक्षा करूँगा —इसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दूंगा। (**पत्नी के शव को उठा कर धीरे-धीरे नदी के पास जाता है और विसर्जित कर देता है। शव को पानी में डूबता देखता है**) मेरे आँसुओं की अदृश्य धारा में तुम्हारी जीवन-स्मृति आजन्म इसी प्रकार तैरती रहेगी।

[**बच्चा अम्मा-अम्मा चिल्लाता हुआ रोता है। शिल्पी चुपचाप अपने हथियारों की थैली पीठ पर रख कर बच्चे का हाथ पकड़ता है। पीछे मुड़ कर मूर्ति की ओर देखता है और दूसरी ओर को प्रस्थान कर देता है।**]

[द्वितीय दृश्य]

[श्यामली के वन का वही भाग : संध्या का समय : एक ओर एक विशाल मनोरम देवालय बना हुआ है—जिसके द्वार पर संगमरमर की शिला पर 'मुरलीमनोहर मंदिर' खुदा हुआ है। देवालय के एक ओर एक भव्य भवन का भाग दिखाई दे रहा है। मंदिर में कीर्तन और स्तव-पाठ हो रहा है। भक्तगण और दर्शनार्थियों का आना-जाना लगा है। शंख-घंट-घड़ियाल बज रहे हैं। आरती का समारोह, दीपों का प्रकाश, सभी कुछ हृदय मुग्ध कर रहे हैं : 'ओम् जय जगदीश हरे' का गीतोच्चार गूंज रहा है। आरती समाप्त हो जाने पर मंदिर की पार्श्ववर्ती कोठी के बरामदे में पुरोहित जी अपनी धर्मपत्नी के साथ दिखलाई देते हैं।]

पुरोहित : (स्वर्ण-प्रतिमा दिखा कर) गाय की इस स्वर्ण प्रतिमा को, मैं मुरलीमनोहर के मंदिर में स्थापित करवाना चाहता हूँ।

पत्नी : सोने की गाय की क्या आवश्यकता थी? संगमरमर या किसी और पत्थर की बनवाई होती। इतने सोने के मैं अपने लिए गहने बनवा लेती।

पुरोहित : (स्मित हास्यपूर्वक) स्त्रियों का आभूषणों का लोभ कभी कम नहीं होता। मुरलीमनोहर की कृपा से तुम सिर से पाँव तक गहनों से लदी हुई हो। फिर भी तुम्हारी तृष्णा पूरी नहीं हुई। इस गाय के कारण ही आज हम संपन्न हुए हैं और देश भर में हमारी प्रतिष्ठा हो रही है। न मैं गाय को खोजने श्यामली के भयानक वन में आता, न मुझे भगवान मुरलीमनोहर की मूर्ति के दर्शन होते।

पत्नी : वह तो आपके पुण्यों का फल उदय हुआ। भगवान आपको दर्शन देना चाहते थे, गाय हरण करने का तो उनका बहाना भर था।

पुरोहित : (हँस कर) बहाना ही सही। लेकिन भगवान गोपाल जो हैं। भगवान के मंदिर में इस कामधेनु की प्रतिष्ठा हो जाने पर तुम्हें सोना ही सोना दुहने को मिलेगा।

पत्नी : तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर! मैं मना नहीं कर रही थी। केवल यह देख रही थी कि भगवान पर तुम्हारी कितनी श्रद्धा है।

[पुरोहित जी के लड़के का प्रवेश]

लड़का : पिताजी, यह सोने की गाय मैं लूंगा।

पत्नी : नहीं बेटा, वह भगवान जी की है। मैं तेरे लिए दूसरी गाय बनवा दूंगी।

लड़का : भगवान जी की गाय है ?

[एक माँगने वाली स्त्री का प्रवेश]

औरत : महाराज, कल से पेट में दाना नहीं पड़ा है।

पुरोहित : (**झुँझला कर**) दूर हट, भगवान की प्रसादी रोज दी जाती है। फिर भी तुम लोगो का पेट नहीं भरता।

[प्रस्थान]

औरत : (**लड़के को देख कर**) आओ राजा, मुरलीमनोहर, आओ बेटा ! (**लड़का डर कर मां से लिपट जाता है**) मेरा भी एक ऐसा ही लाल था, उसका नाम मुरलीमनोहर था। (**आँखें पोंछती है**)

पत्नी : (**घर में**) जा, भाग जा चुड़ैल ! लड़के को डीठ लगाती है !

[लड़के का हाथ पकड़ प्रस्थान]

[**कुछ भक्तगण मंदिर की परिक्रमा करने के पश्चात् आंगन में खड़े होकर वार्तालाप कर रहे हैं।**]

एक : अपने भक्तों की मनोकामना पूरी करने के लिए साक्षात् विष्णु भगवान ही स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। भगवान की ऐसी सजीव और सुन्दर मूर्ति अभी तक कहीं नहीं मिली।

दूसरा : जो सच्चे हृदय से भगवान मुरलीमनोहर की मनौती मनाता है, उसे मुँहमांगा वरदान देते हैं। जय भगवान, जय मुरलीमनोहर !

तीसरा : भगवान ने पुरोहित जी को स्वप्न में दर्शन दिए कि वह इस जंगल में प्रकट हुए हैं। नहीं तो कौन इस जंगल में जान देने आता !

दूसरा : लाखों दरिद्र, मुरलीमनोहर की कृपा से कुबेर हो गए हैं। लाखों बंध्याओं की गोदें भर गई हैं, लाखों रोगी यमपुरी से लौट आए हैं।

एक : अरे भई, मैं तो कहूँगा, पुरोहित जी के भाग्य से ही भगवान मुरलीमनोहर यहाँ प्रकट हुए हैं—एक दरिद्र ब्राह्मण को आज रंक से राजा बना दिया है। पांच साल के अन्दर ही महल-सी कोठी खड़ी कर ली है। सच, भगवान जब देते हैं, छप्पर फाड़ कर देते हैं।

चौथा : भगवान ने जंगल में मंगल कर दिया है। अभी पांच वर्ष पूर्व चीते और भेड़ियों के डर से इस जंगल की ओर कोई झाँकता तक न था। आज मुरलीमनोहर ने अवतार लेकर इसे स्वर्गपुरी बना दिया।

पाँचवाँ : अरे चौबे जी, आप चीते-भेड़ियों की बातें कर रहे हैं, यहाँ दिन-दहाड़े भूत-प्रेत आदमियों की जान लेते थे, मैंने स्वयं अपनी आँखों से उस पेड़ के नीचे एक प्रेतनी को नाचते देखा है—बड़ी कठिनाई से हनुमान चालीसा का पाठ करके अपना पिंड छुड़ाया !

कुछ भक्त : भगवान मुरलीमनोहर अपने भक्तों की रक्षा करें !

[**सामने की ओर से एक निर्धन मनुष्य का एक ८/९ वर्ष के लड़के के साथ प्रवेश ।**]

एक पुजारी : आगे मत बढ़ो, आगे मत बढ़ो। मंदिर में राजा साहब गए हैं।

एक आदमी : वहीं से भगवान के दर्शन कर ले भइया, आगे आने की क्या आवश्यकता ?

[**एक भद्रजन सपत्नीक दर्शन के लिए कई थालों में मिष्ठान्न, मेवा, फल, वस्त्र आदि लिए आते हैं ।**]

पुजारी लोग : आइए, आइए महाराज ! अन्दर पधारिए !

[**अन्दर जाते हैं**]

निर्धन मनुष्य : (**हाथ जोड़ कर**) महाराज, मैं भगवान मुरलीमनोहर के दर्शन के लिए बहुत दूर से आ रहा हूँ। मेरा यह बिना माँ का लड़का बराबर बीमार ही रहता है। जब यह किसी तरह अच्छा ही नहीं हुआ, तो लोगों ने मुझसे मुरलीमनोहर की मनौती मानने को कहा। मैंने जिस दिन भगवान का दर्शन करने का संकल्प किया, उसी दिन से यह दिन पर दिन अच्छा होता गया। महाराज, एक बार इस अनाथ बच्चे को भगवान के दर्शन करवा दीजिए, वही एकमात्र इसके रक्षक है।

एक पुजारी : अच्छा, जा, द्वार के पास जाकर दर्शन करा ला ! देख, भीतर मत जाना !

दूसरा : कुछ भगवान के लिए भेंट भी लाया है ? बस, पुण्य ही पुण्य लूटना चाहता है।

निर्धन : महाराज, मैं निर्धन हूँ, जो कुछ बन पड़ेगा, अवश्य भगवान पर निछावर करूँगा ! (**लड़के के साथ आगे बढ़ कर देहली के पास मस्तक नवाता है। फिर उठ कर ध्यानपूर्वक मूर्ति की ओर देखता है। आश्चर्य से**) यह मुरलीमनोहर की मूर्ति तो मेरी ही बनाई हुई है। हाँ, वही तो है !

पुजारी : (**गुस्से से**) क्या कहा ? चल, हट यहाँ से ! भगवान का अपमान करता है ! (**चीखकर**) यह पागल है। इसे यहाँ से भगाओ।

निर्धन : पाँच साल पहले मैं इसी जंगल के रास्ते अपनी आजीविका की खोज में निकला था। तब मैंने यह मूर्ति गढ़ी थी ! वह देखिए, उसकी बाईं बाँह पर छेनी के जोर से पड़ जाने के कारण जो निशान पड़ गया था वह अभी ज्यों का त्यों बना है ! (**रुँआसा**) इस पत्थर की शिला में मानवी रूप-रंग और प्राणों का संचार करने के लिए मुझे अपनी पत्नी के प्राणों की बलि देनी पड़ी !

कुछ लोग : हरे राम ! हरे राम ! भगवान के लिए ऐसे शब्द ! भगवान के शाप से नष्ट हो जाएगा।

एक पुजारी : चुप रह बदमाश ! छोटे मुँह बड़ी बात ! हमारे पुरोहित जी को एक बार डाकुओं ने घेर लिया था। भगवान स्वयं उनकी रक्षा करने

के लिए दौड़े आए। डाकुओ ने पुरोहित जी पर वार किया था। भक्त-वत्सल मुरलीमनोहर ने उसे अपनी बाँह पर ले लिया। उनकी बाँह पर उसी का घाव है।

[पुरोहित जी का कुछ भक्तों के साथ प्रवेश]

पुरोहित : कौन है यह ? क्या बकता है ?

निर्धन : (**पुरोहित जी को ध्यान से देख कर**) कौन ? मिसिर जी ? आप मुझे भूल गए क्या ? मैं वही नन्दी शिल्पी हूँ जिसकी जमीन आपने छीन ली थी और जिसे विवश होकर बीबी-बच्चे के साथ गाँव से चला जाना पड़ा था। यह मुरलीमनोहर की मूर्ति मैंने ही बनाई थी, जिसके कारण आज आप राज्य कर रहे है और मैं दर-दर मारा फिर रहा हूँ।

पुरोहित : नंदी शिल्पी ! (**व्यंग्यपूर्ण मुस्कान**) अच्छा याद है। तुम घर-घर जाकर सिल-बट्टा खोटा करते थे। तुम तभी बहक की बातें करते थे, अब तो लगता है तुम्हारा दिमाग बिल्कुल ही फिर गया है ! (**उँगली से संकेत करते हुए दृढ स्वर में**) निकालो इसे, इसे दरवाजे से बाहर निकालो। सीधे न माने, तो धक्का दो, मारो ! यह पापी है। इससे मंदिर अपवित्र हो जाएगा।

शिल्पी : (**भगवान के भेंट करने के लिए जो मिठाई का दोना लाया था, उसे सीढियों में फेंककर**) मैंने भक्तिपूर्वक जो मूर्ति बनाई थी, वह प्रसन्न हुई इन लुटेरों पर ! जिसे मैंने अपने हाथों संवारा, उसे मेरी छूत लगती है !

पुरोहित : क्या देखते हो, इसे बाहर निकालो ! (**कुछ लोग उसे धक्का देकर बाहर निकलते हैं।**) 'बहक गया है', 'सिर फिर गया है', 'पागल है', 'भगवान का अनादर करता है', 'मुरलीमनोहर स्वयभू है—अपने आप प्रकट हुए हैं' इत्यादि आवाजें सुनाई देती है। (**दरवाजे के बाहर एक भिखारिन खड़ी है। उस पर दृष्टि पड़ते ही शिल्पी के मुँह से एक चीख निकलती है और वह आँखें फाड़कर उसे देखता रहता है।**)

शिल्पी : कमला ? (**भयभीत होता है**) आह, मैं तुम्हारा अंतिम संस्कार नहीं कर सका था, इसलिए तुम अभी प्रेत बनकर घूम रही हो (**वह माथा पकड़ कर अर्धचेतन-सा बैठ जाता है।**)

कमला : आप··· (**उसकी आँखों से अविराम आँसू बहने लगते हैं। लड़के को छाती से लगा कर**) मुरली ! मेरे कलेजे के टुकड़े !

शिल्पी : आह, क्या मैं सचमुच पागल हो गया हूँ ?

कमला : अपने चित्त को सँभालिए ! मैं कमला ही हूँ। मैं मरी नही थी, बेहोश हो गई थी—जब मुझे होश आया तो आप नही थे, और मै अकेले नदी के किनारे लगी हुई थी ! शायद, आप मुझे मरी समझ कर नदी में डाल गए थे !

[शिल्पी अवाक् होकर उसकी ओर देखता रहता है। कमला उसे सहारा देकर उठाती है। वह उठ खड़ा होता है और विस्मित,

कर्तव्यविमूढ़ तथा गम्भीर दृष्टि से कमला को देखता है।]

शिल्पी : ओह, कमला मुझसे बड़ी भारी भूल हुई। देवता की जो मूर्ति हृदय में गढ़ी जानी चाहिए, उसे मुझे पाषाण पर नहीं गढ़ना था। मैंने आत्मा का अपमान कर छाया को पकड़ा था। आज उस पाषाण के देवता के भक्तगण भी पाषाण बन गए हैं। आज सब सृष्टि के उपासक हैं, स्रष्टा का उपासक कोई नहीं।

कमला : अब उसे भूल जाइए, आपने मेरे हृदय में जो मुरलीमनोहर की मूर्ति गढ़ी है, अब उसे सँवारिए!

[लड़के को गोद में उठाती है। लड़का गोद से उतर कर पिता के पास जाना चाहता है।]

शिल्पी : (लड़के को चुमारते हुए) बेटा, यह तुम्हारी माँ है जिसने सचमुच में मुरलीमनोहर को पहचाना है।

[पति-पत्नी करुण और प्रसन्न दृष्टि से एक दूसरे को ओर देखते हैं। परदा गिरता है।]

करमपुर की रानी

(स्थानीय अभिरुचि का लघु हास्य)

पात्र

स्वरूप सिंह	ललितपुर के ताल्लुकेदार
विश्व सिंह	उनके छोटे भाई
राय साहब	नौगाँव के जमींदार
महेश बख्श सिंह	करमपुर के बाबू साहब
चटक	मसखरा
हीरा, बच्चू, बेनो, पहाड़ी	नौकर
	नायब, सिपाही वगैरह

पात्री

प्रीति	ललितपुर की रानी
प्रतिमा	दासी
लक्ष्मी	नौगाँव के राय साहब की पत्नी
उषा	लड़की
मैना	नैपालिन स्त्री
दासी, फिन्का	नौकरानियाँ
लक्ष्मना	ताड़ीवाली

प्रथमांक

[प्रथम दृश्य]

स्थान . ललितपुर

समय—दोपहर

[ललितपुर के नामी ताल्लुकेदार स्वरूप सिंह का अन्तःपुर। ग्रामोफोन में एक रिकार्ड बज रहा है। स्वरूप सिंह की स्त्री प्रीति रेशम की जरीदार पियाजी रंग की साड़ी पहने शृंगार-मेज के बड़े से शीशे में अपने को उलट-पलट कर सिर से पाँव तक देखती है, और हाथ से बालों को ठीक करती हुई दासी को पुकारती है। साथ ही रिकार्ड भी अपने आप बन्द हो जाता है।]

प्रीति : प्रतिमा, अरी प्रतिमा···मर जाय, न जाने कहाँ चली गई···(फिर शीशे में अपने को देखती है और नाक में पाउडर लगाती है।)

प्रतिमा : (दूर ही से) आई मालकिन, आई सरकार···(प्रवेश-- हाँफने का बहाना करती है) आ गई हुजूर !

प्रीति : (शीशे की ओर से मुँह फिराकर) कहाँ चली गई थी री ? क्या पत्थर की मूरत है ? सुनती नहीं ? बहरी···

प्रतिमा : (सिर झुका कर और बाएँ हाथ की छोटी उँगली ठोड़ी पर गड़ा कर) मैं—प्रतिमा, पत्थर की मूरत हूँ। सचमुच पत्थर की हूँ। और आप मालकिन (एक हाथ को दूसरे हाथ के ऊपर उठा कर मूरत बनाती है।) आप सोने की मूरत है। (प्रीति दिखावटी गुस्से से उसकी ओर भौंहें तरेर कर देखती है) गोरी, लम्बी, सुन्दर···

प्रीति : (उसी प्रकार गुस्सा करती हुई) गोरी ? और सोने की मूरत ?

प्रतिमा : (मुंह मटका कर) बिल्कुल सही, गोरी और (एक हाथ पर गाल रख कर नाक के जोर से साँस लेती हुई सोने का इशारा करती है) सोने की मूरत ! (आँखें नचा कर) या आप तो अक्सर सोई रहती है, या लेटी।

प्रीति : तुझे मैंने बहुत सिर चढ़ा लिया है। (चाभियों का गुच्छा उसे सौंपती हुई) ले, ये कपड़े ठीक तरह से तहा कर अलमारी में रख देना। मैं कल दोपहर तक वापस चली आऊँगी। वे तो कल शाम से पहले आएँगे

नहीं।

प्रतिमा : कौन सरकार ?

प्रीति : हाँ, अभी अखबार देखने से मालूम हुआ। मैं तब तक इलाहाबाद हो आऊँ। बहुत ही सुन्दर फिल्म लगी है। आज आखिरी दिन है। ऐसा सिनेमा इधर कभी से नहीं आया। (जैसे अपने आप कह रही हो।)

प्रतिमा : सन्नम ? वहाँ कौन दूसरा सनम आया है ? (आश्चर्य से आँखें फाड़ कर मालकिन को देखती है।)

प्रीति : चुप रह।

प्रतिमा : मै बहरी जो हूँ। (कान में हाथ लगा कर)

नौकर : (प्रवेश कर) मोटर पर सामान रख दिया मालकिन और बबुआइन साहिबा भी आकर बैठ गई हैं।

प्रीति : तुम भी तैयार हो ? अच्छा, चलो। (प्रतिमा से) हाँ, सुन. आज तीसरे पहर तक शायद देवर बाबू भी कलकत्ते से आ जाएँ। देखो, उन्हें कोई तकलीफ न हो। और घर की देखभाल करना, इसलिए तुझे यहाँ छोड़े जा रही हूँ। हमारे साथ बबुआइन साहिबा की महरी जाएगी।

[प्रस्थान]

प्रतिमा : (बाहर से लौट कर कपड़ों को सँभालती है। मोटर का हार्न और जाने की आवाज सुनाई पड़ती है। शीशे के सामने खड़ी होकर पाउडर लगाती है। फिर एक गुलाबी साड़ी को तहाते हुए अपने आप कहती जाती है) हमारी मालकिन को सिनेमा का बड़ा आ···आ शौक है। मुझे भी एक सिनेमा देखे की याद है, सिनेमा ! हाँ वहाँ--- (पाउडर लगाती जाती है। दरवाजे की ओर देखती जाती है) एक थे जमींदार (शीशे में अपनी परछाईं से कहती है) सुनती है ? एक थे जमींदार ? थे न ? (सिर हिलाती है) हाँ, उन्होंने अपनी बीवी को छोड़ दिया---और दूसरी औरत को रख लिया। उनकी बीवी (अपने को नख-शिख देखती है) उनकी बीवी बड़ी सुन्दर थी बड़ी ही सुन्दर। (फिर अपने को देखती है। अपनी परछाईं से) जानती है, उनकी बीवी कौन है ?---अब वह क्या करती है ? तू नहीं जानती (उँगली को हिला कर बताती है) उनकी बीवी (रुक जाती है।) सिर पर गुलाबी रेशमी साड़ी का छोर रखती है, फिर अपने को शीशे में देखती हुई उसी तरह उस साड़ी को कपड़ों के ऊपर से पहन लेती है। (साड़ी का एक छोर पकड़ कर सूँघती है) कैसी खुशबू है ! सिनेमा की याद भी एक खुशबू है---खुशबू ··· अभी बिल्कुल उड़ जायगी ! ···(फिर अपने को इस नये लिबास में देखती है। सामने के दरवाजे से हीरा, अन्तःपुर का नौकर झाँकता है। हीरा प्रतिमा का प्रेमी है। प्रतिमा की उस ओर पीठ होने पर भी वह उसकी परछाईं शीशे में देख लेती है। हीरा प्रतिमा को इस लिबास में देख कर प्रसन्नता से मुँह फैला कर रह जाता है।)

प्रतिमा : **(अपनी परछाई से)** कौन है रे यह **(स्वयं उत्तर देती है)** जी, मैं हूँ प्रतिमा दासी **(फिर शीशे की ओर उँगली से इशारा करती है)** ऊँ हूँ। **(ओंठों पर उँगली रख कर)** चुप। दासी नहीं— मैं मालकिन हूँ। **(शीशे से पूछती है)** मैं मालकिन हूँ या दासी ? बता, बता ? तू नहीं जानती ? कोई नहीं जान सकता।

हीरा : **(गला खखार कर)** मैं जानता हूँ पिरती, तुम मेरी मालकिन हो ! मेरा दिल जानता है पिरती, तुम्ही मेरी मालकिन हो।

प्रतिमा : **(एकदम उसकी ओर मुड़ कर)** चुप रह। तमीज से बोल, देखता नही मैं मालकिन हूँ। मुझसे मालकिन कहो।

हीरा : वही तो कहता हूँ पिरती, तुम मेरी मालकिन हो। ओह, इस गुलाबी साड़ी में तुम्हारा सौन्दर्य और रंग कैसा निखर आया है। जैसे किसी ने सेवती में गुलाब की कलम चढ़ा दी हो। देखते ही आँखो में एक गुलाबी नशा छा गया। तुम गाँव की-सी लड़की लगती ही नहीं, जैसे कोई शहरातिन हो, बड़े घर की बेटी-बहू। गोरी, गोल, गुलगुली— जैसे गुलदाउदी का फूल।

प्रतिमा : **(ओंठों पर उँगली रख कर)** फिर-फिर ! **(अपनी ओर से हीरा का ध्यान हटाती हुई)** यह देखो, मेरी साड़ी देखो। इस साड़ी से डरो— अदब-कायदे से बातें करो। मैं इस समय मालकिन हूँ। मैं हमेशा ही मालकिन थी।

हीरा : **(आश्चर्य में)** हाँ ? वही तो ! जैसे तुम कभी मालकिन रही पिरती। मैं भी कभी माली रहा। **(पिरती उँगली से दोनों कान बन्द कर लेती है)** सब फूलों की बातें जानता हूँ। बहुतों का रस लिया है। पर अब तो बस एक फूल पर जी लगा है।

प्रतिमा : कौन कहता है, कभी मैं मालकिन थी ? मैं तो आज, इस वक्त अभी मालकिन हूँ। जबान सँभाल कर बोलो।

हीरा : **(हाथ जोड़ कर सामने खड़ा हो जाता है)** कसूर मुआफ हो मालकिन।

प्रतिमा : **(प्रसग बदलने के लिए)** कहाँ थे तुम माली ?

हीरा : **(उसी तरह)** करमपुर के यहाँ था हुजूर, राजा साहब का बहुत बड़ा बाग था··· पैसे करम बिगड़े कि···

प्रतिमा : करमपुर ? **(विचार में पड़ कर)** तो वहाँ से क्यों चले आये ?

हीरा : **(उसी तरह हाथ जोड़ कर)** एक मेहरिया के मेहर ने मेरी नौकरी छुड़वा दी मालकिन ! उस मेहरिया का आदमी जनखा रहा, इसलिए मेहरिया की मेहरबानी का मेह मेरे ऊपर बरसना शुरू हो गया।

प्रतिमा : **(उसी तरह शासन के कड़े स्वर में)** मतलब ?

हीरा : मतलब साफ मालकिन। मेहरिया का आदमी हेड माली रहा। उसने राजा साहब तक मामला पहुँचा दिया। **(हाथ रगड़ कर)** बस, मैं नौकरी से अलग कर दिया गया।

प्रतिमा : क्या वह सुन्दरी रही ?

हीरा : सूरत-शक्ल तो उसके थी नहीं मालकिन, लेकिन **मजबूत महारया** रही। उभरी हुई छाती तान कर जब बाग में खड़ी होती, तो ऐसा लगता, जैसे पपीते का पेड़ फला हो। उसके साँवले रंग से ऐसा जोबन निखरता, जैसे अलसी का खेत फूला हो। उसकी आँखें अच्छी थीं—चिकनी, काली जैसे दुर्गा की होती है। वह क्या सुन्दर थी मालकिन, मुझे ही उस समय जवानी के सावन ने जैसे अंधा बना रखा था। आँखो में कुछ ऐसी हरियाली छाई रहती कि कुबिजा भी सुन्दरी लगती। घी से माँग बैठा कर घंटो खेतो की मेडो पर बैठा बाँसुरी बजाया करता था।

[**बाहर दरवाजे के पास स्टेट के नायब और एक सिपाही आकर खड़े होते हैं**]

वह मुझसे भौरा कहती मैं उससे कहता—भौरा फिरत अकेला (**कान में उँगली डाल कर गाता है—भौरा फिरत अकेला, कलिन संग चाहत खेला। भँवरा···**)

[**प्रतिमा अपने दोनों कानों में उँगली देती है। हीरा उसी धुन में आवाज कुछ धीमी कर गाता है।**]

नायब : (**चुपके से अंदर झाँक कर**) है! मैं क्या सुन रहा हूँ। मालिक बाहर गये हुए है, मैं दो कोस से दौड़ता हुआ, सीधा मालकिन के पास एक जरूरी सलाह लेने आया हूँ। लेकिन यहाँ क्या हो रहा है, कुछ समझ मे नही आता। देखूँ—अच्छी तरह समझ लूँ। (**एक ओर हट कर खड़ा हो जाता है।**)

प्रतिमा : ऊँह, बंद करो यह बर्राना।

हीरा : आह पिरती, भौरा बर्राता नही, वह भर्राता है।

नायब : ऐ पिरती!

हीरा : (**उसी तरह**) पिरती, कभी मै अच्छा गा लेता था (**गला खखार कर गाता है**) भँवरा···

प्रीति : तो लो, मैं फिर कान बंद किए लेती हूँ!

नायब : हमारी गरीबपरवर रानी प्रीतिकुमारी को यह बदमाश पिरती कहता है! इतनी हिम्मत! इसे अभी मजा देता हूँ। लेकिन मुझे भ्रम तो नहीं हो गया है? जरा और देख-सुन लूँ। (**हट कर खड़ा होता है**)

प्रीति : (**गुस्से से**) तुम यह बर्राना बन्द करोगे कि नहीं? तुम इस घर के पुराने आदमी हो, तुम्हे सब मानते है, इसी से मैं चुप रहती हूँ। तुम्हारा पाजीपन सह लेती हूँ। मुझे छिछोरपन रत्ती भर पसंद नहीं। तुम्हें लाज नहीं, हया नहीं, कोई सुन ले तो मुझसे क्या कहे? तुम्हे शरम आनी चाहिए। (**नायब आगे बढ़ना चाहता है, सिपाही रोकता है।**)

हीरा : (**और आगे बढ़ कर**) शरम? अहा···वह भी ऐसा ही कहा करती थी, जब मैं बाग मे दिन दहाड़े उससे छेड़खानी करता था, तब वह भी इसी

तरह बिचकती थी। उसका नाम शरम नहीं, सुरमा था। मैं प्यार के मारे ठिठुरकर उससे सुरम कहा करता। वह भी अंदर तुम्हारी तरह बरफ दिल थी। बाहर तुम्हारी ही तरह गरम'

नायब : **(बाहर से) बदमाश (अंदर जाने लगता है।)**

सिपाही : जरा सुन तो लीजिए, मालिक **(नायब रुक जाता है।)**

हीरा : मेहरियों की बेवफाई का मैं आदी हूँ। जिस घोडे में अकड़ और गरमी नहीं, जिस औरत में नाज, नखरे और अदाएँ नहीं, उसके पास आकर जी बैठने लगता है। इन पानी के छीटो से आशनाई की आग और भड़कती है। औरत की खुराक खुशामद है। और सुरमा की मैं कैसी-कैसी खुशामद, कैसी-कैसी चापलूसी करता। कहता सूरमा, प्यारी आओ, तुम्हें दिन-रात आँखों मे लगाए रहूँ, पलकों मे बन्द किए रहूँ। तुम्हे साँवली कौन कहता है, तुम आँखो की रोशनी हो। मसल है, इश्क मे गधी भी परी लगती है। पत्थर की भी मूरत हो, अगर वह स्त्री की मूरत है तो तारीफ से, खुशामद से, लल्लो-चप्पो से जरूर पसीज जाएगी। और ऐसा ही होता भी था—सूरमा खुशी के मारे फूलकर कुप्पा बन जाती, और ऐसी गरदन मटकाती, भौंहें नचाती, ऐसे नैना-बान चलाती जैसे शकची मच्छी ने पूंछ मारी हो, जिसका घाव ही नही भरता। इठलाती, कमर लचकाती हुई जल्दी से पास चली आती। मैं उससे कहता - सूरमा, तुम्हारी कमर क्या बल खाती है, बस, कुछ न पूछो। तराजू की डंडी की तरह **(उसी तरह बता कर)** कभी इस ओर झुकती, कभी उस ओर !

नायब : **(बाहर से)** अब मैं इस पाजी को सजा दिये बिना नहीं रह सकता।

सिपाही : उसका पाप का बोरा, उसके पाप का घड़ा भी भर जाने दीजिए मालिक ! जरा और रुकिए।

प्रतिमा : ओह, मुझे यह सब क्या सुनना पड़ रहा है !

हीरा : **(उसका मतलब कुछ और समझकर)** अहा, पिरती, तुम्हें डाह हो रहा है। पर मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि अब मैं उसे बिलकुल प्यार नहीं करता। कहाँ तुम, कहाँ वह ! पान के बाडे मे परवर भी लगा देते हैं। पर कहाँ पान, कहाँ परवर ! कहाँ गुलाब, कहाँ गुलफुँदना ! तुम्हारे गुस्से की सौगन्ध ! तुम जरा भी बुरा न मानो ! ऊँह, वह न जाने कब की बात है ! उसके बाद तो मेरी शादी हुई। बीबी आई।

प्रतिमा : **(सहानुभूति और क्रोध से)** हाँ ? घर में बीबी-बच्चे हैं ?

हीरा : कहाँ बीबी-बच्चे हैं पिरती ! बीबी मुझे फली ही नहीं। अपना भाग फलता है ना, भाग ? कहाँ से बच्चे होते ? आम बौराता है तो फलता भी है। मेरी बीवी बौराई ही बौराई—फली नही। लेकिन मेरा ही कुसूर है। मेरा स्वभाव लड़कपन से ही आशियाना रहा। इसी से बीबी भी पगलाकर घर-द्वार छोड़कर चली गई। सुभाउ की वह बखटी थी, जैसे अरुई की तरकारी। सुन्दरी बुरी नहीं थी। पर ओठों पर

जैसे दो लाल मिरचें रखी हों। बड़े ही कड़वे मुंह की थी और बड़ी लालची। मैं उससे कहता, तुम पीतल की अँगूठी हो। मैं हीरा हूँ। वह कहती, ऐसे ही हीरा हो, तो मुझे सोने की अँगूठी बनाओ। बस, चाहती कि मैं उसे सोने से मढ़कर पीला कर दूं, जैसे अरहर का खेत! मैं उससे कहता, तुम क्या पतुरिया हो? अरहर का खेत बनकर क्या करोगी? अरहर का खेत तो है गाँववालों का इश्कगाह। जैसे टेनिस का लान होता है, हाकी की फील्ड होती है। राजा साहब के यहाँ सब देखा है—और जैसे कि शिकारगाह होता है पिरती, वैसे ही इश्क-गाह भी होता है। चने का खेत तो मसल ही मसल है, गाँववालों का असल इश्कगाह अरहर का खेत है। ऊँची-ऊँची खड़ी अरहर—चाहे जहाँ जाकर दू जने छिपे रहो!...पर मेरी बीबी को मेरी बातें फूटे कान नहीं सुहाती थी।

प्रतिमा : कहाँ की थी वह?

हीरा : फिकरपुर की। लेकिन अब मुझे उसकी रत्ती भर फिकर नहीं (**साड़ी का छोर पकड़ता है**) अब तो पिरती प्यारी, दिलजानी, दिलरुबा, (**पिरती आँचल छुड़ाती है, दोनों इधर से उधर, उधर से इधर जगह बदलते हैं**) अब तो बस, मुझे तुम्हारे कदमों में पड़ा रहना है। इस वक्त सिर्फ तुम हो और मैं हूँ।

[**उसे पकड़ने की कोशिश करता है**]

प्रतिमा : (**अपने को बचाकर अलमारी की आड़ से**) खबरदार, हटो, निकलो यहाँ से—अपनी मालकिन से डरो, मालकिन से।

[**हीरा उसके पाँवों के पास, कुछ दूर पर, सिर झुकाकर बैठ जाता है। प्रतिमा उसकी ओर पीठ कर शीशे की ओर मुँह करती है। शीशे में नायब की परछाईं देखती है और मुँह पर घूँघट खींच लेती है। नायब सिपाही के साथ लपककर अन्दर आता है।**]

नायब : पकड़ो, इस बदमाश को। (**नायब की पीठ प्रतिमा की ओर**) पाजी, नमकहराम! मालकिन से बेहयाई करता है। (**मुँह छिपाकर जरा-सा घूँघट खोलकर हँसती और फिर मुँह बन्द कर लेती है**) मालिक के नमक का ख्याल नहीं, ऐसी बदतमीजी, लल्लो-चप्पो, मजाक, पाजी-पन, ढिठाई, सीनाजोरी—मालकिन का अपमान, बेइज्जती, घोर बेइज्जती। सिपाही, मारो इसके सिर पर कसकर पचास जूती। (**सिपाही जूती निकालता है**)

प्रतिमा : ठहरो, ठहरो। किसी को जूते से मरवाना मुझे पसन्द नहीं। इसे बाहर निकाल दो।

नायब : जो आज्ञा, सरकार। सिपाही, अभी इसे ड्योढ़ी बाहर करो। यह खुद ही इतना काला है कि इसका मुख और काला नहीं किया जा सकता। आज से यह कहीं आस-पास दिखलाई पड़ा, तो इसकी जान की खैरियत नहीं। ऐसे सख्त कसूर की सजा के लिए हमें हुजूर सरकार के हुकुम की जरूरत नहीं। इसका अपराध हुजूर कभी मुआफ नहीं कर

सकते। (**सिपाही हीरा को पीटता हुआ ले जाता है। साथ में नायब भी बाहर तक जाते हैं।**)

नायब : ले चलो, बदमाश को, निकाल बाहर करो।

[**प्रस्थान**]

प्रतिमा : (**मुँह खोलकर**) अब मैं क्या करूँ? मालकिन ही बनी रहूँ या यह लिबास बदल लूँ? लेकिन अब समय कहाँ है और नायब को क्या कह कर समझाऊँगी। हाय, हाय - इसके सिवा अब और कुछ उपाय नहीं कि मैं स्वाँग को आगे बढ़ने दूँ। हर्ज क्या है? यह भेद अभी तो खुल नही सकता। घर में कोई है ही नही। यहाँ के नौकरों का तो हाल है कि मालिक लोग कही बाहर गए, बस, खुद भी सब नौ दो ग्यारह हो गए। चाहे नौ दो ग्यारह कहो, चाहे तीन तेरह फिर उनसे कौन तीन पाँच करे? मैं यहाँ न तीन मे, न तेरह मे। लेकिन मजाक ही मजाक में हीरा सिंह बेकार पीटा गया! खैर, आशनाई का कुछ मजा तो उसे मिलना ही था। मै उसके छिछोरापन को बिल्कुल पसन्द नही करती। लेकिन उसका नुकसान भी नहीं चाहती। मालकिन से कह-कर उसे बचा लूँगी।

[**खाँसते हुए नायब का प्रवेश। प्रतिमा घूँघट खींचती है**]

नायब : (**सामने आकर झुककर सलाम करता है**) हुजूर, सरकार! मालकिन, मुझे सख्त अफसोस है—सख्त अफसोस! उस बदमाश को मै पूरी-पूरी सजा नही दे सका। उसकी खाल खिचवा के और उसमें भूसी भरवा के भी मुझे चैन नही मिलेगा। हुजूर—अन्नदाता—

प्रतिमा : (**घूँघट से, मालकिन के स्वर में**) आपने बहुत ठीक किया नायबजी, आप रत्ती भर फिक्र न करें। सरकार के वापस आने पर मै उसे पूरी-पूरी सजा दिलवाऊँगी। आप जिस काम के लिए आए है, मुझसे फौरन कहे।

नायब : (**कठिनाई से अपने को शांत कर**) हुजूर, सरकार! जो हुकुम! हुजूर, किसनपुर मे एक बुढ़िया के ऊपर चार साल का लगान बाकी था। हमारे गरीब परवर सरकार, उसकी हालत पर तरस खाकर हमेशा उसे मुआफ करते रहे क्योंकि उसके कोई नही है। अब के राज की मंशा थी कि उस बुढ़िया से जितना कुछ हो सके, वसूल कराया जाए क्योंकि अब के साल उस पुरवा मे अच्छी फसल हुई है। लेकिन, हुजूर, जब उसके पास लगान वसूली के लिए सिपाही गया, तो उसने गाली-गलौज की और लगान देना बिलकुल इन्कार कर दिया। इसलिए···

सिपाही : हुजूर!

नायब : (**उसे रोककर**) इसलिए जब हमने जरा सख्ती की, तो वह बुढ़िया आज कुछ ही देर पहले कुएँ मे डूबकर मर गई। पुलिसवाले तहकीकात के लिए आए है— और हुजूर, पुलिस की मुझ पर हमेशा से खराब नजर रही है। क्योंकि मैं गरीब परजा से न खुद नजर लेता हूँ और न किसी को लेने देता हूँ। यह हुजूर, अब बुढ़िया की ओर

लगान का हिसाब है। (**कागज देता है। ।तिमा कागज देखती है और बीच-बीच में पूछती है**)

सिपाही : (**चुपके से बाहर खिसककर दर्शकों से**) बिल्कुल सही फरमाते हैं नायब साहब ! गरीबों की नजर की आपको जरा—भी चाह नहीं है (**नायब की ओर इशारा कर**) आपको चाहिए अमीरों की नेक नजर और गरीबों का जर (**अंगूठा रगड़कर बतलाता है**)। दोनों हाथ तो समेटने में लगे हैं, अब दूसरों को बिचारे दें किस हाथ से ? इसलिए आप पर (**इशारा करता है**) पुलिसवालों की हमे-ऐ-ऐशा टेढ़ी नजर रहती है। (**अन्दर जाता है, दोनों को कागजात देखने में तल्लीन जानकर फिर बाहर आकर कहता है**) और उस बुढ़िया की ओर कौड़ी भी लगान बाकी नहीं है। हर साल पूरे का पूरा चुका देती रही। पर हां, मुंह की तेज थी और नायब साहब की नजर के नाम कौड़ी नहीं देती थी। इसलिए उसे कभी रसीद नहीं मिली और सब लगान ज्यों का त्यों दरज रहा। हां आं आं···

नायब : और हुजूर, यही सिपाही उसके वहां वसूली के लिए गया था (**सिपाही दर्शकों की ओर इशारा कर बतलाता है 'मैं नहीं गया था' और चट-पट अन्दर आकर कहता है**)

सिपाही : हां, हजूर, सरकार, मालिक, गरीबपरवर (**गला खकारता है**) उस बुढ़िया की गाली-गलौच मुंह पर नहीं लाई जा सकती मालिक। पर पेट में भी नहीं रहती, विष की-सी उलटी आती है। वह औरत न होकर कुछ और होती सरकार, तो मैं मरद न होता जो वह (**नायब की ओर इशारा कर**) हमारे हजूर के लिए दो जीभें मुँह पर रखती और मैं उसके मुंह पर (**तमाचा दिखाकर**) न रखता। औरत का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए मालिक !

नायब : (**टोककर**) क्या बकता है !

सिपाही : (**इशारा न समझकर**) हां आं, मालिक ! मैंने लगान चुकाने की बात क्या कही कि अरे बाप रे ! जैसे मैंने बर्रों के छत्ते में हाथ डाल दिया हो ! मदारी की झोली से गुड़ निकालना चाहा हो। न जाने बिना दाँतों की फुफकार कर क्या-क्या बक गई। यही कि मैंने लगान चुका दिया है, रसीद···

नायब : क्या बकता है ?

सिपाही : ओह हजूर, सरकार, न जाने क्या बर्रा रही थी। अच्छा हुआ, मैं कुछ समझा नहीं, नहीं तो सरकार आप ही का तो नमक खाता हूँ, उससे समझ लेता।

नायब : बडी बेहया औरत थी मालकिन !

सिपाही : अरे सरकार, एकदम पूतना थी पूतना ! हर-वक्त अपने गाल चबाया करती। (**बुड्ढों की तरह गाल चबाता है**) बुड्ढी के पूत नहीं हुआ, वह न जाने क्या-क्या करती। ऐसा बिना लाठी का बुढ़ापा तो मैंने देखा ही नहीं। झुर्रियों की झालर ! सन की लट ! जैसे देवी आई हों,

शोले उगलने लगी शोले ! अरे दइया, जैसे गालियों का गोला फूटा हो। कील, चाकू, तीर, बरछी, भाले, कृपान, सब ! बकवास का ढेर लगा दिया। बुढ़िया के मुँह में दाँत नहीं हुए, नहीं तो (**मुक्का दिखाता है**) क्या रहते ! झक मारी जो उसके यहाँ बक-झक सुनने गया। और अपना-सा मुँह लेकर लौट आया।

नायब : पक्की चुड़ैल थी।

सिपाही : उसके सिर पर तो (**चुपके से नायब की ओर इशारा कर**) भूत सवार था भूत, सरकार। अच्छा हुआ, पुण्य तो उसके कभी के कट चुके थे, अब पाप भी कट गया जो कुएँ में गिर के मर गई।

नायब : गिर के नहीं, डूब के। वह जानबूझकर डूबकर मरी।

सिपाही : हाँ, सरकार, जानबूझकर डूब के मरी। अगर न डूबती तो फिर (**नायब का ओर इशारा**) जीती न रहती। वह मरकर जीती, हम लोग जीते जी हार गए। (**प्रतिमा सिपाही का इशारा देखकर उसका भाव ताड़ लेती है। और डपटकर कहती है।**)

प्रतिमा : (**सिपाही से**) तुम्हारा क्या नाम है जी !

सिपाही : (**आवाज की कड़ाई से डरकर**) हजूर, मेरा नाम-वाम कुछ नहीं, (**नायब की ओर इशारा कर**) आपकी मेहर से खूब बदनाम हूँ।

नायब : हैं !

प्रतिमा : ठीक तरह से बोल।

सिपाही : हजूर, मेरा नाम सुरजू है।

प्रतिमा : अच्छा सच-सच बतला, लगान वसूल करने तू गया था ?

सिपाही : (**हाथ जोड़कर**) हजूर, सच-सच बतलाऊँ ?

[**नायब जोर से खकारते हैं। सरजू कभी एक ओर, कभी दूसरी ओर देखकर, काँपने लगता है।**]

प्रतिमा : (**नरमी से**) नायब साहब का कोई डर नहीं रे, सच बात बतला।

सिपाही : हजूर, जब से नायब के साथ हूँ, तब से सच बोलने की आदत एकदम छूट गई है। अब सच बोलने की कोशिश करता हूँ तो पेट में मरोर उठने लगती है, दिल बैठने लगता है; आँखें बाहर को निकलने लगती हैं, चारों ओर अँधियारी छाने लगती है और हाथ-पाँव तो जैसे ऐंठने लगते हैं। (**आँखें बाहर निकालकर हाथ-पाँवों को ऐंठाकर चुपचाप खड़ा रहता है।**)

प्रतिमा : (**डपटकर**) अगर अपनी खैरियत चाहता है तो जो मैं पूछती हूँ उसका ठीक-ठीक उत्तर दे। नहीं तो पीठ पर कोड़ों की मार पड़ेगी।

सिपाही : (**कुछ चीखकर, कुछ रोकर**) हाय, हाय, उस बुढ़िया का शाप अभी से फल देने लगा। अभी उसे दो घंटे भी मरे हुए नहीं हुए... आगे क्या होगा—भगवान।

प्रतिमा : (**फिर डपटकर**) बोल, लगान वसूल करने तू गया था कि नहीं ?

सिपाही : नहीं हजूर ! वह खुद ही आकर दे गई थी। मैं बिलकुल सच कहता हूँ। मैं उस बुढिया के यहाँ कभी झक मारने नही गया। वह बड़ी ईमानदार, मेहनती, धर्मात्मा बुढ़िया थी। इसी से मैं उससे डरता था। और हजूर, सच कह दूँ, (**नायब की ओर देखता है**)

नायब : हजूर, मेरी भी बात सुन लें—

प्रतिमा : (**उन्हें इशारे से रोककर, सिपाही की ओर देख**) हाँ, हाँ, कहो।

सिपाही : बुढ़िया हमेशा अपना पाई-पाई लगान भर देती थी। नजर न मिलने के कारण नायब साहब उससे नाराज रहते थे और रसीद देने में टाल-मटोल कर बकाया लगान उसके नाम चढ़ा देते थे। और हजूर, इन्हीं ने किसी सिपाही से उसे कुएँ में ढकेलवा दिया है। ये बातें मैंने नायब साहब से ही सुनी है हजूर ! दुहाई सरकार की ?

प्रतिमा : अच्छा, तो शुरू में उतनी बातें क्यों बक रहा था।

सिपाही : हजूर, मैं नायब साहब का बूढ़ा तोता हूँ। जो रटा देते हैं वही कहता हूँ।

प्रतिमा : अच्छा नायबजी, इस सब मामले का फैसला कल होगा। मैं ताकत भर कोशिश करूँगी कि इस मामले मे न्याय हो। कसूरवार को पूरी-पूरी सजा मिले और बेकसूर सताए न जाएँ। आप जा सकते हैं।

सिपाही : (**बाहर निकलकर**) खूब फाँसा अब के !···इस बुढ़िया की हत्या मेरे भीतर से बोल उठी। ऐसा फाँसा कि बस अब फाँसी की गाँसी नहीं छूट सकती।

नायब : हजूर, एक अर्ज है !

[**एक सिपाही का प्रवेश**]

नया सिपाही : (**झुककर सलाम कर**) नमस्ते हजूर।

प्रतिमा : कौन ? शंकर। तुम तो छुट्टी गए थे न, कब लौटे ?

शंकर : छोटे सरकार को लेने गया था हजूर। अभी पहुँचा हूँ। छोटे सरकार भी आ गए है। बहुत सामान लाए है।

प्रतिमा : छोटे बाबू ? है ! कहाँ हैं ?

शंकर : बाहर हैं हजूर, अन्दर आते ही होंगे।

प्रतिमा : नायबजी, अब आप जाइए। इस वक्त मुझे फुरसत नहीं।

[**नायब, शंकर और सिपाही का सलाम कर प्रस्थान। नायब उदास है।**]

प्रतिमा : (**घूंघट उठाकर**) खूब बेवकूफ बनाया। इस इलाके मे ये सबसे बदनाम नायब हैं। आह, छोटे बाबू के जूतों की आवाज सुनाई दे रही है। लो, वह आ ही गए। (**विश्वरूप सिह बाहर से आते दिखाई देते हैं**) अच्छा, तो आज का दिन ऐसा ही बीते। इन्हें भी खूब छकाऊँगी। (**प्रतिमा फिर घूंघट खींचकर एक ओर बिलकुल सिमटकर बैठ जाती है**)

विश्वसिंह : (**प्रवेश करते हुए बाहर ही से**) भाभी, ओ भाभी, कहाँ हो ? (**अंदर**

आकर) गुड आफ्टर नून, (**कोने में दीवाल से सटी प्रतिमा पर दृष्टि पड़ती है**) हा-हा-हा-हा-हा-हा-हा-नान्सेन्स, रिडिक्युलस ! वाह भाभी, यह आप क्या तमाशा कर रही हैं ! मुँह खोलिए। आपको मैंने अभी देखा ही कहाँ ? जब भाई की शादी हुई, तब मैं यूरोप में था। वहाँ से महीना भर ही तो स्वदेश आए हुआ। आधे से अधिक समय बम्बई में दोस्तों के साथ बीत गया, उन्होंने आने ही नहीं दिया। उसके बाद मुझे बहुत जरूरी काम से कलकत्ता जाना पड़ा। वहाँ से बड़ी मुश्किल से आज घर पहुँचा हूँ। (**कमरे का फर्नीचर इधर-उधर देखते हुए**) घर में पैर रखते ही मालूम हुआ कि भाई कहीं गए हुए हैं, कल तक आएँगे। तेजी से कमरे में आया कि भाभी का मुँह देख आऊँ। आप इस तरह कोने में दुबकी बैठी हैं जैसे कपड़ों की ढेरी हो। वाह, उठिए, बोलिए। यूरोप का रहन-सहन जिसने देखा हो, उसे यह सब जंगली-पन लगता है। मुझे विश्वास ही नहीं होता···

प्रतिमा : (**वहीं से**) क्या विश्वास नहीं होता कि मैं आपकी भाभी हूँ ?

विश्वसिंह : हा-हा-हा-हा नॉन्सेन्स, ऐसा कैसे हो सकता है ?

प्रतिमा : मैं झूठमूठ कैसे मान लूँ कि आप मेरे देवर हैं। मैंने आपको पहले कभी देखा है ?

विश्वसिंह : पहले न देखने से क्या होता है ? हा-हा-हा-हा प्रिम-इटिव ! आपने भी मुझे पहले नहीं देखा, मैंने भी आपको नहीं देखा। इसी से तो कहता हूँ, मुँह खोलिए। बार्बेरिक ! आप जब मेरी भाभी हैं, तो मैं ही तो आपका देवर हुआ। उठिए भाभी साहिबा, यह अच्छी दिल्लगी रही।

प्रतिमा : दिल्लगी नहीं हजूर; मैं आपकी दासी हूँ, बाँदी, लौंडी।

विश्वसिंह : हा-हा-हा-हा-वाह भाभी, क्या तकल्लुफ का ढंग निकाला है ! खूब मजाक करती है ! किस अदा के साथ आप फरमाती है कि मैं आपकी लौंडी हूँ। हा-हा-हा-हा-यह सब भाई साहब के लिए रख छोड़िए। आपकी बोली इतनी मीठी है कि आपके दर्शनों के लिए आँखें और भी उतावली हो उठी हैं। (**प्रतिमा संकोच के मारे और सिमट जाती है**)

विश्वसिंह : (**सहज लज्जा समझकर**) सच कहता हूँ भाभी, आह, मैं आपके स्वर मे बोल सकता और आप मेरे कानों से सुन सकती।

प्रतिमा : वाह सरकार, तब आप ग्रामोफोन होते, जो दूसरे के स्वरों में बोलता है और जिसके कान से, क्या कहते हैं भोंपू से, दूसरे सुनते हैं।

विश्वसिंह : वेरि विटी ! आप खूब हँसोड़ हैं भाभी, मैं भाई साहब से आते ही कहूँगा कि परदे से आपको मुक्त करें। ताकि भाई साहब के साथ मोटर पर बैठकर खुली हवा में मुँह खोलकर घूम सकें। उनके मित्रों से मिल सकें और मेरे साथ भी घूम सकें। यूरोप में तो मैं मेमों के साथ घूमने जाता था।

प्रतिमा : आपके साथ घूमने और आपके मनबहलाव के लिए आपकी भाभी

कभी से साथी की खोज में हैं।

विश्वसिंह : (ठीक-ठीक न समझने के कारण) यहाँ भी मैं आपके साथ सारे इलाके में जरूर घूमूंगा। आप रियाआ के घर-घर जाकर औरतों की दकियानूसी, सामाजिक बुराइयों को दूर करने में मेरी सहायता करिएगा। लेकिन अभी तो आप ही पीजड़े में बन्द हैं। मै तो सोचता था, भाई साहब आपको परदे में नही रखेंगे। ओह, हम ताल्लुकेदार लोग अभी अपने रहन-सहन और विचारो मे सदियों पीछे है ?

प्रतिमा : अपनी भाभी की ओर आपकी काफी भक्ति जान पड़ती है, मैं इसमे प्रसन्न हूँ।

विश्वसिंह : हा-हा-हा-हा, इसमे भक्ति की कौन बात है भाभी !

प्रतिमा : स्नेह, सहानुभूति ही सही। विश्वास रखिए, आपकी भाभी आपका कहा कभी नहीं टालेगी। कल वह आपको अवश्य अपना मुख-चन्द्र दिखलाएँगी। इसके लिए आप अभी से चकोर की तरह एकटक आँखें फाड़कर तपस्या कीजिए।

विश्वसिंह : हा-हा-हा-हा—हा-हा-हा-हा, अच्छी बात है। कल ही वह शुभ मुहूर्त सही। जरूर आपका मुख चन्द्रमा-सा होगा भाभी, भाई साहब ने अपने एक खत में आपकी सुन्दरता की वडी तारीफ की थी।

प्रतिमा : आपकी बातें सुनकर बड़ी खुशी हुई। आप अवश्य ही अपना जीवन अपने यहाँ की दीन-हीन, अज्ञान के अंधकार में डूबी हुई, सामाजिक अत्याचारो से त्रस्त स्त्री जाति को उबारने में लगाइए। जब आप और आपकी भाभी में खूब हेलमेल हो जाएगा, तब मैं अच्छी तरह जानती हूँ, दोनों बहुत सुखी होंगे। आपकी जैसी तारीफ सुनती थी, आपको वैसा ही देख रही हूँ।

विश्वसिंह : हा-हा-हा-हा—हा-हा-हा-हा, आदाब अर्ज है भाभी। थेंक यू फ़ार द कॉम्पलीमेण्ट्स। मुझे भी आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुई। सच कहता हूँ, कलकत्ते से दौड़कर आपसे ही मिलने आया हूँ। आप परदे को जरूर छोड़िए भाभी, परदे में रहने से हमारी औरतों की अक्ल में भी परदा पड़ गया है।

प्रतिमा : ऊँ-हूँ —वह मैं मानने को तैयार नहीं छोटे बाबू ! हाँ, इतना जरूर मानती हूँ कि औरतों का परदा करना बुरा है क्योंकि इससे मर्दों की अक्ल में परदा पड़ जाता है।

विश्वसिंह : (गम्भीर होकर) यह कैसे ?

प्रतिमा : ऐसे कि मर्द सोचते हैं कि प्रत्येक घूँघट के भीतर चन्द्रमा ही छिपा है। दिन-रात यही सोचते हैं कि घूँघट का बादल कैसे हटे और उन्हें चाँद दिखलाई दे।

विश्वसिंह : हा-हा-हा-हा—हा-हा-हा-हा, यह दलील मैं नहीं मानूंगा। मेरे लिए मेरी भाभी का ही मुख चन्द्रमा है।

प्रतिमा : यह तो है ही। आपकी भाभी का मुख चन्द्रमा तो है ही, और उसे सभी देख भी सकते हैं।

[शंकर का प्रवेश]

शंकर : छोटे बाबू की चाय तैयार है, मालकिन ?

प्रतिमा : अरे, मैं कैसी बेखबर हो गई थी, आप थके होंगे। नहा लीजिए। मैं मेज पर चाय लगवाती हूँ। चाय पीकर आराम कीजिए।

विश्वसिंह : ठीक है भाभी !

[विश्वसिंह का प्रस्थान]

[प्रतिमा मुंह से घूंघट उठाकर खिलखिलाकर हंसती है। परदा धीरे-धीरे गिरता है। प्रतिमा उस समय मालकिन की साड़ी उतारती हुई दीखती है।]

[द्वितीय दृश्य]

[स्थान : ललितपुर की सरहद के पास नौ गाँव का इलाका। जमींदार हरिवंश राय की बैठक : राय साहब की पत्नी लक्ष्मी का प्रीति को लेकर प्रवेश।]

लक्ष्मी : (**अभ्यर्थना से**) आइए, आइए, इस पर बैठिए। (**सोफे पर बैठाती है**) आपके दर्शन मिले। पन्द्रह ही कोस का तो फासला है, लेकिन कभी दरम-परस का अवसर नहीं मिला।

प्रीति : जी हाँ, (**संकोच से**) लेकिन आप मुझे आप न कहा कीजिए, मैं तो आपसे बहुत छोटी हूँ।

लक्ष्मी : (**मुस्कराते हुए**) उमर से क्या होता है बेटी, गुण में जो बड़ी हो? तुम्हारे रूप-गुण की चर्चा सभी करते हैं।

[नजदीक आती हुई आवाज—माँ। उषा का प्रवेश]

लक्ष्मी : कहाँ थी गीतू? कभी से तुझे खोज रही हूँ।

उषा : मैं बाग मे टहल रही थी माँ।

लक्ष्मी : (**प्रीति से**) यह मेरी बेटी उषा है।

प्रीति : (**प्रसन्नता से**) आओ उषा।

लक्ष्मी . नमस्ते करो बेटी। (**उषा नमस्ते कर पास बैठ जाती है**) ये हैं ललितपुर की रानी प्रीतिकुमारी। किसी काम से सिल्हापुर जा रही थी। हमारे घर के निकट कार खराब हो गई।

प्रीति : कोई आदमी तो ललितपुर चला ही गया होगा न? कार तो जल्दी ठीक होगी नही।

लक्ष्मी : मैने उसी वखत खबर भेज दी। राय साहब रायबरेली गये हुए हैं। नहीं तो दूसरी गाडी मँगवाने की क्या जरूरत थी। वे कब लौटेंगे, पता नही, ये लोग तो रात-रात भर घूमते-फिरते हैं।

प्रीति : (**लक्ष्मी से**) जी हाँ। (**उषा से**) लखनऊ में पढ़ती हो ना?

उषा : जी हाँ। पिछले वर्ष मेट्रिक किया। अब चित्रकला सीख रही हूँ।

लक्ष्मी : (**दीवारों में लगे चित्रों की ओर संकेत करते हुए**) ये सब इसकी बनाई है। (**कढ़ा मेजपोश तथा मिट्टी और कागज के खिलौने दिखाते हुए**) यह सब भी इसी ने बनाया है।

प्रीति : (**ध्यानपूर्वक देखती है**) बहुत ही कलात्मक, बहुत ही सुन्दर (**उषा का हाथ पकड़ती है ।**) तुम्हारा हाथ चूमने को जी चाहता है। (**हँसकर**) अब तुम्हारा हाथ कभी नहीं छोड़ूँगी। (**लक्ष्मी से**) मेरे देवर बहुत सुशील, कला-प्रेमी और विद्वान हैं। हाल ही में यूरोप से लौटे हैं। बस, उन्हीं के हाथों में इन चित्रों और चित्रों को बनानेवाली को पकड़ा दूँगी। (**उषा के गालों में लाज की ललाई छा जाती है।**)

लक्ष्मी : तब तो तुम मेरी सारी चिन्ता दूर कर दोगी। हमारे समाज में पढ़ा-लिखा सच्चरित्र वर खोजना बहुत कठिन है। यह हमारे भाग्य हैं कि तुमने इसे अपनी देवरानी बनाना पसन्द कर लिया है।

प्रीति : आप निश्चित रहिए। विधाता यह चाहता होगा, तभी तो मेरी बेजान गाड़ी यहाँ आकर रुक गई।

लक्ष्मी : (**एक चित्र हाथ में लेकर**) यह देखो, शिव-पार्वती का चित्र। (**प्रीति के हाथ में देती है।**)

प्रीति : वाह, बिल्कुल ही नये ढंग का है। शिव को आकाश बनाया है, और पार्वती को पृथ्वी। पृथ्वी को हरी साड़ी और फूलों के गहने पहनाकर दिगम्बर आकाश की बाँहों में लिपटाया है। उनके हाथ में वज्र का त्रिशूल है, गले में बिजली साँप की तरह दौड़ रही है, कमर में हल्के बादलों की छाया है। घनी घन-घटाओं की तरह जटाओं से गंगा की जलधारा बरस रही है। कैसा सुन्दर भाव है! (**फिरकी का प्रवेश**)

फिरकी : (**कमरे की सजधज देखकर**) आह - आ—

प्रीति : (**फिरकी को देखकर**) क्या है री? बबुआइन साहिबा कहाँ हैं? (**फिरकी चकित होकर आँखें फाड़कर चारों ओर देखती है, उसके सिर से धोती खिसक गई है, उसका मुँह आश्चर्य से खुला है।**)

लक्ष्मी : वे अम्माजी के पास बैठी हैं। (**फिरकी की ओर देखकर**) बच्ची है। नई जगह में बेचारी घबड़ा गई।

प्रीति : बबुआइना साहिबा की महरी की लड़की है।

फिरकी : (**कुछ अपने बारे में कहा समझकर**) आ,···आ।

[**उषा उसके पास जाकर उसकी पीठ थपथपाती है**]

फिरकी : अ······, उ······, उ ···· (**सब हँसते हैं**)

प्रीति : क्या हुआ री, इस तरह क्यों चीख रही है?

[**फिरकी धीरे-धीरे अपने को सँभालती है और कमरे की चीजों को देखती है। मेज के पास जाकर चुपके से एक मिट्टी का सेब उठाती है और इधर-उधर देखकर उसमें दाँत गड़ाती है**]

उषा : सेब मिट्टी का है।

फिरकी : (**कान तक मुँह फैलाकर देखती है**) आ······मिट्टी का सेब कहीं होता है। (**दाँत गड़ाती है**) बड़ा सख्त है (**सेब को घुमा-फिराकर बार-बार दाँत गड़ाती है**)

[**सब हँसते हैं**]

[**फिरकी सेब को मेज पर रखकर, मिट्टी की नाशपाती उठाती है।**]

उषा : मिट्टी की नाक है।

प्रीति : नाक मत काटना।

फिरकी : (**अपनी नाक पकड़कर**) आ—आ—उ—ऊ— कौन मेरी नाक काटेगा। (**इधर-उधर दौड़ती है। सब लोग हँसते हैं।**)

प्रीति : कौन तेरी नाक काटने जा रहा है री———फजूल में गिलहरी की तरह इधर से उधर दौड़ रही है। जैसा नाम है फिरकी, वैसे ही गुण भी है।

फिरकी : (**सबकी ओर संदेह से देखकर**) आँ·········। अम्मा का रखा हुआ नाम है।

लक्ष्मी : (**शिव-पार्वती के चित्र को देखकर, दूसरी तस्वीर प्रीति को देती है**) ये ग्राम-बालाएँ हैं।

प्रीति : वाह, मिट्टी के पुतलो के भीतर से भी जैसे करुणा, ममता और स्नेह बरस रहा हो। बहुत स्वाभाविक चित्र है।

फिरकी : (**दूर रखी मेज से कागज के फूलों का गमला उठाकर**) गुलदादी।

प्रीति : (**रोष से**) बड़ी दादीवाली आई है। नहीं मानती तू। सब चीजें इधर-उधर कर रही है।

फिरकी : गुल-दादी, गुल-दादी (**सूँघती है। सब लोग मुँह दबाकर हँसते हैं**)

उषा : कागज के फूल है।

फिरकी : आँ······, मिट्टी के फल, कागज के फूल !—ऐसा कहीं होता होगा (**फिर सूँघती है**) खुशबू उड़ गई है।

[**सब लोग हँसते हैं। उषा चित्र रख देती है।**]

लक्ष्मी : (**दूसरा चित्र देकर**) यह इसने रेशम पर तस्वीर बनाई है। सूई का काम है।

प्रीति : वाह, हूबहू सूरत उतर आई। बहुत सुन्दर, बहुत सुन्दर !

[**फिरकी अपनी तारीफ समझकर खुश होकर उनके पास जाती है। एक हाथ में गमला लिए हुए, दूसरे हाथ में उषा के हाथ से चित्र लेकर देखने को झुकती है। चित्र और गमला दोनों ही हाथ से गिर पड़ते हैं—चित्र का शीशा टूट जाता है।**]

फिरकी : आ···, आ··· (**बैठकर टाँग उठाती है और दोनों हाथों से पाँव का अँगूठा पकड़कर जोर से हिलाती है**), ई···, ऊँ···, उ···

प्रीति : कैसी जंगली लड़की है। शीशा तोड़ दिया है ! और ऊपर से अ आ इ ई। जैसे स्कूल में पढ़ने आई हो !

फिरकी : आँ······, ···अम्मा···आँ······मैं स्कूल नहीं जाऊँगी।

प्रीति : हट यहाँ से, जा बाहर।

फिरकी : आ···, उ···, आ······

[फिरकी घबड़ाकर कमरे में चक्कर काटती है। जैसे ही बीच में रखी हुई मेज के पास पहुँचती है, एलार्म घड़ी बज उठती है। फिरकी और भी घबराकर आ··, आ···, ऊ···, ऊ···, चिल्लाती हुई दूसरी ओर भागती है। शोर-गुल सुनकर राय साहब का चित्ती-दार ग्रेट डेन कुत्ता आकर गुर्राता है। उषा कुत्ते को पकड़ती है। फिरकी कुत्ते को देखकर डरती है—यह कूकुर है कि शेर? वह दूसरी ओर भागती है, वहाँ शेर की खाल रखी है। ऊई, इधर भी कूकुर खीस काढ़े है। फिरकी फिर भागती है। पंखे के तार पर पाँव पड़ने से झटका लगता है। चीखती है, दैया रे, बीछी ने काट खाया।]

उषा : यह पंखे का तार झटका देता है। (फिरकी पैर पकड़कर भागती है। कुर्सी से ठोकर खाकर कुर्सी के साथ ही गिर पड़ती है। कुर्सी के नीचे दबकर छटपटाती है। सब लोग हँसते हैं। उषा कुर्सी को उठाती है। फिरकी डर के मारे ऊई, ऊई चिल्लाती हुई बाहर भाग जाती है।)

प्रीति : (उषा से) तुम्हें इसने आज बहुत परेशान कर दिया।

उषा : नहीं तो, उसी को परेशानी उठानी पड़ी।

[प्रीति खिड़की से बाहर देखती है]

प्रीति : ओह, एकदम संध्या हो गई।

लक्ष्मी : आज बड़े सौभाग्य से आई हो, बिना खाना खिलाए जाने नहीं दूँगी। अभी तो तुम्हारी गाडी भी नहीं आई है। आदमी पहुँच तो गया होगा, साइकिल से गया था।

उषा : चलिए ना, तब तक आपको बाग घुमा लाऊँ। बरसात बीत चुकी है। अब तो बाहर सुहावना लगता है।

प्रीति : चलो। हाँ, तुमसे मुझे तुम्हारा फोटो भी लेना है!

[दोनों का प्रस्थान। बाहर हार्न की आवाज सुनाई पड़ती है। लक्ष्मी सन्तोष से मुस्कराती है—ललितपुर की रानी को उषा अच्छी लगी। राय साहब का प्रवेश]

राय साहब : अकेले मुस्करा रही हो।

लक्ष्मी : स्वरूप सिंह की रानी आई हुई हैं।

राय साहब : अच्छा, बाहर उन्हीं की मोटर बिगड़ी पड़ी है। ललितपुर की रानी के लिए तो लोग कहते है कि दूर तक ऐसी सुन्दरी और ऐसी गुणवती नहीं मिलेगी।

लक्ष्मी : (हँसकर) इसलिए ऐसे उतावले हो गए हो कि बैठ तक नहीं पा रही हो।

राय साहब : (धम से बैठकर) ऊँह, औरतों के सामने तो जहाँ किसी दूसरी स्त्री की तारीफ की कि उनका जी जलने लगता है। तुम लोग न जाने मर्दों को क्या समझती हो! सोचती हो कि मर्द सुन्दर औरत को देखते ही

उस पर रीझ जाते हैं।

लक्ष्मी : ठीक तो समझती हूँ। बीसियों बार देखा है, और आगे भी दिखा दूँगी।

राय साहब : (झुँझलाकर) फिर वही बात ! लाहौल बिलाकूवत—ये औरतें भी क्या चीज होती हैं !

लक्ष्मी : अच्छा रहने दो। औरतें ही खराब सही, मर्द देवता ही सही। आपका कहना ठीक ही है, जो जिसकी तारीफ सुनता है उससे मिलना चाहता ही है। फिर स्वरूप सिंह की रानी तारीफ के लायक हैं भी।

राय साहब : यह लो, उनसे मिलने की बात कौन कहता है—लाहौल बिला-कूवत। लेकिन वे रात को जाकर करेंगी क्या ? कल सुबह भेज देना। आखिर मेहमानदारी भी कोई चीज है।

लक्ष्मी : वही नही रुकना चाहती है। आज ही यूरोप से उनके देवर घर वापस आए हैं, उनकी खातिरदारी करना चाहती हैं। एक बार और कहकर देखूंगी। एक रात रह जाएँगी तो मुझे भी अच्छा लगेगा।

राय साहब : (खड़े होकर) जरूर। ओफ, दिन भर मुकदमे के पीछे वकीलों के यहाँ दौड़-धूप करनी पड़ी। पसीने से बदन में कपड़े चिपक गए हैं। लाहौल बिलाकूवत। बिना नहाए मुझसे बैठा नहीं जाएगा।

[प्रस्थान]

लक्ष्मी : आज जान-बूझकर मैंने इन्हें चिढ़ाया है। इनमें यह ऐब है कि मेरे मुँह से चाहे कितनी अच्छी बात निकले, उसे यह स्वीकार नहीं कर सकते। जिस काम में मैं हाथ डालूँगी, उसे ही उलट देंगे। शायद सभी मर्दों में यह ऐब होता है। लालतपुर-सा घराना इन्हें कहीं ढूँढे नहीं मिलेगा। कई बार इन्होंने मुझसे कहा है कि उषा की वहां शादी हो जाए तो इन्हें बहुत खुशी होगी। लेकिन मैं आज अपने मुँह से कहूँगी तो बस हूँ-हां कहाकर टाल-टूल करेंगे। इसलिए आज इन्हें जरा छकाऊँगी, और खुद इन्हीं से वह बात कहलाऊँगी।

[दासी का प्रवेश]

दासी : माँजी, खाना तैयार है।

लक्ष्मी : चलो, चलती हूँ।

[दोनों का प्रस्थान

[तृतीय दृश्य]

[ललितपुर से दो मील पर आरहापुर का चौरस्ता। पेड़ के सहारे बाइ-सिकिल रखी है। दूसरी ओर एक आदमी बैठा है। आसमान में पूनों का चाँद निकल आया है—चारों ओर चाँदनी छिटकी है।]

आदमी : हाय रे, अब क्या होगा? मुदा अभी कोस भर और जाना होगा। दिन यहीं छिप गया है। रतौंधी के मारे अपना ही तन नहीं दिखाई पड़ता है। (**जमीन टटोलता है**) है, पैरगाडी ससुर किधर चली गई? ऐसा तो नहीं सुना था कि मेहररुवा की तरह मनसुवा को छोड़कर जिधर जी चाहे चली जाए, मुदा हो तो सकता है। दोनों ही टिर्नाटिन पिनपिन बोलती है। दोनों के पाँवों में चक्कर (**इशारा करता है**) रहता है और दुनिया भर में चक्कर काटती हैं। दोनों के पैरों में जंजीर डालकर काम चलता है। बड़ा धोखा हुआ, हो। (**फिर टटोलता है**) अब उधर मालकिन अलग गुस्सा होंगी और इधर मुझे रात भर पेड़ के नीचे पड़ा रहना होगा (**पत्ते खड़खड़ाते हैं और एक अधेड़ औरत बगल में ताड़ी का मटका दबाए आती है। हवा में टटोलकर**) कौन है, हो? (**हवा में हाथ से इधर-उधर टटोलकर**) एँ, कहीं कोई चोर तो नहीं है? आजकल कांग्रेस के राज्य में गाँवों में बहुत डकैती होती है। जरूर चोर ही है और वही साइकिलिया भी ले गए है। मुदा अँधेरे में उन्हे कुछ दिखाई तो पड़ेगा नही। कान भी बन्द कर लूँ (**कान बन्द करता है**) तो अब किसी ससुर का डर नहीं। (**फिर हवा को टटोलता है, फिर कान बन्द कर लेता है।**)

औरत : यह कौन पीपल के नीचे चारो ओर हाथ मारकर हवा को नोच रहा है? राम रे, कहीं कोई भूत तो नही है?

आदमी : (**आकाश की ओर देखकर**) ओह, चारो ओर ऐसी घोर अमावस-सी अँधियाली छाई है कि हाथ को हाथ नहीं सूझता। (**दोनों हाथ दूर-दूर फैलाकर टोहता है। सर टटोलकर**) यह तो सर है। मुदा इस वक्त ठिकाने में नहीं (**बतलाकर**) यह छाती और पीठ है। (**पेट पर हाथ रखता है**) यह पेट है। अब ये घुटने और टाँगें हैं। (**हाथ पर हाथ धर-कर जल्दी उठता है**) लेकिन हाथ कहाँ गए हैं? क्या उन्हें चोर ले गए? (**हाथ मलता है**) लो, मुदा हाथों से भी हाथ धोना पड़ा।

[लाचारी की मुद्रा में हाथ फैलाता है]

औरत : कोई बौरहा है ! सारे बदन को नोंच-खँसोट रहा है। जरूर बौरहा है।

आदमी : (**फिर बैठकर टटोलता है**) यह तो पैर होंगे ही। (**बदन टटोलता है**) यह तो पैर हैं ही। (**जूते को पकड़कर**) हाथ में तो मैं कभी दस्ताना पहनता नहीं (**दूसरा पैर छूता है**) यह दूसरा पाँव है। ठीक। लेकिन अँधेरे में यह नहीं सूझता कि कौन दायाँ पाँव है, कौन बायाँ। (**बाएँ को दायाँ बताकर यह दायाँ पाँव होगा, दाएँ को बायाँ बताकर**) हाँ, यही बायाँ होगा। (**उसी तरह**) तो मैं इधर दाएँ हाथ की ओर से आया था और (**दायाँ हाथ उठाकर**) बाएँ हाथ की ओर जाना है। लेकिन तब से तो मैं कई बार पेड के नीचे चक्कर काट चुका हूँ। अब न मालूम मेरा मुँह किस ओर है, और कौन, मेरा दायाँ है, कौन बायाँ ? यह दूसरी मुसीबत है। (**टटो-लता हुआ आगे बढ़ता है और औरत की पीठ पर उसका हाथ पड़ता है**) यह कौन है, हो, (**पीठ टटोलकर**) कोई भैंस मालूम पड़ती है। (**टटोलता हुआ**) मुदा है खूब मोटी। रियासत की भैंस जान पडती है। (**औरत डर के मारे इधर-उधर हटती है। आदमी पूँछ टटोलता है।**) अगर इसकी पूँछ पकड़कर इसके साथ-साथ चला जाऊँ तो सरकारी गोशाला में पहुँच जाऊँ और वहाँ किसी से कहकर मोटुरिया भेजवा सकूँगा। मुदा, पूँछ तो इसकी मिलती नहीं।

[**औरत हटकर दूर खड़ी हो जाती है**]

आदमी : मगर यह तो बिचकती-भडकती है। पीठ पर हाथ नहीं रखने देती। पूँछ तो इसकी है नहीं। मगर पीठ पर हाथ भी रखने दे तो इसके साथ जा सकूँ। (**टटोलता है**) न जाने किधर चली गई—इस घनघोर अँधेरी मे कुछ सूझता ही नहीं।

औरत : (**गुस्से से**) तू क्या बौरहा है रे ? या रतौंधी होती है ? ऐसी चिट्ट उजियाली को अँधियाली कहते हो, मेहरारू को भैंस बतलाते हो ? क्या तुम अंधे हो ? कपार में आँखें नहीं, उल्लू के घोसले हैं ?

आदमी : यह लो, यह तो कोई मेहरिया है, हो। उल्लू के घोसले तो तुम्हारे जान पड़ते है जो इस अँधियाली को उजियाली बताती हो। मुझे तो कुछ सुझाई नहीं पड़ रहा है।

औरत : तब तुम या तो जनम के अंधे हो, या तुम्हें रतौंधी होती है। पूनो की ऐसी साफ जुन्हाई छिटकी है कि जमीन पर चलती चीटी भी दिखलाई पड़ती है।

आदमी : (**औरत के सामने अपनी कमजोरी छिपाकर**) ये लो, कौन कहता है, मुझे रतौंधी है ? मैंने तो तुम्हें दूर ही से देख लिया था। मुदा इस जुन्हाई मे तुमसे मज़ाक और हँसी-दिल्लगी करने को तबीयत मचल पड़ी, इसी से अंधे का स्वाँग बना रहा था। नहीं तो मुदा, हें-हें अँधेरी रात में भी तुम्हारे आते ही चारों ओर जुन्हाई हो जाए। मुदा, मैं

सरकारी आदमी हूँ।

औरत : मैं तो उसी घड़ी समझ गई थी कि तुम दिल्लगी कर रहे हो। मरदुए मेहरारुओं को देखकर ऐसी ही ऊटपटाँग हँसी-मजाक करते हैं। मेरे यहाँ तो सभी लोग आते हैं और मुझे काली-कलूटी बेडौल देखकर मुझे भैंस कहते हैं। इसी रियासत में तो एक से एक मोटे मनई और मेहरारू हैं। मैं तुम्हारी बाइसिकल और पोशाक देखकर भी न समझ सकी कि तुम सरकारी आदमी हो!

आदमी : (**मूँछों में ताव देकर मंद-मंद हँसते हुए सिर हिलाता है।**) हँ-हँ-हँ-हँ, सभी जानते हैं कि मैं रियासत में बड़े ओहदे में हूँ। (**पगड़ी ठीक करता है, गला खकारता है।**)

औरत : (**पास आकर**) मगर खूब दिल्लगी करते हो सरकार, (**तिरछी आँखों से देखकर**) औरत को बेआबरू करने बीच रास्ते में भूतपरेत की तरह चिपटते हो!

आदमी : (**बैठे-बैठे सरककर उसके पाँवों से लिपटता है। ताड़ी छलककर उसके ऊपर आती है**) बाप रे, राम का नाम लो, पिसाच-परेतों के नाम से मेरे होश-हवास उड़ने लगते है। (**हटकर**) हाय, हाय, यह कौन-सा पनाला खोल के बहा दिया है, बदबू से नाक सड़ गई है।

औरत : यह लो, मेरे यहाँ तो रियासत के सभी पेशकार, जिलेदार, अहलकार, मुख्तार, सलाहकार, उम्मीदवार—सभी पीने आते हैं। लेकिन शुरू-शुरू में सभी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। मगर फिर इसके बिना जिन्दगी में, किसी काम में भी मन नहीं लगता। (**ताड़ी भरा मटका दिखाते हुए**) यह ताजा भरा हुआ मटका है। कहिए तो हजूर को चखाऊँ। खजूर की ताड़ी है सरकार, गन्ने का रस समझिए। (**मटका उतार-कर पास ही बैठ जाती है।**)

औरत : हँ-हँ-सरकार! (**मटके के मुंह से कपड़ा हटाती है**)

आदमी : (**मटके को टटोलकर**) बड़ा भारी मटका है, हो। मगर मटके तो तुम्हारे पास दो और है।

औरत . नहीं सरकार, बस यही एक मटका है।

आदमी . यह लो। मुझे रतौंधी नहीं है। जरा अपने बदन को छूकर तो देखो। दो मटके तुम्हारे पास भी है।

औरत : हे-हें-हे, हजूर को हँसी-दिल्लगी पसंद है। खूब ठठोली करते है। (**कुल्हड़ में ताड़ी भरकर देती है।**) लीजिए सरकार।

[**आदमी कुल्हड़ टोहता है**]

औरत : अरे क्या, दिखाई नहीं पड़ता है?

आदमी : अरे, दिखाई क्यों नहीं पड़ेगा (**किसी दूसरी ओर उँगली उठाकर** वह है वह, साफ देख रहा हूँ, सिर्फ उसे अपने हाथ से छूना नहीं चाहता। इसलिए (**हाथ मिलाकर**) मना कर रहा था, तुम खुद अपने हाथ से पिला दो।

औरत : यह भी हजूर की एक दिल्लगी ही है। (**पिलाती है**)

आदमी : जरूर गन्ने के रस के समान ताड़ी ही है ।

औरत : और पीजिए सरकार (**एक के बाद एक तीन-चार कुल्हड़ पिलाती है**)

आदमी : वाह, वाह, तबीयत निहाल हो गई ।

औरत : हजूर, अब कुछ इनाम-बख्शीश मिले मालिक !

आदमी : जरूर-जरूर (**जेब से कुछ पैसे देता है**)। क्या नाम है तुम्हारा ?

औरत : लक्ष्मा कहते है सरकार।

आदमी : खूब, डील-डौल से भी पक्की लक्ष्मन हो ।

[**दूर से—सरकारी भैंस खो गई है, हो —कहीं किसी ने देखी हो तो पहुँचा जाए, हो—**]

[**सिपाही का प्रवेश**]

औरत : अच्छा हजूर, बंदगी। अब जाती हूँ (**मटका उठाकर जाना**)

सिपाही : सरकारी भैंस हो—, सरकारी भैंस आ-आ—लक्ष्मी, लक्ष्मी (**जाता है**)

आदमी : एँ, लक्ष्मी—सरकारी भैंस ? वह औरत भी तो अपना नाम लक्ष्मी ही बतला रही थी। उसी को तो यह भैंस के बहाने नही ढूँढ रहा है। (**पुकारकर**) अभी यहीं रही हो सरकारी भैंस। (**एक शरारती लड़का पास-पड़ोस से आकर भैंस की आवाज की नकल करता है ।**)

सिपाही : (**लौटकर**) कहाँ ह भैंस ?

आदमी : अभी यही तो रही, उस ओर चली गई।

सिपाही : उधर से तो मैं ही आ रहा हूँ ।

आदमी : तो इस ओर चली गई होगी।

सिपाही : कैसा होलट आदमी है। कभी उस ओर बतलाता है, कभी इस ओर। (**दूसरी ओर जाता है । लड़का आकर भाऊँ-भाऊँ कहता है**)

आदमी : यह भैंस ही की तो आवाज है, हो (**टटोलता है**) लक्ष्मी, लक्ष्मी !

[**लड़का उसके पास आकर भाऊँ-भाऊँ कहता है। आदमी अपने को बचाता है—लक्ष्मना, लक्ष्मना। लड़का उस पर दुलत्ती झाड़ता है—ये रही तुम्हारी भैंस। इसे पकड़ो,···मार लतिया रही है। लड़का भाऊँ-भाऊँ कहता है। फिर लतियाकर भाग जाता है।**]

सिपाही : (**आकर**) कहाँ है भैंस ?

आदमी : (**अँधेरे की ओर इशारा कर**) यह तो सामने खड़ी है, हो। इतनी जल्दी क्या मोटर है जो कहीं दूर चली जाए। तुम्हें क्या रतौंधी होती है, जो दिखलाई नहीं पड़ता ?

सिपाही : (**इधर-उधर देखता है**) कहाँ है ? यहाँ तो भैंस क्या, चुहिया तक नही दीखती है।

आदमी : वह लो, अभी तो जाते-जाते मुझ पर दुलत्ती झाड़ गई। हाँ, तुम्हें अगर लक्ष्मना चाहिए तो जुदी बात है। वह भी मुदा अपने को भैंस ही

बतला रही थी और अभी मुझे ताड़ी पिलाकर चली गई।

सिपाही : **(लाल-पीला होकर)** लक्ष्मना ? मेरी बीबी ? तुम्हें ताड़ी पिलाकर तुम पर दुलत्ती झाड़कर चली गई ? तुमने शराब पीकर जरूर उससे छेड़खानी की होगी, बदमाश **(उसे पीटता है)** सच बतला, तूने मेरी बीबी से क्या कहा ? **(पीटता है)**

आदमी : अरे राम रे, मार डाला ! हाय रे, ललितपुर से मै इसलिए आया कि फौरन से पेश्तर मोटर लेकर हरीपुर पहुँचूं।

सिपाही **(फिर पीटता है)** बदमाश मोटर पर जाएगा ? शराब का नशा दिखाकर अड-बड बकता है।

आदमी : अरे राम रे, कोई बचाओ ! नशा-वशा तो कभी का रफू हो चुका है। अब होश-हवाश भी उड़ना चाहते है।

सिपाही : कोई बहुत भारी पियक्कड़ जान पड़ता है। ससुर, इतनी क्यो पी थी कि होश-हवाश भी न रहे।

आदमी . अरे राम रे, यह तो मुझे जान से मार डालेगा। अब ललितपुर की . रानी साहिबा के लिए मोटर कैसे जाएगी ?

सिपाही : ललितपुर की रानी साहिबा के लिए मोटर ? क्यों, कहाँ है हमारी सरकार ?

आदमी : हरिपुर में पड़ी है। ससुर भैंस की ही तलाश मे रहते हो। अपनी रानी साहिबा की खबर नही रखते।

सिपाही : आखिर हरीपुर मोटरिया मे तो गई होगी।

आदमी : वह मोटरिया बिगड़ गई है। ससुर भैंस बिगड़ती है, गाय-बैल बिगड़ जाते है, घोडा बिगड उठता है, औरत बिगड जाती है तो क्या मोटर नही बिगड सकती ? तुम्हारा दिमाग भी तो बिगड़ा ही हुआ है।

सिपाही : आखिर जब खबर देने आए हो तो यहां क्यों बैठे हो ?

आदमी : भुला यही तो, हाय-हाय बदन दुखने लगा। **(बदन दबाता है)** यह रतौंधी ससुर किसी को न हो। यह आँखो के होते हुए भी आदमी को अधा और उल्लू बना देती है उल्लू ससुर तो दिन ही का अंधा होता है, मगर यह रात को अधा बनाती है।

सिपाही : यह लो, तुम तो मुझे रतौंधी बतला रहे थे।

आदमी : मुदा, तुम्हारी अकल की आँखो मे रतौंधी है। अपनी सरकार की खोज छोड़कर भैंस की खोज मे भटक रहे हो ! अरे, अकल बडी कि भैंस ? भैंस भी कोई तुम्हारी अकल है, जो हमेशा के लिए गायब हो जाय ? पहले मोटरिया तो भेजवा दो।

सिपाही : **(साईकिल पकड़कर)** इसी बाइसिकिलया मे आए हो क्या ? **(साइकिल आदमी के पास लाकर)** लो, पहले तुम आगे बैठ जाओ।

आदमी : **(बैठता है)** तुम्ही ने पीटा है। अब ससुर तुम्ही लादकर ले जाओ। रतौंधी उतनी बुरी नही होती। आँखें सही-सलामत रहती ही है। आदमी अंधा नही हो जाता। रात को जो ससुर देखता है, वह तो

जनम का उल्लू है। लेकिन मुझे तो इस वक्त अपना उल्लू सीधा करना है।

सिपाही : (हँसता है) बना ले साले, इस वक्त उल्लू। अभी पेड़ के नीचे चमगादड़ की तरह फड़फड़ा रहा था। (**साइकिल चढ़ने लगता है**)

आदमी : उल्लू नहीं तो उल्लू का गोश्त जरूर खाए हो।

[परदा गिरता है]

[अंक एक : चतुर्थ दृश्य]

[स्थान हरिहरपुर : राय साहब का अन्तःपुर। प्रीति और उषा गाव-तकियों के सहारे दीवान पर बैठी हैं। सामने मेज पर चांदी की तश्तरी में पान, सुपारी और इलायची रखी है।]

[परदा उठता है]

उषा : अच्छा जीजी, आपको कैसे रोकूं। मुझे भूलिएगा नही। आपसे अलग होने में न जाने कैसा कुछ लग रहा है।

प्रीति : (उषा का हाथ पकड़ते हुए) तुमने तो मुझ पर जादू डाल दिया है। अब जब तक तुम नहीं आ जाओगी, तुम्हारी इस फोटो को देखकर संतोष करना पड़ेगा। (मुस्कराकर) कहीं देवरजी ने छीन ली तो!

[लक्ष्मी का प्रवेश। इस समय दूसरी पोशाक में है।]

उपा : (मुँह दूसरी ओर फिराकर) रहने दीजिए अपनी बातें!

उषा : (प्रीति के साथ उठकर) ये तो अभी जाने के लिए कहती हैं, माँ! शायद बबुआइन साहब रुकना नहीं चाहती हैं।

लक्ष्मी : (प्रीति से) मैं उन्हीं के कारण रुकने के लिए आग्रह नहीं कर रही हूं। पर बेटी, तुम अपने साथ हमारा दिल लिए जा रही हो।

प्रीति : आपने अपने दिल के बदले में मेरा दिल रख लिया है और उषा से पूछ लीजिए, उसका दिल अब उसके पास नहीं रहा।

[लक्ष्मी हंसती है। दासी का प्रवेश।]

दासी : मोटर तैयार है, सरकार।

प्रीति : (लक्ष्मी से) आज्ञा दीजिए। (झुककर नमस्कार करती है। लक्ष्मी साथ चलती है।) ना, ना, आप कष्ट न करें। उषा मुझे पहुँचा देगी।

लक्ष्मी : अच्छा, तो फिर उषा का ख्याल रखना।

प्रीति : आप चिन्ता न करें। मैं उनकी इच्छा पहले से ही जानती हूँ। आप लोगों को इसमें आपत्ति है नहीं। रहे देवर, उन्हें तो यह प्रस्ताव बहुत पसन्द आएगा। हाँ, क्योंकि जात का प्रश्न है, इसलिए सिविल मैरेज करनी होगी।

[उषा-प्रीति का प्रस्थान]

दासी : बड़ी ही सुशील, बड़ी ही नेक-सुभाव हैं, घमंड छू तक नहीं गया। बड़प्पन इसी को कहते हैं, जैसे धरती।

[मोटर जाने की आवाज आती है]

लक्ष्मी : स्त्री नहीं, रूप में इन्द्राणी, गुणों में महालक्ष्मी है।

दासी : बिल्कुल आपही का अवतार हैं, सरकार। और डील-डौल भी बिलकुल आपसे मिलता-जुलता है। जब बगिया में थी, मैंने समझा आप ही खड़ी हैं। (हाथ जोड़कर) अब सरकारजी, रूप-रंग की बात जाने दीजिए, यह तो उमर पर है। मैं सौगन्ध खाके कहती हूँ, अगर दोनों एक से कपड़े पहने रहें, एक ही जगह बैठे रहें, मुंह पर दोनों घूंघट दिए रहें तो कोई भी नहीं पहचान सकता कि कौन आप हैं, कौन वे हैं। तब रूप-गुण में फरक ही नहीं रहेगा।

लक्ष्मी : दूर हो पगली, बोलना तक नहीं जानती। जा, बाहर बैठक में जाकर सरकार को खबर दे आ कि अन्दर जरूरी काम है।

दासी : (आहत होकर) लो, मैंने क्या गलत कहा। अगर मुंह पर घूंघट हो, पहले देखा न हो, तो कोई पहचान ही न पाएगा कि कौन···

लक्ष्मी : चल हट, मेरा सिर खा रही है। जाती है कि···

दासी : (सिर में आँचल खींचकर) सरकार तो खुद ही आ रहे हैं।

(जाती है)

[लक्ष्मी जल्दी से घूंघट खींचकर दीवान के एक ओर खड़ी हो जाती है।]

रायसाहब : (कहते हुए प्रवेश) वे लोग गये क्या? मोटर की आवाज आई थी।

[लक्ष्मी संकोच दिखाती है]

रायसाहब : एँ (लक्ष्मी को प्रीति समझकर) ओह, मुआफ कीजिए। बैठिए, बैठिए, (लक्ष्मी सिमटकर दीवान के एक कोने में बैठती है) मैं जाता हूँ। (जाने को तैयार) मोटर की आवाज से धोखा हो गया था कि आप लोग वापस चले गये हैं। आपने बहुत अच्छा किया, जो यहीं रह गए। रात को जाने में परेशानी होती (गला खकारते हुए) आखिर, यह भी तो आप ही का घर है।

लक्ष्मी : (पतली दबी आवाज में) अरे, आप क्या खड़े ही रहिएगा।

[राय साहब इधर-उधर दृष्टि दौड़ाते हैं। उस कमरे में बैठने के लिए केवल एक दीवान है। राय साहब बैठने के लिए कुछ न देख कर दीवान के दूसरे कोने में बैठते हैं। उनके बैठते ही लक्ष्मी खड़ी हो जाती है।]

रायसाहब : नहीं, नहीं, कोई हरज नहीं। आप बैठिए, बैठिए (लक्ष्मी खड़ी ही रहती है। राय साहब कुछ दूर जाकर बाहर की ओर देखकर) अरे, सब लोग कहाँ चले गए? लाहौल बिलाकूवत! आपको यहाँ अकेले बिठा रखा है। सुभान अल्लाह! अरे कोई है? लेकिन आप खड़ी क्यों हैं? वल्लाह, खूब तकल्लुफ है, बैठिए, तशरीफ रखिए। आपका घर

है—उषा, उषा !

लक्ष्मी : **(संकोच से सिमटकर दीवान के एक कोने में बैठ जाती है। पतली दबी हुई आवाज में)** वे लोग यहीं कहीं पड़ोस में कथा सुनने गए है। लेकिन आप बैठ जाइए ना। **(उठने को उद्यत होती है।)**

रायसाहब : **(हाथ से बैठने का इशारा कर)** कोई हरज नहीं, कोई हरज नहीं। आप बैठिए। **(लक्ष्मी बैठती है)** कथा मे जाने को ऐसी कौन-सी जरूरत थी ? **(जैसे अपने से ही कह रहे हों)** जरा देखिए, लाहौल बिला-कूवत ! घर में मेहमान आए हैं। उन्हें अकेला छोड़कर चल दिए ! इस घर के सब तौर-तरीके ही निराले है। सुभान अल्लाह ! क्या मेह-मानदारी की रस्म अदा हो रही है ! रस्म जाए भाड़ में। मैं कहता हूँ, आखिर शराफत भी तो कोई चीज है। घर मे कोई भला आदमी आया हो—

लक्ष्मी : **(पतली दबी आवाज में)** तो ऐसी कौन-सी बात हो गई है। छोटी-मोटी बात में वे लोग बुरा मान जाते है, और फिर हमेशा के लिए मन में रखते हैं। वह तो जाने के लिए राजी नहीं थी। मैंने ही जबर-दस्ती दोनों को भेज दिया।

रायसाहब : **(जरा नरम पड़कर)** हें-हें-हें-हें। आपने तो अपनी ओर से शरा-फत बरती। लेकिन उन लोगो ने तो मुझे हैरत मे डाल दिया। बड़े भाग्य से आज आप घर में पधारी है। आपको अकेले छोड़कर, लाहौल बिलाकूवत. मेरे तो कुछ समझ में नहीं आता **(इधर-उधर कमरे में टहलते हैं।)**

लक्ष्मी : **(जरा घूंघट ऊपर कर)** आखिर मैं ही कहाँ मेहमान बनकर आई हूँ। फिर कोई अकेली भी तो नही बैठी थी। उषा के बनाए चित्र देख रही थी। कितनी कुशल है ! उसकी चित्रकला देखते-देखते आँखें नहीं अघाती हैं। मैं तो आश्चर्यचकित हूँ। इतनी छोटी आयु में इतना बड़ा हुनर कैसे सीख लिया है। हर एक तस्वीर जैसे मुँह बोलती है। मैं तो बरसों इनके साथ बैठी रहूँ, तब भी जी न ऊबे। लेकिन आप कब तक टहलते रहेंगे। आप बैठ जाइए ना !

[राय साहब फिर दीवान के पास बैठने को आते हैं। लक्ष्मी खड़े होने का अभिनय करती है।]

रायसाहब : मुझे आदत है। **(टहलने लगते हैं, खुश होकर)** बिसमिल्लाह ! आपने तो तारीफ के पुल बांध दिए है। अभी तो वह बच्ची है। अभी उसे आता ही क्या है ! उसने सीखा ही कितना है। लखनऊ आर्ट कालेज की डिग्री लेकर कोई कलाकार नहीं बन जाता। ये समझिए कि उसे इसकी धुन सवार है, बस ! लेकिन इस कला को तो सारी उम्र देनी पड़ती है, तब जाकर कोई कागज में कूची से कला को जीवित कर देता है। **(हंसते हैं)** लेकिन गुन की परख के लिए गुनी ही चाहिए। मुझे बेहद खुशी है आपके कला-प्रेम को देखकर। आपने तो तारीफ की झड़ी लगा दी। आपकी कृपा है सब !

लक्ष्मी : गुनियों के लिए आयु का प्रश्न नही उठता। मैं तो उसे विधाता की देन समझती हूँ। (**दो तस्वीर बढ़ाकर**) यह देखिए ना, कैसे जीते जागते हँसते-बोलते चित्र हैं। (**राय साहब जरा और पास सरक आते हैं। लक्ष्मी भी जरा-सा घूंघट उठा लेती है**) मैं क्या नहीं देखती, इसकी उम्र की लड़कियाँ गुड्डे-गुड़ियों से खेलती हैं। लेकिन यह खेल, यह कला, सूक्ष्म दृष्टि, प्रतिभा ! मैं तो इन चित्रों को चितेरी पर निछावर हो गई (**तस्वीरें मेज पर रखकर**) आपका कमरे मे चलना अच्छा नहीं लग रहा है। दिन-भर के थके-माँदे···

रायसाहब : ठीक है, ठीक है। उषा तो बच्ची है। आपको उसका उत्साह बढ़ाना ही चाहिए। मैं तो आपके कला-प्रेम का प्रशंसक हूँ। आपके गुनों की जैसी प्रशंसा सुनी थी, आप उससे बढ़कर है। भला, इस जमाने में कौन किसकी कद्र करता है। (**चित्रों की ओर देखकर**) आपको इनमें जो पसन्द हो, उन्हें आप जरूर ले जाइएगा। न हो, मेरे कहने से ले जाइए। यह सब आप ही का तो है।

लक्ष्मी : जरूर ले जाऊँगी। मेरे देवर को चित्रकारी का बेहद शौक है। अभी यूरोप से लौटे है। कला के बड़े प्रेमी है। मैं तो इन तस्वीरो ही को नहीं, तस्वीरों के बनाने वाली को भी उन्हीं के लिए माँगना चाहती हूँ।

रायसाहब : ईश्वर की दया ! मैंने तो कुँवर विश्व सिंह को छुटपन से देखा है। उनका स्वभाव मुझे बहुत पसन्द है। (**मुस्कराते हुए**) मैं तो इसके बारे में आपसे स्वयं प्रार्थना करना चाहता था, पर जरा संकोच में पड़ गया। आपका घराना आधुनिक विचारो का है और···

लक्ष्मी : (**बात काटते हुए**) वाह, इसमें संकोच और दुविधा की कौन-सी बात है ? उषा जैसी लड़की तो हमारी बिरादरी में कहीं खोजने से भी नहीं मिल सकती। लेकिन आपके तो पैर लड़खड़ा रहे हैं। (**दीवान की ओर इशारा करके**) आइए, बैठ जाइए ना ! (**राय साहब चुपके से बैठ जाते हैं। लक्ष्मी खड़ी हो जाती है। राय साहब साथ ही उठ खड़े होते हैं।**)

रायसाहब : आप बैठिए।

[**लक्ष्मी बैठ जाती है**]

लक्ष्मी : मैंने उषा की माताजी से शादी के बारे में कहा था पर उन्होंने कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई।

रायसाहब : लाहौल बिलाकूवत ! भला उनसे कहने की क्या जरूरत है ! उन्हें तो कभी कोई नेक सलाह पसन्द ही नहीं आई। यही तो मेरी दिक्कत है। खुदा बचाए, अपना-अपना भाग्य होता है। (**हँसते हुए**) मैं पूरब कहूँ, वह पश्चिम कहेंगी। मैं दिन कहूँ, वह रात।

लक्ष्मी : आपके यहाँ तो मैं सभी की इच्छा जानती हूँ। आज आपकी राय जानकर मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। मुझे तो देखते ही न जाने उषा से कैसी मोहब्बत हो गई है।

रायसाहब : आप उसे अभी से अपनी ही समझिए। ईश्वर शुभ घड़ी जल्दी ही लाएँ। आपके दर्शनों से आज बेहद खुशी हुई, बेहद खुशी।

लक्ष्मी : (उठकर) आपसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। (घड़ी में ग्यारह का घंटा बजता है) ओह, बड़ी देर हो गई। अब आप आराम कीजिए। दिन भर की दौड़-धूप से थके होंगे। उस पर कमरे में टहलना पड़ा। मैं जाती हूँ। (जाने को तैयार)

[प्रस्थान]

रायसाहब : (जल्दी से दीवान पर बैठते हैं) लाहौल विलाकूवत! घंटे भर से खड़े-खड़े कमर दुखने लग गई। क्या व्यवस्था है घर में! कहीं बैठने का ठिकाना नहीं, खाने-पीने का ठिकाना नहीं, सोने का ठिकाना नहीं! अपने यहाँ मेहमान आए हैं, ग्यारह बजे रात तक उनसे खाने के लिए पूछनेवाला कोई नहीं, सोने की व्यवस्था करनेवाला कोई नहीं, घर में सब लोग नदारत हैं, नौकर-नौकरानियाँ भी गायब हैं। आलसी, गधे! लाहौल विलाकूवत! लानत है ऐसे घर पर। इससे सराय अच्छी। तोबा, तोबा, पैर ऐंठ गए है। (पैर फैलाकर खींच लेते हैं) एक ललितपुर की रानी साहिबा है! क्या दरियादिल नेकमिजाज औरत हैं। क्या शराफत है! क्या तमीज!

[धोती बदलकर लक्ष्मी का प्रवेश]

लक्ष्मी : (आते-आते) हो गई आप लोगों की मुलाकात?

रायसाहब : (मुँह फिराकर) खुदा न करे, ऐसी बीबी से किसी का पाला पड़े?

लक्ष्मी : ऐं, क्या कहा उन्होंने? वह तो बड़ी ही शरीफ···

रायसाहब : फिर वही बात! (सख्ती से) मैं तुम्हारी बात कर रहा हूँ। घर में किसी शरीफ औरत को अकेला छोड़कर पड़ोस में नाच-तमाशे देखने जाना शराफत है? मुझे क्या मालूम, रानी साहिबा अकेली हैं! मैं अन्दर चला आया।

लक्ष्मी : (गंभीर होकर) हाँ, आपको कैसे मालूम होता?

रायसाहब : (अपनी ही धुन में) वो तो कहो, वे भली मानस हैं। क्या दरिया-दिल, क्या नेक-मिजाज औरत हैं? हर एक बात, हरेक इशारे से नफासत टपकती है। क्या तमीज, क्या अन्दाज, क्या अदब, क्या शराफत की पुतली हैं! एक तुम हो···लाहौल विलाकूवत!

लक्ष्मी : अच्छा, मैं बुरी ही सही। चलो, आपको कोई तो पसन्द आया। मैं तो इसलिए जान-बूझकर चली गई थी कि दरसन-परसन में फरक न पड़े। न जाने क्या-क्या मंसूबे बाँधे हैं, क्या-क्या दिल की हसरतें और अरमान निकालने हैं!

रायसाहब : (चिढ़कर) वो तो तुमने अक्ल का काम किया। अगर तुम यहाँ होतीं, तो मैं कुछ भी नहीं कर पाता। लाहौल विलाकूवत, तुमसे तो उम्मीद ही करना बेकार है। मैंने जनाब, चन्द ही मिनटों में उषा की शादी विश्व सिंह से तै कर ली। बैठे-बिठाए ही सारा काम बना डाला (अँगड़ाई लेते हैं)।

लक्ष्मी : चलो, बहुत अच्छा हुआ। यह फिक्र भी दूर हो गई। इतना अच्छा घराना मिल गया। शुभ काम जितनी ही जल्दी हो, कर डालना चाहिए। लड़की भी दिन पर दिन सयानी हो रही है। अब तो सिविल मैरेज ही जमाने को पसन्द है। कचहरी गए और दस्तखत !

रायसाहब : लाहौल विलाकूवत ! आर्य समाजी शादी क्यों नहीं ? एँ ? अपने घर-देश का रिवाज छोड़कर ! अब तो आर्य-समाजी शादी का बिल भी पास हो गया। (**अँगड़ाई लेते हैं**)

लक्ष्मी : सो आप ही लोग आपस में तै कर लें। खाना खा लीजिए और सो जाइए। अँगड़ाई पर अँगड़ाई ले रहे हैं। आइए, खाना तैयार है।

[**प्रस्थान**]

रायसाहब : (**दीवान पर से उठते हैं**) लाहौल विलाकूवत !

[**परदा गिरता है**]

प्रथम अंक समाप्त

[अंक दो : प्रथम दृश्य]

[स्थान : अवध में करमपुर नाम का एक दूसरा इलाका। करमपुर के जमींदार का पुराना मकान रद्दोबदल कर थोड़ा बहुत नए ढंग का लिया गया है। बहुत ही साफ सुन्दर सजाई हुई बैठक है, उसमें महेशबख्श सिंह कुछ लोगों के साथ बैठे हैं।]

महेशबख्श : पुराने विचारों को अब कोई नहीं पूछता। सब ओर नई रोशनी की कदर है। (**नौकर से**) बिहारी, वह देखो मेज पर धूल दिखाई दे रही है। उसे साफ करो। (**बिहारी, झाड़न से धूल पोंछता है। महेशबख्श जोर से गला खकारते हैं**) कांग्रेस के राज में गांवों में भी घर-घर शिक्षा का प्रचार हो रहा है। महेशबख्श सिंह किसी बात में पीठ दिखाना नहीं चाहता।

एक मुसाहब : कभी नहीं सरकार, सिंह कहीं पीठ दिखाता है?

बिहारी : सिर्फ मुझे मालिक पीठ दिखाते हैं, और वह भी तेल मालिश कराने के लिए।

महेशबख्श : (**उस पर ध्यान न देकर**) फिर इधर हाकिमों से मिलना पड़ता है, उधर कौंसिल और ऐसेम्बली का दरवाजा खुल गया है। इसलिए मैंने सोच लिया है कि जल्दी से पढ़-लिख के, चुस्त-दुरुस्त हो के, नये जमाने के साथ कदम रखूं। अभी मैं अधेड़ भी तो नहीं हुआ हूं।

बिहारी : नहीं, सरकार, अभी तो मसें भी नहीं भीगी है।

महेशबख्श : चुप बदमाश! अब मैं क्लीन शेव रहता हूँ इसलिए कहता है।··· हाँ तो पंडितजी, आपको मैं भाषा का टीचर बनाना चाहता हूँ। इसलिए आपको बुला भेजा है। आप आज ही से अपना काम शुरू कर दीजिए।

पंडित : बहुत अच्छा, सरकार। आप तो विद्यासागर हैं, सिर्फ हम लोगों की परीक्षा लेना चाहते हैं।

महेशबख्श : (**गला खकारकर**) बिहारी, वह फूलदान कैसा दीख रहा है, ठीक करो। (**बिहारी साफ करता है। महेशबख्श सिगरेट केस उठाते हैं**) ऊँह—इसे साफ करो। (**बिहारी उसे पोंछकर रखता है। महेशबख्श सर खुजाते हैं।**)

बिहारी : यह भी साफ नहीं, सरकार। (**कंधे से झाड़न लेकर सिर पोंछता है।**)

महेशबख्श : (**भौंह में बल देकर**) क्या करता है? (**बिहारी एक ओर हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है।**) (**पंडितजी की ओर देखकर**) हाँ तो पंडितजी, शुरू में क्या पढ़ा जाय?

पंडितजी : हज़ूर, मालिक, विद्यावारिधी, भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रारम्भ में व्याकरण सीखना चाहिए।

दूसरा मुसाहब : अँए, ब्याह करने की सीख तो इस आयु में अच्छी नहीं है। यह कैसी नई रोशनी है, हो? यह पंडित है कि नाऊ?

महेशबख्श : व्याकरण? अच्छा तो प्रारम्भ कीजिए।

पंडित : सरकार को मालूम है '**स्वर**' किसे कहते हैं?

दूसरा मुसाहब : यह लो, सभी को मालूम है—(**दाएँ-बाएँ नथने दबाकर हाथ में साँस छोड़ता है। बायाँ सुर छोड़कर**) यह बायाँ स्वर। कोई और सुर असुर है तो नहीं कह सकता।

पंडित : सरकार, अ, आ, इ, ई,···अ अः, व्याकरण में इन्हें स्वर कहते हैं।

महेशबख्श : अच्छा स्वर इन्हें कहते हैं! वाह! अ आ इ ई स्वर।

बिहारी : (**पंडित के सिर पर पीछे से इशारा कर कहता है**) मर!

महेशबख्श : अ आ इ ई—स्वर!

बिहारी : (**पंडित से**) मर!

महेशबख्श : अच्छा, आगे चलिए! (**पंडित आगे खिसकने लगता है**) नहीं, नहीं वहीं से सिखाइए!

पंडित : सरकार, जानते हैं व्यंजन किन्हें कहते हैं?

दूसरा मुसाहब : वाह रे पंडत, हमारे सरकार को छत्तीस प्रकार बत्तीस व्यंजन —सभी राजभोग सुलभ है, और उन्ही से पूछते हो!

पंडित : (**महेशबख्श को चुप देखकर**) सरकार, क ख ग घ इत्यादि व्यंजन कहलाते हैं।

महेशबख्श : अच्छा आ आ। अ आ इ ई स्वर, क ख ग घ व्यंजन। वाह पंडित जी, वाह! अ आ इ ई स्वर, क ख ग घ व्यंजन। अच्छा और बतलाइए।

पंडित : (**सोचता है, पंडिताऊ रोब से**) हाँ, कंठ्य किसे कहते हैं कंठ्य? जिनमें कंठ लगता है।

[**महेशबख्श सोचने लगते हैं, फिर गले में हाथ लगाते हैं**]

पहला मुसाहब : बिलकुल तोते की तरह कंठ बज रहा है। जैसे आज ही सरकार का कंठ फूटा हो। कई मेहरारुओं को कंठ लगा चुके हैं, क्या वे नहीं जानते कंठ लगाना?

पंडितजी : हज़ूर, सरकार जिनकी आवाज सीधे गले से आती है, उन्हें कंठ्य कहते हैं।

पहला मुसाहब : यह लो, सभी आवाज तो गले से आती है, बिना गले के कोई

बोल सकता है ? कहते हैं कि उसका गला अच्छा, उसका बुरा गला है—इस पंडित का तो फाँसी देने लायक गला है, न जाने क्या सिखाता है।

पंडित : जैसे क ख ग घ-ङ-ह।

महेशबख्श : (**धीमी आवाज से**) क ख ग।

पंडित : जरा जोर से कहिए हजूर, तब आपको अंदाज आएगा।

महेशबख्श : ठीक, क··· सब लोग कह के देखो—

सब : (**एक साथ**) क···, क···, क···, क···

नौकरानी : (**प्रवेश करके**) हजूर, मालकिन पूछ रही है कि सब लोग कौओं की तरह जोर-जोर से काँऊ-काँऊ क्यों कर रहे है ?

बिहारी : गँवार कहीं की। तू क्या जानती है ? भाग यहाँ से। अभी सरकार कैसी-कैसी बोली बोलते हैं। (**नौकरानी का प्रस्थान। सब लोग काँव-काँव बन्द करते हैं**)

महेशबख्श : अच्छा तो क, ख, ग, घ में कंठ्य हैं।

पंडित : ह भी हुजूर।

महेशबख्श : अच्छा इनके साथ ह भी है ? ह···, ह···, बिलकुल ठीक। ह··· ह···भी इन्हीं के साथ है ! बिलकुल गले से निकलता है ! (**दूसरों से**) सब लोग कह के देख लो। जरूर गले से निकलता है।

सब लोग : (**जोर-जोर से**) ह···, ह···, ह···, ह···, ह···, ह···,

दूसरा मुसाहब : हाय-हाय, यह कैसी नई रोशनी है। दिन दहाड़े हमारे सरकार सियार की तरह बोलने लगे हैं !

[**सब लोग चुप हो जाते हैं**]

महेशबख्श : अच्छा पंडितजी और आगे बतलाइए।

[**पंडितजी सोचने लगते हैं**]

पहला मुसाहब : मालूम होता है पंडितजी पढ़ा-लिखा सब कुछ भूल गए हैं, नहीं तो ऐसी बोली क्यों बोलवाते।

पंडित : (**याद कर**) सरकार ओष्ठ्य किन्हें कहते हैं, जानते है ?

[**महेशबख्श सोचते है फिर ओठ छूते हैं**]

दूसरा मुसाहब : हमारे सरकार ने सैकड़ों जुवतियों के ओठ चूमे है। उनसे ज्यादा ओठों के रस की बात कौन जानता है ?

पंडित : सरकार, जिन्हें कहने में ओठ से ओठ मिलते हैं उन्हें ओष्ठ्य कहते हैं।

[**दूसरा मुसाहब बिहारी के पास जाकर उसके ओठों से ओंठ मिलाता है।**]

पंडित : जैसे प, फ, ब, भ, म,

महेशबख्श : प, फ, ब, भ, म। वाह पंडितजी, बिलकुल ठीक प, फ, ब, भ, म।

कैसा आश्चर्य है ! बिना ओठों के ओठों से छुए कोई कह ही नहीं सकता। सब लोग कहकर देखिए।

सब : **(नीचे के ओठ को खूब ऊपर चढ़ाकर, मुंह बिचकाकर साथ-साथ कहते हैं)** प, फ, ब, भ, म। प, फ, ब, भ, म। प, फ, ब, भ, म···

नौकरानी : **(प्रवेश कर)** हजूर, सरकार आपसे बहुत जरूरी काम से मिलना चाहती है।

महेशबख्श : अच्छी बात है। तो पंडितजी, आज यहीं तक रहने दीजिए। व्याकरण सीखने में बड़ी मेहनत पड़ती है। अच्छा, पाय लागन। अब आप लोग जाएँ। **(सबका प्रस्थान। नौकरानी से)** सरकार को भेज दो। **(गला खकारकर)** बिहारी, जहाँ लोग बैठे थे, वहाँ की फर्श को साफ कर दो।

[बिहारी फर्श पोंछता है। मैना का प्रवेश]

मैना : हाय-हाय, सब लोग कैसा शोर मचा रहे थे।

महेशबख्श : जानती हो, ओष्ठ किसे कहते है ?

मैना : ऊँह, मैं क्या जानूँ ?

महेशबख्श : बिना ओठों से ओठ छुआए कहा ही नही जा सकता। जैसे—

मैना : **(भागकर)** हाय; हाय, दिन दहाडे और बैठक में। यह सब क्या सीख रहे हो, कोई आ जाए तो।

महेशबख्श : वह क्या था ? हाँ -जानती हो, कंठ किसे कहते है ? बिना जोर से कंठ लगाए कहा ही नहीं जा सकता। जैसे—

मैना : हाय रे, आपको आज क्या हो गया है ? यहाँ खुली बैठक में कंठ लगाओगे ?

महेशबख्श : ऊँह, अरे, यह व्याकरण है व्याकरण। इसे सीखने में छाती की मसक्कत पड़ती है। छाती को······

मैना : **(आँचल से छाती छिपाकर)** हाय रे, इन्हें क्या हो गया है, कैसी बहकी-बहकी बातें कर रहे हैं। अब छाती मसकने की बात कहते है। बराबर तो यहाँ लोगों का आना-जाना लगा रहता है। **(कालबेल बजती है)** यह लो, कोई आ गया। जरूरी काम से आई थी।

[बाहर से आवाज—महेशबख्श सिंह, महेशबख्श सिंह]

मैना : मैं जाती हूँ। **(प्रस्थान)**

[स्वरूप सिंह और कुछ लोगों का प्रवेश]

महेशबख्श : कौन है ? अच्छा स्वरूप सिंहजी हैं। **(चौड़ी आवाज में)** ओ हो **(आधुनिकता दिखाते हुए हाथ मिलाते हैं)**

बिहारी : **(आकर नमस्कार करता है)** आज तो महाराज के कई साल बाद दर्शन हुए। **(हाथ जोड़ता है)** सब कुशल है सरकार ?

स्वरूप : **(सिर हिलाकर)** हाँ।

बिहारी : चाय हाजिर करूँ—सरकार ?

महेशबख्श : हाँ, हाँ (**सिगरेट केस खोलकर**) इसमें सिगरेट भर लाओ।

बिहारी : बहुत अच्छा हुजूर। (**प्रस्थान**)

महेशबख्श : (**स्वरूप सिंह से**) कहिए, इधर रास्ता भूल गए क्या ? आपके दर्शन को मन तरसा हुआ था (**सबके साथ पीछे से एक आधा खन्ती आधा बौरहा भी साथ चला आता है। मुँह बाएँ, धूल से भरे बिखरे बाल, सबके बीच में आकर खड़ा हो जाता है**)

[**बिहारी सिगरेट केस लेकर आता है। खन्ती को देखता है**]

बिहारी : यह झबरा कौन है हो, बौरहा-सा दिखता है।

पहला मुसाहब : ऐसा मत कहो। महाराज के साथ एक कवि रहते है। वही मालूम पड़ते हैं।

महेशबख्श : अच्छा कविजी हैं। आइए महाराज, वाह वाह, बैठिए। (**बौरा खड़ा-खड़ा ताकता है**) बैठिए महाराज, तशरीफ रखिए।

बौरा : अरे सरकार, मैं यहाँ नीचे (**जमीन की ओर इशारा**) बैठ जाता हूँ। (**जमीन पर बैठता है**)

महेशबख्श : (**उठकर**) वाह, यह कैसे हो सकता है। बैठिए-बैठिए, यहाँ कुर्सी पर तशरीफ रखिए। (**पकड़कर बिठाते हैं। बौरा सबको घूरता हुआ बैठ जाता है। स्वरूप सिंह और उनके साथी कहकहा लगाकर हँसते हैं।**)

महेशबख्श : (**स्वरूप सिंह की ओर देखकर**) आपके कवि—उसे क्या कहते हैं—छायावादी कविता करते है ?

स्वरूप सिंह : जी हाँ, छायावादी कविता करते हैं।

बिहारी : इसीलिए ऐसे दीखते हैं, जैसे भूत-प्रेत की छाया पड़ी हो।

दूसरा मुसाहब : कैसी होती है हो छायावादी कविता ? कभी सुनी नहीं।

स्वरूप सिंह : जी, आजकल वही नया ढग चल पड़ा है।

[**अपनी नजर नाक पर गड़ाकर नथुने फुलाते हैं**]

महेशबख्श : नई रोशनी की चीज है। तब तो कविजी, अपनी कविता जरूर सुनाइए। (**बौरा उनकी ओर घूरता है**) सुनाइए महाराज, आपकी क्या खातिर करें।

पहला मुसाहब : कवियो और गवय्यो मे यही बडा भारी ऐब होता है, बड़ी खुशामद चाहते हैं।

बिहारी : (**बौरा के पास जाकर**) कोई कवित-ववित्त हमारे सरकार को सुनाइए ना—अरे, इनकी तो एक ही आँख है, हो !

दूसरा मुसाहब : अरे, एक आँख सोचते-सोचते भीतर चली गई। तभी तो भीतर मे छाया आया देख सकते हैं। अब सुनाइए महाराज, कवित्त। सरकार आपकी खातिरदारी के लिए तैयार हैं।

बौरा : (**हाथ जोड़कर**) कवित्त ? कवित्त तो सरकार मुझे बहुत कम याद है।

महेशबख्श : तो सुनाइए वही—देखें, जरा छायावाद क्या है?

बौरा : बहुत अच्छा, लीजिए। **(गला खखारकर एक हाथ ऊपर उठाता है।)**

माफ करें सब हूँ कवि तुक्कड़
अगर कहूँ कुछ गड़बड़-सड़बड़
प्रजा घोखती उनका नाम,
उन्हे नमस्ते, वे गो धाम।
(नमस्कार करता है)
(सब लोग हें-हें-हें-हें, कहिए महाराज, कहिए)

[महेशबख्श अपनी तारीफ सुनकर नमस्ते करते हैं]

दूसरा मुसाहब : बड़े भारी कवि हैं हो, अभी महाराज की तारीफ में कवित्त बना डाला **(बौरा के पास खिसककर)** और सुनाइए महाराज।

बौरा :
अब यह बिनती उमा महेश,
मिटे अंधेरा आंय दिनेश।

महेशबख्श :
हें-हें-हें-हें।

पहला मुसाहब : हमारे सरकार का नाम भी जानता है—महेशबख्श सिंह। वाह! वाह! सुनाइए महाराज, सुनाइए।

बौरा :
सब उनका करते सम्मान,
दोने भर-भर देवें पान।

महेशबख्श : हें-हें-हें-हें- **(गला खखारते हैं)** बिहारी, पान लाना।

बिहारी : बहुत अच्छा सरकार! **(जाता है)**

बौरा :
छोटे बड़े सभी के साथी,
द्वार झूलते दो-दो हाथी।

दूसरा मुसाहब : ठीक, ठीक, वाह 'सभी के साथी'—सब बात जानते हो, कवि!

बौरा :
शुद्ध संस्कृत करते भाषण,
शिव-शिव, कहते नमक को लवण।

महेशबख्श : हें-हें-हें-हें।

बौरा
तब उनको भाता था लाभ,
अब उनको है मांस से काम।
सब जन उनकी रखते आश,
वे छाया है वही प्रकाश।

पहला मुसाहब . ठीक-ठीक, सभी सरकार ही की तो आशा रखते है।

बौरा :
फूल फलें शिरीष, अशोक,
खेले संग में सिलवर ओक,

पहला मुसाहब : वाह-वाह, बाग की तारीफ है।

बौरा : वे हैं राम, वही हैं लछमन,
सीधे-सादे पूरे नौ मन ।

दूसरा मुसाहब : ठीक, बिलकुल ठीक ।

बौरा : पीते हैं क्या साहब हीरा,
ऊँट के मुँह में जैसे जीरा ।
खूब बनाते, गाते होली,
करते पनघट बीच ठठोली ।

पहला मुसाहब : ठठोली भी करते हैं खूब ।

बौरा : घर-घर के अलबेले डाक्टर,
अटपट बैन बोलते पागर ।
मन उनका रहता रागों में,
हाथ हमेशा ही बालों में ।

(सब हँ-हँ-हँ-हँ)

वे संगीत कि फोटोग्राफी,
आए जग में माँग के मुआफी ।
मुनि बनकर छोडा घर द्वार,
किंतु वहाँ भी मिला न सार ।

पहला मुसाहब : ठीक है हो, घर ही में गंगा है, हो !

बौरा : कवि जी कहलाते अलबत्ता
किंतु जोड़ते खाना लत्ता ।
लड़ पडते हैं, हैं झगड़ैल
मन मे किंतु न रखते मैल ।

दूसरा मुसाहब : सो भी ठीक ही है ।

बौरा : उम्दा करते शेख मजाक
नजले से चूती है नाक

(सब-हा-हा-हा-हा)

नागपईजी खूब मनेजर,
नौटंकी के अव्वल एक्टर ।

(सब-ह-ह-ह-ह-)

माल नहीं वे माल कुमार,
आर्य धरम का उन पर भार ।
हो आए बगदाद हैं बाबू
गुस्से में होते बेकाबू ।

(सब-ह-ह-ह-ह)

पोस्ट मास्टर चलते लक-लक
प्रेमी हैं तरबूज के बेशक ।

एक ओर हैं बुड्ढे डाक्टर
नाक से उनकी लगता है डर।

(सब-ह-ह-ह-ह-)

पहला मुसाहब : जरूर-जरूर।

बौरा :
खाते हैं बादाम व कटहल
पहले वे लडते थे दंगल।
गुप्त रखता है सबका मन
भाती चीज उसे नंबर वन

लूंगा नाम न, हो पतखवारी
संभल जाएं पर सभी जुआरी।

दूसरा मुसाहब : हां भाई, संभल जाएंगे।

बौरा :
विरजू की बेसुरी बीन है,
तंग पड़ोसी रामदीन है।
यह कस्बा सब बात मे आला,
पर डरपोक यहां के लाला।

विहारी : हूं हूं, लाला सभी जगह के डरपोक होते है। कौन नयी बात है?

बौरा :
हँसते है हाईस्कूल के मास्टर,
किन्तु मेहनती है हेडमास्टर।

पहला मुसाहब : (सिर हिलाता है) स्कूल की कायापलट तो हेडमास्टर बाबू ने कर दी है।

बौरा :
चूना कत्था लौंग सुपारी
सुरती प्रेमी हैं दरबारी।

दूसरा मुसाहब : सु—रति प्रेमी खूब कहा! (हा-हा-हा)

बौरा :
चलती खूब यहाँ बेढब लू
डरते सब जैसे हो जू-जू!
बारिन कहती उसे माइडियर
नही समझती कुछ, हियर! हियर!

(हा-हा-हा-हा)

उन्हें सोचने से कम फुरसत
सिगरेट की है बड़ी बुरी लत।
करते हैं कविता से दगल
भीटे पर, जगल में मगल। (बौरा बैठ जाता है)

पहला मुसाहब : बिलकुल ठीक, सरकार की बदौलत जंगल ही मे मंगल है।

महेशबख्श : 'सिगरेट की है बड़ी बुरी लत।' ये लत तो हमें भी है। हुक्का अब कोई पसन्द ही नही करते। (गला खकारते हैं) अरे बिहारी, सिगरेट, विगरेट लाओ।

बिहारी : जो हुक्म हजूर, चाय भी तैयार है।

महेशबख्श : अच्छा, तो चाय भी लाओ।

[बिहारी जाता है]

महेशबख्श : वाह कविजी, वाह, तबीयत निहाल हो गई। आप अंग्रेजी और संस्कृत के भी बड़े विद्वान् हैं।

बौरा : हें-हें-हें-हें, लीजिए हजूर संस्कृत और अंग्रेजी भी सुनिए।

दूसरा मुसाहब : हाँ-हाँ, फिर कहिए? अब कविजी गरमा गए हैं। कवियों की और टट्टुओं की एक ही चाल है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों गरमाते हैं, और सरपट भागते हैं।

[बौरा कुछ संस्कृत बोलने की नकल करता है। सब लोग हँसते हैं। उसके बाद जैसे ही अंग्रेजी बोलता है और अंग्रेजी में गाना गाता है, सब लोग जी खोलकर हँसते हैं।]

[बौरा अंत में बगल में लटकी हुई झोली में हाथ डालता है और सबको एक-एक चने जोर की गरम पुड़िया देता है।]

महेशबख्श तथा अन्य लोग : यह क्या है?

बौरा : हजूर, अब मेरी चीज की भी कुछ बिक्री हो जाए सरकार, जिससे चार पैसे मिलें।

['चने जोर गरम बाबू, मुलायम मजेदार' सुनाता है]

महेशबख्श तथा अन्य लोग : है, क्या यह चने जोर गरम वाला है?

महेशबख्श : (**स्वरूप सिंह से**) क्या ये आपके कवि नहीं हैं?

स्वरूप सिंह : नहीं तो, आप आदमी को खूब पहचानते हैं। मैं तो समझ रहा था, यह आपके दरबारी कवि हैं। (**सब हँसते हैं**)

महेशबख्श : नहीं, यह तो आप ही के साथ आए थे।

स्वरूप सिंह : साथ आने से क्या होता है? हम लोगों के पीछे-पीछे मौका पाकर यह भी अन्दर चला आया होगा।

महेशबख्श : क्यों जी?

बौरा : हजूर, बेअदबी मुआफ हो। सरकार ने ही तो मुझे जमीन से उठाकर जबर्दस्ती कुर्सी पर बिठला दिया। हजूर का हुक्म कैसे टालता? मैं तो आप ही का रिआया हूँ सरकार। छुटपन से यहाँ चना बेचता हूँ। इधर सात-आठ साल के लिए बाहर लखनऊ चला गया था हजूर, लेकिन अब आपकी ही सेवा में हाजिर हो गया हूँ। (**सब लोग हँसते हैं**)

महेशबख्श : तुम झूठ बोले?

बौरा : कसूर मुआफ हो हजूर, (**हाथ जोड़ता है।**) हें-हें-हें-हें—मैं समझा सरकार दिल्लगी कर रहे हैं, इसी से बेअदबी की।

[बिहारी चाय लेकर आता है]

महेशबख्श अच्छा, जाओ। बिहारी, इसे पैसे दे दो।

[बिहारी जाता है]

महेशबख्श : (**स्वरूप सिंह से**) कहिए आज कैसे पश्चिम से सूरज निकल आया? रास्ता तो नहीं भूल गए थे?

स्वरूप सिंह : जी, मैं तो आज रास्ता भूल गया। लेकिन सुना आप तो आजकल दुनिया ही को भूले हुए हैं। (**बिहारी चाय लेकर आता है**)

महेशबख्श : सो कैसे? (**गला खकारते हैं, अन्य लोगों की ओर इशारा करके**) बिहारी, इन लोगों को भी नाश्ता कराओ।

बिहारी : सरकार, अन्दर इंतजाम कर दिया है। आइए, चलिए।

[**सब लोग अन्दर जाते हैं। स्वरूप सिंह और महेशबख्श रह जाते हैं।**]

महेशबख्श : (**स्वरूप सिंह से**) लीजिए, चाय पीजिए।

स्वरूप सिंह : (**चाय पीते हुए**) सुना है, कलकत्ते से कोई नैपाली मैना फँसा लाए हो और ब्याहता बीबी को परदे से निकाल बाहर कर दिया है।

महेशबख्श : (**लज्जित होते हुए**) अरे भाई, सबको तो तुम्हारी तरह मनचाही बीबी मिल नहीं जाती।

स्वरूप सिंह : मनचाही? तुम्हारी जैसी पाक-साफ औरत तो दुनिया में मुश्किल से मिलती है। अपनी पत्नी को तुमने झूठमूठ कलंक लगाकर छोड़ दिया। उसे नैहर में भी मुँह दिखाने लायक नहीं रहने दिया। वह मारे शरम के न जाने नदी में डूबकर मर गई कि क्या हुआ, उसकी खबर भी नहीं ली।

महेशबख्श : यार, वह तो अब पुरानी बात हो गई। उसे मरे दो-तीन साल भी हो गए। अब गड़े मुरदे निकालने से फायदा?

स्वरूप सिंह : और औरत भी घर में रखी है तो एक मामूली कमजात! न कुल की न शील की! ऐसी लौंडियाँ शहरों में गली-गली मारी फिरती हैं। बड़े बदनसीब हो भाई, क्या गोरे चमड़े को देखकर फिसल गए?

महेशबख्श : मुझे इस बात का अफसोस है दोस्त, लेकिन जो हो गया, हो गया। यह मेरी कमजोरी है।

स्वरूप सिंह : तुममें छुटपुट से यह कमजोरी रही है। लड़कियों के ही पीछे तुमने कालविन स्कूल छोड़ा! तुम्हें तो शादी ही नहीं करनी थी।

महेशबख्श : ठीक कहते हो।

स्वरूप सिंह : अच्छा, जरा दिखलाओ तो अपनी पहाड़ी मैना। सुना है, बिलकुल बंद किए रहते हो।

महेशबख्श : अरे, रहने भी दो उसे यार। (**कंधे पर हाथ मारते हैं**)

स्वरूप सिंह : क्यों, क्या चिड़िया के हाथ से उड़ जाने का डर है? चलो, अंदर चलें! जरा देखूँ, तुम्हे ऐसी कौन नायाब हूर मिल गई, जिसने तुम पर जादू डाल दिया है।

महेशबख्श : (**जरा गंभीर होकर**) मुझे यह सब पसन्द नहीं, भाई।

स्वरूप सिंह : बड़े शक्की हो। मैं तो बिना देखे यहाँ से जाने का नहीं।

महेशबख्श : (**जरा हटकर बैठकर**) देखो भाई, मैं तुम्हारी नई रोशनी का जरूर कायल हूँ। लेकिन जहाँ औरतों का सवाल है वहाँ मैं पुरानी ही रीति-रिवाजो का कायल हूँ। यह आग और घी का जोड़ा मुझे पसन्द नहीं। मैं साफ बात करता हूँ, बुरा मत मानना।

(आत्मतुष्टि से हंसता है—हें-हें-हें-हें)

स्वरूप सिंह : (**आँख से आँख मिलाकर सिर हिलाते हैं**) यह तो तुम्हारी पुश्तैनी बीमारी है, जल्दी छूट भी नही सकती।

महेशबख्श : (**दोनों हथेलियाँ दिखाकर आत्म-संतोष से**) अब तुम जो समझो। (**मेज से उठाकर सिगरेट केस स्वरूप सिंह को ओर बढ़ाते हैं और दोनों सिगरेट जलाकर पीते हैं।**)

स्वरूप सिंह : (**मेज से गांधी टोपी उठाकर सिर पर रखते हैं और खड़े होकर जल्दी से दृष्टि नाक पर गड़ाकर नथुने फुलाते हैं।**) अच्छा भई, अब चलूं।

महेशबख्श : सीधा घर ही जा रहे हो कि कहीं और ? (**स्वरूप सिंह हाँ सूचक सिर हिलाते हैं**) कौन-सी मोटर है आजकल ?

स्वरूप सिंह : (**बाहर की ओर सकेत कर**) स्टैंडर्ड है।

महेशबख्श : मैंने तो हाल ही मे ओपल खरीदी है। अब लड़ाई छिड जाने से सुनता हूँ, पुरजे-वुरजे मिलने में कठिनाई होगी। (**दोनों जाते हैं।**)

[**परदा गिरता है।**]

[अंक दो : द्वितीय दृश्य]

[स्थान ललितपुर। स्वरूप सिंह की बैठक। रेडियो पर गाना हो रहा है। सामने की कोच पर विश्वसिंह बैठे हैं। हाथ में एक फोटो लिए हुए एकटक उसे देख रहे हैं। परदा उठता है। एक ओर से चटक का प्रवेश।]

चटक : **(हाथ से इशारा कर)** इनके लिए मैं सारी दुनिया की खाक छान आया हूँ और इन्हें बैठे-बैठे सारी दुनिया एक तस्वीर में दिखाई दे रही है। **(आगे बढ़कर)** नमस्ते हजूर !

विश्वसिंह : **(चौंककर)** अहा, कौन चटक ! तुम अच्छे आए। **(रेडियो बन्द करते हैं।)**

चटक : अच्छा, क्या गलत समय में आ गया ? आप दूसरी ही दुनिया में है, न भीतर, न बाहर।

विश्वसिंह : **(हँसते हैं)** ठीक कहते हो। अभी न भीतर हूँ, न बाहर। किवाड़ों की तरह देहली पर अटका हूँ।

चटक : यह तो बुरा नही हजूर। बनिए तो देहली पर बैठे-बैठे मनों जुटा लेते हैं।

विश्वसिंह : मन जुटा या नहीं, यह तो नही जानता, पर हाथ मे जरूर चला गया है।

चटक : **(सिर हिलाकर)** ऊँ हूँ, तब तो वह छल्ला होगा। मन तो हाथ मे रहता नहीं, न पिस्सू की तरह पकड़ ही जा सकता है।

विश्वसिंह : **(हँसते हुए)** तब मन कहाँ रहता है ?

चटक : चिरंजीव रहो। जवान तो उसे आँखों मे उठाए रहते हैं। लडके ओठों मे लिए फिरते है। ब्याहों का मन बीवी के मायके चले जाने पर तकिए को हाथ मे लिए तरसता है और बेचारे कुवारों का खरहे की तरह छिप-छिपकर दूसरे के खेतों में चरता है। स्त्रियों का अपने ही पास रहता है पर मिलता नही। प्रेमियो का दिल उनके पास नही रहता पर खोजने पर मिल सकता है। हजूर, हुकुम दें, मैं आपका दिल खोज लाऊँगा।

विश्वसिंह : कैसे ?

चटक : पहले मैं यह देखूँगा कि आपका दिल कहाँ-क्यों-कब-कैसे-किस तरह-किस जगह और किसलिए गया है। बरसात में मेढ़क भी प्रेमी बन जाते हैं। और तीन-तीन पलकों का पाँवड़ा बिछाकर प्रेमिका की प्रशंसा में दिन-रात कानों के परदे फाड़ डालते हैं।

विश्वसिंह : (जोर से हँसकर) लो, देखो। (फोटो देता है)

चटक : (हाथ में तस्वीर लेता है। इधर-उधर घुमाकर देखता है। सिर हिला कर आह भरता है और धोती दबाकर चुपचाप बैठ जाता है)

विश्वसिंह : क्यों चिरौंटे, जनाब जेब में डालकर क्यों चुप हो गए ?

चटक : (उठकर) मैं न तो कोई डाक्टर हूँ, जो (स्टेथस्कोप को इशारे से) कान निकालकर जेब में रखते है, न ऐनकधारी पंडित हूँ, जिनकी आँखें जेब मे रहती है। न आपकी तरह नई रोशनी का हूँ, जो नाक पोंछकर जेब में रखते है और न कोई ज्योतिषी हूँ, जिनकी जीभ जेब में रहती है, बिना जेब से पत्रा निकाले बात ही नहीं कर सकते।

विश्वसिंह : (ऊबते हुए) यह तो बताओ, तस्वीर पसंद आई ?

चटक : पसन्द ? हुजूर, तस्वीर देखकर तो मेरा दिल भी हाथ से चला गया है। लेकिन हाथ के रास्ते नहीं, (इशारा करता है) आँखों की राह से गया है।

विश्वसिंह : (हँसता है) बदमाश !

चटक : बिलकुल ठीक कहता हूँ। मेरा दिल आपके पास है, आपका इनके पास है। तो मेरा भी बिना मुझसे पूछे अपने आप ही इन्ही के पास चला गया। आपकी पसद लाखों में एक है हुजूर, और आपका प्रेम बिलकुल काव्य के ढंग पर रहा है। पहले स्वप्नदर्शन और पूर्वानुराग। अब चित्र-दर्शन। इसके बाद रोमांच, हँसी, आह, मूर्छा, विरह-वेदना, उसके बाद दूत दूती और फिर प्रत्यक्ष दर्शन—उसके बाद दो से चार आँखें होना—लजाना और अवाक् रह जाना। फिर प्रेम-संभाषण, धीरे-धीरे कटाक्ष, चुबन, आलिगन आदि। हमारे कवियों ने तो इसकी एक पूरी सूची बना डाली है। आपको ठीक उसी तरह चलना होगा, हुजूर !

विश्वसिंह : हा-हा-हा-हा-हा ! ठठोल बक्कड़ हो !

चटक : हुजूर, काव्य और नाटक में हमें विदूषक कहते हैं। विदूषक का काम कोई नाटक का खेल नही है एकदम उलटा है। नाटक में तो जिन्दगी लानी पड़ती है, यहाँ सारी जिन्दगी नाटक बनना पड़ना है। बिना पिये झूमना पड़ता है ! अपने मन को पेट मे रखना पड़ता है, उसके स्थान पर दूसरों के लिए सोचना पड़ता है ! अपनी बातें चुपचाप पी जाओ और डकारो दूसरों की बातें।—सिसकियों को गुदगुदाना, आँसुओं को हँसाना, मुर्दों को बहलाना, मुँहचलों की मुँहबन्दी करना, मानियों का मान मिटाना—यह सब आसान नहीं हुजूर, ! फिर उधर अगर किसी का पित्त गरम हो उठा, तो इधर सारा खेल ठंडा ! चट से गाल पर

(इशारा करता है) सारी हथेली की रेखाएँ पढ़ लो। और यह सब कुछ सह लेने पर भी फायदा? ठठोल बक्कड़ और बेवकूफ कहलाओ।

विश्वसिंह : (मंद मुस्काते हैं और तस्वीर उठाकर देखने लगते हैं।) हूँ।

[प्रीति का प्रवेश]

प्रीति : तो अब आप दिन-रात तस्वीर ही देखिएगा? नहाने-खाने की भी फिक्र नहीं। यह तो मैं पहले से ही जानती थी कि अंकुर उगने के पहले ही वह छोटे बाबू के मन में हरा-भरा पेड़ बन जाएगा।

[विश्वसिंह खड़े हो जाते हैं]

विश्वसिंह : आइए भाभी, आइए। मैं तो मन ही मन आपकी पसंद की तारीफ कर रहा था।

प्रीति : आपको अगर मेरी पसन्द पसन्द न हो तो रहने दीजिए।

विश्वसिंह : आपने तो भाभी मुझे देश लौटते ही मछली की तरह जाल में फँसा लिया है।

प्रीति : तो आपने मछली बनना क्यों स्वीकार किया? कहिए तो जाल वापस कर दूँ? (हँसती है)

चटक : मुआफ करें हजूर! घोंघा से मछली बनना तो बुरा नहीं है। अब उसे जल्दी में पानी में नहीं छोड़ दिया जायगा, तो वह तड़पती रहेगी।

विश्वसिंह : चुप बेवकूफ! बरसाती नाला अपनी ही गति में चलता है जिसमें फेन और शोर के सिवा कुछ भी गहराई नहीं होती है।

चटक : हजूर, कभी उसमें मछलियाँ भी बह जाती हैं। लेकिन मैं अब चुप हो जाता हूँ। (मुँह पर उँगली दे एक ओर खड़ा हो जाता है।)

प्रीति : (हँसकर) आप यह मेरे ऊपर छोड़ दीजिए। आपके भाई साहब से पूछने भर की देर है, वे लोग तो इसी सप्ताह में शादी करना चाहते हैं।

चटक : (कोने में) लेकिन मियाँ-बीबी राजी, तो···

प्रीति : हाँ, वह क्यों मना करेंगे! अब उनके आने का समय भी हो रहा है। आप जल्दी से स्नान कर लीजिए।

विश्वसिंह : (उठकर) अच्छा, भाभी।

प्रीति : (उठकर) लगता है, कल रात आप अच्छी तरह सो भी नहीं सके हैं।

चटक : सारी रात ओठों पर बिताई है—आहों की गरमी से तकिये की रुई जलकर खाक हो गई है।

विश्वसिंह : (चटक की उपेक्षा कर) भाभी, आप तो सब कुछ समझ जाती हैं। मैं आपसे शुरू से ही हार मान गया हूँ।

प्रीति : (हँसकर) आप तो जान ही गए हैं कि शुरू में 'आपको किससे हार

खानी पड़ी।

विश्वसिंह : ओह, आप भी उस शैतान नौकरानी की बातें कर रही हैं। उसने कल मुझे बड़ा बेवकूफ बनाया।

प्रीति : और अब मैं यह भी जानती हूँ कि आप किससे सब कुछ हार बैठे हैं।

विश्वसिंह : (**प्रसन्न मुद्रा में जाने को तैयार होते हैं**) नहा लूं, भाई साहब आते होंगे।

[**प्रस्थान**]

चटक : हुज़ूर, नमस्ते।

[**प्रस्थान**]

[**प्रतिमा का प्रवेश**]

प्रतिमा : हुज़ूर, आपकी लौंडी हाजिर है सरकार, क्या आदेश है?

प्रीति : वह अभी मर जाए।

प्रतिमा : हजूर आपकी लौंडी आप पर बार-बार मरती रहती है, और आपको देखकर फिर बार-बार जी उठती है। इस चाँद के टुकड़े को देखकर जो न मर जाए, वह कभी जिया ही नहीं। इन जूडे को देखकर साँपों के फन झुक जाते हैं। दाँतों की सुन्दरता को देखकर मोती बिंध जाते हैं। आँखों को देख नरगिस खिलना भूल जाती है, गालों को देखकर गुलाब लजा उठते हैं। इस नाक को देखकर तो दीप की लौ उठना सीखती है। कैसे तारीफ करूँ, मेरी सरकार, इस हँसी के डर से अगर बेला आधी रात को खिलती है तो ओंठों की ललाई से शराब को भी नशा हो जाता है। (**प्रीति की ठोढ़ी छूता है**) इस ठोड़ी से लगकर मेरी उँगली कमल-नाल बन जाती है।

प्रीति : और?

प्रतिमा : और हुज़ूर, इन कोमल बाँहों को मेरा फूलों के हार की तरह गले में डालने का जी करता है! (**एक बाँह गले में डालती है**) ये सुकुमार हथेलियाँ जो फूलों की पंखुरियों से भी छिल जाती हैं, इन्हें चूमने में डर लगता है (**चूमती है**) मैं आप पर निछावर हूँ सरकार? (**झुकती है।**)

प्रीति : (**अपनी बाँह हटाकर**) दुर पगली, तू बड़ी ढीठ हो गई है। अनाप-शनाप बकती रहती है, जो जी में आया, करती है—मैं कल कुछ घण्टों के लिए बाहर चली गई थी और तू घर की मालकिन बन बैठी। सबको परेशान कर डाला। (**रोष से**) देवर बाबू को छकाने की तुझे हिम्मत कैसे हुई? (**प्रतिमा अपनी हँसी रोकने को मुंह में कपड़ा ठूँसती है**) नायब को हैरान किया, हीरा को पिटवाया। और आज सबेरे मेरे पास उसकी सिफारिश लेकर आई थी। तुझे हो क्या गया है? अगर हीरा को चाहती है तो उसके साथ चली जा। अब मैं यहाँ नहीं रख सकती।

प्रतिमा : (**दोनों हाथों से मुंह छिपाकर**) छिः, छिः, आप अगर मुझे जानतीं तो

ऐसा कभी नही कहतीं। लेकिन अब अपनी व्यथा को इस तरह हँसी-मजाक में नहीं छिपाऊँगी। हीरा की ढिठाइयों को मैं इसलिए सहती हूँ कि वह करमपुर का आदमी है। वह पहले हमारे यहाँ बाग में माली था। मैं उसे पहले से ही पहचानती हूँ। लेकिन उसने मुझे कभी नहीं देखा, (**प्रीति उसकी ओर आश्चर्य से देखती है**) आपकी यह गरीब लौंडी ही करमपुर के महाराज की वह बदनसीब धर्मपत्नी है, जिसके लिए यह मशहूर कर दिया गया है कि वह मर गई है।

प्रीति : (**खड़ी होकर प्रतिमा के दोनों हाथ पकड़ लेती है**) क्या कहती हो प्रतिमा, तुम्हीं करमपुर की रानी हो ?

प्रतिमा : आपकी दासी ही वह अभागिन करमपुर की रानी माधवी है।

[**प्रीति माधवी को गले से लगाती है**]

प्रीति : माधवी सखी, आज से तुम मेरी बड़ी बहन हुईं। तुमने मुझसे अपना भेद छिपाकर मुझ पर बड़ा अन्याय किया। इसके लिए मैं तुम्हें कभी क्षमा नहीं करूँगी।

प्रतिमा : क्या करती बहन, जिस तरह महाराज ने मुझे घर से निकाल दिया था उसके बाद किसी के पास जाने का साहस नहीं बटोर पाई। जी करता था, धरती फट जाए और मैं उसी मे समा जाऊँ। इन दो-तीन वर्षो में आपके गुणो ने मुझे मोह लिया है और आज आपके स्नेह के कारण मुझे आप पर इतना भरोसा हो गया है कि अपनी सब बाते खोलने में मुझे तनिक भी संकोच नहीं हो रहा है।

प्रीति : यह मेरा सौभाग्य है बहन, जो हो गया अब उसे भूल जाओ। जल्दी ही करमपुर की आँखे खुलेंगी और वह अपनी रानी की कीमत पहचानेंगे। ये तो उन्हे खूब अच्छी तरह जानते हैं, एक ही स्कूल में पढ़े भी हैं। हम लोग भरसक प्रयास करेंगे कि—

प्रतिमा : (**दोनों हाथों में मुँह छिपाकर**) ना, ना, ना, बहन, उसकी कोई आवश्यकता नही। अब तो मेरी इच्छा ही नही होती कि मैं उनके पास जाऊँ। मै तो हरिद्वार चली जाना चाहती हूँ, वही अपना शेष जीवन—

प्रीति : यह कायरता है बहन ! तुमने क्या किया है, जो तुम दण्ड भोगो। स्त्रियो को अपने आत्मसम्मान और अधिकारों का ध्यान रखना ही होगा। करमपुर को इसके लिए पश्चात्ताप करना पड़ेगा, तुम देख लेना।

प्रतिमा : उनका जी मुझसे ऊब गया है। अब अच्छा यही है कि वे जिसके साथ रहें, सुखी रहे।

प्रीति : यह कभी नही हो सकता। वह उनकी दुर्बलता है। उन्हें भले-बुरे, सच-झूठ और प्रेम-आसक्ति के अन्तर को समझना होगा। तुम्हारे मन में उनके लिए बेहद स्नेह है, और इस कारण, तुम हरिद्वार जाना चाहती हो मैं तुम्हारी कोई बात नहीं—

स्वरूप सिंह : (**बाहर से**) प्रीति, प्रीति, कहाँ हैं आप ?

प्रतिमा : महाराज आ गए (घूंघट देकर जाती है)

प्रीति : जी ! (दरवाजे की ओर जाती है।)

[स्वरूप सिंह का प्रवेश]

स्वरूप सिंह : कहिए, क्या हाल है ? (कंधों पर हाथ रखते हैं। आगे बढ़कर सोफा पर बैठते हैं।)

प्रीति : (पास बैठकर) छोटे बाबू आ गए हैं।

स्वरूप : आ गया ! कहाँ है ?

प्रीति : खाना खा रहे हैं।

स्वरूप : और क्या खबर है ?

प्रीति : छोटे बाबू की शादी मैंने रायसाहब की लडकी से तै कर दी है। अब आपकी स्वीकृति चाहिए।

स्वरूप : विश्वसिंह के घर पहुँचते ही तुमने उसकी शादी ठीक कर दी (परिहास में) औरतों का एक ही तो काम है। जिस तरह भी हो, मर्दों को फँसाना।

प्रीति : (अभिमान से) जी हाँ, यही काम है ! आपके भाई साहब तो उषा की तस्वीर देखते ही ऐसे रीझ गए हैं कि तन-मन की सुध खो बैठे हैं।

स्वरूप : विश्व को यदि पसन्द है तो फिर मुझसे पूछने की क्या आवश्यकता ? लडकी की तो मैंने बहुत तारीफ सुनी है।

प्रीति : हाँ, सचमुच है भी वैसी ही। मैं तो स्वयं जाकर देख आई हूँ। लखनऊ आर्ट कालेज का कोर्स कर चुकी है। उसके बनाए चित्रों को देखकर मैं अवाक् रह गई।

स्वरूप : (प्रसन्नता व्यक्त करते हुए) तुम्हें पसन्द है, विश्व····· विश्व को पसन्द है। बडी खुशी है। मैं आज ही राय साहब को लिखूँगा।

प्रीति : आप क्यों ? वे पहले लिखेंगे, लड़कीवाले है ना !

स्वरूप : यह कौन बात है ? मैं लिखूँगा। वे लड़कीवाले हैं। उन्हें शायद संकोच हो।

प्रीति : तो बस अभी लिख दीजिए।

स्वरूप : (हँसते हुए) तुम्हारा वश चले, तो तुम अभी विश्व के पाँवों में बेड़ियाँ डलवा दो। मेरे पाँवों में तो जनाब ने ऐसी बेड़ियाँ डाल दी हैं कि कहीं इधर-उधर जा ही नहीं सकता।

प्रीति : झू—ठ, अच्छा बताइए, जिस काम के लिए गए थे, वह हो गया।

स्वरूप : ट्रस्ट का केस था, हम लोग जीत गये। और हाँ, लौटते समय करमपुर भी हो आया।

प्रीति : करमपुर गये थे आप ? करमपुर ने अपनी पुरानी रानी को छोड़ दिया था। मालूम है अब वह कहाँ हैं ?

स्वरूप : वह मर गई, अब कहाँ हैं ?

प्रीति : अरे, मरी नहीं, वह हमारी प्रतिमा है।

स्वरूप : (**आश्चर्य से**) प्रतिमा ? दासी ? क्या कहती हैं आप ?

प्रीति : मैं ठीक कहती हूँ। अभी-अभी उन्होंने मुझे अपना सारा भेद बताया। बेचारी, लाज के मारे अपने को छिपाकर हमारे यहाँ नौकरानी बनी हुई हैं।

स्वरूप : आप अजीब बातें कर रही हैं।

प्रीति : अजीब नहीं, सच ! अब आप किसी तरह करमपुर को समझाइए कि वह इन्हें स्वीकार कर लें।

स्वरूप : करमपुर बडा शक्की और कमजोर आदमी है। वह सरलता से मानेगा नहीं। फिर अपने घर मे एक बुरे चरित्र की नेपालिन को बैठाए हुए हैं।

प्रीति : यह तो सभी जानते हैं।

स्वरूप : नेपालिन को सात तालों के भीतर बन्द कर रखा है। मैंने उन्हें छकाने की बात सोची है। कल मुझे ट्रेक्टर देखने फैजाबाद जाना है। करमपुर होते हुए फैजाबाद जाऊँगा। तुम्हे एक काम करना होगा।

प्रीति : (**उत्साहित होते हुए**) कहिए।

स्वरूप : हमारा जो पहाड़ी लड़का है, उसे तुम्हे एक अच्छी रेशमी साड़ी और ब्लाउज देना होगा। मूँछें उसकी हैं नही। बाल ठीक हैं। आजकल औरतें बाल कटवाती हैं ही। पाउडर, रूज और लिपस्टिक लगाकर वह बिलकुल औरत-सा दीखेगा। बल्कि तुम ऐसा करो, उसे साड़ी पहनाकर साज-सँवारकर यहाँ ले आओ।

प्रीति : क्यों, उससे क्या होगा ?

विश्व : (**बाहर से**) भाई साहब······

प्रीति : अच्छा, मैं उसे लेकर आती हूँ।

[**प्रस्थान। विश्वसिंह का प्रवेश**]

विश्व : नमस्ते, भाई साहब ।

स्वरूप : (**खुश होते हुए उसे गले लगाते हैं।**) कहो विश्व, अच्छे हो ? (**दोनों बैठते हैं**) तुमने तो कलकत्ता, बम्बई में बहुत दिन लगा दिये।

विश्व : जी हाँ, स्टूडेण्ट्स कॉन्फरेंस थी। मित्रों ने उसके लिए रोक लिया।

स्वरूप : (**पीठ पर हाथ रखते हुए**) अब तो तुम एग्रीकल्चर के डाक्टर हो गए हो। तुम्हारे फार्म के लिए जमीन तैयार है। फैजाबाद में एक ट्रेक्टर भी मिल गया है। और हाँ (**मुस्कराते हुए**), तुम सुना राय साहब की लड़की से शादी करना चाहते हो ?

विश्व : भाभी की यही इच्छा है—मैं क्या कह सकता हूँ।

स्वरूप : शादी तो तुम्हें करना ही है। तुम बतलाओ, तुम क्या चाहते हो ?

विश्व : हा-हा-हा-हा !

स्वरूप : तो तुम राजी हो, मुझे बड़ी खुशी है। मैं आज ही राय साहब को पत्र

डालकर सब बातें कर लेता हूँ।

[प्रीति और स्त्री के वेश में नौकर का प्रवेश। प्रीति विश्वसिंह की ओर देखकर हँसती है। नौकर एक ओर मुस्कराता हुआ खड़ा रहता है।]

विश्व : यह कौन है भाभी ?

प्रीति : आप ही को दिखाने लाई हूँ छोटे बाबू। आपको यह पसंद है कि वह ?

विश्व : (**हँसता हुआ**) बस भाभी, अब मुझे क्षमा कीजिए।

स्वरूप : (**जोर से हँसते हैं**) वह ऐसे वेश में क्यों है ? कोई भी नहीं जान सकता कि यह मर्द है ! हाँ, (**नौकर से**) तुम औरतों की तरह बोल सकते हो ?

नौकर : (**शरमाता है, फिर जरूरत से ज्यादा औरतों के-से हाव-भाव कर हाथ मटकाता है**) क्यों नहीं बोल सकता हजूर ! (**जरा साड़ी खींचता है, छाती के पास आँचल बगल में दबाता है।**) अभी इसी साल आपके यहाँ सेवा-संघ के नाटक में औरत का पार्ट खेल चुका हूँ। (**कमर पर हाथ रखकर**) वीर सिंह, तुम अभी मेरे सामने से हट जाओ। तुम प्रेमी नहीं, मक्कार हो। मैं कुमार गजेन्द्र सिंह को छोड़कर और किसी से शादी नहीं कर सकती। मैं अब उनकी हो चुकी हूँ।

प्रीति : नाटक का पार्ट दुहरा रहा है।

[सब लोग हँसते हैं]

स्वरूप : बस, तुम स्त्री की भूमिका निभा लोगे। कल तुम्हें मेरे साथ इसी पोशाक में बाहर जाना है। और बातें तुम्हें कल समझा दूंगा। अच्छा जाओ।

नौकर : जो हुकुम हजूर !

[जाता है]

विश्व : यह सब क्या तमाशा कर रहे हैं, भाई साहब ?

स्वरूप : (**हँसते हुए उठते हैं**) चलो, अंदर चलें। तुम्हें अभी बताता हूँ। और भी बहुत-सी बातें करनी हैं।

[सबका प्रस्थान]

[अंक दो : तृतीय दृश्य]

[स्थान करमपुर। बच्चू बैठक का कमरा ठीक कर रहा है, और बेनी उसे मदद कर रहा है। परदा उठता है।]

बच्चू : जब से घर की लक्ष्मी स्वरग सिधार गई, इस घर में सिरी ही नहीं, सुख और मर्यादा भी उठ गई। मालिक भी बदल गए, सब कुछ बदल गया। मैंने तो मालकिन के दिन देखे हैं भइया, वे धरम के दिन थे! तब घर में एक संतोष की लहर-बहर और सुहाग की जगमग थी। अब तो महाराज के पास इतना रुपया आता है—पर कहाँ—सब अरुई के पात का पानी, अपनी ही झिलमिलाहट में बिखर जाता है। रुपयों की चाँदनी और गृहिनी की चाँदनी में बड़ा भारी अन्तर है भाई, बिना गृहस्तिनी के घर पर देवता भी प्रसन्न नहीं होते।

बेनी : मैं भी दादा, अब घर बसाने की फिकर में हूँ। एक गुड़िया है, बड़ी रूपसी, बड़ी चतुर, लेकिन गँवारिनी गरबीली भी कम नहीं है, पर यह खोट तो औरत जात ही की है। आजकल उसी का भगत बना हूँ, दादा।

बच्चू : (**हँसता हुआ सिर हिलाता है और जेब से बटुआ निकालकर सुपारी कतरता है**) अरे बेनी, यह भगतपन तेरा नहीं, उमर का है। बचपन के देवी-देवता गुड्डे-गुड़िया होते हैं, जवानी में मेहरिया के रूप को पूजते हैं, अधेड़ उमर में बाल-बच्चों और दुनिया की सेवा कर भगती होती है, और हमारे चौथेपन में राम-नाम जपकर परमात्मा परसन्न होते हैं।

बेनी : ठीक बात है, दादा।

बच्चू : जब मेरी आँखों में बुढ़ापे का धुँधला बादल नहीं पड़ा था, मैं भी ऐसी ही बगुला भगती किया करता था। (**हँसता है**) घी से माँग बैठाकर दोपहर में खेतों की मीड़ पर बैठा घंटों बाँसुरी बजाया करता था। आँखों में कुछ ऐसी हरियाली छाई रहती थी कि कुबिजा भी सुन्दरी लगती थी। लेकिन भइया उबलते दूध को फूँककर ही पीना चाहिए। तुम्हारी नसों में इस समय जवानी की बिजली है, तुम्हें कोई नहीं रोकता। पर अहेरी की तरह शिकार पर टूट पड़ना अच्छा नहीं। पैर

पक्की ही जमीन पर रखना चाहिए।

[महेशबख्श गला खकारते हैं]

बेनी : महाराज आ रहे है। (काम में लगता है)

[महेशबख्श का प्रवेश। दोनों झुककर नमस्ते करते हैं]

महेश : कहो जी बच्चू, क्या हो रहा है?

[गद्दे पर बैठते हैं]

बच्चू : मेरी अब कुछ करने की उमर है मालिक ? (हाथ जोड़कर) वह तो सरकार के चरनो में किसी तरह उमर ढेर हो रही है। नही तो इस हड्डियों के हिलते हुए बुढ़ापे मे अकल ही काम नही देती है, मालिक ! सरकार को भगवान ने चारों दिशाओं से दिया है। बड़प्पन धरती है प्रभो, हम लोग तो कीड़े-मकोड़ों की तरह अपने ही छोटेपन में पिस जाते है। अब तो मालिक, मेरे पिनसन के दिन है !

महेश : लबार, मसखरा कही का। बेलन-सा तो चौकस बना है और बुढ़ापे का ढोंग रचता है।

बच्चू : (हँसकर) तीन-बीस होने मे अब दो ही साल तो है, मालिक। सरकार को गोद में खिलाया है। अब तो उमर धार पर चली गई है, मालिक। कलयुग का कचलौदा चलता ही कितना है, बस एक बदरी नरायन का आश्रय (हाथ जोड़कर फिर हँसता है) कुँए से पानी खीचने में हाथ धोली के सीग की तरह लखलखाते है। अब सरकार का बूढ़ा घोडा मोती क्या काम आता है ? यही कि जौ की नई हरि-याली मे छोड दिया जाये, तो शाम तक पेट भर लेता है। पास जाओ, कान खड़े कर देता है। हम दानों साथ ही बेकाम हुए, मालिक ! दाने के साथ मोती दो दाँत भी निगल गया है।

महेश : बातूनी बुड्ढा—दिन भर बैठा-बैठा बकवास किया करता है।

[बेल बजती है। सिपाही का प्रवेश]

सिपाही : हजूर, ललितपुर के महाराज आए हैं।

[स्वरूप सिंह का औरत के लिबास में नौकर को लेकर प्रवेश : स्वरूप सिंह का दायाँ हाथ सीधा लटक रहा है। बाएं हाथ को कुहनी के पास के पीछे घुमाकर दाएँ हाथ की कुहनी पकड़े हैं]

महेश : (उठकर) आहा, आइए, आइए।

स्वरूप : (नौकर की ओर इशारा कर) आप करमपुर की बाबू साहिबा···

महेश : (उसे ललितपुर की रानी समझकर) नमस्ते। आपके तो आज पहली बार दर्शन हुए हैं।

नौकर : (बहुत ज्यादा स्त्रियों के-से हाव-भाव दिखाकर) जी हाँ, (हाथ नचा कर) कभी ऐसा मौका ही नहीं मिला।

[साड़ी को इधर-उधर खींचकर ठीक करता है।]

महेश : (शिष्टाचार से) आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

नौकर : (महेशबख्श से आँखें लड़ाकर) मुझे भी आपके दर्शनों से बेहद खुशी

हुई।

महेश : हें-हे-हें-हें, यह आपकी कृपा है।

नौकर : (**हाथ और गरदन मटकाकर**) मैं तो हमेशा ही इनसे कहती हूँ कि अपने साथ मुझे ले जाया करें। लेकिन ये मेरी सुनते ही नहीं। आज जब मैंने बहुत जिद की तब कहीं ये राजी हुए। (**स्वरूप की ओर इशारा कर**) आपको हमेशा बाहर ही काम रहता है और मेरा घर मे बैठे-बैठे जी ऊबता है।

महेश : सो तो आपका कहना ठीक ही है। हें-हें-हें-हें — आप अंदर जाइएगा ? बच्चू, आपको अंदर ले जाओ।

बच्चू : जो हुकुम, सरकार।

नौकर : मैं तो कभी से उनसे मिलने को तरस रही हूँ।

[**दोनों जाते हैं**]

महेश : कहिए सरकार, आज ही फिर कैसे लौटना हुआ ?

स्वरूप : (**नाक पर दृष्टि गड़ाकर नथुने फुलाते हुए**) विश्वसिंह यूरोप से वापस आ गया है ना—

महेश : अच्छा, आ गए है, खैरियत से तो है।

स्वरूप : जी हाँ, उन्हीं के लिए अपने यहाँ एक फार्म खोल रहा हूँ, जिसमें वे नए तरीके से खेती कर किसानों को सिखलाएँ और उनके खेतों की पैदावार बढ़ाएँ।

महेश : यह तो बहुत अच्छा है।

स्वरूप : जी हाँ, फैजाबाद मे सुना, एक ट्रैक्टर बिकाऊ है, उसी को देखने जा रहा हूँ। अगर पसन्द आ गया, तो विश्वसिंह के फार्म के लिए खरीद लूँगा।

महेश : (**गला खकारकर**) अच्छा, तो फैजाबाद जा रहे हो ?

स्वरूप : जी हाँ, मैंने सोचा कि रास्ते में आपके यहाँ रुककर आपका वह पानी खींचने का नया इंजन भी लगे हाथ देखता चलूँ। मुझे भी एक इंजन लेना है।

महेश : हाँ-हाँ—चलिए, अभी देख लीजिए। नाइन हॉर्स पावर का इंजन है। लेकिन तेल का अधिक खर्च नहीं। क्रूड आइल से मजे में चलता है। आप चाहे, साथ में पनचक्की भी चला सकते है। आपके फार्म में कुआँ काफी बड़ा तो होगा ही।

स्वरूप : जी हाँ, नहीं तो दूसरा बनवा लूँगा।

महेश : हाँ, कुआँ तो गहरा होना चाहिए। मुझे तो अपना कुआँ बोर करवाना पडा है। बिना कराए काम नहीं चल सकता, कुएँ के पटने का डर रहता है।

स्वरूप : वह सब हो जाएगा। तो चलें ? ज्यादा दूर तो नहीं है ?

महेश : नहीं, एक फर्लांग से भी कम है। चलिए। इधर से खेत-खेत पैदल चले चलें। अरे बेनी, जरा हमारा छाता दे जाओ।

[दोनों जाते हैं]

[अन्दर से छाता लेकर पीछे-पीछे बेनी का आना—मैना और स्त्री के लिबास में नौकर का प्रवेश]

मैना : चलिए, अच्छा हुआ, वे लोग कहीं बाहर चले गए।

नौकर : (भाव-भंगी से) आप न जाने कैसे हर समय पींजड़े के अन्दर बन्द रह सकती हैं। मेरा तो दो ही रोज में दम घुट जाए।

मैना : मुझे क्या इस तरह से रहना अच्छा लगता है? जबरदस्ती रहना पड़ता है। बाहर निकलने ही नही पाती! बस, वह अन्दर का कमरा है, दास-दासी हैं, और मैं हूँ।

नौकर : (हाथ नचाकर) मुझसे कोई जबरदस्ती नही कर सकता, जहाँ चाहती हूँ, घूमती हूँ।

मैना : क्या बताऊँ आपको, इसमे तो मै जहाँ जैसी थी, वही अच्छा था। अपने मन की तो थी। यहाँ तो न किसी से मिलना, न जुलना। बस, या तो उनका जी बहलाओ या पड़े-पड़े अपने करम को रोओ।

[नौकर सिगरेटकेस से सिगरेट निकालकर सुलगाता है।]

मैना : हाय, हाय, यह आप क्या करती हैं?

नौकर : क्यो? मैं तो रोज ही पीती हूँ। आपके हाल पर तो मुझे तरस आता है, बहन। क्या हुआ, पीजड़ा सोने का ही क्यो न हो, आखिर है तो पीजड़ा ही। मै तो जब तक चार लोगों से नही मिल लेती, मुझे चैन ही नही मिलता।

मैना : आपसे क्या छिपाऊँ बहिन, यही जी करता है कि यहाँ से कहीं भाग जाऊँ, और फिर उसी स्वाधीनी से रहूँ। जब से यहाँ आई हूँ, आज सिर्फ जी खोलकर बातें कर सकी हूँ। यहाँ कोई आता ही नही। आपने, ऐसी इज्जतदार और बड़े कुल की होकर भी मुझ अदना लौंडी को गले लगाया। इससे मैं बेदाम आपके हाथों बिक गई हूँ। और न जाने क्यों, आपसे मुझे मोहब्बत हो गई है।

नौकर : (आँखें मटकाकर) और सच पूछिए तो, जब से आपको देखा है, मेरा दिल बेकाबू हो गया है। ओह, आप ऐसी सुन्दर और प्यारी है कि पत्थर की मूरत मे भी दिल पैदा हो जाए। मैं सच कहती हूँ, अगर आप औरत न होकर मर्द होती तो मै आप ही से शादी करती।

मैना : ये आप क्या कहती है? अगर आप औरत न होकर मर्द होती तो मैं आपकी खुश-खरीदी लौंडी बन जाती।

[दोनों गले लगते हैं]

नौकर : और अगर मैं मर्द होऊँ तो?

मैना : तो मैं आपको कभी आँखों की ओट न होने देती, जहाँ आप जाते वही आपके साथ जाती।

[नौकर अपनी साड़ी उतारकर कमीज और पायजामा पहने

उसके सामने खड़ा होता है। मैना उसे आश्चर्यपूर्वक देखती रहती है।]

नौकर : मैना प्यारी, मैं तुम्हें सचमुच प्यार करने लगा हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम यहाँ सुखी नही रह सकतीं। हम दोनो एक देश के हैं भी। तुम मेरे साथ चलो। हम यहाँ से भागकर आजादी के साथ रहेंगे !

मैना : हैं ! तो क्या आप ललितपुर की रानी नही है ? आप वैसे लिबास में—

नौकर : यह तुम्हें फिर बताऊँगा। इस समय हम जल्दी से यहाँ से निकल जाएँ। देर करने से यह मौका हाथ से निकल जाएगा। चलो, जल्दी करो, तुम किसी बात की चिन्ता न करो।

मैना : भागकर कैसे जा सकते है, कोई देख लेगा तो ?

नौकर : इसका कोई डर नहीं। बाहर महाराज की मोटर खड़ी है। उनका ड्राइवर हमें स्टेशन तक पहुँचा देगा। वहाँ से थोड़ी ही देर में स्टेशन से गाड़ी छूटेगी। और हम चार-पाँच घंटे में लखनऊ पहुँच जाएँगे। उतने बड़े शहर में कोई भी हमारा पता नही पा सकेगा। तुम जल्दी से मेरी साडी पहन लो।

मैना : तो चलो। मेरा जी यहाँ से ऊब गया है। **(साड़ी पहनती है और हँसती है)** ओह, इस जेल से छुट्टी मिल जाएगी।

[दोनों जाते हैं]

द्वितीय अंक समाप्त

चौराहा

[एक विशाल प्रान्तीय नगर का चौराहा। अधेड़ उम्र का एक पुलिस का सिपाही लैंप-पोस्ट के नीचे खड़ा है। चौराहे से पाँच-छ: मील की दूरी पर मुख्य नगर बसा हुआ है। यूनिवर्सिटी के ऊँचे टावर और मिलों की चिमनियों के अलावा चौराहे से शहर का कोई भाग नहीं दिखायी देता। जाड़ा बीतने को है, शाम के सात बज चुके हैं। सड़कों पर इधर कई रोज से रोशनी नहीं जलती है, चौराहे की बिजली भी काली टीन की टोपी से ढँकी हुई है। उसका प्रकाश इधर-उधर न फैलकर पुलिसमैन के चतुर्दिक् पड़ रहा है, जिससे उसकी खाकी पगड़ी, पीतल के चमचमाते बटन, और चमड़े की पेटी चारों ओर की वस्तुओं स प्रभावोत्पादक लगती हैं।

चौराहे के आसपास कुछ छोटी-छोटी दूकानें, मजदूरों के कच्चे घर, और एक बाग है। एक ओर एक उजाड़ मैदान के कोने पर एक पुलिस की चौकी बनी हुई है। गुलमौर के फूलों के लाल गुच्छे, बुझती हुई मशालों की तरह, साँझ के झुटपुटे को आलोकित करने में असमर्थ लगते हैं। जाड़ा बीतने को है। कटहल के फूलों की भीनी महक और रह-रहकर आती हुई कोयल की कूक, संध्या के एकान्त में, पुलिसमैन के मस्तिष्क में बीती स्मृतियों को जगा रही हैं।

यह पुराना पुलिस का सिपाही जैसे चौराहा ही है। आज की दुनिया के चौराहे, आज की दुनिया के जीवन के प्रतिनिधि। वह कई बड़े-बड़े चौराहों का बादशाह रहा है। उसने लाखों की भीड़ का नियंत्रण और परिचालन किया है : बड़े-बड़े राजा, रईस, मोटर-ट्रामें, फिटन, बसें उसके इशारे पर रुके और चले। आज उसकी नौकरी का अंतिम दिन है, ड्यूटी का अंतिम घंटा, फिर वह अवकाश प्राप्त कर लेगा। चौराहे के साथ उसके जीवन का इतना लम्बा सम्बन्ध छूट जायगा। आज का दिन उसके लिए दुनिया के इतिहास का अन्तिम पृष्ठ है। कल का इतिहास दूसरा साथी लिखेगा।

पुलिसवाला खम्भे के नीचे टहल रहा है। वह कुछ अधीर, अनमना और भावोद्वेलित-सा लगता है। आठ बजे उसका साथी पहरे पर आकर उसे छुटकारा दे देगा, फिर वह मुक्त हो जाएगा और शेष जीवन आराम से बिताएगा। उसके चेहरे पर हर्ष, संतोष और आशा खेल रही है।

दूर से कुछ लोगों की आवाज उसके कान में पड़ती है, वह चौकन्ना होकर सीधा खड़ा हो जाता है, और अपने हाथ के डंडे से धीरे-धीरे अपनी जाँघ पर मारता है। बायाँ हाथ अपने-आप उसकी कमर पर चला जाता है। कुछ गाँववालों का एक ओर से प्रवेश।]

गाँववाले : (**आते-आते**) राम-राम भइया, राम-राम।

पुलिस : (**सिर हिलाता हुआ**) जै सीताराम भाई, जै सीताराम! कौन है हो, रामदीन?

रामदीन : हाँ, भइया!

पुलिस : (**दोनों हाथ कमर पर रखकर सिर हिलाता हुआ**) अच्छा ऽऽऽ, क्या शहर से लौट रहे हो?

रामदीन : कटरे से भइया, शहर जाने की तो मनाही है।

पुलिस : (**सानुग्रह**) अच्छा ऽऽऽ, कौन बनवारी? (**उसका कंधा पकड़कर हिलाता हुआ**) अरे, ऐसा हट्टा-कट्टा जवान! तू लड़ाई में भरती नहीं हुआ? ऐसा बाँका जवान! तू कैसे बच गया?

बनवारी : काका, रतौंधी निगोडी जो मुझे बड़ी विकट होती है। बस, सध्या होते-होते चारों ओर धुआँ ही धुआँ सूझता है।

पुलिस : (**सिर हिलाता हुआ**) बहाना तो नहीं करता बेटा! (**डंडे से अपनी जाँघ पर मारता है।**)

बनवारी : नाहीं काका—(**हँसकर**) हें-हें-हें-हे—(**हाथ मलता हुआ**) और फिर काका, घर में जवान मेहरिया है। अब ही के अगहन मे गौना लाया हूँ। बेचारी पड़ी-पडी अपने भाग को बिलखती।

पुलिस : (**मुँह मटकाता हुआ**) अहा, तो यही रतौंधी है, जिसने तुझे दीन-दुनिया के लिए अन्धा बना दिया है। (**बड़े समझदार की तरह सिर हिलाता हुआ**) इस उमर मे और कुछ नहीं सूझता। आँखों में कुछ ऐसी हरियाली छाई रहती है कि बस कुबिजा भी सुंदरी लगती है।

[**सब खुलकर ग्राम्य हँसी हँसते हैं**]

बनवारी : अब जो भी कहो काका, (**जेब टटोलकर**) लो, बीड़ी पीओ (**बीड़ी सुलगाता हुआ**) अहा, तुमने तो नौकरी में बाल पका दिए, मूँछें सब खिचड़ी हो गई है। अब पेसन के और कै दिन बाकी हैं?

पुलिस : (**धुआँ फेंककर, मूँछों पर हाथ फेरता हुआ**) बस, आज का दिन और है बेटा, घंटा भर और! (**सीना तानकर बाँहों को खींचता हुआ**) आहा हा-हा-हा! फिर छुट्टी·· पेंसन···और चैन की बंसी! लेकिन आजकल क्या भरोसा, रे!

रामदीन : हाँ, बातें तो सही कही भइया, अच्छा राम-राम। अभी कोस भर पार करना है।

सब : राम, राम।

[**प्रस्थान**]

[**पुलिसवाला सीने के पास बाँहें मोड़कर इधर-उधर टहलता है। वह विचारों में डूबा हुआ थोड़ी-थोड़ी देर में धीरे-धीरे सिर हिला रहा है। नेपथ्य से कोई चिल्लाकर कह रहा है :**

'है बहारे बाग दुनिया चंद रोज, देख लो इसका तमाशा चंद रोज

कुछ लोग एक ओर से बातें करते हुए आते हैं, जिनकी ओर से पुलिसवाला बेखबर है।]

एक : लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि दुश्मन अभी इसी शहर की ओर बढ़ेगा, वह दूसरी ओर भी जा सकता है।

दूसरा : हाँ, यह ठीक है, लेकिन हमें हर समय खतरे का सामना करने को तैयार रहना चाहिए। इस लड़ाई में हर एक को अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना है।

[**प्रस्थान**]

[**बाग से कोयल की आवाज सुनाई पड़ती है और एक गोरी कमसिन कुंजड़िन सिर पर डलिया रखे प्रवेश करती है।**]

कुंजड़िन . सलाम, हजूर !

पुलिस : साग-भाजी बेचकर लौट रही हो ?

कुँजड़िन हाँ सरकार, और लगे हाथ बाग से मीठे बेर खरीद लाई हूँ।

पुलिस : (**सिर हिलाता हुआ**) अच्छा ऽ ऽ ऽ, अच्छी तो हो ?

[**दो युवकों का धीरे-धीरे प्रवेश**]

कुँजड़िन आपकी कृपा चाहिए, हजूर !

[**प्रस्थान**]

पुलिस · (**उस ओर देखता हुआ**) 'जो खिजाँ हुई वो बहार हूँ, जो उतर गया वह खुमार हूँ !'

एक युवक : (**हँसता हुआ**) सुन रहे हो ?

दूसरा युवक : यह आज की दुनिया है। आज के स्त्री और पुरुष इंसान नहीं, केवल स्त्री और पुरुष है !

[**प्रस्थान**]

[**दो भद्र जन दो ओर से आकर एक-दूसरे की ओर देखते हैं।**]

एक : अहा, खूब मिले ! (**हाथ मिलाते हैं।**)

दूसरा : भई, क्षमा करना, जल्दी में हूँ। शहर छोड़कर बाहर जा रहा हूँ। सवारी का इन्तजाम करना है।

एक · अरे, अभी इसकी क्या जरूरत है ?

दूसरा : भई, बीबी-बच्चो को कही ठिकाने पर पहुँचा आयें। अच्छा, कभी फिर···

[**हाथ मिलाकर जल्दी मे प्रस्थान**]

[**कुछ लोग इधर से उधर जा रहे हैं। दो आदमी हाथ में छोटे-छोटे सूटकेस लिये हैं।**]

एक : बड़ी मुसीबत है ! कही आना-जाना मुश्किल हो गया है। कहीं कोई सवारी नही मिलती। मोटर और बसे सब लड़ाई के लिए ले ली गई हैं !

दूसरा : अपना घर-द्वार बेचकर भी हमें लड़ाई के लिए देना पड़े, तो परवाह

नहीं। दुनिया का सारा कूड़ा-करकट आज जमा होकर फासिज्म के रूप में सुलग उठा है। हमें आँधी की तरह टूटकर उसे खाक कर देना चाहिए। तभी दुनिया आराम की साँस ले सकेगी।

तीसरा : (खड़े होकर) पिछले महायुद्ध के लिए कहा जाता था कि वह हमेशा के लिए लड़ाई को खत्म करने के लिए लड़ा जा रहा है। लीग आफ नेशन्स···

दूसरा : (उसे रोककर) यह देवासुर-संग्राम महाभारत के समय से चला आ रहा है—बल्कि उससे भी पहले, रामायण के समय से ! आदमी का स्वभाव, उसकी बनावट ही ऐसी है कि हमें जीवन के यज्ञ में देवताओं का हिस्सा उन्हें देना पड़ता है।

पुलिस : बढ़िए बाबूजी, आगे बढ़िए !

चौथा : मौजूदा दुनिया जब तक बदलेगी नहीं, धरती को हर बीस साल में इसी तरह भोले-भाले आदमियों के रक्त में नहाना पड़ेगा।

[प्रस्थान]

[एक ओर से एक औरत बुरका डाले, कमर झुकाए, लाठी के सहारे धीरे-धीरे प्रवेश करती है। दूसरी ओर से कुछ बरातियों के साथ आगे-आगे बहू और पीछे-पीछे वर का प्रवेश। वधू के मुख पर लम्बा घूंघट पड़ा है। दो युवक हाथ पकड़े तीसरी ओर से आते हैं।]

औरत : 'मौले का नाम है सच्चा, और सब झूठा जतन'।

[कहते-कहते प्रस्थान]

एक बाराती : इस ओर बहू, इस ओर ! (धीरे-धीरे प्रस्थान)

एक युवक : (स्त्रियों की ओर संकेत कर) इस अंधेपन के लिए क्या कहोगे ?

दूसरा : यह फ्यूडल अंधापन है ! सामंत युग की स्त्री और मध्य युग का सदाचार—ओफ, ये दुनिया में अधिक दिन नहीं टिक सकते !

[प्रस्थान]

[लोगों का आना-जाना जारी है। मजदूरों के घरों से किसी के रूखे स्वर में गाने की आवाज आती है।]

'मँहगी के मारे बिरहा बिसरिगा
भूल गई कजरी कबीर,
गोरिया को देखि के अब
बुढ़िरजवा के उठे न करेजुवा में पीर।'

एक भद्रजन : इस लड़ाई को असंख्य भूखे-नंगे लोगों की रोटी का सवाल हल करना है। तभी हम इसे सच्चे प्रजातंत्र की लड़ाई कह सकते हैं।

दूसरा : हाँ—और क्या ? जब तक निन्यानबे सैकड़ा लोगों की रोटी का सवाल हल नहीं हो जाता, दुनिया का प्रजातंत्र, सभ्यता और संस्कृति की डींग हाँकना निरा ढोंग है।

तीसरा : हाँ, और फिर इस भाप और बिजली के युग में !

[प्रस्थान]

[**एक पागल का आसमान की ओर देखते, हाथ नचाते हुए प्रवेश। सब उसकी ओर देखने लगते हैं।**]

पागल : पाँच सौ रुपये !—पाँच सौ रुपये !—उफ, कौड़ी नही ! कौड़ी नहीं ! पाँच सौ रुपये ! पाँच सौ रुपये ! उफ, कौड़ी भी नहीं—कौड़ी भी नही ! पाँच सौ रुपये—

पुलिस : ए मिस्त्री !

पागल : (**उसी तरह**) पाँच सौ रुपये ! उफ, कौड़ी नही मिली ! कौड़ी नहीं मिली !

[**प्रस्थान**]

एक पंडित : क्या बात है, भइया ?

पुलिस : सनक सवार हो गई, और क्या ? सेठ मनीराम हैं—

पंडित : हाँ-हाँ—हमारे नगर के सबसे बड़े महाजन हैं।

पुलिस : सेठजी ने इससे कोठी की मरम्मत करवाई।

पंडित : हाँ, हाँ—

पुलिस : हिसाब करते समय बेचारे की मजूरी काट ली। तब से बहक गया है।

पंडित : (**सिर हिलाता है**) यही बात है—यही बात है ! हरे राम, हरे राम !

[**प्रस्थान**]

एक खादीपोश : रक्तपात के इस भयानक समुद्र से अहिंसा ही मनुष्य जाति का बेड़ा पार लगा सकती है।

दूसरा : अहिंसा कल की बात है, मिश्रजी ! आज की नही। आज हमें दुनिया के साथ जूझना है। भूकंप और महामारी की तरह, इन्कलाब और लड़ाइयाँ भी, दुनिया में अपने आप आती है, उन्हें कोई नही रोक सकता।

तीसरा : आप ठीक कहते हैं।

दूसरा : हाँ, जब लोगों के खाने-पहनने और उनकी पराधीनी का प्रश्न मिट जाएगा, तब उनके सामने संस्कृति का प्रश्न ही शेष रह जायगा, तभी वे अहिंसा को काम में ला सकेंगे।

[प्रस्थान]

[**स्वयंसेवक और सेविकाओं का दल राष्ट्रीय गीत गाते हुए प्रवेश करता है। गीत समाप्त होने के बाद वे 'स्वतंत्रता की जय', 'प्रजातंत्र की जय' के नारे लगाते हैं। धीरे-धीरे सबका प्रस्थान।**]

[**कुछ भद्र नागरिकों का एक ओर से बातें करते हुए प्रवेश**]

एक : तो इससे क्या ? आज की दुनिया यदि विज्ञान से लोक-संहार का

काम ले रही है तो कल की दुनिया उससे लोक-निर्माण का काम करेगी।

दूसरा : हाँ, इसमे विज्ञान का क्या दोष है ? इस पुरानी दुनिया का तो मिटना ही अच्छा है जिसमें करोड़ों आदमी कीड़े-मकोड़े की तरह जीवन बिता रहे हैं ! तुम क्या नहीं देखते कि हम लोग आज-कल पुराने और नए युग के चौराहे पर खड़े है ?

पहला : यह आपका विचार ही विचार है !

दूसरा : विचार नही, यह सच है ! इसलिए इस युग मे इतनी मारपीट, लूट-पाट, संदेह, घृणा, द्वेष और निराशा है। यह सब दुनिया में एक बहुत बड़ा बदलाव आने के लक्षण हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि दुनिया में फिर से स्वर्ण युग आनेवाला है।

पहला : 'यूटोपिया' ! 'यूटोपिया' का अर्थ है नो प्लेस—कहीं नही !

[प्रस्थान]

[कुछ लोगों का झंडे लिए, नारे लगाते हुए प्रवेश]

फासिज्म का पतन ! साम्राज्यवाद का पतन ! जनतंत्र के लिए युद्ध करो ! स्वतंत्रता के लिए युद्ध करो !

[नारे लगाते हुए प्रस्थान]

[नेपथ्य से गाने की आवाज आती है, और एक फकीर गाता हुआ प्रवेश करता है। गाने का अधिकांश भाग नेपथ्य से सुनाई देता है। इस बीच लोगों का आना-जाना लगा रहता है।]

फकीर : (गीत)
छोड़ के सारा वतन।
आप अकेला जायगा !
क्या लेके तू आया बंदे।
क्या लेके तू जायगा !
मुट्ठी बांधे आया जगत में,
हाथ पसारे जाएगा।
छोड़ के सारा वतन।

पुलिस : आइए साईंजी ! इधर बहुत रोज से आना हुआ ?

फकीर : **(माला जपते हुए)** बच्चा, पानी बहता भला, जोगी रमता भला ! यह दुनिया की चौमुहानी है, इसमें कोई भी हमेशा एक ही जगह नही रहता ! इस चौराहे पर खड़े-खड़े तुमने दिन-रात लाखो आने-जाने वाले लोगो के नजारे देखे होंगे। राजा-रईस, अमीर-गरीब, दाता-फकीर, मूरख-पंडत, बूढ़े-जवान, अंधे-लूले—सैकड़ो इस राह में आकर गुजरे होगे। पर किसी का भी यहाँ नामोनिशान नहीं रहा।

पुलिस : आप ठीक कहते हैं, साईंजी !

फकीर : लेकिन बच्चा, दुनिया का चौराहा जिन्दगी की चहल-पहल, जीवन के मेले, यहाँ आने-जानेवालों की हँसी-खुशी और रोने-गाने से कभी खाली नहीं रहा ! और न कभी खाली रहेगा। बच्चा, अभी तुम और

देखोगे। यह खुदाई तमाशा है (आसमान की ओर संकेत कर) जादू का महल है! अभी है, अभी नहीं! पुराना जाता है, नया आता है। कुछ होता है, कुछ खोता है! रीती भरे, भरी ढरकावे, मेहर होय तो फिर लावे! (हँसते हुए, सिर हिलाकर) हाँ आँ—अच्छा बच्चा, खुदा तुम्हे नेकी दे, अपने बंदों को सलामत रखे!

[प्रस्थान]

['छोड़ के सारा वतन' गाने की आवाज सुनाई देती है। एक युवक जो फकीर की बातें ध्यान से सुन रहा था, अपने साथी से कहता है।]

युवक : डिकेडेंट थाट! ह्रास और अवनति के युग मे लोगों को ऐसी ही थोथी दार्शनिकता और थोथा विराग सूझता है। दुनिया असार है, जिन्दगी झूठी— ऐसे विचार कर्म की ओर न ले जाकर अकर्मण्यता की ओर ले जाते है; चैतन्य की ओर न ले जाकर जड़ता की ओर!

[प्रस्थान]

[दूर से साइरन की ध्वनि सुनाई पड़ती है और धीरे-धीरे हवाई जहाजों की आवाज आती है। लोगों का आना-जाना जारी है। कुछ नागरिक घबड़ाए हुए से प्रवेश करते हैं।]

एक : यह हवाई बिगुल की-सी आवाज क्यों आ रही है?

दूसरा : शायद शहर में ए० आर० पी० की तैयारियाँ हो रही है।

[कुछ लोग जल्दी से प्रवेश कर चले जाते हैं।]

तीसरा : न मालूम लोग ऐसे परेशान क्यों लगते है! हमें हर हालत में हिम्मत से काम लेना है!

चौथा : जब सारी दुनिया में मौत ही मौत दीख रही है तो हमी उससे कैसे बच सकते हैं?

[प्रस्थान]

[दूर से गोली के फटने की प्रचंड ध्वनि आती है। एकाएक लोग चौंक उठते हैं और धक्कम-धक्का कर इधर-उधर भागते हैं।]

एक : कही दुश्मन ने शहर में हमला तो नहीं बोल दिया है? ओफ कैसी भयानक आवाज है! जान पड़ता है, दुश्मन ने गोलो का ताँता लगा दिया है!

[लोगों का शीघ्रता से आना-जाना]

दूसरा : ओह, सारे के सारे कारखाने और बड़ी-बड़ी, कीमती इमारतें बरबाद हो जायेंगी! ऐसा जन-संहार! ऐसा विश्वव्यापी विनाश! दुनिया में जैसे प्रलय होना चाहता है! (जल्दी-जल्दी प्रस्थान)

[चौराहा कुछ क्षण के लिए खाली हो जाता है। पुलिसवाला एक ओर उद्विग्न खड़ा है, खंभे का लैंप अपने आप बुझ जाता है। लोगों के चीखने-चिल्लाने का शोर बढ़ता और पास आता जाता है। आसपास के दूकानदार और मजदूर पुलिसवाले के पास दौड़े चले

आते हैं।]

एक : अरे बाप रे, दुश्मन ने शहर पर हवाई हमला कर दिया है !

दूसरा : अरे दइया रे, अब क्या होगा !

तीसरा : हमें क्या डर है ? हमसे कोई क्या छीन लेगा ?

चौथा : वह देखो, शहर भर की इमारतों में आग लग जाने से लाल-लाल लपटें, पागलों की तरह, हवा मे नाच रही है, आसमान को लील जाना चाहती हैं।

पाँचवाँ : हाय, जैसे जम ने दुनिया को चाट जाने के लिए जीभें फैलाई हों।

दूकानदार : अरे बुधुआ, तुम्हारी औरत अपने लड़के के लिए दिन-रात बिलखा करती है। अब देख, कौन किसका लड़का, कौन किसका बाप ! सैकड़ों-हजारों आदमी मर-कट रहे हैं। आग में जल-भुन रहे हैं. सैकड़ों घायल खून के आँसू बहाकर चिल्ला रहे हैं। माँ, बच्चे, बाप-बेटे, भाई-बहन, नातेदार-दोस्त हमेशा को बिछुड़ रहे हैं, बिदा ले रहे हैं।

[कुछ लोगों का शोर सुनाई पड़ता है।]

एक बुड्ढा : हाय भगवान्, कैसा अँधेर मचा है। पिरथी पर पाप का बोझ बहुत बढ़ गया है, इसी से तुमने परलय बुला दिया !

[शोर बढ़ता है, लोग कंधों पर सामान लादे, बच्चों को गोद में लिए, एक ओर से दूसरी ओर भागते हैं।]

एक : ओफ, सारा शहर बरबाद हो गया ! तहस-नहस हो गया। चारों ओर आग बरस रही है ! सारी दुनिया जैसे धू-धू कर धुआँ बनकर उड़ रही है !

दूसरा : चारों ओर अचानक लूटपाट मची है ! घायलों की दर्दनाक पुकारों से कान के परदे फट रहे है। ओह, नरक के दूत और राक्षस जैसे पृथ्वी पर भीषण तांडव और अट्टहास कर रहे हों।

तीसरा : ओफ, आदमी की जिन्दगी का सस्तापन !

[लोगों का आना-जाना बढ़ रहा है।]

एक : अरे रोओ मत, रोओ मत, चुप रहो।

दूसरा : क्या मैं सबको अपने सर पर लादकर ले जाऊँ।

[लड़के का हाथ घसीटता हुआ जाता है]

तीसरा : हाय भगवान, ऐसी तबाही, ऐसा हत्याकाण्ड दुनिया ने कभी नहीं देखा होगा।

[भगोड़ों की भीड़ और शोर बढ़ता जाता है। बाग की ओर से लुटेरों का एक गिरोह काली पोशाक में आकर लोगों पर टूटता है। 'अरे लूट लिया', 'अरे बचाओ', 'हाय मार डाला', 'भागो-भागो', 'मारो-मारो' का शोर मचता है। आपस में धक्कम-धक्का और मार-पीट होने लगती है। कुछ लोग लुटेरों को ललकारते हैं। और भी आदमी आते हैं। कुछ लुटेरे भागते दीखते हैं। पुलिस का सिपाही उन पर रिवाल्वर फायर करता नजर आता है। इसी समय कुछ स्वयंसेवक

और सेविकाएं वहाँ आ पहुँचती हैं। 'भाइयों घबड़ाओ मत, डरो मत, बहादुरी से विपत्ति का सामना करो' की आवाजें होती हैं। फिर पिस्तौल की फायरें होती हैं। 'ऐ खबरदार !' 'पकड़ो बदमाश को', 'भागने न पाये', 'सामने से हटो जी'—चिल्लाते हुए स्वयंसेवक डंडों से लोगों को हटाते हैं। लुटेरों का दल घायल होकर भाग जाता है, कुछ की लाशें जमीन पर पड़ी हैं। 'बचो, बचो—शांति शांति' का शोर बढ़ता है। लोगों का एक गिरोह ज्वार-भाटा की तरह उमड़ता हुआ आता है। लोगों में भगदड़ मच जाती है। कई घायल होकर कराहने लगते हैं। पुलिसवाला भी घायल होकर गिर पड़ता है। और 'आह राम' कहकर मर जाता है।]

एक स्वयंसेवक : भाइयो, बड़े दुःख की बात है कि आप लोग आपस में ही लड़ कर मर रहे हैं। भेड़ों की तरह भयभीत हो इधर-उधर भाग रहे हैं। ऐसी देशव्यापी विपत्ति के अवसर पर जान और माल कुछ भी मूल्य नहीं रखते। आपकी घबड़ाहट, नामर्दी और बुजदिली देखकर शरम के मारे सिर नीचा हो रहा है। (रुककर) आप कम से कम धीरज, साहस और निर्भीकता के साथ घायलों, अनाथों और असहायों की सेवा तो कर ही सकते हैं।

एक : (चिढ़कर) आप यहाँ खड़े-खड़े क्यों बातें बघार रहे हैं? आप स्वयं क्यों नहीं घायलों की सेवा करते ?

[आवाजें--क्यों नहीं स्वयं सेवा करते, क्यों नहीं करते ?]

स्वयंसेवक : भाइयो, इस समय शहर मे हजारों स्वयंसेवक अपनी जान पर खेल कर लोगों की सहायता और रक्षा कर रहे हैं। हम यहाँ अपनी ड्यूटी पर हैं।

आवाज : विमला किधर गई ? अरे सातू की माँ, किधर हो ? चाचा-चाचा, बाबा ··

स्वयंसेवक : आप लोगों में से बहुतों के घर बर्बाद हो गए होंगे, कइयों की बीवी-बच्चे लावारिस हो गए होंगे- लेकिन कायरों की तरह भागकर अपने रिश्तेदारों, दोस्तों, अपने घर, नगर और देश को दुश्मन के हाथ लूट-पाट और बरबादी के लिए छोड़ देना, आत्मगौरव और मनुष्यता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। हमें इस विपत्ति से जूझने के लिए आपस के बैर-विरोधों को एकता, शक्ति और संगठन में बदल देना होगा।

कुछ आगन्तुक : (भीड़ को ठेलकर) बाहर जाने का रास्ता किधर है, शहर से बाहर निकलने की राह ?

एक आवाज : अरे इस ओर, इस ओर—उधर मत जाओ। खतरा है।

स्वयंसेवक : कोई भी राह बाहर निकलने की नहीं, और सभी रास्ते बाहर जाने के हैं ! (कोई उसके मुंह पर टार्च डालता है) आपके सामने यह दुनिया की चौमुहानी है—यह जिन्दगी और मौत का चौराहा खुला हुआ है ! आप इसमें चाहे कायरों की राह पकड़ें, चाहे बहादुरों की राह, चाहे स्वार्थों का रास्ता पकड़े, चाहे आत्म-त्याग की ! (कुछ उसे ध्यानपूर्वक

सुनते हैं, कुछ का आना-जाना जारी है।)

स्वयंसेवक : (दृप्त स्वर में) आज जब कि सारी दुनिया पर विपत्ति की घटा मँडराई है, जब पुरानी दुनिया राख की ढेरी की तरह मिट रही है, और नई दुनिया उसकी राख से पैदा हो रही है—आज आपकी भलाई उसी में है, आपकी राह वह है, जिसमें सारे देश और दुनिया की भलाई है, जो सारे समाज और मानवता की राह है। उस नए समाज और नई दुनिया को बनानेवाले आप ही हैं। आप ही उस नई मानवता के निर्माता हैं।

शकुन्तला

युग-नारी की समस्या

प्रस्तावना

महाकवि कालिदास की शकुंतला का कथानक बड़ा ही गम्भीर, ओजस्वी तथा शक्तिशाली है। उसे मैंने युग्म-चेतना के रूप में इस युग की रंगभूमि पर उतारने का प्रयत्न किया है। अनेक वाद-विवादों में उलझी हुई वर्तमान युग की समस्याओं पर विकसित मनुष्यत्व का प्रकाश डालकर इस नाटक में मैंने मानव सभ्यता के भविष्य की एक झाँकी प्रस्तुत की है।

महाकवि की शकुंतला नर-नारी की समस्या का समाधान प्राचीन संस्कृति के भीतर से लोक-जीवन के धरातल पर कर देती है। दुर्वासा के शाप के फलस्वरूप शकुंतला का परित्याग, नाट्य-कला की सहायता से, कथानक को वस्तुपरिस्थितियों की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण कर इष्ट ध्येय तक पहुँचा देता है, जहाँ युग्म प्रेम का उच्छ्वास भरत के रूप में मूर्तिमान अपत्य स्नेह में परिणत होकर ऊपर उठ जाता है। किन्तु वह व्यापक तथा गम्भीर न बनकर लौकिक एवं पारिवारिक ही रह जाता है। प्रस्तुत नाटक में इसी युग्म प्रेम की समस्या का निराकरण विकसित मनुष्यत्व के भीतर से, चेतना, मन और जीवन के--मानव अस्तित्व के सम्पूर्ण धरातलों पर किया गया है, जिससे भावी सामाजिकता तथा मानवता के समक्ष उसका उत्तरदायित्व स्पष्ट हो जाता है।

नाटक में अंतरंजना की आवश्यकता पड़ती ही है, जिससे कथातत्व की परिमित सीमा के भीतर बड़ी-बड़ी समस्याएँ प्रभावोत्पादक तथा चमत्कारपूर्ण ढंग से उपस्थित की जा सकें। कथोपकथन में भी सूक्ष्म परिहास का पुट देकर, छोटे से घटना-काल के भीतर स्त्री-पुरुष की समस्या के युग-विस्तृत विकास को स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की गई है। इधर-उधर कालिदास की शकुंतला की छोटी-छोटी झाँकियाँ, कथा को मर्मस्पर्शी बनाने के साथ ही, पाठकों एवं दर्शकों के सामने, प्राचीन तथा नवीन जीवन-प्रवाह की दिशाओं को प्रत्यक्ष बनाने में सहायता देती हैं।

इस नाटक में मानव हृदय के भीतर चल रही जिस महान क्रांति का दिग्दर्शन युग्म समस्या के समाधान के रूप में दिया गया है, उससे पाठक सहमत भले ही न हों, पर क्षुब्ध और संत्रस्त भी न हों; विचार करने पर क्रांति की दु:सह उग्रता सह्य होकर कोमल पड़ जाएगी। प्रस्तुत रूपक की समस्या इतनी जटिल, दुरूह एवं अप्रत्यक्ष है, और उसका समाधान इतना आमूल क्रांतिकारी तथा उसका प्रभाव इतना अधिक व्यापक है कि यदि क्षण-भर के लिए इस नाटक के निर्णय को सत्य

मान लिया जाय, तो उससे संसार की अन्य समस्याओं मे भी प्रकारांतर—और शायद मनोनीत प्रकारांतर —उपस्थित हो सकता है। क्योंकि स्त्री-पुरुष सम्बन्धी समस्या का समाधान मानव की चेतन सत्ता के भीतर गहरे से गहरे, ऊँचे से ऊँचे तथा मानव अस्तित्व के बाहर के व्यापक से व्यापक क्षेत्रों को स्पर्श करता एवं उन पर प्रकाश डालता है, यद्यपि मनुष्य के पूर्व विश्वासों तथा अभ्यासों का मन अभी उसके प्रति अत्यन्त सक्षोभ्य है।

बहुत प्रयत्न करने पर भी यह नाटक विचारो से थोड़ा-बहुत बोझिल हो गया है, यद्यपि इसमें नाटकीय सतुलन का अभाव नही है। आलोचको स प्रार्थना करूँगा कि उन्हें आधुनिक कलाकृतियों में सबसे पहले सास्कृतिक तत्त्वो अथवा धाराओं को खोजना चाहिए। उसी कलाकृति की इस युग मे उपयोगिता है, जो विश्व-संस्कृति का निर्माण करने में सहायक सिद्ध हो सके, और मनुष्य को मनुष्य के अधिक निकट ला सके।

इस नवीन चेतना के लिबास में भारत की प्राचीन शकुतला यदि पाठकों का किंचित् भी मनोरंजन कर सकी और उनके मस्तिष्क मे आन्दोलन पैदा कर सकी, तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा।

६ बेली रोड, प्रयाग

सुमित्रानन्दन पंत

पात्र-पात्री

दुष्यंत	:	व्यवसाय नृपति
माढव्य	:	उसका मित्र
महर्षि कण्व	:	लोक-सेवक संत
शकुंतला	:	कण्व की पुत्री
अनसूया, प्रियंवदा	:	शकुंतला की सखियां
पिता कश्यप	:	युगद्रष्टा
मातलि	:	उनका शिष्य

गौतमी, गौतम, शारंगरव, गालव, अदिति, सानुमति इत्यादि।

स्थान

प्रथम अंक	:	कण्व का आश्रम
द्वितीय अंक	:	दुष्यंत का प्रासाद
तृतीय अंक	:	पिता कश्यप का आश्रम

[प्रथम अंक]

(एक)

[नेपथ्य से भेरी का धीर गंभीर नाद रंगभवन को प्रतिध्वनित करता है, साथ ही यवनिका उठती है। एक वृद्ध ब्राह्मण पीली धोती, नीला उत्तरीय पहने मंच पर आकर मेघमंद्र स्वर में आशीर्वाद देता है :]

> या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
> ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
> या माहु सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
> प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

[मंगलाचरण के प्रायः समाप्त होते ही एक युवक, सूट-बूट-हैट पहने, हाथ में मोटी-सी फाइल लिए, मंच में एक ओर से प्रवेश कर मंगलाचरण का अन्तिम पद ध्यानपूर्वक सुनता है। वृद्ध का दूसरे पार्श्व से प्रस्थान : नेपथ्य से फिर भेरी की ध्वनि : युवक कान के पास एक हाथ ले जाकर स्वप्नाविष्ट की तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ता है।]

युवक : भेरी की ध्वनि !······जैसे सदियों का सूना अंधकार आज अपने भारी गले से बोल उठा हो ! (गला खखारकर) या सृष्टिः स्रष्टुराद्या · वहति विधिहुतं···कहाँ सुना था ?······किसने कहा था ?······

[मंच के एक ओर सोचमग्न होकर खड़ा होता है, दूसरी ओर से सखियों के साथ कालिदास की शकुंतला का प्रवेश। वस्त्र : चोली और साड़ी : नेपथ्य में वाद्य-तरंग, जिसमें सरोद और जल-तरंग के स्वर प्रमुख हैं।]

शकुंतला : (आती हुई) सखियो, इधर आओ।

[शकुंतला और सखियाँ पौधों को सींचने का अभिनय करती हुई नृत्य मंद गति से मंच की ओर बढ़ती हैं। कालिदास की शकुंतला के दृश्य इस नाटक में सर्वत्र वाद्य-तरंग तथा ललित-अभिनय के साथ होंगे।]

प्रियंवदा : सखी शकुंतले, तू कुछ देर वहीं खड़ी रह।

शकुंतला : (**भ्रू-विलास**) क्यों ?

प्रियंवदा : इसलिए कि तेरे साथ यह मौलसिरी ऐसी लगती है, जैसे इसमें लता लिपट गई हो !

शकुंतला : तभी तो तुझे प्रियंवदा कहते हैं !

[**सखियों के साथ जल-सिंचन का अभिनय करते हुए शकुंतला का पार्श्व से प्रस्थान : स्वप्न-दृश्य ओझल हो जाता है ।**]

युवक : (**प्रकृतिस्थ होकर**) अहा, महामति कालिदास की शकुंतला !······ राजा विक्रमादित्य की सभा !·· ···तब से कितनी सदियाँ बीत चुकी हैं ! (**मंच पर टहलता हुआ**) इतिहास कितना आगे बढ़ गया है !··· कितनी जातियों ने इस सोने की धरती पर खूंखार हमले किए ?··· कितने सम्राटों ने इस अभागे देश के हृदय पर शासन करना चाहा ! अभी-अभी मुट्ठी-भर अंग्रेज इसकी विशाल छाती पर अपना सिंहासन जमाए हुए थे !···लेकिन आज !···(**उसका चेहरा दमक उठता है : नेपथ्य की ओर देखकर**) अरी ओ आधुनिके, क्या अभी तेरा श्रृंगार···।

[**रेशमी सलवार, कमीज, ओढ़नी में लिपस्टिक और पाउडर लगाए, नटी का प्रवेश**]

नटी : (**ओढ़नी सँभालती हुई**) कहिए, कौन-सा नाटक खेलें ?

युवक : (**जो अब स्टेज मैनेजर-सा दिखाई देता है**) कौन-सा नाटक ?··· (**हाथ की फाइल पर दृष्टि डालकर**) जानती तो हो कि अब हमारा देश स्वाधीन हो गया !···आज हमारे महामंत्री, प्रांतो के मुख्यमंत्री, आदरणीय नेतागण, भद्र नागरिक, धनी-मानी, श्रमिक कृषक—सभी प्रकार के लोग हमारा नाटक देखने आए है !···

नटी : आहा !···(**झुककर अभिवादन करती हुई**) पिछले युगो की तरह-तरह की वेश-भूषाओ के बीच मे हमारे सफेद खादी से ढँके नेता, छोटी-मोटी विन्ध्य की पहाड़ियो के मध्य मे हिमालय की चोटियों की तरह साफ चमक रहे है !···कहिए, इन्हें रिझाने के लिए किस ऋतु का गीत गाऊँ ?

युवक : चापलूसी करना तो तुम्हारे पेशे का स्वभाव बन गया है ! (**नटी कंधे झटकाती है, युवक इधर-उधर देखकर**) अब तो ग्रीष्म के बाद बरसात भी बीत चुकी है·· और शरद आ गई है !

नटी : ठीक !···(**गाने की धुन में कहती है**)

मिटा ग्रीष्म का ताप, हटे दुःखों के काले बादल,
आई शरद की आभा, खादी-सा गाँधी युग उज्ज्वल !

नट : (**सिर हिलाकर**) सुंदर और सामयिक ! (**नेपथ्य से द्रुतगति से भेरी की ध्वनि :**) वह सुनो, जयभेरी बजती है ! अतीत की गुफा मे सोई हुई देश की चेतना फिर से जाग उठी है ··और सदियों की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों को पार कर महाकवि की शकुंतला नवीन स्वप्नो के चरण बढ़ाती हुई सामने आ रही है। भारत की पुरानी संस्कृति ही नवीन

लोक-चेतना के लिवास में हमारे जीवन के बिरवे को फिर से सींचने आई है।... चलो, गाँवों की इस दृश्यपटी में आज नवीन युग-चेतना को ही शकुंतला नाटक के रूप में इन महानुभावों को भेंट करें।

नटी : जिसके पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, उस शकुंतला को युग-अनुरूप अभिनीत करने से अधिक उत्तम प्रस्ताव और क्या हो सकता है?

(भेरी की ध्वनि और तीव्र होती है।)

ओह, इस भेरी की आवाज ने सदियों से भूली हुई स्मृतियों को ऐसा जगा दिया है, जैसे महात्माजी ने इस देश की जनता को!

[नेपथ्य से 'महात्मा गांधी की जय!' 'बापू की जय!...' परदा उठता है, साथ ही नट-नटी का प्रस्थान।]

(दो)

[गांधी-युगीन भारत के नवीन ग्राम का एक दृश्य : मंच के एक पार्श्व में पीछे की ओर, फूंस की एक सुन्दर कुटी : कुछ दूर पर हरे-भरे लहलहाते हुए खेत, कुटीर के सामने चौड़े बरामदे से मिला हुआ आँगन : शकुंतला बरामदे में बैठी: चरखा चला रही है, पास ही अनसूया और प्रियंवदा आँगन में खड़ी तकली कात रही हैं, : वस्त्र—खादी की साड़ी और जंपर।

सामने युवक-युवतियों की पाँतें खड़ी हैं, जिससे पीछे का दृश्य प्रायः छिप जाता है। परदा उठते ही युवक-युवती चार पग आगे बढ़कर नव भारत की वंदना गाते हैं।]

(नव भारत)

मानव भारत हो नव भारत,
जन मन धरणी सुन्दर,
नवल विश्व हो वह आभा-रत,
सकल मानवों का घर !

जाति पाँति देशों में खंडित भू जन,
धर्म नीति के भेदों में बिखरे मन,
नव मनुष्यता में हों मज्जित।
क्षुद्र युगों के अंतर,
विचरें मुक्त हृदय, अंतःस्मित
प्रीति युक्त नारी नर !

लोक चेतना ज्वार बढ़ रहा प्रतिक्षण,
स्वप्नों के शिखरों पर कर युग नर्तन,
तड़क रहीं हथकड़ियाँ झन-झन।
मन के पाश भयंकर,
अग्नि गर्भ युग शिखर त्रिकट,
फटने को अब छोड़ो डर !

आज समापन युग का वृत्त पुरातन,
भू पर संस्कृति चरण धर रही नूतन,
रंग-रंग की आभा पंखड़ियाँ
बरसाता झुक अंबर,

खोलो उर के रुद्ध द्वार जन,
हँसता स्वर्ण युगांतर !

[युवक-युवतियों का गाते हुए दो भागों में बँटकर, दोनों ओर से प्रस्थान ।]

अनसूया : (जाँघ पर तकली घुमाती हुई) प्रियंवदे, इस कच्चे तागे से हम एक सुगठित राष्ट्र में बँध जाएँगे। हमारी पराधीनता की बेड़ियाँ इतनी जल्दी कट जायेंगी, इस पर क्या किसी को विश्वास होता था ?

प्रियंवदा : (तागा लपेटती हुई) तुम इसे चमत्कार भले ही समझो, मैं तो देखती हूँ जिसे तुम कच्चा सूत कहती हो, वह अहिंसा की चेतना लोहे की रस्सी से भी शक्तिशाली है। एक दिन वह धरती की सब जातियों को नवीन एकता के रूप में, एक महान् मनुष्यत्व मे, बाँध देगी। (शकुंतला क्षण-भर उसकी ओर देखती है।)

अनसूया : विश्वास तो मेरा भी यही है ! जिस मानव जाति के सिर पर आज एटम बम सवार है, जिस गिरी हुई इंसान की दुनिया में विष तथा रोगों के कीटाणुओं की वर्षा हो सकती है, उसके लिए सबसे अच्छा यही है कि महानाश की ओर बढ़ता हुआ अपना कदम रोके···एक बार गम्भीर होकर भीतर की ओर नजर डाले !···आज अहिंसा सबके अन्दर पुकारकर कह रही है—ओ बिजली की रफ्तार से भागनेवाले देशो···रुको···ठहरो ! इसके पहले कि तुम विनाश के भयानक गड्ढे में गिरो, एक बार तुम अच्छी तरह सोचकर देख लो कि तुम्हारी लड़ाई इसानों की बाहरी दुनिया से नहीं, इंसानियत की भीतरी दुनिया से है। तुम्हें बाहर की ही शक्तियों से नहीं, भीतरी शक्तियों से भी लड़ना है ! ओ विज्ञान की दूरबीन से बाहर ही बाहर देखनेवाले देशो, अपने मन की आँख खोलो !···आज मनुष्य जाति महान् संक्राति-युग से गुजर रही है। अहिंसा प्रत्येक हृदय की धड़कन में चिल्लाकर कह रही है,···तुम्हारे सामने रोटी का ही सवाल नहीं···राजनीति, अर्थ-नीति का ही प्रश्न नहीं तुम्हारे सामने आज आदर्श और संस्कृति का प्रश्न है, जो इंसानियत की रोटी और मनुष्यता की भूख है।

प्रियंवदा : तुम तो इस स्वतंत्रता के युग की बहुत बड़ी वक्ता बन गई हो !

अनसूया : (मुस्कराकर) जो हिन्दुस्तान के गाँवों में रहते हैं, आज जो शक्तिशाली राष्ट्रों की स्पर्धा, हिंसा की प्रवृत्तियों से थोड़ा-बहुत परिचित हैं, जो जानते हैं दुनिया के बड़े-बड़े देश किस तैयारी से अगले युद्ध के लिए होड़ लगा रहे हैं,···उनके लिए इस युग के महापुरुष महात्माजी के सिद्धांतो पर विश्वास रखने के अलावा और रास्ता ही क्या है ? उनके सिद्धांतों पर चलने से ही हम मनुष्य के हृदय की भीतरी दुनिया को बाहर की रोशनी में ला सकेंगे !···आज के घिनौने इंसान के इस नरक के ऊपर उसके हृदय-देवता का राज्य स्थापित कर सकेंगे।···हमें धीरज, तप और साहस की आवश्यकता है।

प्रियंवदा : शकुंतला, क्या तू चुप्पी ही साधे रहेगी ? तू क्या सोचती है ! (शकुंतला

तीव्र दृष्टि से उसकी ओर देखकर चरखा कातने लगती है।)

अनसूया : क्यों री, बोलती क्यों नहीं ? (**अर्थ-परिहासपूर्वक**) आज के लोक-जीवन के सूत्र को अपने हाथ में लेकर तेरा इस तरह चुप रहना अच्छा नहीं लगता।

शकुंतला : (**विद्रोह-भरे स्वर में**) मैं कुछ नही कहना चाहती।

प्रियंवदा : तो मैं यह मान लूं कि तू मन-ही-मन किसी आनेवाले दुष्यंत की कामना के सूत को पकड़े हुए है और लोकसेवा मे तेरा जी नही लगता ?

शकुंतला : (**चरखा रोककर**) तू सोचती है, मैं दुष्यंत का नाम सुनकर लाज से गड़ जाऊँगी ? स्त्री-पुरुष के मिलने के लिए सदियों से समाज की जो अकेली सँकरी राह खुली है, उससे नारी के हृदय मे दुष्यत के सिवा आने का अधिकारी ही कौन हो सकता है ?···

प्रियंवदा : वह, जो आधा स्वप्न, आधा सत्य है !

शकुंतला : (**अनसुनी कर**) मैं दुष्यंत की राह नही देख रही थी !·· मैं सोच रही थी कि जिस अहिंसा की रट तुम लोग लगाए हुए हो, उसकी पुकार किसी के अन्दर सुनाई भी पड़ती है कि नही !·· अपने ही देश को देखो।·· स्वाधीन होने के साथ ही हमारे हृदयों में छिपी हुई मध्य युगों की दुर्बलताएँ आज नया वल पाकर अपना सिर उठा रही हैं। सभी क्षेत्रों में अनाचार, स्वार्थ, घृणा, दंभ, द्वेष, साम्प्रदायिक कलह आदि स्वतंत्र होकर हमारे ऊपर राज्य कर रहे हैं !

अनसूया : यह तो बाहरी रूप है, जो धीरे-धीरे सुधरेगा।···एक भीतरी भारतवर्ष भी तो जन्म ले रहा है।

शकुंतला : वह भीतरी भारतवर्ष नहीं, भीतरी मनुष्य है, जिसे किसी देश के नाम से नहीं पुकारा जा सकता, जो सब देशों का है।···जिसे दुनिया आदर्श, सदाचार, नीति आदि के नामों से पहचानती है।······

अनसूया : भीतरी मनुष्य ही सही···।

शकुंतला : न जाने कब से मनुष्य धर्म, सदाचार, त्याग आदि जैसे सैकड़ों आदर्शों की दुहाई देता आ रहा है, लेकिन जिस भारत का तुम्हें अभिमान है, उसे देखकर विश्वास नही होता कि इन बडे-बडे खोखले नामों को वह या दुनिया कभी जानती भी रही है।

प्रियंवदा : यह इस युग की प्रकृति का विद्रोह है, जो तुम्हारे भीतर से बोल रहा है।

शकुंतला : विद्रोह को मैं बुरा नहीं समझती। वह अहिंसक मानव का अस्त्र है।··· लेकिन आज के मनुष्य को अहिंसक बनाना, जब वह सबसे अधिक हिंसक और खूंखार है, आज के आदमी को सदाचार का ककहारा सिखाना, जब उसका सबसे अधिक नैतिक पतन हो चुका है, आज के इंसान के अहंकार की बनावट को बदलना, जब वह सबसे अधिक स्वार्थपरक और संकीर्ण हृदय है,···यह आकाश कुसुम की इच्छा रखना है, स्वप्न की दुनिया में रहना है।···अगर यह सुबह के पहले

का गहरा अंधकार नहीं है, तो !···

प्रियंवदा : कौन जाने, वही हो !

शकुंतला : इस युग का मनुष्य तपस्या के अयोग्य है, साधना करने में असमर्थ ! त्याग और तप का नाम सुनकर उसके दिल मे ऐंठन होने लगती है। आध्यात्मिकता की बातें सुनकर उसका मन कुटिल क्रोध से भर जाता है। उसकी भोग-लालसा मे आज सारी इंसानियत को डुबानेवाली बाढ़ आ गई है। · ऐसे युग में मनुष्य को उसके देवता से परिचित कराना अत्यंत कठिन है !––मंजिल का नाम और पता बतलाना आसान हो, लक्ष्य तक पहुँचने के लिए रास्ता बनाना संभव नही जान पड़ता।

[कुछ स्वयंसेवक-सेविकाओं का प्रवेश]

अनसूया : तुम ठीक कहती हो।···तुम पिता कण्व के तप और साधना की जीती-जागती मूर्ति हो। तुममें यह तेज, यह स्पष्टवादिता, दूध को दूध, पानी को पानी कहने की ताकत होनी ही चाहिए।

एक स्वयंसेवक : (**आगे बढ़कर**) बहिनजी, ग्राम-उद्योग धन्धों सम्बन्धी कला प्रदर्शनी की तैयारी हो चुकी है। अतिथिशाला में अतिथियो के रहने का प्रबन्ध भी हो गया है।···हम लोगों ने आस-पास के गाँवों में सफाई करवा दी है।···प्रधान अध्यक्षा ने आपको आशीर्वाद भेजा है, और कहलाया है कि एक बार आप कला-भवन का निरीक्षण कर लें !

शकुंतला : गौतम, जाकर माता गौतमी से मेरा प्रणाम निवेदन करो। और कहो कि मैं अभी कला-भवन का निरीक्षण करने जाती हूँ।

गौतम : जो आज्ञा।

[प्रस्थान]

शकुंतला : चलें।

[सखियों के साथ प्रस्थान]

[दूसरी ओर से दुष्यंत तथा माढव्य का प्रवेश : दुष्यंत—शेरवानी चूड़ीदार पायजामा, साफा, गले में सोने की चेन, हाथ में सोने की रिस्टवॉच : माढव्य—बुशशर्ट और पतलून पहने।]

दुष्यंत : (**नेपथ्य की ओर देखकर**) शोफर, तुम गाडी को धोकर छाँह में खड़ी कर दो। कच्ची सड़क में चलने से पहियों मे कीचड़ भर गया है। हम अतिथिशाला का पता लगाते हैं।

शोफर : (**नेपथ्य से**) बहुत अच्छा।

माढव्य : (**रूमाल निकालकर**) देखता हूँ, गाँवों की दशा में अभी कोई सुधार नहीं हुआ। बड़े-बड़े लोगों के आने के डर से गन्दगी और कूड़ा तो हटा दिया गया है, लेकिन उसकी बदबू हवा में फैली हुई है। पक्के कुएँ दो-एक ही हैं। कच्चे कुओं में झाँकने से लगता है, उनमें पनालों का पानी जमा हुआ है। पोखरों और तालाबों से सिवार-काई तो

निकाल दी है पर उनके पानी में कपड़े धोने से और भी मैले हो जाते हैं और यह देखकर तो मन बेहद दुःखी हो जाता है कि गाँव के अधिकांश लोग अभी सत्तू और सूखा महुआ ही खाकर रहते हैं ! मैं सोचता था मित्र, स्वराज मिल जाने के बाद गाँवों में घी, दूध की नदियाँ बहती होंगी, और इस गरीब ब्राह्मण को शहरों के पानी-से दूध से कुछ दिनों के लिए छुटकारा मिल जाएगा।···दही की मोटी गाढ़ी मलाई और खोवे के ताजे-ताजे लड्डू खाने को मिलेंगे !

दुष्यंत : (हँसकर) तुम कालिदास के समय से अभी तक खाने के ही स्वप्न देखते आए हो ! वाह रे भोजन-भट्ट !

माढव्य : इसी भरोसे तो माढव्य का प्रेत इन किसानों की तरह हड्डियों के हिलते हुए ढाँचे को व्रत, उपवास और तपस्या से खड़ा रखकर किसी तरह जी रहा है, और इस युग में तो मेरा भोजनवाद अर्थशास्त्र का प्रसिद्ध रोटीवाद बन गया है। लेकिन तुम्हारा चेहरा भी यहाँ आकर उदास और उतरा हुआ दिखाई देता है। लगता है मित्र, तुम्हें यहाँ हिरनों के साथ पली कोई भोली-भाली सुन्दरी नहीं दीखी !

[एक ओर से सखियों के साथ कालिदास की शकुंतला का प्रवेश : वाद्य-तरंग, जिसमें बाँसुरी के स्वर प्रमुख ।]

शकुंतला : (अनसूया की ओर बढ़कर) सखी अनसूये, प्रियंवदा ने मेरा जूड़ा इतना कसकर बाँध दिया है कि मेरे सिर में दर्द हो गया है, जरा इसे ढीला कर दे।

अनसूया : अभी करती हूँ। (जूड़ा ढीला करती है।)

[सखियों सहित शकुंतला का प्रस्थान]

दुष्यंत : (आँखें मलकर) उँह, न जाने कब की स्मृति जगाकर तूने हृदय के बन्द द्वार झनझना दिये ! इस गांधी-युग में तो पूर्वानुराग, प्रथम दर्शन का प्रेम किस्से-कहानियों में भी नहीं मिलता ! हमारे नेता अब अधेड़ और सफेद हो गए हैं। स्वाधीनता की लड़ाई लड़ते-लड़ते उन्हें इन बातों में रत्ती-भर दिलचस्पी नहीं रह गई है !

माढव्य : यह कैसे हो सकता है, मित्र !

दुष्यंत : मेरा मन इस समय इन दीन-हीन किसानों को देखकर उद्विग्न है। मैं सोच रहा था, किस तरह गाँवों में जल्दी-जल्दी मिलें और कारखाने खोले जाएँ, जिससे इन निकम्मे अनपढ़ गँवारों की दशा सुधरे, इन्हें खाने-पहनने को मिले, इनके मुरझाए चेहरे खिल उठें, इनकी कुचली आत्मा में अभिमान जाग उठे।···ये सिर्फ काल के दिन पूरे करते हैं, जीवन का उपयोग करना, या आनन्द लेना नहीं जानते।

माढव्य : (दोनों हाथों से मुँह ढँककर) हाय, कालिदास के दुष्यंत का यह पतन ! महाराज से अब मिल ओनर !···लेकिन, यह मेरे सामंती मन का विद्रोह है !···तुम समय की गति पहचानते हो !···अब राजा-जमींदारों के दिन गए ! तुम्हारी रेशमी धोती, जरीदार अचकन और राजमुकुट अब चूड़ीदार पायजामा, शेरवानी और साफे में बदल गए।

दास-दासी और प्रजा मुंशियों और मजदूरों में ! धनुर्विद्या भूलकर तुम फ्राएड आदि के शास्त्र पढ़कर पुष्प-धनु की विद्या में विशारद हो गए हो।··· इस नए लिबास में तुम अधिक चुस्त-दुरुस्त लगते हो ! मित्र, मेरी नवीन युग की बधाई स्वीकार करो।

दुष्यंत : (जो ध्यानपूर्वक कुटी की ओर देख रहा था) जान पड़ता है, हम प्रसिद्ध लोकसेवक कण्व के आश्रम में पहुँच गए हैं।

माढ़व्य : (आश्चर्य से) लोकसेवक कण्व ?··· तब क्या महर्षि कण्व और उनका मालिनी नदी के तीर का आश्रम भी बदल गया ?

दुष्यंत : देखते नहीं हो ! · पेड़ की डालों पर जगह-जगह स्वयंसेवकों के खादी के धुले तौलिए, कुर्ते, पायजामे और थैले लटके हुए हैं।·· नीचे मिट्टी के बर्तनों में सोंधी मिट्टी का गीला लेप रखा है, जिससे महर्षि मरीजों की प्राकृतिक चिकित्सा करते हैं।···हाथ के बने कागज के बड़े-बड़े लिफाफों में साग-पात, फलों के बीज तरतीबवार नाम लिखकर सजाए गए हैं।···और देखो, उधर हिन्दू-मुसलमान, हरिजन-ब्राह्मण—सब जातियों के लोग, बाघ-भालू, भेड़-बकरी की तरह, आपस का बैर भूल कर एक पाँति में बैठकर चरखा चला रहे हैं।

माढव्य : वाह, प्राचीन भारत की तो इस युग में काया ही पलट गई !·· धन्य है महर्षि के तप का प्रभाव,·· ऐसा मेल और एका तो महाराज दुष्यंत आपकी प्रजा में भी नहीं रहा !······(इधर-उधर देखकर) अब यहाँ जगलों में हाथी, हिरनों के झुण्ड अलबत्ता कम घूमते हैं, लेकिन पालतू शूकरों, नीलगायों के दल बराबर भागते नजर आते हैं !·· स्वयंसेवकों ने योग-प्राणायाम छोड़कर कसरत-व्यायाम करना सीख लिया है। आश्रमवासी इंगुदी तेल में सनी घुटनों तक की धोती छोड़कर खादी के कुरते-पायजामे पहनना सीख गए हैं जिनमें वे अधिक सभ्य सुथरे लगते हैं !···कुएँ में पानी खींचने में तापसियों की साड़ियाँ खिसक जाती हैं, उनके रंग-बिरंगे ब्लाउज गाँवों की मटमैली गरीबी में इन्द्र-धनुषी आशाएँ जगा रहे हैं !···मित्र, तुम तब तक सप्तपर्णी की छाया में —ऊँह, फूंस के बरामदे में बैठकर विश्राम करो, मैं सामने देश-सेवकों के खेमे में जाकर गाँवों के बारे में जानकारी हासिल करूँ।

[प्रस्थान]

दुष्यंत : (कुटी के पास पहुँचकर) सेवाश्रम के द्वार में प्रवेश करते ही मेरी बाँह···मेरा हृदय क्यों धड़कने लगा ! क्या होनहार के द्वार सर्वत्र होते हैं ?···

[पेड़ की आड़ में हो जाता है।]

[जूड़े में लाल कनेर का फूल लगाए, शकुन्तला का सखियों के साथ प्रवेश।]

अनसूया : जान पड़ता है, पिता कण्व को देश-सेवा तुमसे अधिक प्यारी है, नहीं तो ऐसी सुकुमारी पर आश्रम की देख-रेख का कठिन भार क्यों डालते ?

दुष्यंत : (मनःकथन) यह ठीक ही कहती है ! इस सुकुमारी के कोमल अंग खादी की भारी खुरदुरी साड़ी से छिल नही जाते, यही आश्चर्य है !

शकुंतला : पिता की आज्ञा ही नहीं, मुझे तो देश-सेवा से अत्यन्त अनुराग है।

प्रियंवदा : तेरे अंगो से फूलों से लदी वासन्ती लता की तरह जो सुन्दरता फूट पड़ती है, उसे लोकसेवा की तपती रेती में झुलसाना मन को अच्छा नही लगता।

दुष्यंत : (मनःकथन) प्रियंवदा ने बात प्यारी भी कही, सच्ची भी !···इसके मुस्कराते हुए लाल ओठ नए कोपलों से हैं, बाँहें कोमल लचीली शाखाओं-सी; इसकी सुन्दरता लता से लिपटी फूलों की फूलज्वाला-सी।

शकुंतला : (विचारमग्न होकर) मुझे सन्देह होता है कि मैं लोकसेवा को अपना तन-मन समर्पण नही कर सकूँगी।

प्रियंवदा : मैं सोचती हूँ, यह बढ़ता हुआ शरद चाँदनी का ज्वार खेत-खलिहान, हाटबाट में ही न बिखरकर अगर किसी के झरोखे के भीतर भी अपना सुहाग बरसाता, तो उसके घर का सूना अँधेरा स्वप्नों में हँस उठता।

[**दूसरी ओर से सखियों के साथ कालिदास की शकुंतला का प्रवेश**]

शकुंतला : दई, दई, यह ढीठ भौंरा नई चमेली को छोड़कर बार-बार मेरे मुँह की ओर आता है। (हटकर) यहाँ भी पापी पीछा नहीं छोड़ता, अब कहाँ जाऊँ। (हटकर) सखियो, इस दुष्ट से मुझे बचाओ !

प्रियंवदा : हम बचानेवाले कौन होते हैं ? महाराज दुष्यंत की दुहाई दे !

[**प्रस्थान**]

दुष्यंत : (मनःकथन) अब मैं किस तरह अपना परिचय दूँ ? (आगे बढ़कर) देवियो···वैसे वेशभूषा से तो आप तापसियों-सी······मेरा अभिप्राय स्वयंसेविकाओं-सी लगती हैं ! क्या आप मुझे अतिथिशाला की राह बता सकती हैं ?

अनसूया : सखी, यह सुन्दर युवक कोई संभ्रांत व्यक्ति जान पड़ते हैं। इनका अतिथि सत्कार तुम स्वयं करो।

दुष्यंत : (आश्वस्त होकर) क्या मैं आपकी सखी का परिचय पूछ सकता हूँ ?

शकुंतला : (मनःकथन) इस पुरुष को देखकर मेरे मन में ऐसी बात क्यों उठती है, जो सेवाश्रम के योग्य नही !

अनसूया : महोदय, हमारी सखी पिता कण्व की पुत्री शकुंतला है।

दुष्यंत : (आश्चर्य प्रकट कर) इस युग में महर्षि के आश्रम में भी शकुंतला ?

प्रियंवदा : (तीव्र स्वर में) किसी भी युग में, किसी भी आश्रम में शकुंतला अवश्य रहेगी।

अनसूया : शकुंतला युग युग की नारी की समस्या है !

दुष्यंत : (साहस कर) आपकी सखी कोई साधारण स्त्री नहीं जान पड़ती।

प्रियंवदा : आप ठीक कहते हैं। हमारी सखी युग-पुरुष की साधना भी है, आने

वाली सिद्धि भी !

दुष्यंत : ऐसा सुकुमार सौंदर्य और ऐसा तेज ! यह क्या मनुष्य लोक में सम्भव है ?···पर इस युग मे अप्सरा मे जन्म लेना भी तो—

प्रियंवदा : सम्भव नहीं !···महर्षि ने अपनी पुत्री को अविराम अध्ययन, मनन, तप और त्याग से गढा है।·· हमारी सखी महर्षि की अनुभूति की जीवित प्रतिमा, साधना की सदेह चेतना है।

[नेपथ्य से बछड़े की आवाज आती है।]

दुष्यंत : लेकिन महर्षि कण्व तो सदैव से ब्रह्मचारी······नहीं-नहीं ! (**अनसूया, प्रियंवदा आदि को अन्यमनस्क देखकर मन.कथन**) इन बातों में लाभ · इस युग में विवाह के बारे मे जाति-पाँति, धर्म के बन्धन तो रह नहीं गए है।

अनसूया : सखी शकुंतले, यह गाय का बछड़ा न जाने यहाँ कैसे भटक गया है। यह माँ के बिना रँभा-रँभाकर अपनी जान ही दे देगा। हम इसे गोशाला में पहुँचाने जाती है। तुम तब तक माननीय अतिथि को पिता कण्व के सेवाश्रम की योजना समझाओ।

दुष्यंत : (**सौजन्यपूर्वक**) मुझे आप सेवाश्रम का ही सदस्य समझिए।

[सखियों का प्रस्थान]

[दोनों अपने को एकांत में पाकर क्षण भर के लिए गम्भीर हो जाते हैं। शकुंतला की स्त्री-सुलभ व्रीड़ा नासिका में केन्द्रित होकर प्रकट होती है, वह शीघ्र ही अपने को उससे मुक्त कर लेती है। दुष्यंत दुविधा-संकोच से बाहर निकलकर] क्या महर्षि के दर्शन हो सकते हैं ?

शकुंतला : महोदय, पिताजी आजकल देश-भर मे भ्रमण कर खादी संस्थानों, ग्राम उद्योग केन्द्रों तथा देश-सेवको का संगठन कर रहे है।···वे इस शरदोत्सव के लिए नहीं आ सकेंगे।···आज स्वाधीन भारत में जहाँ पिछली सदियों के सकीर्ण आदर्श और वाद-विवादों के प्रेत आपस मे तू-तू, मैं-मैं कर रहे है, धर्म के नाम पर लोग एक-दूसरे का रक्त बहा रहे है, राजनीतिक दलबन्दियाँ देश का सशक्त राष्ट्र नहीं बनने दे रही हैं - ऐसे संक्रांति-काल में पिता कण्व महात्माजी के आदर्शों का प्रचार कर देश के नवयुवकों में नये चरित्र की नींव डाल रहे है।

दुष्यंत : (**संदेह को दबाकर**) ऐसा हो जाए, तो बहुत बड़ी बात हो !

शकुंतला : (**उसे अपने विश्वास से प्रभावित करने के लिए**) पिताजी ने प्रचार का कार्य इसी वर्ष प्रारम्भ किया है, उनके अविरत उद्योग से गांवों की जनता मे जो नया जीवन आ गया है, उसे आप कुछ दिन यहाँ रहने पर ही समझ सकेंगे।

दुष्यंत : (**उत्साह को दबाकर**) मैं प्रयत्न करूँगा।

शकुंतला : गाँव के लोग अब सफाई स्वच्छता का सौंदर्य पहचानने लगे हैं। पिता जी उन्हें शहरो की नकली सभ्यता से अलग रखकर सरल और नेक जीवन बिताना सिखा रहे हैं ! उनका कहना है, सादगी मनुष्य की

सबसे बड़ी पहचान है। साफ-सुथरे झाड़-फूंस के झोंपड़ों में वह सुख-शान्ति मिल सकती है, जो बड़े-बड़े महलों में सम्भव नही है ! वह बड़प्पन से अधिक नेकी पर जोर देते हैं, बुद्धि से अधिक हृदय पर !··· सबसे अधिक महत्त्व वह स्वावलम्बन और चरित्रबल को देते हैं। **(दुष्यंत की मुद्रा गम्भीर हो जाती है)**

दुष्यंत : **(बाहर के मन से)** ठीक है।

शकुंतला : **(उसी आवेश में)** पिताजी बराबर कहते रहते हैं, चरित्र की कुंजी है कर्म—लगातार अच्छे कर्म करना। **(दुष्यंत रूमाल से माथे का पसीना पोंछता है।)** ··आप खड़े-खड़े थक गए हैं ! आइए, बैठिए। **(दोनों कुटीर के सामने मोढ़ों पर बैठते हैं।)**

दुष्यंत : **(साँस छोड़कर)** काश, सारी दुनिया का मन यदि गाँववालों का-सा होता !···और सभ्यता की समस्या गाँवों की-सी समस्या होती !

शकुंतला : **(आश्चर्य से)** तब क्या होता ?

दुष्यंत : **(निराश स्वर से)** तब यह धरती पिता कण्व के आदर्शों का स्वर्ग बन जाती !···**(शकुंतला को देखकर)** लेकिन—**(रुक जाता है)**

शकुंतला : **(उत्साहपूर्वक)** हाँ, हाँ, कहिए।

दुष्यंत : **(उसकी ओर ममतापूर्ण दृष्टि से देखकर)** आज दुनिया के सामने बहुत ही पेचीदी और उलझी हुई समस्याएँ हैं !·· दुनिया मे बड़ी ही भयानक और विरोधी शक्तियाँ काम कर रही है। वे कभी आपस में भिड कर संसार की सभ्यता और संस्कृति को ही नहीं—मनुष्य जाति को ही इस धरती के दामन मे मिटा सकती हैं !

शकुंतला : **(उपचेतन के आघात से क्षुब्ध होकर)** असम्भव, ऐसा कभी नहीं हो सकता। **(दुष्यंत पर तीव्र दृष्टि डालकर)** संसार की समस्या चाहे जितनी भी उलझी हुई हो, मनुष्य जाति का विनाश नहीं हो सकता !

दुष्यंत : **(यांत्रिक स्वर में)** यह आप धरती की आवाज से बोल रही हो, धरती की चेतना की शक्ति से ! **(दृढ़ स्वर से)** लेकिन मैं अपने समय के जानकार की तरह, आजकल के इंसानों के पारखी की तरह आपसे कहता हूँ, ऐसा होना असम्भव नही।···आज इंसान के नथुनों में भाप, उसकी मांस-पेशियों में बिजली और एटम की भयानक शक्ति काम कर रही है।···जिसका मतलब शायद आप समझती है ! **(दुष्यंत की आत्म-विश्वासपूर्ण शांत स्थिर दृष्टि शकुंतला को आंदोलित करती है।)** आज दुनिया के शक्तिशाली राष्ट्र भीतर ही भीतर तीसरे विश्वयुद्ध की तैयारी कर रहे हैं !···आज इंसान का दिमाग आसमान पर चढ़ गया है, उसके दिल मे भयानक सूनापन और अँधेरा छाया हुआ है !··· उसका मन विज्ञान की राह से आपे से बाहर चला गया है,···आत्मज्ञान की तीसरी आँख बन्द हो गई है !

शकुंतला : **(उत्तेजित होकर)** उफ, तब क्या पिताजी के आदर्शों का स्वर्ग··· उनका स्वप्न···

[घुटनों के ऊपर बाँहों में मुंह छिपा लेती है।]

दुष्यंत : **(जैसे उसे वशीभूत करने के लिए सिर पर हाथ फेरकर)**···स्वप्न ही रह सकता है·· अगर···

शकुंतला : **(सिर उठाकर)** अगर ?

दुष्यंत : हम सत्य को पहचानना नही सीखेंगे ? हृदय और मस्तिष्क दोनो से काम नही लेंगे !·· इस युग के प्रजात्मक स्वप्न को लोकजीवन में मूर्तिमान बनाने के लिए उचित साधनों, उचित उपायों से काम नही लेगे ! ··

शकुंतला : **(आशान्वित होकर)** कौन से साधन, कौन से उपाय ?

दुष्यंत : वह उपाय है सृजनात्मक क्रांति,···सृजनात्मक विकास नहीं, सृजनात्मक क्रांति । चीजों की इफरात ! वस्तुओं का वैभव·· जरूरत की चीजों से दुनिया के भण्डार को भर देना ! पैदावार बढाना ! खाने-पीने, पहनने और शौक के सामान से बाजारों को पाट देना !···आज के धर्म के, कौम के, आदर्शों, मतों और वर्गों के सारे झगडे, जिनके पीछे व्यक्तियो, गिरोहो के स्वार्थ और अभाव छिपे हुए है, बात की बात मे अमन-चैन, सुख-शाति की बाढ़ में सदा के लिए डूब जाएँगे !

शकुंतला : **(उसकी रुद्ध आकांक्षा चंचल हो उठती है)** मैं मानती हूँ, यह एक नया ही दृष्टिकोण है,···मेरा ध्यान इसकी ओर नही गया था······लेकिन इतनी उपज · चीजों की इतनी इफरात·· कैसे संभव हो सकती है?

दुष्यंत : **(आश्वासन देते हुए)** बढ़ाई जा सकती है !···गाँव-गाँव मे कल, कारखाने, मिले खुलवाकर···अपनी-अपनी खेती के बदले मिली-जुली खेती कर ··हल के बदले ट्रैक्टर चलाकर ··मामूली खाद के बदले वैज्ञानिक रसायनो से पौधों की नस्ल सुधारकर !···आप क्यो भूल जाती है, यह मशीन का युग है ! सभ्यता और संस्कृति का सुनहला मुकुट आदमी ने खुद अपने हाथो गढ़कर अपने सिर पर रखा ! ये गेहूँ, धान, साग-भाजी, फल-फूल सब इंसानो ने जंगली पौधो को पाल-पोसकर, सुधार-सँवारकर बनाए है । प्रकृति ने उसके प्रयत्नो को सराहकर उसे विजय का मुकुट पहनाया है !

शकुंतला : **(आकांक्षा की बाढ़ में बहकर)** कैसा आश्चर्य है !

दुष्यंत : आश्चर्य की बात ही है ?···आपने आदिम मनुष्य का इतिहास पढ़ा होगा·· उसके पास न भाषा थी, न विचार···न घर था, न द्वार !···

शकुंतला : पिताजी से थोड़ा-बहुत सुना है !

दुष्यंत : **(प्रभाव जमाने के लिए)** वह कार्य-कारण के सिद्धान्त को नही जानता था । बच्चा पैदा होने पर वह उसे स्वर्ग का दान समझता था, वह स्वर्ग को धरती के नीचे मानता था, जहाँ से मरे हुए पुरखे उसकी खेती उपजाते थे ··उसके पास न सभ्यता थी, न संस्कृति, न बिजली, न भाप !···ये सब आविष्कार मनुष्य ही के लिए हुए हैं !···आज का विज्ञान क्या नहीं कर सकता ? आपने प्राणिशास्त्र के रेडिएशन के सिद्धान्त के बारे में सुना होगा······**(शकुंतला नकारात्मक सिर**

हिलाती है।)···मनुष्य आज नए पौधे, नए फूल ही नहीं; नए-नए पशु-पक्षी और नया मनुष्य भी बना सकता है !···और अब तो एटम की शक्ति पर भी उसने विजय पा ली है ! अब वह असंभव को संभव कर सकता है : दुनिया को स्वर्ग !

शकुंतला : यह एक दूसरा ही चित्र है·!

दुष्यंत : अब आप ही सोचिए, विज्ञान के युग में, जहाँ बड़ी-बड़ी मशीनें, भाप और बिजली आदमी की जरूरतों को पूरा करने के लिए जूझ रही है, वहाँ चरखा, तकुए, ग्राम उद्योग-धंधो से आप कितना पैदा कर सकती हैं ? फिर, जहाँ मनुष्य की प्रकृतिदत्त, स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए चौडा राजमार्ग खुलने जा रहा है, वहाँ त्याग, तप, वैराग्य के साधन क्या अर्थ रखते हैं ?·· उन्हे कौन अपनाएगा ?···

शकुंतला : (उसके विश्वास से सन्तुष्ट होकर) मेरे मन में भी कभी-कभी संदेह का कुहासा उठता था, पर मै उसे समझ नही पाती थी···न इतने स्पष्ट शब्दो मे रख ही सकती थी।

दुष्यंत : आपकी कुशाग्र बुद्धि को समझने मे देर लगे, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? आप सच जानिए, आपसे मिलकर मेरे भीतर जो एक सहज आनन्द की भावना जाग उठी है, उसे प्रकट नही कर सकता ! आप जैसी विदुषियो का समर्थन पाकर हम नवयुवकों का रक्त लोक कल्याण की आशा से नाचने लगता है।

(शकुंतला संकोच से सिर झुका लेती है, दुष्यंत बात बदलकर)

आपके सूचना-पत्र में कला-प्रदर्शनी का भी आयोजन था !

शकुंतला : जी हाँ, है।

दुष्यंत : हम लोग जाकर कला-प्रदर्शनी देख लें, तो कैसा हो ?···चरखा-तकुए से अधिक महत्व मैं कला की सामग्री को देता हूँ।···यद्यपि मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि सेवाश्रम की सबसे सग्रहणीय कला वस्तु को मैं पहले ही देख चुका हूँ।

शकुंतला : (झिझक को दबाकर) आज की नारी अपने मनोभावो को छिपाए, यह नहीं हो सकता। (उसका मन अज्ञातरूप से आत्मसमर्पण करता है।) मैं भी आपको विश्वास दिलाती हूँ कि आप-सा कला-पारखी पाकर मैं अपने को धन्य समझती हूँ।

दुष्यंत : (अँगूठी निकालकर, सहास्य) मैं प्रस्ताव करता हूँ, यह उज्ज्वल रत्न इस उज्ज्वल स्मृति का साक्षी बने ! (उसकी उँगली में पहनाता है)

शकुंतला : (अँगूठी निकालकर, फिर कुछ सोचकर) लगता है, इस हीरे को मुझे आपकी प्रखर प्रतिभा के स्मृति-चिन्ह के रूप मे ग्रहण करना ही पड़ेगा।

[उसे फिर पहन लेती है]

चलिए, आपको कला-भवन ले जाऊँ। वहाँ माता गौतमी के भी दर्शन होंगे।

दुष्यंत : आप ही पथ प्रदर्शन कीजिए। **(दोनों का प्रस्थान)**

[दूसरी ओर से कालिदास के दुष्यंत और माढव्य का प्रवेश]

दुष्यंत : अरे माढव्य, तुझे आँखों का फल ही क्या मिला! जब तूने सबसे देखने योग्य पदार्थ ही नहीं देखा।

माढव्य : क्या मेरे सामने महाराज हमेशा नहीं रहते !

दुष्यंत : अरे, अपने तो सभी को अच्छे लगते है। पर मैं तुझसे शकुंतला के बारे में कह रहा हूँ, जो आश्रम की शोभा है।

माढव्य : **(हँसकर)** वैसे किसी का जी छुहारों से हटकर इमली की ओर जाए।

दुष्यंत : एक बार उसे देख लेने पर फिर तू ऐसा नहीं कहेगा !

माढव्य : जब तुम्हें उसे देखने में इतना आश्चर्य हुआ, तो वह अवश्य रूपवती होगी !

दुष्यंत : **(मुस्कराकर)** और क्या कहूँ—उसका रूप ऐसा निर्दोष है जैसे बिना सूँघा हुआ फूल ! **(माढव्य फूल सूँघता है)** जैसे बिना खिली कली ! **(कली तोड़ता है)** जैसे बिना बिंधा हुआ रत्न ! **(अँगुली में अँगूठी टटोलता है)** जैसे बिना चखा हुआ नया मधु ! **(ओंठ चाटता है)**

माढव्य : **(हाथ से इशारा कर)** तो अब चलें, खान-पीने की सामग्री इकट्ठा करें! मैं देखता हूँ, तुमने इस सेवाश्रम को गृहस्थाश्रम बना लिया है।

[उसी ओर प्रस्थान]

(लोक-नृत्य)

[दूसरी ओर से खादी के कपड़ों के गड्ड लिए हुए अनसूया, प्रियंवदा का प्रवेश]

अनसूया : जान पड़ता है, उस सुंदर युवक को यह सेवाश्रम अच्छा लगा। सखी के साथ कलाभवन में बड़ी दिलचस्पी दिखा रहा है। माता गौतमी कहती थीं, वह भारत के सबसे बड़े श्रेष्ठी—उत्तर प्रदेश के व्यापार-वाणिज्य के एकमात्र राजा का इकलौता पुत्र है। मुझे तो लगता है, वह जाते समय आश्रम को यथेष्ट धन दे जाएगा।

प्रियंवदा : **(अर्ध परिहास में)** और मुझे लगता है वह आश्रम की सबसे अमूल्य निधि को ही दक्षिणा में ले जाएगा!

अनसूया : शकुंतला को ? तुम क्या कहती हो ? ऐसा प्रेम तो कहानियों में ही सम्भव हो सकता है।

प्रियंवदा : तुम तो जानती हो, इधर शकुंतला के मन में नारी-जीवन-समस्या का द्वंद्व चल रहा है। पिता कण्व से इस बारे में कई बार वाद-विवाद हो चुका है। कैसे उसके शरीर से नारी के यौवन की समस्त कामना फूटी पड़ती है।

अनसूया : तो तुम सोचती हो, यह धनी युवक हमारी सखी के आदर्श पुरुष का प्रतीक है ?

प्रियंवदा : यह मैं नही कह सकती ! पर चाहे कितनी ही सुसंस्कृत स्त्री या पुरुष हो, इस उम्र में आदर्श का चेहरा उसे साफ नही दिखाई देता : यौवन की रंगीन इच्छाएँ उसको ढँककर मनोहर बना देती है। कामनाओ के आवेग मे पड़कर उसका रूप धुल जाता है और स्वप्नों का जादू कुबड़े को भी सुन्दर डील-डौल दे देता है !

अनसूया : लेकिन मैं शकुंतला के हृदय की पवित्रता पर अविश्वास नही कर सकती, और फिर पिता कण्व का पुण्य भी तो हमारा सबसे बड़ा सहायक है।

प्रियंवदा : देखें, विधाता एवं अदृश्य शक्तियाँ क्या खेल खेलना चाहती है। इस समय माता गौतमी के काम मे देर न करे, और गाँवो के बच्चों को कपड़े बाँट आएँ।

[**प्रस्थान। दूसरी ओर से शकुंतला-दुष्यंत का प्रवेश**]

दुष्यंत : (**आते हुए**) तब क्या कला सदाचार-असदाचार से ऊपर नहीं है ?

शकुंतला : (**मुस्कराती हुई**) यह तो मै नही जानती ! पर हाँ, इतना अवश्य कह सकती हूँ कि आजकल के सदाचार और नीति को हमें कला के द्वारा ऊपर उठाकर बहुत ऊँचा और व्यापक बनाना होगा ! नीति और सदाचार के नाम से आजकल घोर अनीति और अनाचार मानव सभ्यता के विकास को रोके हुए है।

दुष्यंत : मैं तो देखता हूँ, निकट भविष्य मे मानव चेतना के विकास की बाढ़ में नीति और सदाचार के बनावटी बाँध टूट जायेंगे।

शकुंतला : और उनका स्थान नए किनारे ले लेंगे, जिनके बीच नई सभ्यता और संस्कृति की भरी-पुरी धारा बह निकलेगी ! या यो कहूँ कि हमारे पिछले नीति और सदाचार के आदर्श बौने लगने लगेंगे और उनके ऊपर अंतर्मन की ऊँची-ऊँची नई चोटियों का सौन्दर्य चमकने लगेगा।

दुष्यंत : (**मुस्कराता हुआ**) ठीक है, कोई भी शिक्षित मस्तिष्क समाज में प्रचलित स्त्री-पुरुष सम्बन्धी मान्यताओं को नहीं मान सकता !···आपने तो इड, लिबिडो, काम-ग्रंथियों के बारे में पढ़ा ही होगा—उपचेतन का गहन मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण !

शकुंतला : पिता कण्व उससे पूरी तरह सहमत नही हैं। उसे वे अर्ध-सत्य कहते हैं।

दुष्यंत : (**हँसता हुआ**) हा-हा-हा-हा !···चलो, सत्य मानते हैं—आधा ही सही !··· (**रिस्टवॉच देखता है**) चलिए न, आप मुझे मालिनी नदी के किनारे बने हुए विश्राम गृह—

शकुंतला : स्वास्थ्य-गृह।

दुष्यंत : हाँ, स्वास्थ्य-गृह दिखाने ले जाना चाहती थीं ?

शकुंतला : जी हाँ, चलिए, इस ओर !

[**प्रस्थान**]

[दूसरी ओर से राजा दुष्यंत और शकुंतला का प्रवेश]

दुष्यंत : अहा, यह तो बड़ा सुहावना स्थान है। **(गीत वाद्य : दुष्यंत शकुंतला का हाथ पकड़ लेता है)**

शकुंतला : **(भयभीत-सी, पीछे हटकर)** हे पुरुवंशी, नीति का पालन करो।

दुष्यंत : हे कामिनी, तुम गुरुजनों से मत डरो। कण्व ऋषि धर्म को जानते हैं, वे तुम्हें दोष नहीं देंगे !

[दूसरे पार्श्व की ओर जाते-जाते परदा गिरता है]

(तीन)

[वही दृश्य, जिसमें छोटे-मोटे परिवर्तन हो गए हैं। सरस्वती की मूर्ति रखी है। एक ओर अनसूया रुई की पूनी तैयार कर रही है, और प्रियंवदा विद्यार्थियों के लिए हाथ के कागज की कापियाँ बना रही है, उसके हाथ के सामने कागज का ढेर रखा है। दूसरी ओर शकुंतला कुटी के द्वार पर पुस्तक पढ़ने में ध्यानमग्न दिखाई देती है]

अनसूया : शकुंतला में इतनी जल्दी इतना आश्चर्यजनक बदलाव हो जाएगा, यह देख लेने पर भी विश्वास नहीं होता।

प्रियंवदा : ऐसी बातें समझ में न आने पर विस्मय ही पैदा करती हैं। लेकिन समझ लेने पर बिल्कुल स्वाभाविक लगती हैं।

अनसूया : पिता कण्व सब कुछ जानने पर भी अनजान और सदा की तरह शान्त तथा अडिग दिखाई देते हैं। माता गौतमी का धीरज तो अपूर्व है··· उनकी लगन से सेवाश्रम का काम दिन पर दिन, इसी तरह आगे बढ़ रहा है!

प्रियंवदा : लेकिन सखी, मेरा मन शकुंतला के लिए दुखी है! उसके मन की घबराहट तो छिपाए भी नहीं छिपती है। शायद तुम्हें [illegible] [illegible] याद आई है न?···हमारी सखी को इस हालत में पहुँचाकर उस युवक ने तब से उसकी सुधि भी नहीं ली।

अनसूया : सखी, मेरे मन में भी यही शंका है। जिसके प्रेम पर आज भोली-भाली शकुन्तला को इतना भरोसा है, उस धनी युवक के लिए कहीं वह दिन-रात घटनेवाली मामूली-सी बात न हो! और वह अन्त में···नहीं, नहीं, मेरे मुँह में राख!

प्रियंवदा : शकुन्तला ने उसे आत्म-समर्पण करने के पहले निश्चय ही अच्छी तरह समझ-परख लिया होगा!

अनसूया : पिता कण्व के पुण्य ही उसकी रक्षा करें!

नेपथ्य में : हे अतिथि का निरादर करनेवाली, मैं विद्या का धनी और साहित्य का धनी हूँ··· परन्तु तूने मुझे निर्धन समझकर मेरी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा, न मुझे शरदोत्सव में यहाँ बुलाकर मेरा उचित सम्मान ही किया!···मेरे प्रेम का तिरस्कार कर तू जिस धनी के वियोग में बेसुध हो ध्यान लगाए बैठी है—जैसा कि मैं तुझे देखकर

जान गया हूँ—वह तुझे जानते हुए भी अनजान बन जाएगा—और क्योंकि मैं दुनिया को तुझसे अधिक देख चुका हूँ—तेरे बहुत याद दिलाने पर भी तुझे भूल जायेगा।

प्रियंवदा : (भयभीत होकर) हाय,...फिर दुर्वासा का शाप!...

अनसूया : (आगे बढ़कर) सखी, यह साहित्यिक बड़ा तेजस्वी है। अपने दुबले-पतले नाटे से कद में यह भीतर की ऊँची चोटियों को छिपाए हुए है। निराशा और उपेक्षा में जल-भुन जाने और जीवन के संघर्ष से थक जाने पर भी इसकी वाणी में बड़ा बल है! यह अपने युग का बड़ा भारी द्रष्टा और सृष्टा है! वह क्रोध से डगमगाते हुए पैरों से जल्दी-जल्दी चलकर अंतर्धान हो गया है!

प्रियंवदा : (खड़ी होकर) हाय, हथेली पर गाल रखे प्यारी सखी चित्रलिखी-सी ऐसी सोचमग्न है कि उसे अपनी भी सुधि नहीं है! चल, उसे धीरज दे! (उसके पास जाकर) शकुनि—

अनसूया : सखी—

शकुंतला : (सखियों को देखकर मुस्कराने का प्रयत्न करती हुई) प्यारी बहनो, पिता कण्व के उदार अभय देनेवाले हाथों में मेरा पालन होने पर भी मेरे भीतर अभी ऐसे सामाजिक संस्कार घर किए हुए हैं, जिनसे मुझे दिन-रात लड़ना पड़ता है! उनमें से एक है, अपने को छिपाना... दूसरों के लिए रहस्य बने रहना!... और जो अपने पर बीतती है, उसे कहने से डरना... उसे गोपनीय निन्दनीय समझना!

प्रियंवदा : सखी, यह बात सामाजिक सहानुभूति की कमी के कारण है। वैसे तो स्त्री-पुरुष दोनों ही में कम या अधिक परिमाण में मिलती है किन्तु युग-युग से पराधीन रहने के कारण स्त्रियों के मन का तो यह स्वभाव ही बन गया है।

शकुंतला : यही बात है!...लेकिन युग की भारवाही होने के कारण मैं तुमसे स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि यद्यपि इस युग में संतान-निग्रह के अनेक नकली-असली उपाय हैं, किन्तु मैंने आत्म-निग्रह से ही काम लिया है। इस कारण मैं कलंक के दुःख से तो मुक्त हूँ, किन्तु मेरे हृदय में उस युवक की प्रतिभा का बीज पड़ चुका है और वह उसके प्रेम से उर्वर हो चुका है...उसके सिद्धांतों पर मनन करते-करते मैं मन-ही-मन उसकी सहधर्मिणी बन चुकी हूँ!—और जल्दी ही उसकी सहकर्मिणी बनने जा रही हूँ! मैंने अपनी बात पिता कण्व से भी कह दी है।

अनसूया : (उत्सुकता से) पिता कण्व ने क्या कहा?

प्रियंवदा : उन्होंने तुम्हें अनुमति दे दी?

शकुंतला : पिता कण्व माता गौमती से परामर्श करने गए हैं। वह अभी आकर अपना निश्चित निर्णय देंगे!

[**सफेद खादी, सफेद दाढ़ी-मूंछ में पिता कण्व का प्रवेश। तीनों सखियाँ आधा झुककर उन्हें प्रणाम करती हैं।**]

पिता कण्व : (**दोनों सखियों की ओर, फिर एकटक शकुंतला की ओर देखकर गद्‌गद् स्वर में**) बेटी, तेरी मनोकामना पूरी हो ! (**दोनों सखियाँ सिर झुका लेती हैं, शकुंतला उनके स्वर की गंभीरता के बोझ से पैरों के पास जमीन पर बैठ जाती है ! कण्व गला खखारकर**) बेटी, मैंने और तेरी माता गौतमी ने तेरी बात पर खूब विचार कर लिया है !··· तुझको मैंने अपनी बेटी के समान पाला है,···अपनी उम्र-भर की तप-साधना, विवेक और अनुभव से तेरे मन को गढ़ने का प्रयत्न किया है ! (**शकुंतला सिर झुका लेती है**) अगर आज तेरा हृदय तुझसे कहता है, और तेरा मन यह निर्णय लेता है कि तू गाँवों को छोड़कर नगरों की सेवा करे, व्यक्ति के संस्कार के बदले समाज के संस्कार का परिष्कार करे, भीतर के वैभव के बदले जन मंगल के लिए बाहर के वैभव की अधिक आवश्यकता समझे···तो तू प्रसन्न-चित्त से अपनी आत्मा की पुकार का पालन कर !···

[**शकुंतला सशंकित दृष्टि से अपने चारों ओर देखती है !**]

कण्व : बेटी, मुझे विश्वास है, तुम युग-जीवन की अग्नि-परीक्षा से निकलकर, अनुभूति के अंगारों और शोलों को रौंदकर दूने तेज से अपने लोक-सेवा के व्रत का पालन कर सकोगी !···आत्मा की पुकार को सुनो ! यह पुकार अहिंसा की पुकार है,···यह इंसान के भीतर देवता को जगाने के लिए है !···मैं किसी को नहीं रोकता···तुम्हें भी नहीं ! मैं बुराई को न रोकते हुए भलाई को आगे बढ़ाना चाहता हूँ, जिससे मानव प्रेम का आंदोलन सामने आ सके ! मनुष्य का हृदय लोक-प्रेम, विश्व-प्रेम में खुल सके ! (**शकुंतला कण्व के पैरों से लिपटकर सिसकने लगती है**)

अनसूया : हाय, नारी-जीवन का संघर्ष और उसकी ममता-भरी मनोव्यथा !

कण्व : बेटी, उठो, शांत हो !

[**शकुंतला उठकर खड़ी हो जाती है**]

(**आवाज ऊँची कर**) आज मानव सभ्यता बड़े ही संकट के काल से गुजर रही है !·· आज संसार में ग्राम-चेतना से नगर-चेतना का परिणय-युद्ध होने जा रहा है। भारत की यह प्राचीन संस्कृति शांत धीर ग्राम-चेतना के आधार पर बनी है,···पश्चिम की नई सभ्यता ही नगर की चेतना है, यह असंतोष से भरी हुई है।···आज व्यक्ति नया समाज बनाने जा रहा है और नया समाज नये मनुष्य को गढ़ रहा है। आगे की पीढ़ियों के सामने अभी घोर युद्ध, विकट संघर्ष और बहुत बड़ी लड़ाई है। (**शकुंतला की ओर देखकर**) लेकिन बेटी, तुम किसी तरह की शंका मत करो। श्रद्धा और विश्वासपूर्वक अपने रास्ते पर बढ़ती जाओ। मुझे विश्वास है, तुम युग-जीवन की अग्नि-परीक्षा से निकलकर, अनुभूति के अंगारों और शोलों पर चलकर दूने तेज से अपने लोक-सेवा के व्रत का पालन कर सकोगी !···इस युग के विधाता का आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।

[**शकुंतला कण्व के कंधे पर शीश रखती है)**

कण्व : (**उसके माथे पर हाथ फेरता हुआ**) इस युग की नारी अप्सरा-संभूता है। वह मनुष्य के हृदय में प्रवेश कर मनुष्य-प्रेम के स्वर्ग को पृथ्वी पर बसाना चाहती है !··· आनेवाली मनुष्यता देव-संभवा होगी, वह अपने भीतर के देवता का राज्य धरती पर स्थापित करेगी।

[**गौतमी का प्रवेश : खादी की साड़ी : श्वेत केश**]

गौतमी : बेटी, मेरा आशीर्वाद ग्रहण करो ! तुम नई मनुष्यता की माता बनो ! (**शकुंतला प्रशांत दृष्टि से सामने की ओर एकटक देखती है। सखियाँ विस्मय-भरी दृष्टि से उसका मुख निहारती हैं**)

सखियाँ : हे माता, यह आशीर्वाद क्या, वरदान है (**पटाक्षेप**)

[**कण्व, गौतमी, सखियों के साथ शकुंतला का प्रवेश। शकुंतला का फूलों से शृंगार किया गया है**]

प्रियंवदा : सखी वन देवियों के भेजे हुए फूलों के गहनों में तू ऐसी लगती है, जैसे ग्राम-श्री ही आज विश्व-विजय के लिए धरती पर चल रही है।

कण्व : हे तपोवन के सहवासी वृक्षो, जो शकुंतला तुम्हें सींचे बिना पानी नहीं पीती थी, जो गहने बनाने के लिए तुम्हारे फूल-पत्ते तक नहीं तोड़ती थी, तुम्हारे फूलने के दिनों आनन्द-उत्सव मनाती थी --वह आज तुमसे बिदा ले रही है, तुम इसे प्रेम सहित बिदा दो।

शकुंतला : हे प्रियंवदा, आर्य पुत्र से मिलने का तो मुझे बड़ा चाव है परन्तु आश्रम छोड़ते हुए दु:ख के मारे पाँव आगे नहीं बढ़ते।

प्रियंवदा : अकेली तुझी को दु:ख नहीं है। तेरे वियोग का समय निकट जानकर तपोवन भी उदास-सा दीखता है। हिरन चरना भूल गए हैं और मोर नाचना ! और लता पीले-पीले पत्ते गिराकर जैसे आँसू गिरा रही हो !

कण्व : हे अनसूया, अब रोना छोड़ो ! तुम्हें तो चाहिए कि शकुंतला को धीरज बँधाओ।

शकुंतला : (**कण्व से मिलकर**) अब मैं पिता की गोद से अलग होकर मलयाचल से बिछुड़ी हुई चन्दन की डाल की भाँति परदेश कैसे जाऊँगी ?

कण्व : बेटी, ऐसी विकल क्यों होती है ?

गौतमी : बेटी, अब चलने का मुहूर्त बीता जाता है, पिता को जाने दे।

कण्व : बेटी, मेरे तप के काम में विघ्न पड़ता है।

शकुंतला : (**मिलकर**) पिता, मेरे लिए शोक मत करना, तुम्हारा तपस्या से पीड़ित दुर्बल शरीर है।

कण्व : (**गहरी साँस लेकर**) हे बेटी, जब तक कुटी के द्वार में तेरे बोए धान खड़े हैं, उन्हें देखकर मेरा शोक कैसे शांत होगा ! (**आँखें पोंछकर**) अब जा, तेरा मार्ग सुखी हो !

[**शकुंतला का प्रस्थान**]

दोनों सखियाँ : हाय, हाय, अब वन के वृक्षों ने शकुंतला को छिपा लिया।

कण्व : **(साँस छोड़कर)** हे अनसूया, तुम्हारी सहेली गई। अब तुम शोक छोड़कर, मेरे पीछे-पीछे चली आओ।

दोनों सखियाँ : हे पिता, शकुतला के बिना सारा तपोवन सूना लगता है, हम वहाँ कैसे चलें !

कण्व : बेटी, प्रीति मे ऐसा ही लगता है।··· **(सोचता हुआ)** शकुंतला को भेजकर अब मै निश्चित हुआ।

[परदा गिरता है]

प्रथम अंक समाप्त

[द्वितीय अंक]

(एक)

[एक विशाल नगर के बीच प्रासाद-तुल्य दुष्यंत की कोठी का एक कमरा : कमरा आधुनिक ढंग से सजा हुआ : तल्प के मध्य में दुष्यंत रेशमी कुरता, धोती पहने बैठा है : पार्श्वों में सफेद खादी और गांधी कैप पहने कुछ युवक बातें कर रहे हैं।]

[परदा उठता है]

एक युवक : हमारा साम्यवादी दल जिस इन्कलाब के लिए उतावला हो रहा है, उसे उसके साधन—वर्ग-युद्ध—द्वारा लाने में खतरा ही खतरा है। न उसके लिए हमारी जनता तैयार है, न हमारे वर्ग ही !···फिर जब हम आज की दुनिया की हालत को सामने रखकर भारत में जन क्रांति की बात पर विचार करते है, तो उससे संसार की सभ्यता को इतना बड़ा सांस्कृतिक धक्का लगने का डर है कि मानव जाति का भविष्य और उसने जो पिछले युगों में किया-कराया है, वह सब मिट्टी में मिल जाएगा !···

दुष्यंत : आप ठीक कहते हैं।

दूसरा युवक : पश्चिम के विचारक, चाहे वह वामपक्षी हो या दक्षिणपक्षी, उग्रदल के हों या उदारदल के, जब वे दुनिया की समस्याओं पर सोचकर अपना मत देते है, तब भारत की आत्मा को जैसे एकदम भूल जाते है··· सच तो यह है कि वह भारत को अभी तक समझ नहीं पाए हैं ! ···सिर के बल खड़े हेगेल को पाँवों के बल खड़ा करके कार्ल मार्क्स ने मानव समस्या, भावी मनुष्यता की समस्या की इतिश्री समझ ली। (मानव जाति के भविष्य पर अपना अंतिम निर्णय दे दिया !)···और उसके पिछलग्गू भी यह नहीं देख पाते कि भारत की आत्मा मार्क्स के पैरों की धरती से नीचे और हेगेल के सिर के ऊपर संसार की रीढ़ की तरह खड़ी है !···जिस रीढ़ के बल पर पृथ्वी पर मनुष्यता खड़ी रहकर आगे बढ़ सकती है !

दुष्यंत : मैं आपसे बिलकुल ही सहमत हूँ !

तीसरा युवक : (वक्ता की तरह) यह सब देखते हुए हमें लगता है कि गांधीवाद

ही एक ऐसा रास्ता है, जिसके माध्यम से हम अपने युग की बाहरी और भीतरी समस्याओं पर ठंडा प्रकाश डालकर, अपने देश के, और भयानक चक्कर में पड़ी हुई दुनिया की समस्याओं और सभ्यता की गुत्थियों को सुलझा सकते है !···हम राजनीति और धर्म के बीच, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान के बीच, पूंजीपति और मजदूरों के बीच ऐसा रास्ता निकालना चाहते हैं, जिस पर चलकर देश तथा मनुष्य की भौतिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति सार्थक हो सके !

दुष्यंत : आप सही कहते हैं। जिसमे हम सब सम्प्रदायों, जातियो और पंथों को मिलाकर देश को एक सबल राष्ट्र बना सकें, वही रास्ता हमें पकड़ना चाहिए !···हम लोग पूंजीपतियों-मजदूरों, जमींदारों-किसानों, धर्मों और संप्रदायो के भेदो और झगड़ो को आवश्यकता से अधिक तूल दे रहे है—और फल यह हो रहा है कि मनुष्यता की लड़ाई से बिलकुल ही अछूते कुछ स्वार्थी, लुटेरे और धोखेबाज लोग विभिन्न संप्रदायो को आपस में लड़ाकर अपना घर भर रहे हैं।

प्रथम युवक : आपसे मिलकर बहुत खुशी हुई। आप ही जैसे उदार हृदय कुबेरों से आज देश मे इतनी संस्थाएँ चल रही है !···(**दुष्यंत के हाथ में विवरण-पत्र देता है**)

दुष्यंत : (**घंटी बजाता हुआ**) जी हां, मैं इसे देख चुका हूँ !···मुंशीजी, आपकी संस्था के नाम दस हजार का चेक काटिए !···आपकी संस्था एक दिन गांव और शहरों के बीच की दरार को पाट देगी !··(**मुस्कुराकर चेक में हस्तक्षार करता है। युवक विस्फारित नेत्रों से रसीदबुक निकालकर रसीद देता है।**)

[**सब लोग खड़े होते हैं**]

दोनों : धन्यवाद।···धन्यवाद !

एक युवक : कृपा रखिएगा।

दुष्यंत : (**हाथ उठाकर**) आपका अनुग्रह चाहिए !

[**सब लोग परस्पर नमस्कार करते है**]

[**युवकों का प्रस्थान**]

[**टेलीफोन की घंटी बजती है**]

दुष्यंत : (**फोन उठाकर**) हलो, कौन ? मुंशीजी ?···अच्छा···अच्छा···! हां··· पांच लाख टन गेहूं ?···अच्छा···हां···खरीदकर गोदामो में भरवा दीजिए !·· हाँ, हाँ !

[**फोन रखकर डायरी में कुछ नोट करता है। फिर घंटी बजती है**)

दुष्यंत : (**फोन उठाकर**) हलो···कलकत्ते से ट्रंक काल ! अच्छा (**रुककर**) जरा जोर से बोलिए···क्या कहा···अकाल-पीड़ितों के लिए चावल ?··· अच्छा···दस हजार मन ? हां, खोल दीजिए भंडार !···हां, हां, घाटे का कोई सवाल नहीं जी,···हां, हां···अच्छा ! (**फोन रखता है। फिर घंटी बजती है**) हां, कहिए···हड़ताल कर दी ?···पांच हजार लोगों

ने ?···हाँ,···हाँ ··उनसे समझौता करने की कोशिश कीजिए···हाँ, ·· हाँ···शर्तें मंजूर हैं · हूँ···हूँ·· अच्छा तो पुलिस की मदद लीजिए ···हाँ·· जी हाँ (**फोन रखता है। मुनीमजी बगल के कमरे से आकर कुछ कागजों पर हस्ताक्षर कराते हैं। दुष्यंत उन पर नजर डालता हुआ हस्ताक्षर करता है। फिर घंटी बजती है। घंटी उठाकर**) हलो · अहा, आप है ? · जी···हाँ, अखबारों की दुनिया ? ह, ह, जी इसे अदृश्य स्थिति कहते हैं। हाँ ··जी करना ही पड़ता है, जनमत को तैयार करने के लिए···अच्छा·· जी···जरूर ख्याल रखूँगा··· नमस्कार ! (**फोन रखकर हस्ताक्षरित कागज मुनीमजी को देता है। दुष्यंत रेडियो लगाना ही चाहता है कि फोन की घंटी बजती है। फोन उठाकर**) हलो ··आहा·· नमस्कार · आज ही पहुँची हैं ? हाँ, जी मैं अभी गाड़ी भेजता हूँ !···अच्छा···अवश्य···(**फोन रखता है**) मुनीमजी, ४ नं० बुसेला रोड मे गाड़ी ले जाने को कहिए।

मुनीम : बहुत अच्छा (**कागजों को लेकर प्रस्थान**)

दुष्यंत : (**बैठकर, रेडियो मिलाता हुआ**) चपरासी, देवीजी को अंदर ले आओ !

[**कागज मेज पर रखता है। रेडियो में गाना बजता है : भ्रमर तुम मधु के चाखन हार !·· दुष्यंत ध्यानपूर्वक सुनकर कागज के परचे की लिखावट को देखता है। शकुंतला का प्रवेश : स्वदेशी रेशम की साड़ी, रंगीन ब्लाउज**]

दुष्यंत : (**उठकर नमस्कार करते हुए**) आइए, आइए—बैठिए।

[**शकुंतला प्रति नमस्कार कर बैठती है, दुष्यंत रेडियो बन्द करता है**] आपने आकर बड़ी कृपा की। मैं कब से आपकी प्रतीक्षा कर रहा था।·· पुस्तकें तो आपको मिल गई थी।

शकुंतला : जी हाँ, उन पर गंभीर रूप से विचार करने पर मन की रही-सही दुविधा भी जाती रही !···यद्यपि मैं गाँवों के संस्कारों में पली हूँ लेकिन नगरों के संस्कार जिस एक विराट् सभ्यता के स्वप्न को जन्म दे रहे हैं उसकी चेतना का प्रवाह गाँवों की परिस्थितियों और जिन्हें हम जीवन की सनातन धारणाएँ समझ बैठे है, मैं आमूल परिवर्तन कर देगा।

दुष्यंत : आपके भीतर सिर्फ चिनगारी भर जगाई थी, वह आपके हृदय की लगन और सच्चाई की ईंधन पाकर ज्वाला बन गई।

शकुंतला : इसके लिए मैं आपकी हमेशा कृतज्ञ रहूँगी।

दुष्यंत : कृतज्ञता तो दूरी बतलाती है। आप देखती नहीं, हम लोग एक-दूसरे के कितने निकट आ गए हैं···विचारों का मिलना ही असल में हृदयों का मिलना है।

शकुंतला : ऐसे हृदयों, ऐसे मानसों का, जो एक ध्येय, एक लगन से देश-सेवा के लिए अपना बलिदान करना चाहते हों।

दुष्यंत : (**निष्प्रभ होकर**) पिताजी के मन को जीतने और उनसे आज्ञा लेने में

तो आपको बहुत झंझट पड़ी होगी···या शायद आप उनकी आज्ञा के लिए नही रुकीं।

शकुंतला : ऐसा नही है···पिताजी की आज्ञा के बिना मैं कुछ नहीं कर सकती ! ···आप उन्हे नही जानते ! वो बहुत ही उदार हृदय और स्वाधीन विचारो के है। उन्होंने मुझे छुटपन से ही बड़ी स्वतंत्रता दी है। उन्होने मुझे बाहर के नियमो मे न जकड़कर भीतर के सयम मे पाला है। अदर मे रोक लगाकर बाहर मे अभय होकर बढ़ना सिखाया है। फिर पिताजी को मुझ पर अटल विश्वास है। मै अपना रास्ता अपने आप बना सकूं, इससे उन्हे खुशी ही होगी।

दुष्यत : महर्षि के विचारो की गहराई, उनका तत्वज्ञान तो आपके प्रत्येक भाव, प्रत्येक भगिमा से झलकता रहता है ! ···तो अब व्यवहार की बातें हो जाये—आप कहाँ ठहरी है ?·· आपकी इतनी बडी कोठी खाली पड़ी है। आपके न रहने से वह सौ-सौ बसतो की शोभा से भी तो नही शोभित हो सकती। · आपका सामान·· जरूरी कागजात यहीं मँगवा दूं ?·· फिर आप जिस विभाग मे भी काम करना पसद करेगी, वह आगे देखा जायेगा···(शकुंतला हतप्रभ-सी होकर उसकी ओर देखती है) वैसे मुझे एक ऐसे प्राइवेट सेक्रेटरी की जरूरत है जिस पर मैं·· जिसे मैं हर समय अपने साथ रख सकूं ! कभी-कभी जी ऐसा उदास हो जाता है कि किसी काम मे मन नही लगता···जिन्दगी में कुछ ऐसा सूनापन आ गया है कि लगता है सारी दुनिया के कामकाज भी उसे नही मिटा सकते !

शकुंतला : (**तीव्र स्वर में**) आप यह कैसी बातें करते है ? पहले किसी सिद्धात पर तो पहुँच जायें ! आपने जो लोकसेवा की योजना बनाने की बात की थी, वह कहाँ है ? आप अपने वस्तु-वैभव के स्वप्न को किस तरह अच्छा बनाना चाहते है ?···देश की गरीबी को दूर कर, अनपढ़ जनता की संस्कृति और सभ्यता की माँग को किस तरह पूरा करना चाहते है ?·· आइए, हम दोनो मिलकर उसे अपने प्राणो के उत्साह और हृदय के रक्त से सीचकर मृत्यु के दलदल मे डूबी हुई इस दुनिया को अभय दान दें। आपने मुझसे कहा था कि वस्तुओं की इफरात की दुनिया मे आज के बौने इंसान का बौनापन अपने आप ही बड़ी इंसानियत मे बदल जाएगा। धर्म और संप्रदाय के भेद, आपस का राग-द्वेष,—आदमी की हिंसा उसके भीतर रेंगता हुआ घिनौनापन—सब अपने आप दूर हो जायेंगे !···आज की दुःखो से कराहती दुनिया मदन का कानन कुसुम वन जाएगी ! ··आप ही ने तो कहा था कि बाहर का वैभव ही भीतर के वैभव के लिए एकमात्र सीढ़ी है !···

दुष्यंत : (**अपने को संभालकर**) रुकिए, रुकिए—आप एक ही लमहे में बाजीगर की तरह इस देश को किसी जादू के बल से उठाकर नरक से स्वर्ग बनाना चाहती हैं !·· यह कैसे हो सकता है ? ऐसा तो एक हजार इंकलाब भी नही कर सकते !···कल के स्वप्न की सुनहली उत्तेजना से ही कुछ नहीं होगा···आज की वास्तविकता को भी तो समझना

चाहिए !··· क्या आप आज के इंसान के दिलो-दिमाग की हालत नहीं जानतीं ? ···उसमें कितनी निराशा, कितना अविश्वास, कितना स्वार्थ, दंभ और हिंसा भरी हुई है ?···उसका देवता जीवन के संघर्ष से टूटकर आज शैतान बन गया है, जिसके होंठों की सूखी लाली इंसान के खून से रँगकर भयानक लगती है !

शकुंतला : इसी भूले-भटके देवता को हमें अपने आत्म-त्याग से इंसान बनाना है ।

दुष्यंत : आत्म-त्याग, दया, लोकसेवा, परमार्थ—ये शब्द आज भारत में प्रत्येक के मुँह से सुनाई देते हैं। इनके द्वारा हम अपने अहंकार को आदर्शों का लबादा पहनाकर दूसरों से भी अधिक अपने ही को भ्रम में डालते हैं। हम साहस और बुद्धि से समाज की दिशा में बढ़ने के बदले स्वप्नों की भावुकता में बहकर अपने ही व्यक्तित्व को बड़ा बनाने की चिन्ता में डूबे रहते हैं। समाज की सही उन्नति के लिए हमें परमार्थ को नहीं, व्यक्तिगत स्वार्थ को विवेक का प्रकाश दिखलाकर सामाजिक स्वार्थ के रूप में बदलना है। लोकसेवा के बदले लोकनिर्माण, दया के बदले न्याय और सहिष्णुता, और आत्म-त्याग के बदले सबके लिए उपभोग—सबके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें—इसके लिए प्रयास करना चाहिए ।

शकुंतला : यह सब माना । लेकिन इस सबका व्यावहारिक रूप क्या हो ?

दुष्यंत : (स्पष्ट स्वर में) इसका व्यावहारिक रूप आप मेरे साथ रहकर देखिए ! मैंने देश के लिए जो पाँच साल की आर्थिक योजना बनाई है उस पर मनन कीजिए। इससे दस साल में देश की उपज तीन गुना बढ़ जाएगी। आज देश के सब भागों में मेरे कारखाने, मिलें, फैक्ट्रीज, कृषि और व्यापार के केन्द्र काम कर रहे हैं। भारत की जनसंख्या जिस रफ्तार से बढ़ रही है, उसके हिसाब से हमें कम-से-कम मूल्य में अधिक-से-अधिक माल तैयार करना होगा। आज हमारे ट्रेड यूनियन्स लोगों को भड़काकर आए दिन जो हड़तालें करा रहे हैं उनसे जनता की भलाई के बदले बुराई हो रही है। राष्ट्र के लिए त्याग करने की बात करके वे देशभक्ति के नाम से शोषण करना चाहते हैं !···

शकुंतला : तो आपका अभिप्राय है, आपका कारोबार ही आपकी वह योजना है !

दुष्यंत : (योजना की बातें में मुझे याद नहीं पड़तीं) निश्चय ।

शकुंतला : (विरक्त होकर) समझ गई ।··· आज दुनिया में जितने भी वाद-विवाद हैं उनके पीछे किसी व्यक्ति, गिरोह या देश का स्वार्थ छिपा है। वे शब्दों के हेर-फेर से एक ही बात कर रहे हैं ।

दुष्यंत : मैं नहीं समझा !

शकुंतला : उनकी बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वे दुनिया की समस्या को समझने में असमर्थ हैं···वे उसे सुलझाने के बदले और भी उलझा सकते हैं, बनाने के बदले बिगाड़ सकते हैं ! हम सब खंड सत्य हैं ! आधा

सत्य। हमारे दो रुख हैं, हमारा चेहरा दोहरा है !···हम जो कुछ कहते हैं उसके कई अर्थ हो सकते है !·· एक शब्द में हम सार्थक शब्दों की निरर्थकता हैं ! (खड़ी हो जाती है) उफ, मैं अब तक न जाने क्यों नहीं समझ सकी थी कि चाहे किसी इफरात के स्वर्ग मे भी आज के मनुष्य को रख दो वह उसे भी नरक बना देगा !·· इंसान के अन्दर की दुनिया बाहर की दुनिया को बदलने मे बाधक है। बाहर की दुनिया के चाहे जो भी नियम हों, उसकी भीतर की दुनिया के भी अपने नियम है !·· और बाहर की दुनिया तब तक किसी भी शक्ति या योजना से स्थायी कल्याण के लिए नहीं बदल सकती, जब तक कि भीतर की दुनिया भी साथ-साथ न बदली जाए।

दुष्यंत : मैं आपको नही समझ सका हूँ ! मुझे लगता है, आप दुनिया के सब वाद-विवादो से बड़ी पहेली हैं !···मैं जितनी स्त्रियो से मिला हूँ, उन सबमे आप सबमे बड़ी अपवाद !···(**शकुंतला एकटक शून्य दृष्टि से सामने की ओर देखती है**) कभी सुना था ·· और कहीं पढ़ा भी था ···नारी !·· रहस्यमयी···माया·· दुर्ज्ञेय इंद्रधनुष-बिजली·· अमृत-विष···सत्य-स्वप्न···लेकिन·· मोहिनी, हाँ मोहिनी !

शकुंतला : (**जैसे अपने आप कहती हो**)···अब मैं जान पाई कि वह मेरे हृदय की छिपी अज्ञात दुर्बलता थी,·· मन की तहों के अँधेरे से प्रकाश मे नहीं आई हुई कमजोरी थी—जिसने मेरे विवेक के मुँह पर स्वप्नो के सुनहले उजाले का जादू डाल दिया था ! कुहासे को इंद्रधनुषी बिजली के पानी का बादल बना दिया था, जो हरियाली के बदले आग और गर्जन बरसाता है (**मुँह ढँककर**) उफ, मेरी नारी-हृदय की दुर्बलता···या-या—युग-युग की नारी-जीवन की समस्या ?···क्या मुझे पिताजी का तप की शांत से भरा हुआ सेवाश्रम इसलिए पसंद नही आया था ?··· भीतर-ही-भीतर वहाँ मेरा मन ऊबता था ? उसमें कुछ यांत्रिक, कुछ अपूर्ण और कुछ व्यर्थ-सा लगता था ?···हाय,···मेरा हृदय बड़ी दुविधा में पड़ गया है ! ··क्या फिर पिताजी के पास लौट जाऊँ··· उनकी गोद में सिर रखकर अपनी पराजय को, अपनी ग्लानि और असंतोष को आँसू में बहाकर धो डालूँ ?···पर नहीं···अब मेरे लिए यह सम्भव नहीं होगा·· जान पडता है, मनुष्य की साधना काफी नहीं है···उसे देवता का वरदान चाहिए।

[**वेग से प्रस्थान**]

नेपथ्य से

मैं सब कुछ हूं कहना दानव वृत्ति है
ईश्वर सब कुछ है कहना ही मानव वृत्ति है !

दुष्यंत : (**किंकर्तव्यविमूढ़-सा**) **मनुष्य को देवता का वरदान चाहिए ? मैं कुछ भी नहीं समझ सका ! मेरा मन कहता है, वह सच्ची स्त्री है।**

[**पीछे-पीछे प्रस्थान। साथ ही पटाक्षेप।**]

[**परदा उठता है।**]

[गली का दृश्य—कालिदास की शकुंतला, गौतमी, ऋषिकुमार आदि का प्रवेश]

शारंगव : जो काम बिना विचारे किया जाता है, उसमें इसी तरह दुःख मिलता है! इसीलिए कहा है—जाँचे-परखे बिना एकांत में किसी से सम्बन्ध नहीं करना चाहिए! एक दूसरे का स्वभाव जाने बिना जो प्रीति हो जाती है, वह पीछे बैर ही बनती है!

गौतमी : बेटा शारंगव, शकुंतला तो यह पीछे-पीछे रोती हुई आ रही है। हाय, अब वह क्या करे!

शकुंतला : क्या तुम भी मुझे छोड़कर चले जाओगे?

शारंगव : (**क्रोध से**) हे कर्महीन, तू क्या स्वतन्त्र होना चाहती है? अगर तू ऐसी ही स्वेच्छाचारिणी है तो तू पिता के घर कैसे जा सकती है! और जो तू सच्ची है तो तुझे पति की छाया बनकर यहीं रहना चाहिए।

[गौतमी-शारंगव का प्रस्थान]

शकुंतला : माँ धरती, तू फटकर मुझे अपने भीतर ले ले, मैं तुझमें समा जाऊँ!

[दाईं बाँह में सिर गड़ा लेती है। दूसरी ओर से रेशमी रंगीन वस्त्र में मेनका आकर शकुंतला को गोद में भरकर ले जाती है। शकुंतला एकटक उसकी ओर देखती है। इसी बीच नेपथ्य में वार्तालाप सुनाई देता है।]

पुरोहित : (**आश्चर्य से**) महाराज, बड़ी अद्भुत बात हुई!

राजा दुष्यंत : क्या हुआ?

पुरोहित : जब यहाँ से कण्व के शिष्यों की पीठ फिरी और शकुंतला व्याकुल हो अपने भाग्य को कोस रही थी, तो एक ज्योतिर्मयी स्त्री आकर उसे उड़ा ले गई!

राजा दुष्यंत : मेरे मन में जैसी प्रेरणा हुई थी, वैसा ही हुआ।

पुरोहित : महाराज की जय।

(दो)

[परदा उठता है : दुष्यंत की कोठी का पिछला भाग : फुलवाड़ी का दृश्य। दुष्यंत और माढव्य बैठे हैं। परदे की ओट में सानुमति खड़ी आधी दिखाई देती है।]

सानुमति : शकुन्तला इस युवक से विरक्त होकर पिता कश्यप के आश्रम में तो चली गई है लेकिन वह इसे भूली नहीं। उसके मानवी प्रेम से अनभिज्ञ हृदय में सबसे पहले इसी की प्रतिमा अंकित हुई है। उसकी एकता में पली भेदभावहीन उच्चाभिलाषी भावना ने प्रीतिवश इसे अपना अंचल छोर पकड़ने दिया है!··· लेकिन वह इसके साथ नीचे न गिरकर इसी को ऊपर उठाना चाहती है!··· यह केवल भाग्य की बात ही नहीं जान पड़ती··· देखूँ, इस युवक में ऐसे गुण या संस्कार हैं कि वह पिता कश्यप के नवीन मानवता का लिबास पहन सके?···उसके प्रति इसका अनुराग तो सच्चा जान पड़ता है, जिसने इसे इस छोटे इंसान की छोटी दुनिया से विरक्त कर दिया है।

दुष्यंत : हाय, उसके बिना तो जीवन में ऐसा सूनापन छा गया है कि दुनिया के सारे कामकाज उसे दूर नहीं कर पा रहे हैं।

माढव्य : मित्र, यह भी काम ही के नाम से पुकारा जाता है!··· एक ओर यह काम, और दूसरी ओर दुनिया के सारे काम-काज!

दुष्यंत : तुम्हें तो हँसने के लिए बहाना-भर चाहिए।··· सखे, यह कामवासना नहीं है···इसे चाहे तुम और किसी नाम से पुकार लो! उस देवी के लिए मैं क्या मानता हूँ···उसका ध्यान आते ही मेरे हृदय में जैसी भावनाएँ उठती हैं···उन्हें शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं···

माढव्य : वही पुरानी बात!···नशे की हालत में सभी ऐसा ही कहते हैं! धरती से आकाश की ओर इन्द्रधनुष का काल्पनिक पुल बाँधकर उड़ने लगते हैं!··· अरे भाई, इसे कैसे ही रेशमी स्वप्नों की तहों में लपेट कर कहो, है यह वही फूल के बाणों का घाव!

दुष्यंत : तब तो तुम भूखवादी ही नहीं···

माढव्य : हूकवादी भी हूँ अर्थात् फ्रायड का चेला!

दुष्यंत : लेकिन मेरा मन उसे देखकर यह बात नहीं मानता··· वह देवी ठीक

कहती थी कि ये सब सिद्धान्त आधे सत्य हैं···खड सत्य ! उसने कहा था पिता कण्व हमसे सहमत नहीं हैं ! पश्चिम के मनोवैज्ञानिक जिस सत्य को, जीवन-शक्ति के जिस संचरण को मन की निचली तहों में —उपचेतन, अवचेतन में—देख सके हैं, उसे हमारे ऋषियों ने मन की ऊपरी सतह में अतिचेतन और परमचेतन के रूप में भी देखा है। उन्होंने मोह और काम ही को नहीं पहचाना है, प्रेम, भक्ति और श्रद्धा को भी पहचाना है ! (**सानुमति : इसका संस्कार अवश्य ही जग पड़ा है।**) इसीलिए वे मानव-चेतना के स्वर्ग में प्रवेश कर सके हैं, जहाँ उसके अन्तरतम देवता रहते हैं···और फ्रायड जीवन के नरक के चारों ओर चक्कर लगाकर ऐसे हास्यास्पद परिणामों पर पहुँचा है कि···

माढव्य : लेकिन मित्र, हास्यास्पद तो तुम्हारी भी दशा कम नहीं जान पड़ती ! अब काम-धन्धे छोड़कर सूनी आहें भरा करते हो ! उसनियों के ब्रशों में स्वप्न आँका करते हो ! ··अपना सारा मुनाफा दान में देकर अन्न-सत्र, विद्यालय, व्यायाम के अखाड़े, पुतलीघर, सग्रहालय, कलाभवन और न जाने क्या-क्या खुलवाकर स्वार्थी और लुटेरों का घर भर रहे हो !

दुष्यंत : यह सब तो मैं कर रहा हूँ, लेकिन इनमें मेरा विश्वास नहीं रहा ! मैं आज देख रहा हूँ कि आदमी की देह और दिमाग के पीछे उसका युग-युग से रुँधा हुआ अशांत हृदय अपनी सीमाओं से घबड़ाकर, विद्रोही कैदी की तरह छटपटा रहा है !···आदमी के अनुराग और प्रीति की मूल प्रकृति अपने योग्य ऊँचा विषय या आधार न पाने के कारण भीतर ही भीतर सिसककर कराह रही है !···उसका यही क्षोभ, यही विद्रोह और अशांति आज जीवन के सभी क्षेत्रों में घृणा, विद्वेष और कलह के रूप में फूटकर इंसान की जड़ता को धक्के देकर जगाना चाहती है !···मनुष्य के हृदय का विकास रुक जाने के कारण आज उसकी बुद्धि और जीवन-इच्छा भी विकृत हो गई है। जिस मनुष्य की बुद्धि दो विश्व-युद्ध करवाकर अब तीसरे अणु और परमाणु के युद्ध की तैयारी का संदेश दे रही है, उसका हृदय आज कितना संकीर्ण और अमानुषीय हो गया है, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं !

[**सानुमति : इसने मन की सीमाएँ पहचान ली हैं !**]

माढव्य : इतनी भावुकता ! तो मैं कहता हूँ, जो दिमाग का दिवाला निकालकर काम लेगा, वह या तो देवता बन जाएगा और या आवारा और पागल !···मुझे तो तुम्हारे और तुम्हारी उस देवी के पागल ही होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं ! वह घर-द्वार छोड़कर न जाने कहाँ लापता हो गई है···मुझे तो उसका हुलिया भी मालूम नहीं !

दुष्यंत : मित्र, जिस दुनियादारी को तुम समझदारी की दुनिया बतलाते हो, मुझे तो उसमें भी आज बहुत-सा पागलपन नजर आता है !···और जिस देवी को तुम पागल समझते हो, वह देवता तो है ही, उसके भीतर तलवार की धार-सी तेज चमचमाती हुई एक तीव्र असंतोष और

विद्रोह की शिखा भी जल रही है !·· आज की दुनिया से विद्रोह··· आज की मनुष्यता से असतोष···और ये लक्षण उसके देवी से सच्ची मानवी ही बनने के है !···तूली का अभ्यास होने के कारण मैंने उस विद्रोह भरी बिजली का जो चित्र उतारा है, वह तो तूने देखा ही है ?

माढव्य : अरे मित्र, वह उसी का चित्र है ? मैं तो समझा था, किसी नए कलाकार ने आधुनिक विषयों पर कोई आराधना···श्रद्धा···या-या-चेतना का चित्र बनाया है !

दुष्यंत : नही, वह इस युग की शकुंतला का चित्र है !···सारी दुनिया के पागल हो जाने पर भी वह तप, संयम और साधना की जीती-जागती मूर्ति पागल नही हो सकती !·· वह देवो की ही शक्ति खीचकर मनुष्यों को बाँटेगी !·· हृदय की साधना के लिए जिस तप, संयम, विवेक और श्रद्धा की आवश्यकता पडती है, वह उनकी सजीव प्रतिमा है ! मित्र, मैं उसे ठीक अंकित नही कर सका, इसीलिए तुम्हें ऐसा लगता है !··· चित्र की देवी है आनेवाली नारी···मानवी !···

सानुमति : शकुनि के प्रति सच्ची श्रद्धा होने के कारण ही यह उसके अंतर को समझ सका है। अच्छा, अब मैं जाकर शकतला को यह समाचार देती हूँ। प्राचीन युग का नारी का प्रेमी दुष्यंत, आज का प्रेमी दुष्यत और आनेवाला दुष्यत एक अनिर्वचनीय आतरिक एकता के सूत्र मे गुँथकर एक ही व्यक्ति बन जाएँगे ·····मानव चेतना का सत्य•अविभाजित है।

[प्रस्थान]

माढव्य : (**हाथ जोड़कर**) मित्र, मेरे पाँव जमीन ही पर रहने दो···मै इस बुड्ढी धरती पर किसी स्वर्ग के राज्य के चिह्न नही देखता !···उफ, इस युग की काम-वासना अपनी अतृप्ति और अधिक तृप्ति के कारण बड़ा ही अजीब रूप ले रही है !·· वैसे तो मैं भी सुदरियो के तलुए सहलाकर उनमे देवी कहता आया हूँ···नही तो उनसे काम नही निकलता·· लेकिन इस तरह दिल और दिमाग को भगवान के पास रेहन रखकर मै कभी भी किसी प्रकार की चेतना के चक्कर मे नही पड़ा !···आज का प्रेमी तो दीन, दुनिया, दिल, दिमाग सबको गँवा बैठा है !···और ऐसे आदर्शों की बात करता है जिनमें देवता का चेहरा इंसान का-सा लगे ! बाज आया मैं ऐसे अतीन्द्रिय प्रेम से ! मै तो प्रेम के मामले में इसी मिटती हुई दुनिया के खंडहर की मूर्तियों के साथ रहना चाहता हूँ, जिन्होंने मन्दिरो को भी अपनी नंगी करामातों से पाक होने से बचा लिया !

[पटाक्षेप। गली का दृश्य]

(नेपथ्य से आवाज आती है—'कोई बचाओ, कोई बचाओ !')

राजा दुष्यत का प्रवेश : हैं, यह तो माढव्य की-सी आवाज जान पड़ती है ! अरे कोई है ?

नेपथ्य : सखे, अपने मित्र की रक्षा करो !

दुष्यंत : (दूसरी ओर जाता हुआ) मित्र, डरो मत, कोई भय नहीं !

नेपथ्य : डर क्यों नहीं, यह तो मेरे गले को गन्ने की तरह ऐंठ डालता है···ऐंठ रहा है !

दुष्यंत : हैं, यहाँ तो कोई नहीं !

नेपथ्य : बचाओ, मुझे बचाओ !···हाय महाराज, मैं तो तुम्हें देख रहा हूँ, तुम्हीं मुझे नहीं देख पाते ! मैं अपने जीने से ऐसा निराश हो गया हूँ जैसे बिल्ली का पकड़ा हुआ चूहा !

दुष्यंत : तुम परिहास तो नहीं कर रहे हो !

[मातलि का प्रवेश]

(मातलि को देखकर) अहा, इंद्र के सारथी तुम, अच्छे आए !

माढव्य : (प्रवेश कर) है, जो मुझे बलि के पशु की तरह मारे डालता था, उसका तुम आदर करते हो !

मातलि : (मुसकाकर) महाराज, इन्द्र ने जिस काम के लिए मुझे आपके पास भेजा है, वह सुनिए !

दुष्यंत : कहो !

मातलि : कालनेमि वंश के दानव फिर ऐसे प्रबल हो गए है कि उन्हें जीतना इन्द्र के लिए कठिन हो गया है !

दुष्यंत : इसका समाचार मुझे पहले मिल चुका है !

मातलि : अब आप हथियार बाँधकर इंद्र के रथ पर चढ़कर विजय के लिए चलिए !

दुष्यंत : देवराज ने यह आदर देकर मुझ पर बड़ी कृपा की है। परन्तु यह तो कहो, माढव्य को तुमने क्यों सताया ?

मातलि : इसलिए कि आपको मैंने चिन्तनमग्न देखा और आपको सचेत करने के लिए ही यह काम किया !

दुष्यंत : (माढव्य से) हे सखा, देवपति की आज्ञा उल्लंघन के योग्य नहीं, इसलिए तुम मंत्री से कहना, जब तक मैं दूसरे काम में प्रवृत्त हूँ, तब तक तुम अपनी बुद्धि से प्रजा की देख-रेख करो !

माढव्य : जो आज्ञा !

[प्रस्थान]

मातलि : महाराज, रथ पर चढ़िए ! मानव के हृदय-प्रदेश में प्रवेश कीजिए।

[प्रस्थान]

द्वितीय अंक समाप्त

[तृतीय अंक]

(एक)

[धरती के एक भाग में कश्यप का आश्रम । आश्रम का वातावरण अत्यन्त सक्रिय होने पर भी प्रशांत है। पर्वत-शिखर से नीचे की ओर ढाल में पथ का दृश्य : नीला प्रकाश : दुष्यंत और मातलि का प्रवेश : कालिदास के दुष्यंत और आधुनिक दुष्यंत अब एक ही व्यक्ति बन गये हैं। वह क्रीम रंग के रेशम की शर्ट और पतलून पहने है, मातलि सफेद जीन की शर्ट और हाफ पेंट ।]

दुष्यंत : हे देवलोक के साथी मातलि, पिता कश्यप ने इस धरती पर बड़ा अनुग्रह किया, जो अपनी तपस्या और अंतर्दृष्टि से इसी भू-लोक में स्वर्ग को स्थापित कर दिया !

मातलि : पृथ्वी के इस भाग को सब तरह से मानवीय बनाकर हम इसे मानव लोक कहते हैं ।

दुष्यंत : तुम ठीक कहते हो ! मुझ पर उन देव मानव ने बड़ी ही कृपा की, जो अपनी शरण में आने की प्रेरणा दी !

मातलि : प्रभु के वरदान बिना मनुष्य अपने पिछले संस्कारों के मन से कैसे ऊपर उठ सकता है ! दया का दान देना ही देवता का गुण है ! वरदान पाना ही मनुष्य का सौभाग्य !

दुष्यंत : हे मातलि, इस युग के मनुष्य के भीतर जो देवासुर-संग्राम चल रहा है, उससे जूझते-जूझते मैं स्वर्ग अच्छी तरह नहीं देख सका था. अब तुम मुझे बतलाओ कि हम प्राणों के किस पथ में है ?

मातलि : इस मार्ग को वामनजी ने, अपना दूसरा पग रखकर, पवित्र किया था, जिसे तुम मानव सभ्यता का दूसरा चरण या युग कह सकते हो ! इस मार्ग में उन ऊँचे संस्कारो की प्राणवायु बहती है, जो भीतरी चेतना को बहाती है—जिसे आकाश-गगा कहते है ! और जो सप्तर्षियों को घुमाती है—उसे, मनुष्य-चेतना के सात स्तर समझो !

दुष्यंत : हे स्वर्ग के दूत, मेरे मन में एक नवीन सौन्दर्य की अनुभूति हो रही है, मेरे प्राणों में नवीन आशा और आदर्शों का संचार हो रहा है, और मेरी आत्मा में बाहर और भीतर की इन्द्रियों का नया आनन्द भर गया है !

मातलि : यह मन का भीतरी मार्ग है, जिसमें तुम्हारी चेतना विचरण कर रही है ! जीवन और मन के आन्दोलनों से जब मनुष्य इस पृथ्वी पर सुख-शांति स्थापित नहीं कर सका तब, उसके विकास के लिए जगत् की माता सृजनमयी शक्ति ने मनुष्य के भीतर नवीन चेतना के संचरण को जन्म दे दिया, जिसके व्यापक प्रकाश में वह जीवन और मन की समस्याओं को नई तरह से समझकर इस पृथ्वी पर नवीन मानवता, नवीन सभ्यता और संस्कृति का निर्माण कर सके !

दुष्यंत : धन्य हो भगवान की करुणा को, और मनुष्य के सौभाग्य को ! अहा, अब मन धरती की चेतना में उतर रहा है !

मातलि : आपने कैसे जाना ? इस युग में धरती की चेतना समुद्र के ज्वार की तरह ऊपर को नहीं उठ रही है; स्वर्ग की चेतना ही चाँदनी के झरने की तरह नीचे उतरकर धरती का संस्कार कर रही है।

दुष्यंत : हे रहस्य के ज्ञाता, यह पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता के समुद्रों के बीच, उनकी लहरों से कहीं ऊँचा, कौन-सा नया पर्वत-शिखर है जो अपने सुनहले पंखों में नवीन प्रभात को उतारकर और भी शांत और स्थिर लगता है ?

मातलि : सखे, यह मानव की नवीन तपस्या का क्षेत्र, और साधना का शिखर है, जहाँ योगेश्वर कश्यप देवमाता अदिति के साथ नवीन मानवता की साधना करते हैं !

दुष्यंत : हे मातलि, मैं उनके दर्शन कर अपने जीवन को धन्य करना चाहता हूँ !

मातलि : यह बहुत उत्तम विचार है !·· इसे आप देव प्रभु की ही भेजी हुई प्रेरणा समझिए !···चलिए···

[परदा फटता है—इस दृश्य का प्रकाश अरुण है।]

मातलि : अब हम नवीन मानवता के पिता कश्यप के आश्रम में आ गए हैं, जहाँ अदिति की चेतना मानव जाति को एक नवीन एकता की अनुभूति करा रही है !

दुष्यंत : यह नवीन मानव लोक तो स्वर्ग से भी सुन्दर है ! जहाँ मेरे मन, प्राण और देह—मेरा समस्त अस्तित्व—जैसे अमृत के सरोवर में नहा रहा है !

मातलि : सखे, इस मार्ग में चलकर मानवता के पिता का तपोवन देखो !

दुष्यंत : मैं आश्चर्य से देख रहा हूँ। यहाँ का प्रकाश अभी उदय हुए अरुण का है ! यहाँ अप्सराओं के सामने भी इन्द्रियाँ अपने-आप वश में रहती हैं !

मातलि : यह अप्सराएँ नहीं, नवीन मानवियाँ, नारियाँ हैं ! यहाँ का जीवन-संगठन ऐसा है कि उसमें ऊँची-ऊँची अभिलाषाएँ उठती हैं !···अच्छा, अब तुम यहाँ अशोक छाया में विश्राम करो···मैं अवसर देखकर तुम्हारे आने का समाचार इन्द्र के पिता को देकर, तुम्हें लेने आता हूँ !

दुष्यंत : बहुत अच्छा !

[मातलि का प्रस्थान]

(दो)

नेपथ्य से : अरे, क्या तू अपनी चंचलता नही छोडेगा ?

[सिंह के बच्चे को चुमकारते हुए एक बालक का प्रवेश]

भरत : मैं इसके दाँत गिनूँगा !

दुष्यंत : यह तेजस्वी बालक कौन है ?

(शकुन्तला प्रवेश कर, दुष्यंत को देखकर सहज भाव से)

शकुंतला : यह भावी संतति है !···आप आश्चर्य न करें !···पिता कश्यप के प्रभाव से ये खूँखार पशु भी जो जीवन-मन के बीच, चेतना की निचली सतहों में रहते हैं, ऐसे हो जाते है कि अपने हिंसवृत्ति को ही नहीं भूल जाते, इनमें अनेक ऊँचे गुण भी पैदा हो जाते हैं।

दुष्यंत : शकुतला, तुमसे इतने दिनो बाद आज अचानक भेंट होने पर ऐसा लगता है जैसे मैं तुम्हें कितने जन्मों से—सृष्टि के आदि से—जानता हूँ !

शकुंतला : मुझे भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। वहाँ के वातावरण में हृदय का अन्तर्तम सत्य प्रकट हो जाता है।

दुष्यंत : यही बात होगी !···जो कुछ भी कहने का था, वह सहज ही कहा हुआ और जो कुछ भी समझने का था, वह सहज ही समझा हुआ लगता है !···लेकिन कुछ बातें मन का समाधान करने के लिए जानते हुए भी दुबारा तुमसे सुनना चाहता हूँ !

शकुंतला : कौन-सी बातें ?

दुष्यंत : क्या कारण है कि इस बालक के लिए मेरे हृदय में पुत्र-सा स्नेह उमड़ रहा है ?

शकुंतला : क्योंकि यहाँ आने से आप, मैं और यह एक ही चेतना की सन्तान बन गए हैं। फिर मेरी देख-रेख में पलने में इसमें मेरे वे संस्कार भी आ गए हैं, जिनके प्रति आपका सहज आकर्षण है !

दुष्यंत : तो तुम इसकी धात्री हो ?

शकुंतला : मैं इसकी माता हूँ···आप चाहे, स्नेह की माता समझ लें !

दुष्यंत : लेकिन शकुंतला, अगर यह बालक हमारा आत्मज होता !···और तुम मेरी पत्नी !

शकुंतला : पत्नी ?—मुझे तुम पर तरस आ रहा है कि तुम्हारा हृदय अभी स्त्र की दासता से मुक्त नही हुआ ! तुम स्त्री को अपने दासी बनाना चाहते हो ? भरत के माँ-बाप बनने का अर्थ है नवीन मानवता का मातृत्व और पितृत्व ग्रहण करना ! मातृत्व ही प्रेम का निष्काम संचरण है, निर्लिप्त कर्म···मैंने पिछली बार जो गलती की थी, वह अब दुहरायी नही जा सकती !···फिर मध्य युग की तंग रूढ़ियों और संकरी पगडंडियों पर चलने के बाद नारी को चेतना के लिए यह दुःसाहस ही होता···यद्यपि आपके प्रति वह मेरा प्रेम का सबसे पहला और अन्तिम उच्छ्वास था···यौवन-सुलभ आकांक्षाओं का वेग मेरे हृदय और देह को मथ रहा था। आज की युग-नारी की समस्या को ध्यान में रखते हुए और पुरुष-समाज ने उस पर एकांगी न्याय का भार लादकर जो अत्याचार किया है, उसका स्मरण करते हुए समाज की छाती पर प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्वलित करने की इच्छा मेरे मन मे अवश्य उठी थी। मैं सोचती थी, क्यो न मैं युग-नारी के लिए द्वार खोल दूँ ? लेकिन मैंने उसे निरा अहकार समझकर अपनी दुर्दम प्रवृत्ति को रोक लिया !···

दुष्यंत : पुरुष की निरंकुश इच्छा की बाढ़ को रोकने की यह नई ही क्षमता नारी में आ गई !

शकुंतला : पिता कण्व के संपर्क मे रहने से मुझे भगवान् पर अटल विश्वास रहा है, मेरे भीतर जैसे कोई आवाज आई कि नारी माँ है, उसे विद्रोह नहीं करना चाहिए···मनुष्य के विद्रोह करने से कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य, विश्वव्यापी परिवर्तन नही हो सकता। उसके लिए भगवान् की कृपा चाहिए।···धरती की चेतना बिना भगवान् की अनुकंपा के नीचे से ऊपर को नहीं उठती, भगवान् की अनुकंपा ही प्रयत्न को विजय का मुकुट पहनाकर सत्य का नया विश्व-संचरण संसार में प्रतिष्ठित करती है !

दुष्यंत : विकास के पथ की ओर मेरा ध्यान पहले नही गया था !

शकुंतला : फिर नारीत्व का समर्पण करके मैं आज की नारी के लिए बुरा उदाहरण छोड जाती !···और वह अपनी दुर्बलता को अपनी शक्ति समझने लगती ! ··एक बार जो सूक्ष्म संस्कार मनुष्य की चेतना में आ जाते हैं, उन्हें स्थूल जगत का बड़े से बड़ा विरोध नहीं दबा सकता ! मनुष्य की अंतश्चेतना पीछे हटना नहीं जानती !·· वह मन और जीवन के सारे विरोधों को अकेले पछाड़कर विजयी होती है ! क्रांति के युग में भी यह भीतर से नियन्त्रण के अंकुश की तरह काम करती है क्योंकि सूक्ष्म की एक किरण स्थूल के सारे अंधकार के पहाड़ से अधिक शक्तिशाली होती है यद्यपि सब सन्तान प्रकृति की एक ही विधि से पैदा होते हैं पर मेरे मन ने प्रकृति का पक्ष न लेकर संस्कृति का ही पक्ष लिया क्योंकि संस्कृति ही मानव प्रकृति के सब तत्वों का सार है ! सब बातों पर विचार करने पर अब मुझे लगता है कि भरत हमारा देहज न होने पर भी अधिक आत्मज है !···और फिर सभी

संतान मानव संतान हैं !···

दुष्यंत : मेरा मोह जाता रहा !···शकुंतला, यहाँ आकर मेरे मन में मानव जीवन की सभी समस्याओं पर एक नया प्रकाश पड़ रहा है !···जिन नैतिक और राजनीतिक वाद-विवादों में आज देशों, जातियों के स्वार्थों में बँटी हुई संसार की जनता संघर्ष, अशांति के दलदल में खो गई है, जिस मन और जीवन की शक्तियों के आंदोलनों के भीतर दबकर मनुष्य को आज अपनी समस्याओं का कोई समाधान नहीं मिल रहा है, लोक-कल्याण के लिए राह नजर नहीं आ रही है···आज उन सब ऊहापोहों से मेरा मन मुक्त हो गया है ! और जैसे हमारी आत्मा का परिणय हो गया है, मैं चाहता हूँ वैसे ही तुम्हारे और मेरे जीवन भी परिणय के सूत्र में बँधकर इस नई चेतना की मानवता का निर्माण करने में अपने को अर्पित कर दें ! (**शकुंतला सिर झुका लेती है।**) क्योंकि मैं देखता हूँ, पिता कश्यप की चेतना का सक्रिय सम्बन्ध एक विश्वव्यापी सांस्कृतिक आंदोलन से है, जिसके द्वारा मनुष्य की भीतरी दुनिया को प्रकाश में लाया जाय !···मानव जीवन की भीतरी गतियों का नवीन प्रकाश में संगठन किया जाय ! आज के जीवन की बाहरी गतियों को, जो अनेक तरह के राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और नैतिक सिद्धान्तों और आंदोलनों के रूप में काम कर रही हैं, उन्हें अपना काम करने दिया जाय क्योंकि हस्तक्षेप करना ठीक नहीं है !···शकुंतला, क्या तुम फिर से इस नए दुष्यंत की जीवन-संगिनी बनोगी ?···

शकुंतला : (**सिर उठाकर**) इसका निर्णय पिता कश्यप करेंगे !·· मैं आज पहली बार अपनी हुई हूँ !···भरत को पाकर अब मैं माँ बन चुकी हूँ। मेरे लिए तत्वतः तुम वैसे ही हो, जैसा भरत है। (**दुष्यंत अवाक् होकर देखता है**)···आज की नारी मातृत्व की सीढ़ी पर लोक-मातृत्व का गौरव पहनकर, स्वतन्त्र हो गई है।···अगर तुम मेरी इस नवीन सिद्धि के सामने, नई पाई हुई स्वतन्त्रता के सन्मुख आत्म-समर्पण कर सको, तो मैं तुम्हें स्वीकार कर सकूँगी।

दुष्यंत : मुझे स्वीकार है।

शकुंतला : भरत, ये तुम्हारे पिता हैं। (**दुष्यंत भरत को गोद में लेकर प्यार करता है।**)

[**मातलि का प्रवेश**]

मातलि : (**दोनों को देखकर**) आप लोगों का इस नए धरातल पर पुनर्मिलन हो गया, यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पिता कण्व की साधना के इस शिखर को पिता कश्यप ने अपनी सिद्धि के ज्योतिर्मय मंडल से शोभित कर नवीन मानवता की चेतना से मंडित कर दिया है !··· पिता कण्व और कश्यप एक ही युग-पुरुष के दो रूप हैं !···पिता कश्यप ने अपने को लोक-जीवन में व्याप्त मन से ऊपर उठाकर नवीन चेतना के आलोक को अपने मन के शिखर पर उतारा है !··· वह आनेवाली संस्कृति के अमूल्य तत्वों के उस सुनहले बादल से हैं,

जो पृथ्वी पर नवीन शक्ति की धाराओं में बरसकर नवीन मानवता को उर्वर करेगा ! पिता कण्व ने इस युग की आकांक्षा के प्रतीक बन कर लोक जीवन के धरातल को उस स्तर तक उठाने का प्रयास किया है, जहाँ से वह नवीन चेतना को ग्रहण कर सके !···दोनों इस युग की साधना और सिद्धि के रूप है !

दुष्यंत : पिता कश्यप की कृपा से मानव का मनोरथ सफल हो गया ! क्या आप लोगो ने हम लोगो का वृत्तांत जान लिया था ?

मातलि : अंतर्द्रष्टाओं से कुछ छिपा रहता है ? आइए, अब आपको पिता दर्शन देंगे।

शकुंतला : (**भरत का हाथ पकड़कर**) मैं भी साथ चलूँगी, पिता कश्यप के दर्शन हमेशा ही नहीं मिलते···वह अंतर्मन के वैज्ञानिक की तरह चेतना की प्रयोगशाला में ध्यानस्थ हो, विश्व के मनोयंत्र के कल-पुरजों को घुमा-फिराकर नवीन आत्म-शक्ति का संचार करने में तल्लीन रहते हैं। (**सबका प्रस्थान**)

(तीन)

(परदा फटता है)

[पिता कश्यप, माता अदिति आसनों पर बैठे हैं। उन्हें घेरे हुए नव युग के द्रष्टा अनेक स्त्री-पुरुष बैठे हैं। स्त्रियाँ साड़ियाँ, सलवार और स्लैक्स पहने हैं। पुरुष कुरते, धोती, जाँघिया, कमीज बुश्शर्ट और पैंट। इधर-उधर कुछ फूलों के गुलदस्ते सजे हैं।]

कश्यप : हे दक्षसुता, ये नवीन लोक-मानव मानवी हैं, जिनके मूल तो हमारी चेतना में हैं लेकिन शाखाएँ नवीन प्राण-शक्ति की हरियाली और नवीन मानसिक गुणों के फूलों की ज्वाला से स्पंदित होकर लोकहित की कामना में नीचे, धरती की ओर झुकी है!

अदिति : इनका मनोरथ सफल हो!

कश्यप : पुरुष सभ्यता के पिछले युगों ने अनेक प्रकार के धर्मों, तप, साधना और पूजनों को जन्म दिया है, अनेक प्रकार की भक्ति, ज्ञान और कर्म द्वारा देवत्व प्राप्त करने का प्रयत्न किया है; लेकिन जीवन का क्षेत्र अनेक परस्पर-विरोधी शक्तियों का क्रीड़ास्थल होने के कारण मनुष्य का मनोरथ सफल नहीं हो सका। इस भौतिक विज्ञान के युग में मनुष्य को जप-तप साधना के अयोग्य देखकर भगवान् उसके सामूहिक अभ्युदय के लिए नया मार्ग खोलना चाहते है। मैं एक अतर्द्रष्टा की तरह, मानव भविष्य के ज्ञाता की तरह तुमसे कहता हूँ कि वह मार्ग है मनुष्य की रागवृत्ति का सामूहिक विकास---मनुष्य की हृदय-वृत्ति को व्यापक, गहरा और ऊँचा बनाना—जिसके कारण वह अपने ज्ञान के परिणामों को अपना जीवन का अंग बना सके! आज के मनुष्य की नैतिकता और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी सदाचार के सिद्धांत मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए घोर बाधक बन गए है, और वह ऊपर उठने के बदले या तो युग-युग से उसी स्थिति में रहता है या और भी नीचे गिर जाता है! जब तक मनुष्य के हृदय के विकास के लिए प्रशस्त पथ नहीं खुल जाता, उसका समस्त ज्ञान, नैतिकता, आचार-विचार उसके भाग्य को नही बदल सकते। वह वैसा ही क्षुद्र, द्वेषी, स्वार्थी और स्त्री-पुरुष की यौनदासता में तड़पता रहेगा!—इसलिए मै तुम दोनों को आज से स्वतंत्र कर रहा हूँ! इस स्वतंत्रता को बनाए रखना तुम्हारे

लिए अत्यंत कठिन होगा, इसे लोगों मे बाँटना और भी दुष्कर ! काम की दासता से हृदय-वृत्ति को मुक्त करने मे मनुष्य दाँत ही नही किटकिटाएगा, वह उसके अंगों को झुलसाएगी और हृदय को समुद्र की आग में जलाएगी।

मातलि : लेकिन हे देव, हृदय की जो पवित्रता महात्माओं को कठिन तप और साधना से भी प्राप्त नही होती है, वह नए मानव-मानवी को सहज ही कैसे मिल जायेगी ?

कश्यप : नवीन मानवता के सामने घोर युद्ध और विकट संघर्षण है ! ऐसा भयानक संघर्ष सभ्यता के इतिहास में आज तक देखने को नही मिला ! ···इसी आँधी-तूफान, बिजली की कड़क और आग की लपटों से गुजरना ही उसकी साधना होगी : जिस संघर्ष को पिछले ऋषि-मुनि आत्मा के ऊर्ध्व धरातल पर करते आए है, उसे आनेवाली पीढ़ियाँ लोक-जीवन के सम धरातल पर करेंगी। आनेवाले युग में सूक्ष्म जगत की सभी शक्तियाँ स्थूल जगत की शक्तियों से मिलकर नवीन मानवता के रूप मे विकसित होंगी। जिस प्रकार देह और मन का व्यवधान मिट गया है, उसी प्रकार आत्मा और मन का व्यवधान भी मिट जायेगा ! —चेतना, मन और प्राण एक ही उद्देश्य मे काम करेंगे !···

मातलि : हे देव, इसका व्यावहारिक रूप क्या होगा ?

कश्यप : स्त्री और पुरुष एक-दूसरे की दासता से मुक्त हो जायेंगे !·· वे परस्पर विश्वास से मिलेंगे, प्रेम मे पलेंगे और अपने कर्मों मे अलग रहेंगे !··· स्त्री-पुरुष तत्वतः एक होने पर भी मन, प्राण और कर्मों के जगत में स्वतंत्र सिद्धांतो की तरह काम करेंगे !

मातलि : हे देव, इससे क्या लाभ होगा ?

कश्यप : मनुष्य क्रोध, द्वेष, घृणा के बंधनों से मुक्त हो जाएगा ! वह अहिंसक बन जायगा ! भक्ति और श्रद्धा मानव-हृदय में द्वेषहीन स्त्री-पुरुष प्रेम बनकर जीवन में सक्रिय बन जाएँगे। जन-साधारण को फिर किसी धर्म की, तप या साधना की आवश्यकता नही रहेगी क्योंकि उसके हृदय का परिष्कार हो जायगा। दुनिया में पाप-पुण्य, भले-बुरे की समस्या सदैव के लिए हल हो जायगी ! देव और पशु के बीच का व्यवधान हट जायेगा और शुद्ध, संस्कृत, सभ्य मानव बाहर निकल आएगा ! भिन्न-भिन्न गृहों, कुटुंबों, कुलों, गिरोहों और जातियों में विभक्त मानव एक हो जायगा, उसकी समस्त शक्तियाँ निर्माण की ओर लग जाएँगी; संसार धन-धान्य से सम्पन्न, ज्ञान और कर्म से पूर्ण, सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द और शान्ति का स्वर्ग बन जाएगा।

सब लोग : नव मानव की जय !

कश्यप : दुष्यंत और शकुतला, तुम आज से स्वतंत्र हो ! आत्मा के परिणय का अर्थ है मन और देह की स्वतंत्रता ! तुम्हें यह स्वीकार है ?

दोनों : देव, हमें यह सादर स्वीकार है !

अदिति : लोक मानव और लोक मानवी की जय !

कश्यप : तुम्हारे आत्म-बल से मैं संतुष्ट हूँ ! लेकिन यह संक्रांति का युग है ! नवीन चेतना के इस संचरण को लोक जीवन में प्रतिष्ठित होने में समय लगेगा। साधारण नर-नारी इस आध्यात्मिक स्वतंत्रता का अभी दुरुपयोग ही करेंगे। यह आंदोलन अभी कई रूप धारण करेगा। भिन्न-भिन्न युगों की परिस्थितियों की चेतना इस पर आवश्यकतानुसार नियंत्रण लगाकर इसे उच्छृंखल होने से रोकेगी। (**उठकर**) इसलिए मैं और अदिति तुम दोनों का हाथ एक दूसरे के हाथ में रखकर नाम-मात्र को तुम्हें सामाजिक परिणय के सूत्र में बाँधते हैं ! लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि तुम अपने मन और कर्म में एक दूसरे से बँधे हो ! या एक दूसरे की कामना के दास हो···तुम राग-विराग, मोह-द्वेष, मिलन-विरह से मुक्त स्त्री-पुरुष हो, जो अपने अत्यंत प्रेम में एक होकर दो हो गए हो !···यही दुष्यंत और शकुंतला का रहस्य प्रेम है, जो मनुष्य के सब बाधा-बंधनों को लाँघकर मन के मर्त्य-पुत्र को चेतना का अमृत-पुत्र बनाएगा ! मैं मानव-मानवी को जो स्वतंत्रता दे रहा हूँ, उसे पाने से अधिक कठिन उसे सुरक्षित रखना है। उसका प्रारंभ में कितना ही दुरुपयोग हो, और मनुष्य जाति को चाहे जितनी अग्नि-परीक्षाएँ देनी पड़ें पर मुझे इसमें रत्ती-भर संदेह नहीं कि यही आनेवाली सभ्यता का प्रधान आंदोलन बननेवाला है। जिसके जन्म का आज जन-साधारण को ज्ञान तक नहीं है, वही अंत में विजयी होकर मानव के सिर पर उसके देवत्व का मुकुट पहनाएगा ! यह सुनहली चेतना का ज्योतिमेघ, जिसमें समस्त अध्यात्म का सार भरा है, संसार में युग-युग तक बरसेगा। मैं उनके अंतराल से छनी केवल एक स्वर्णकिरण तुम्हें देता हूँ, जो तुम्हारे युग के लिए उपयोगी होगी !

[**दोनों दोनों को आशीर्वाद देते हैं**]

सब लोग : लोक मानव, लोक मानवी की जय !

शकुंतला : (**भरत को आगे बढ़ाती हुई**) इस पुत्र को भी आशीर्वाद दीजिए।

कश्यप : जो तुम्हारी पीढ़ी के लिए काँटों से भरी राह है, वह इसकी पीढ़ी के लिए फूलों की राह बने, जो तुम्हारी पीढ़ी के लिए संदेह है, वह इसके लिए विश्वास बने, जो तुम्हारी पीढ़ी के लिए स्वप्न है, वह इसके लिए सत्य बने···(**भरत के सिर पर हाथ रखते हैं**)

अदिति : यह मानव पुत्र, पृथ्वी पर भारतीय प्रजात्मकता को प्रतिष्ठित करे, जो आत्मा की एकता और समानता का संदेश देती है, जो बाह्य रूप से धर्म-जाति, श्रेणी, वर्ग में विभक्त मनुष्यों को युक्त कर अभ्यंतर की समभूमि में लाकर मिलाती है ! तुम्हारा आत्मज संसार में लोकोत्तर के साथ देवोत्तर मानवता की स्थापना करे ! (**उसके सिर पर हाथ रखती है।**)

दुष्यंत-शकुंतला : (**हाथ जोड़कर तथा सामने झुककर**) मनुष्य की भावी को आपका वरदान हमारे युग का संघर्ष बने !

कश्यप : तथास्तु।

युग-पुरुष

पात्र-पात्री

युग-पुरुष : लक्ष्मी
शिबू भइया : प्रभा
यूसुफ : मौसो
स्वयं-सेवक : सेविकाएँ

स्थान

गाँव के एक मध्य श्रेणी के परिवार के घर का बरामदा और आँगन।

[नेपथ्य से उच्च स्वर मे शंखनाद होने के बाद सुनाई पड़ता है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे !

[पुन: शंखनाद होता है और परदा फटता है। मंच के प्राय: मध्य में कुछ बाईं ओर को, प्रभा और लक्ष्मी बैठी हुई हैं, उनसे कुछ हटकर शिबू भइया, हाथ पीछे की ओर किए, कुछ सोच-मग्न से होकर चक्कर लगा रहे हैं, और कभी-कभी ऊपर की ओर देख लेते हैं। लक्ष्मी रुई की पूनी बना रही है, और प्रभा चरखा चला रही है। वह बार-बार कातने की कोशिश करती है पर तागा फिर-फिर टूट जाता है।]

[परदे के फटते ही, दाईं ओर से एक गठीले बदन का नाटा बूढ़ा किसान सिर पर छोटा-सा सफेद गँवई साफा लपेटे, घुटने तक की धोती पहने, लाठी टेकता हुआ प्रवेश करता है, और मंच की दूसरी ओर बिल्कुल सामने जाकर, बैठ जाता है। वह लाठी को दाईं तरफ और बगल में तौलिए का पुलिंदा निकालकर उसे दूसरी तरफ रखता है। वह बीच-बीच में कभी तौलिए से मुँह पोंछता, कभी गला खखारता, कभी विचार-मग्न-सा, अपनी सफेद मूंछों पर हाथ फेरता है तथा दो-एक बार आसन बदलकर चुपचाप बैठा रहता है। नेपथ्य से उसके आसपास, बदन से टकराकर, कुछ पीले पत्ते गिरते हैं।]

प्रभा : (अर्ध स्वगत) अम्मा को कुछ सूझता तो है नहीं !···न जाने कैसी पूनी बनाई है कि तार ही टूट जाता है !

लक्ष्मी : तार कैसे बँधे बेटा, कभी चरखा हाथ मे लिया होता, तब ना ? इसी को कहते हैं—(जोर से छीं-छीं·· छींकती है)

प्रभा : (हाथ की पूनी दूर छिटकाकर) लो,···हाथ की पूनी तक उड़ गई ! · अम्मा, तुम इसी तरह छींकोगी तो हाथ की ही रुई क्या, एक रोज सारे हिन्दोस्तान की रुई उड़ जाएगी !

लक्ष्मी : (मुँह के भीतर ही भीतर हँसती हुई) कैसी बातें बनाना सीख गई है !

प्रभा : (आँखें मटकाकर) सच अम्मा !···तुम्हारे नजले से घबड़ाकर तो पेड़ों के पत्ते तक उड़ने लगे हैं !···एक रोज सब्ज पेड़ों में बस

टहनियाँ ही टहनियाँ नजर आएँगी !

लक्ष्मी : उँह !

प्रभा : जब पत्ते झड़ने लगते हैं माँऽ, तो उसे पतझार कहते हैं।···और जब नई कोंपलें आती हैं, तो उसे बस-अत कहते हैं !

लक्ष्मी : (**उसकी बाँह पर खोंचा देकर**) बस-अंत नहीं, बसंत !

प्रभा : बसंत ही सही।···तब माँ, कोयल बोलने लगती है···कूह ! कुहू ! (**खड़ी होकर**) बस, अब मुझसे नहीं काता जाता !

लक्ष्मी : यह लो, मुझे बातों में बहलाकर खुद भाग खड़ी हुई।···काम-चोर··· अभी तक चरखा कातना भी नहीं आया ! आ, बैठ !

शिबू भाई : (**रूखे स्वर में**) क्यों नाहक उसे परेशान करती हो···चरखा चलाना कोई आसान है ?

लक्ष्मी : हाय···उसे सर पर चढ़ा लिया है ! चरखा चलाना भी आसान नहीं···

शिबू भाई : अगर आसान है, माँ, तो फिर वह इतना आसान है कि सभी के लिए चरखा चलाना आसान नहीं है !···(**दर्शकों की ओर इशारा कर**) पूछती क्यों नहीं, इनमें से कोई चरखा चलाता है ? (**युग-पुरुष गरदन घुमाकर शिबू भइया पर किंचित तीव्र दृष्टि डालता है।**)

प्रभा : (**शिबू से लिपटकर**) भइया !···

नेपथ्य से : अरी ओ शिबू की माँ···शिबू की माँऽ !

प्रभा : (**जैसे चौंककर**) अम्मा, मौसी आई है !

लक्ष्मी : आई चंदो,···! (**रुई समेटती हुई अर्ध स्वगती**) जो चाहो, भइया··· करो···इतनी सयानी लड़की हो गई है···न कोई काम जाने है···न धंधा ! (**कुछ नीचे स्वर में जल्दी से**) कोई काम जाने है···न धधा !

प्रभा : (**रुई बटोरती हुई**) अम्मा जब गुस्सा करती है, तो हर एक बात को दो-दो बार कहती है ! जैसे कोयल अपनी बोली दुहराती है, कुहूऽ··· कुहू !

लक्ष्मी (**प्रभा का गाल पकड़कर खींचती हुई**) कुहू···कुहू···!···इतनी बड़ी लड़की हो गई है···मुँह चिढ़ाती है !···(**चादर के कोने बाँधती हुई**) घर में कोई सयाना नहीं रहा, इसलिए !·· जब ससुराल जाएगी, तब याद करेगी !·· (**खड़ी होकर**) शिबू ने अपनी सारी उमर जेल में काट दी !···अब स्वराज्य आया भी है, तो किस काम का ?·· अभी तक बहन की भी शादी नहीं कर सका !

नेपथ्य से : अरे शिबू भइया हैं ?

प्रभा : (**उछलकर, और शिबू को टहलते देखकर**) यूसुफ भाई आए हैं ?

शिबू : (**अन्यमनस्क-सा**) कौन ?···यूसुफ !···आओ, चले आओ !

लक्ष्मी : (**कपड़े का पुलिंदा उठाकर चलती हुई**) प्रभू, बेटी, जा, चरखा अन्दर रख आ !

प्रभा : नहीं माँ, मैं कातना सीखूँगी। अभी तो तुम कहती थी कि मुझे कुछ नहीं आता! (**चरखे के पास जाकर बैठती है।**)

लक्ष्मी : चल, उठ,·· मौसी से नहीं मिलेगी क्या?

शिबू : (**जोर से**) हा, हा, हा, हा! माँ चाहती हैं, प्रभा और यूसुफ की मुलाकात न हो! हा-हा-हा! छुटपन से तो दोनों साथ खेले हैं!

लक्ष्मी : (**विरक्त होकर**) मैं कुछ नहीं चाहती, भइया···दस लोग दस बातें कहते हैं!

[**यूसुफ का प्रवेश**]

शिबू : आओ यूसुफ, बैठो! (**मोढ़ा देता है**)

यूसुफ : नमस्ते, अम्माजी! (**मुस्कराकर**) अरे प्रभा!

नेपथ्य से : शिबू की अम्मा, ओ शिबू की अम्मा!

लक्ष्मी : (**सिर हिलाकर**) जीते रहो भइया!

नेपथ्य से : अरे मैं घर का काज छोड़कर आई हूँ!

लक्ष्मी : आई बहिन···यह आई (**प्रस्थान**)

शिबू : कहो भाई यूसुफ, आज बहुत रोज बाद आए!

यूसुफ : (**बैठकर**) भइया, इधर लखनऊ चला गया था···आज ही तो सुबह घर वापस आया!

शिबू : हाँ, मैं तो भूल ही गया था!

यूसुफ : आप कुछ परेशान-से लगते है, भइया!

शिबू : (**ठोढ़ी पर हाथ फेरकर**) नहीं,·· ऐसी तो कोई बात नहीं! (**टहलता हुआ**) यही सोचता था कि स्वराज पाने पर भी हम लोग स्वतंत्र नहीं हो सके!

यूसुफ : धीरे-धीरे ही तो सुधार होगा, भइया!

शिबू : (**खड़ा होकर**) क्या सुधार होगा?···मैं शासन या अमन-चैन की बातें नहीं कर रहा हूँ··· मैं देख रहा हूँ कि देश आगे बढ़ने के बदले दो-तीन सौ साल और पीछे चला जा रहा है!···हममें जो खराबियाँ कभी पहले रही होंगी वे आज हमारे भीतर फिर से अपना सर उठाकर हमारे राष्ट्रीय जीवन को बनने नहीं दे रही है! इतने गिरोहों, फिरकों, इतने मतों और विचारों में···बल्कि इतने घरों और मूँडों मे बँटकर आज हमारी राष्ट्रीय चेतना टुकड़े-टुकड़े हो रही है!···

यूसुफ : यह तो भइया, होगा ही! जो बुराइयाँ हमारे भीतर आज तक दबी हुई थीं, वह एक बार बाहर आएँगी ही!···और उनका कर्ज भी हमें चुकाना ही पड़ेगा!···हम धीरे-धीरे एक दूसरे को नई तरह से पहचानना सीखेंगे,···और एक तरह से सीख भी रहे है! (**प्रभा एकटक यूसुफ की ओर देखती है**)

शिबू : तुम तो हमेशा ही आशावादी रहे हो!·· तुम सोचते हो, हममें से किसी को कुछ करना-धरना नहीं है···और विधाता के बनाए कुछ नियम—

या इतिहास के कुछ नियम, अपने आप ही, हमारे भीतर से सब काम कर देंगे !

यूसुफ : (**चरखे के सूत को उँगली में लपेटकर तोड़ते हुए**) कुछ इसान के बनाए हुए नियम काम करते है भइया · कुछ विधाता के !

प्रभा : छि: यूसुफ भाई, आपने मेरा सूत तोड़ दिया !

यूसुफ : (**उसकी ओर देखकर**) कुछ सूत टूटने के लिए ही होते हैं···(**शिबू से**) अब इस प्रभा में तो इसान का बनाया हुआ कोई नियम काम करता नही ! ··यह जैसे बिलकुल ही विधाता की बनाई हुई है !

प्रभा : (**सिर उठाकर**) और आप ?

यूसुफ : अरे, मैं तो दूर-दूर घूम-फिर चुका हूँ · बडे-बड़े शहरों में रह चुका हूँ, जो इंसान के बनाए हुए हैं ! तुम तो गाँवों से बाहर ही कभी नहीं निकली···हमेशा से विधाता के राज्य में रही हो !

प्रभा : (**होंठ मिलाकर सूत जोड़ती हुई**) तो आप इसान के बनाए हुए हैं, इसीलिए इतने अच्छे है !·· और मैं विधाता की बनाई हुई हूँ, इसीलिए इतनी बुरी हूँ !

यूसुफ : (**नकारात्मक सिर हिलाकर**) मैंने तो ऐसा नहीं कहा !

प्रभा : (**सकारात्मक सिर हिलाकर**) कहा तो नही है ! ··लेकिन सभी बातें तो कहने की होती नही···कुछ समझने की भी होती है ?

यूसुफ : मुझे तो बडे-बडे शहरों में भी तुम्हारी जैसी अच्छी लड़की नहीं दिखाई दी !

प्रभा : (**सहज दृष्टि से उसकी ओर देखकर**) अच्छा, तो मुझमें ऐसी कौन अच्छाई है ?

यूसुफ : तो यह कहो, तुम अपनी तारीफ सुनना चाहती हो ?

प्रभा : सभी तो अपनी तारीफ सुनना चाहते है, क्यो शिबू भइया ? (**शिबू सिर हिला देता है**) यह जानकर कि मैं अच्छी हूँ·· इंसान अच्छा है···यह दुनिया अच्छी है···मन में कितनी खुशी होती है !

यूसुफ : अब यही तुममें एक अच्छी बात है !

शिबू : (**जैसे विचार-निद्रा से जगकर**) यूसुफ, अब जैसे तुम्हारा और प्रभा का सवाल है !··· · इसे किस तरह हल किया जाए कि साँप मरे, न लाठी टूटे !···कोई सूरत नजर नही आती ! (**यूसुफ सिर झुका लेता है । प्रभा उत्सुक दृष्टि से शिबू को ओर देखती है**) सारा गाँव जैसे मन ही मन इंतजार कर रहा है कि एक रोज कुछ जरूर होनेवाला है !···

यूसुफ : इस बात को भूल जाइए भइया !···आप नाहक फिक्र में घुल-घुलकर अपना खून सुखा रहे हैं ! मैंने तो इसके बारे में सोचना ही छोड़ दिया है·· और न कभी ख्याल ही आता है !···फिर, यह कोई आपके मेरे बीच का तो मसला है नही !···यह तो सारी बिरादरी का···सारे गाँव का···और एक तरह से सारे देश का कुसूरवार बनना है···और

फिर वह भी आजकल के जमाने मे ! · क्या किसी मे कुछ छिपा है भइया ! **(दृढ़ होकर ना, ना, यह नामुमकिन है बिलकुल ही नामुमकिन। प्रभा उसी तरह प्रसन्न दृष्टि से यूसुफ की ओर देखती रहती है, जैसे उसके कहने का उस पर कुछ असर ही न हुआ हो।)**

शिबू : **(भावुकता में बहकर)** जो बात नामुमकिन हो जाती है यूसुफ, उसे हल करना और भी जरूरी होता है !···और फिर इस बात को भुलाने से ही क्या मैं प्रभा को भूल सकता हूँ ? यह क्या उसकी जिन्दगी का सवाल नहीं है···? उसकी खुशी का · उसके सुख-दुःख का—उसके दिल के सारे अरमानो का ? वह बाहर से भले ही सीधी-सादी, भोली-भाली लगती हो, पर यह उसका घर का·· चार आदमियो के बीच का चेहरा हो सकता है ! ··हम सबको अपने केंचुए की चाल से आगे बढ़नेवाले समाज के भीतर रहना होता है, हमारे भीतरी दुःखों पर हमारे बिना जाने भी, एक नकाब पड़ा रहता है · फिर, इसमें उसका कसूर भी क्या है ?···तुम दोनो छुटपन के साथ पले, साथ खेले, साथ ही बड़े हुए हो ! और, हमारे घरानो के आज तक जैसे सम्बन्ध रहे हैं···तुम्हारे और मेरे वालिद मे कितनी गहरी दोस्ती···जैसा भाईचारा रहा है · उसमे यह अब, न जाने कैसे सभव और स्वाभाविक हो गया···आज उनकी आत्माएँ क्या सोचती है, यह मै नहीं जानता !···और तुम, तुम पढ़े-लिखे हो, सयाने और समझदार हो, तुम्हारे बारे में भी मैं कुछ नही सोचता !···लेकिन ! क्या तुम उसे नही जानते, वह जिस तरह ढल चुकी है, ढल चुकी है !···उसे अब कोई बदल सकता है ?·· **(यूसुफ की आँखें एक बार खुशी से चमक उठती हैं, लेकिन वह शीघ्र ही शांत और गम्भीर हो जाता है।)** ··· तुम्हीं तो अभी कहते थे कि वह विधाता की बनाई है !

यूसुफ : भइया, भइया, **(दोनों हाथों से मुँह ढाँप लेता है)** आपसे कुछ भी छिपा नही है ! मै भी दिन-रात प्रभा के ही बारे मे सोचा करता हूँ ! ···इसी परेशानी में एक शहर से दूसरे शहर भटकता फिरता हूँ ! लेकिन इसके रज का ख्याल घटने के बदले और भी बढ़ता जाता है ! **(सिर झटकता है)** ओफ, इन महीनो मे गगाजी मे जितना पानी नही बहा, उससे भी ज्यादा हमारा खून बह चुका है···लेकिन प्रभा ! इतनी नफरत···इतनी लूट-मार·· इतने आँसू···इतने धुएँ के बादल ! इतने बड़े जुल्म और हैवानियत की आँधी, जैसे इसे हिलाए बिना ही इसके ऊपर से निकल गई ! जैसे बादल चाँद को नही छुपाते, उनको हटाकर वह और भी चमकने लगता है, वैसे ही प्रभा के भीतर, गाँवों की लहलहाती हुई हरियाली में पला हुआ इंसानियत का ख्वाब अपने मुहब्बत के पंख फैलाकर इस जमाने के जुल्मों को अपने में छिपाए हुए है !

शिबू : **(जल्दी-जल्दी चक्कर लगाता हुआ)** मै उसका भाई हूँ···भाई का भी कुछ फर्ज होना है।···नहीं, यह भाई का ही फर्ज नही, यह इंसानियत का भी तकाजा है !···ये सब ठंडे दिल से समझने की बातें

हैं !···हमें आज अपने को समझना और समझाना होगा !···एक जमाने का नकशा होता है, एक इंसानियत की पुकार·· दो इंसानों की जिन्दगी का सवाल !···अपने आप मिले हुए दो दिलों का स्वर्ग ! ···एक ओर व्यक्ति है, एक ओर समाज !·· एक ओर मनुष्य के हृदय की सच्ची, सनातन, पवित्र भावना है, दूसरी ओर मिटती हुई पिछली दुनिया के मजहबों, कौमों, नीतियों और चलनों का अपना विरोध और झगड़ा !···एक ओर ईश्वर का संकेत, दूसरी ओर आदमी के घमंड की हुंकार···एक ओर है अहिंसा, सत्य का आत्मबल, दूसरी ओर मक्कारी, फरेबी और जुल्मों की ताकतों का मोर्चा !··· एक ओर है बड़ी इंसानियत का बढ़ता हुआ ख्वाब, जो कल की रोशनी में आकर हकीकत बन जाएगा, और दूसरी ओर है छोटे आदमी की छोटी दुनियादारी का टिमटिमाता हुआ चिराग, जो कल अंधकार में बुझ जाएगा।···(खड़ा होकर) नहीं, यह प्रभा और यूसुफ का सवाल नहीं है ! यह है दो जीती-जागती, कौमों के दिलों की धड़कन को मिलाने और उन्हें एक बड़ी जिन्दगी के सुरों में बाँधने का सवाल ! आज भीतर से आनेवाली एक नई रोशनी, एक नई जिन्दगी की सुबह को मुर्दों के खड़े किए हुए नफरत और अँधियाले के पहाड़ रोक रहे हैं· (सामने देखकर) मुझे अपना रास्ता साफ दिखाई देता है।

यूसुफ : (जैसे उसकी रूह हिल उठी हो) नहीं भइया; ऐसा नहीं होगा, ऐसा कभी नहीं होगा !·· यह गाँव का, देश का, या इंसानियत का सवाल नहीं है !···यह है सबके पहले, सीधा-सादा, अम्मा का सवाल !··· अम्मा सब कुछ समझने पर भी इसे नहीं देख सकेंगी !·· यह उनके बरदाश्त के बाहर है ! उनकी कमर ही टूट जायेगी···उनका कलेजा टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा ! वह इसके बाद एक रोज भी जीती नहीं रह सकती ! भइया, यह महज कौमों या मजहबों के लिए रास्ता बनाने का सवाल नहीं है—यह है, कब किस हद तक आगे बढ़ा जाय, किसको किस तरह अपने साथ लिया जाय—इसका सवाल। आज अपने देश के लिए कड़वी से कड़वी घूंट को भी स्वादिष्ट और मीठी बना देना है !·· यह तभी हो सकता है, जब हम समाज और व्यक्ति दोनों की कठिनाइयों को ठीक-ठीक तौल सकें और उनकी मुसीबतों का अन्दाजा लगा कर· उन्हें नई जिन्दगी के ढाचे में बिठला सकें। क्योंकि बहुत मुमकिन है कि राह बनाने के बदले हम खाई ही खोद बैठें।

(युग-पुरुष समर्थन करते हुए सिर हिलाता है)

प्रभा : (चरखा रोककर) सुनती हूँ, यह धरती बराबर घूमती रहती है··· यह ठीक ही होगा।···लेकिन यह धरती जो हमेशा स्थिर और अचल लगती है, वह भी कैसे गलत हो सकता है ?···जब हर वक्त नाचती हुई धरती थिर रह सकती है तो सभी तेज रफ्तार से बढ़ती हुई चीजें भी धरती का सौम्य धीरज अख्तयार कर सकती हैं···और सभी रुकी

हुई तड़क-भड़क के साथ न बढ़नेवाली चीजें भी, आगे बढ़ सकती हैं।

नेपथ्य से : (**ऊँचे स्वर में**) नहीं जीजी, भला मैं ऐसा क्यों सोचूँगी? राम, राम! मैं क्या प्रभा और यूसुफ को नहीं जानती? और फिर तुम ऐसा क्यों होने दोगी? ऐसा कभी हुआ भी है? अच्छा, अब जाती हूँ...तुम मेरी बातों का ख्याल रखना!

लक्ष्मी का स्वर : अच्छा चंदो, जिओ, बहिन जिओ!

(**लक्ष्मी को आते देखकर शिबू अपनी खादी की टोपी यूसुफ की तुर्की टोपी से बदल लेता है। लक्ष्मी का प्रवेश**)

लक्ष्मी : (**प्रभा की ओर देखकर**) सिर पर पल्ला क्यों नहीं देती!... (**प्रभा सिर ढँक लेती है। लक्ष्मी आगे बढ़कर और यूसुफ को शिबू समझकर**) बेटा, चंदो गंगापार से महेश के साथ प्रभा की शादी का पैगाम लाई है।...महेश की चाची ने प्रभा को नहान में देखा था, उन्हें लड़की पसन्द आई!...लड़का तो अच्छा है, बेटा, खेती-बारी वैसे मामूली-सी है, लेकिन घर अच्छा है! तुम्हें तो सब मालूम ही है...तुम्हारा क्या ख्याल है भइया?

यूसुफ : (**कुछ झिझकता हुआ**) यह तो बड़ी अच्छी बात है अम्मा! महेश बहुत ही अच्छा लड़का है!

लक्ष्मी : जीते रहो बेटा, मैं तो तुम्हारे ही डर से हामी नही भर सकी...।

शिबू : (**टोककर**) खाक अच्छा है!...अभी कल तक तो गाँव भर मे प्रभा के बारे मे न जाने क्या-क्या कहता फिरता था! १९४२ के आंदोलन में देशभक्ति का उबाल आया तो दूसरे ही रोज सरकार से मुआफी माँगकर जेल से घर भाग आया!

लक्ष्मी : (**इधर-उधर देखकर शिबू को यूसुफ समझती है**) तुमसे तो ऐसी आशा नही थी, भइया! तुमको तो मैंने हमेशा से अपने बेटे की तरह माना है! (**यूसुफ की ओर इशारा कर**) शिबू और तुम जैसे एक ही कोख से पैदा हुए हो!

शिबू : मैं भी तो तुम्हारे बेटे ही की तरह कह रहा हूँ अम्मा, मैं इस सम्बन्ध को नही होने दूँगा।

लक्ष्मी : हाय,...चन्दो का कहा ठीक निकला! (**शिबू की ओर पीठ फेर लेती है**) मै अपनी ही सिधाई से ठगी गई!

(**प्रभा मुँह छिपाकर हँसती है**)

(**यूसुफ से**) तो शिबू बेटा, तुझे लड़का पसन्द है ना?

शिबू : पसन्द?...फिर वही बात!...मैं कहता हूँ, प्रभा को गंगा पार देने के बदले, उसके गले में घड़ा बाँधकर उसे गंगाजी में डाल देना अच्छा है!

लक्ष्मी : (**गुस्से से**) चुप रह!...तू कौन होता है मेरी सन्तान के बारे में मुँह से बुरी बात निकालनेवाला! इसी को कहते हैं आस्तीन का साँप!

(प्रभा से) जा, अन्दर जाकर बैठ,·· तेरे लिये क्या कहीं और जगह नहीं है ? **(प्रभा उठती है) (यूसुफ से)** बेटा, तो मैं चन्दो के घर जाकर बात पक्की करवा आऊँ ?

यूसुफ : **(हंसता हुआ)** मैं तो पहले ही कह चुका हूँ अम्मा, **(उठकर)** आप चाहें तो मैं खुद चन्दो मौसी के यहाँ हो आऊँ।

लक्ष्मी : बहुत अच्छा हो बेटा ! तुम खुद ही गंगापार जाकर बात पक्की कर आओ ? **(धोती के कोने से आँख पोंछकर)** तुमने मेरी छाती पर से जैसे आज चक्की का पाट उठा लिया, जो उसे दिन-रात पीसा करता था।···आज तुम्हारे पिता होते तो·· **(रोने लगती है)** अब तुम्हीं लोग हो बेटा।···तुम लोग फूलो-फलो ! **(आँखें पोंछकर, इधर-उधर देखकर)** प्रभा, बेटी **(उसे शिबू के पास, जिसे यूसुफ समझती है, खड़ी देखकर)** हाय·· इसने तो मेरे मुँह पर तमाचा मार दिया है ! **(उसका हाथ झटककर)** क्या तूने सब लाज धोकर पी डाली है ? क्या तू इस घर का मान-धरम मिट्टी में मिलाना चाहती है ?···अपने पुरखों को नरक में ढकेलना चाहती है ?···हे भगवान, मेरे ऐसे कौन से पाप उदय हुए···जो आज यह दिन देख रही हूँ।···

शिबू : **(खड़ा होकर)** इसे कहते हैं, रस्सी में साँप देखना।·· **(अपनी और यूसुफ की टोपी उतारकर)** अब देखो !···जिन बनावटी बातों की वजह से हमारी असलियत छिप जाती थी और हमारी इंसानियत पर परदा पड़ जाता था···वह हमने उतार दिये···अब हम खासे इंसान लगते है ना ?···

[युग-पुरुष प्रसन्न दृष्टि से उन दोनों की ओर देखता है और लक्ष्मी कभी शिबू और कभी यूसुफ की ओर देखती है]

शिबू : **(लक्ष्मी को हक्का-बक्का देखकर, जोर से)** हा-हा-हा !

लक्ष्मी : **(उसकी हंसी पहचानकर)** छिः बेटा, ऐसे मौके पर भी तुझे हँसी-मजाक सूझता है !

शिबू : मजाक मुझे सूझता है माँ, कि तुम्हें ? अभी बिचारे यूसुफ को नाहक भला-बुरा कह दिया। और जा रही थीं लड़की को भेड़िए की मांद में झोंकने !

लक्ष्मी : **(संयत स्वर में)** यह तो मैं पहले ही से जानती थी बेटा, पहले ही से जानती थी ! **(यूसुफ से)** यूसुफ बेटा, मेरा कहा-सुना माफ करना !

यूसुफ : इसमें आपका क्या कुसूर अम्मा।···यह सब तो शिबू भइया की शैतानी थी !

शिबू : देखो, अम्मा, अब कभी प्रभा की शादी की बात मत चलाना !··· नहीं तो यूसुफ से ही नहीं, सारी दुनिया से भी मुआफी माँगने पर तुम्हारा पाप नहीं धुलेगा··· **(गम्भीर स्थिर स्वर से)** मैंने निश्चय कर लिया है, कि प्रभा की शादी नहीं होगी···। प्रभा और यूसुफ जैसे अनेक युवक-युवतियों के आत्म-बलिदान की जरूरत आज हमारे

देश को है !···उन्हें अपने हृदय का रक्त-दान देकर, खून की कमी से मुर्दादिल, आज की बीमार मनुष्यता में नया जीवन भरना है। धर्मों और सम्प्रदायों के झगड़ों से ऊपर, राजनीतिक आर्थिक कोलाहल से परे, पुराने अंधविश्वासों और चलनों के घेरे को लाँघकर—जो एक नया आदमी, एक बड़ा इंसान—आज मनुष्य के भीतर जन्म ले रहा है—उसमें उन्हें—आपस के घृणा द्वेष को भुलाकर—नए प्राणों का संचार करना हो !···यही आज हमारे भीतर से उठनेवाली संस्कृति की पुकार है।···(**युग-पुरुष लाठी को ठक से मंच पर मारता है**) क्यों यूसुफ, तुम क्या कहते हो !

यूसुफ : (**गद्‌गद स्वर से**) भइया, आपने मेरे मुँह की बात छीन ली ! मैं कहता हूँ, आज हमे गाँवों ही में क्या कुछ कम काम करना है ?··· गाँवों की सफाई का इंतजाम है।···जनाने-मर्दाने अस्पताल खुलवाने है, बच्चो की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध है। खेतों की पैदावार बढ़ानी है, गाँवो के उत्सवों और त्योहारों को सँवारना है। जनता के नाच-गानों और भूले हुए कला-कौशल को जगाना है। और भी बीसियों काम हैं। मैं कहता हूँ, क्या यहाँ की इंसानियत अशिक्षा के अँधकार में और गरीबी के दलदल में हमेशा यों ही घिनौने कीड़ों की तरह रेंगती रहेगी ?

शिबू : तब ठीक है ! प्रभा के हृदय को मैं जानता हूँ। यही आज के युग-पुरुष की इच्छा मालूम देती है ! (**वृद्ध तीन बार ठक-ठक लाठी से आवाज करता है**) आज जो युगपुरुष मनुष्य के भीतर से कदम बढ़ा रहा है, वह समुद्र में तैरते हुए बरफ की उस भारी चट्टान की तरह है, जिसका सबसे बड़ा भाग अभी हमारी चेतना की गहराई की तहों के नीचे तैर रहा है। हम जो कुछ देख रहे हैं, यह उसका सबसे छोटा ऊपरी हिस्सा भर है।···आगे की पीढ़ियाँ उस युग-पुरुष की विराट महानता का अधिक पहचान सकेंगी।··उनकी आँखों के सामने नवीन मानवता के प्रकाश से जगमगाता हुआ, उसका ज्योतिर्मय स्वरूप धीरे-धीरे नाचने लगेगा।·· तब आज के धर्म, नीति, सत्य, मिथ्या के वाद-विवादो में खोए हुए, रोटी के टुकडे के लिए मोहताज, हृदय और मन की भूख से घायल, इस ठिगने, बौने, बिना रीढ़ के पुतले के बदले हम धरती पर आनेवाले, चौड़े सीने के, संस्कृत और अहिंसक मनुष्य को चलता-फिरता देखेंगे···जिसके भाल पर मनुष्य-मात्र का गौरव झलकता होगा···जिसका धर्म मानव प्रेम और जीवन सुन्दरता का आनंद होगा।···(**युग-पुरुष लाठी हाथ में लेकर उठने को तैयार होता है**)

प्रभा : (**ताली बजाकर**) अहा, भइया, तब कितना अच्छा होगा ! वह गाँवो और शहरों के बीच की एक नई ही दुनिया होगी, जहाँ सादगी और सच्चाई के साथ शिक्षा, सफाई और सुन्दरता भी मिलकर दूर तक फैला हुई खेतों की हरियाली पर जाड़ों की धूप की तरह हँसती हुई आज की जिन्दगी का चेहरा ही बदल देगी !

शिबू : अम्मा, मैं और यूसुफ तो हमेशा से सगे भाइयों की तरह रहे ही हैं, आज से वह तुम्हारा भी सगा बेटा हो गया।···

लक्ष्मी : बेटा, मैंने तो हमेशा ही तुम दोनों को सगे भाइयों की तरह और यूसुफ को अपनी कोख के बेटे की तरह माना है! **(आँखें पोंछती हुई)** मैं भगवान की इस दया को कैसे भूल सकती हूँ, जिसने मेरे छोटे से आँगन को धरती के बराबर बना दिया! **(प्रभा से)** प्रभा बेटी!···

[लक्ष्मी के इधर-उधर शिबू और यूसुफ खड़े हैं, बीच में लक्ष्मी प्रभा को गोदी से चिपकाकर जोर से सिसकने लगती है। परदा एक बार मिलकर फिर फटता है। मंच के दोनों ओर से दो स्वयंसेवक और दो स्वयंसेविकाएँ दो बार 'महात्मा गांधी की जय' कहते हुए प्रवेश करते हैं]

स्वयंसेवक-सेविकाएँ— शिबू भाई, आज स्वतंत्रता-दिवस है।···

शिबू : आओ भाई, पहिले हम अपने ही घर मे आज अपनी स्वतंत्रता मनाएँ!

[नेपथ्य से बाँसुरी की ध्वनि आती है। एक ओर लक्ष्मी, प्रभा, स्वयंसेविकाएँ कमर में हाथ डाले, दूसरी ओर शिबू, यूसुफ और स्वयंसेवक कंधों पर हाथ डाले, आगे-पीछे कदम रखते हुए गाते हैं]—

लहलहे धान के खेत सजन लहरावे,
रुपहली सुनहली बाल नयन ललचावे!
फूलों की रंग-रंग-रंगी चूनरी आये,
अब जन धरती जन धरनी बन मुसकाये!
आओ युग-युग के बैर-कुभाव मिटायें,
सब मिल स्वतंत्रता-दिवस मनायें, गायें!

[शिबू, यूसुफ और स्वयंसेवक गाते-गाते पीछे हटकर वृद्ध को सहारा देकर उठाते हैं। दोनों गिरोह गाते हुए उसे मंच के मध्य तक पहुँचाकर दोनों ओर अदृश्य हो जाते हैं, वृद्ध मंच के मध्य में अकेला खड़ा हाथ जोड़कर दर्शकों को प्रणाम करता है। परदा गिरता है।]

छाया

पात्र-परिचय

सुनीता	:	एक मध्यवर्ग की युवती
सतीश	:	उसका स्नेही सखा
विनय	:	सुनीता का छोटा भाई
सुनीति कुमार	:	सुनीता के पिता

स्थान :

[सुनीतिकुमार के घर के सामने का एक भाग ।

निर्देश :

यवनिका उठती है । मंच के एक चौथाई हिस्से में सुनीतिकुमार के घर का बरामदा और तीन चौथाई हिस्से में उनकी बैठक के कमरे का दृश्य दिखाई देता है । मंच के अन्तिम छोर पर बरामदे के सीमेंट के दो खंभे, सामने की दीवार में बैठक में प्रवेश करने के दो दरवाजे, जिनमें परदे पड़े हैं । दाईं ओर की दीवार में भी दो दरवाजे हैं । आगे का दरवाजा विनय के कमरे का और पीछे का सुनीता के कमरे का है । पीछे की दीवार पर एक सादा परदा पड़ा हुआ है, जिससे मंच का एक-तिहाई हिस्सा छिपा रहता है, जो छायाभिनय के काम में लाया जा सकता है । परदे पर युग-नारी की एक निश्चल, धुँधली-सी वृहदाकार छाया झूल रही है ।

नेपथ्य से जल्दी-जल्दी सीढ़ियों पर चढ़ने की आवाज आती है और सतीश मंच के बाईं ओर के बरामदे में प्रवेश करता है; उसी समय बैठक के दूसरे दरवाजे से सुनीतिकुमार भी बाहर निकलते हैं । सतीश लम्बे छरहरे बदन पर सफेद खादी का कुर्ता-पायजामा पहने तथा रिमलैस ऐनक लगाये हुए है । सुनीतिकुमार जो केवल जाँघिया और कमीज पहने हैं, वयस प्राप्त होने पर भी स्वस्थ तथा रोबीले लगते हैं । वह सतीश पर एक तीक्ष्ण दृष्टि डालकर तेजी से बाहर की ओर जाते हैं । सतीश का शरीर उन्हें देखकर अपने आप तन जाता है, उसके हाथ उन्हें नमस्कार करने को हिलकर रह जाते हैं । सुनीतिकुमार तीन-चार कदम आगे बढ़कर सतीश की ओर घूमकर जल्दी से लौटकर सतीश से हाथ मिलाते और उसकी आँखों में स्नेह-प्रसन्न दृष्टि डालकर मुस्कराते हैं । सतीश उनकी मुस्कराहट से कुछ झिझकता हुआ नजर आता है । सुनीतिकुमार आवाज देते हैं : 'सुनीता, अरी सुनीता, तुम्हारे सतीश भइया आए हैं !' वह सतीश का हाथ पकड़े हुए उसी तरह मुस्कराकर कहते हैं, 'अन्दर जाओ,·· सुनीता अन्दर ही है ।' दोनों क्षण भर हाथ पकड़े खड़े रहते हैं, सुनीतिकुमार के मुख का भाव धीरे-धीरे कड़ा पड़ने लगता है, और जैसे उन्हें सतीश के मन का धक्का लगा हो, वह तुरन्त उसका हाथ छोड़कर—'मैं जरा सिविललाइंस हो आऊँ', कहते हुए, बिना उसकी ओर देखे जल्दी से सीढ़ियाँ उतरकर चले जाते हैं । सतीश अन्यमनस्क भाव से परदा हटाकर बैठक के अन्दर प्रवेश करता है और उसी समय विनय भी हाथ में 'इलस्ट्रेटेड वीकली' लिये अपने कमरे से निकलकर सतीश का स्वागत करते हुए

प्रसन्नतापूर्वक कहता है 'आइए, आइए !' सतीश कमरे में इधर-उधर दृष्टि दौड़ाता है, जैसे एक ही महीने में यह कमरा उसके लिए अपरिचित-सा हो गया हो। विनय उसी तरह सहज भाव से कहता है, 'बैठिए, सुनीता अभी आती है।' वह कुर्सी से आधा बुना हुआ 'पुल ओवर' उठाता है। सतीश खीझ और विरक्ति से भरा हुआ एक ऊँची पीठ की कुर्सी पर बैठ जाता है और कुर्ते की जेब से रूमाल निकालकर अपना दायाँ हाथ पोंछता है, जैसे उस पर सुनीतिकुमार के मन की छाप पड़ गई हो।]

विनय : (उसकी ओर देखकर स्वभाववश मुस्कराता हुआ) अच्छा, आपने भी अब कुर्ता-पायजामा अपना लिया ? (वह हल्की नीली सर्ज की पतलून और उससे मिलते-जुलते रंग की शर्ट पहने हुए है।)

सतीश : (अपने कपड़े की ओर देखता हुआ और धीरे-धीरे संकोच तथा हिचकिचाहट से बाहर निकलकर) हाँ, मैं ही बाहर के प्रभाव से कैसे बच सकता हूँ ? (परिहासपूर्वक) हमारा देश-प्रेम हमसे जो कुछ न कराये, वह कम है। (पायजामे के पायचों और चप्पलों को देखता हुआ गंभीरतापूर्वक, दोनों हाथ फैलाकर कहता है) अपने चारों ओर तुम जो कुछ देख रहे हो, यही हमारा मन है !···ये गंदी गलियाँ···मधुमक्खी के छत्ते की तरह सटे हुए शहर के छोटे-बड़े बेसिलसिले मकान··· हमारे देश का तरह-तरह का बेढंगा पहनावा···राग-द्वेष से भरे, जीवन से ऊबे हुए लोगों के छोटे-मोटे घिनौने काम···यही सब हमारे सदियों से असंगठित देश का बिखरा हुआ मन है ! सब कुछ बेतरतीब।··· संतुलन और सामंजस्य से हीन !···इस सबके ढेर-ढेर प्रभाव से बचना क्या आसान है ?

विनय : (पास की कुर्सी पर बैठा, 'इलस्ट्रेटेड वीकली' के पन्ने उलटता हुआ सशंकित दृष्टि से सतीश की ओर देखकर) हाँ ऽ ऽ···,—लेकिन आप सोचते हैं, कुर्ता-पायजामा हमारा राष्ट्रीय पहनावा बन सकता है ?

सतीश : (कुर्सी की पीठ से सटकर दोनों हाथों से कुर्सी की बाँहें पकड़ता हुआ) मैं यह नहीं जानता··· मैं केवल प्रभाव की, सामाजिक प्रभाव की बात कह रहा हूँ। आजकल कुर्ते-पायजामे का ही चलन चल पड़ा है। वैसे हिन्दोस्तान जैसे गरम देश के लिए—

सुनीता : (जो अपने कमरे में शृंगार-मेज के सामने जल्दी-जल्दी बाल बना रही है) भारत कहिए, भारत···यह हिन्दोस्तान आपके मुँह से अच्छा नहीं लगता ! (उसके हँसने की आवाज सुनाई देती है)

सतीश : (हँसता हुआ) भारत ही सही !···भारत जैसे हमारे उष्ण-प्रधान देश के लिए हैट और जाँघिया के तरह की कोई पोशाक अधिक उपयोगी होती। लेकिन हमारी जनता के पहनावे से वह मेल नहीं खाती और हम जनता के लिए बड़े पैमाने में हैट, कमीज या जाँघिया नहीं तैयार कर सकते।

विनय : (एकाएक हँसता हुआ) और शायद कुर्ते-पायजामे कर सकते हैं ?

सुनीता : (मन-ही-मन वाद-विवाद की आशंका से घबड़ाकर) बेचारे !···

जनता की दशा के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं !···विनय का सीधा-सादा मतलब यह है कि आपको सूट अच्छा लगता है, आप कुर्ता-पायजामा न पहनें।

विनय : **(अपनी बात के स्पष्टीकरण से खीझकर)** तुम वहीं से···बिना देखे ही कैसे कह सकती हो ?

सतीश : **(तर्क को समाप्त करने के अभिप्राय से जोर से हँसता हुआ)** नहीं, नहीं ! मेरा ऐसा कोई भी अभिप्राय नहीं। **(दोनों हाथ पीछे की ओर घुमाकर कुर्सी की पीठ पकड़ता हुआ)** मैं तो शुरू से ही तुमसे केवल प्रभाव की बात कह रहा हूँ। आजकल कुर्ते-पायजामेवालों के साथ मेरा अधिक हेल-मेल है···कल तुम्हारी तरह के सूट-बूट के पुजारियों के साथ रहना पड़े तो शायद फिर से सूट पहनने लगूँ !···यह फिर प्रभाव की बात हुई !

विनय : **(सिर हिलाकर)** हाँ···**(क्षण-भर रुककर)** लेकिन क्या यह आपकी कमजोरी नहीं है कि आप इतनी जल्दी प्रभावित हो जाते हैं ? **(वह अपने कहने के ढंग से सशंकित होकर सतीश की ओर देखता है।)**

सतीश : **(गंभीर होकर)** मैं अपनी बात नहीं कहता। मैं कहता हूँ समाज में निन्यानबे प्रतिशत आदमियों के लिए क्या बात सही है···इसे चाहे तुम उनकी दुर्बलता कहो या शक्ति···पर यह सामूहिक प्रभाव एक प्रबल सत्य है !

विनय : **(तर्क के स्वर में)** मैं केवल आपकी व्यक्तिगत बात पूछ रहा हूँ !

[इसी समय सुनीता अपने कमरे के दरवाजे के पास खड़ी पर्दे से मुख दिखलाकर कहती है : 'अभी आती हूँ !' और मुस्करा-कर अन्दर चली जाती है। सतीश उसकी ओर देखता है। उसके मुख पर सुनीता की प्रसन्नता बरबस झलक उठती है। वह कुछ आगे की ओर झुककर कहता है]

सतीश : **(सुनीता को देखने के बाद अपने जीवन में उसके प्रभाव का अनुभव कर)** और हाँ, कुछ व्यक्तिगत प्रभाव भी बड़े गहरे और चिरस्थायी होते हैं।

विनय : **(सतीश से समझौता करने की चेष्टा में अज्ञात व्यंग्यपूर्वक)** जैसे गांधीजी का प्रभाव !

[सुनीता जल्दी से आकर मुस्कराती हुई सतीश के पास खड़ी हो जाती है। सतीश उठने का प्रयत्न कर उसे नमस्कार करता है। सुनीता हँसती हुई हाथ जोड़कर नमस्कार का प्रत्युत्तर देती है। विनय उठकर बिजली का बटन दबाता है, कमरा प्रकाश से भर जाता है। सुनीता काला ब्लाउज और नारंगी रंग की साड़ी पहने है जो उसके रक्तिम गौरवर्ण पर बहुत फबती है। वह अत्यन्त प्रसन्न जान पड़ती है।]

सुनीता : **(खड़े-खड़े)** आप आज बहुत दिनों बाद आये सतीश भइया···मैं सोच रही थी, आप कहीं नाराज न हो गये हों।

सतीश : (स्निग्ध हास्यपूर्वक) क्यों ?

[परदे पर पड़ी स्त्री की छाया अधिक स्पष्ट होकर सौन्दर्य भंगिमा करती है।]

सुनीता : (धीरे-धीरे गंभीर होती हुई, आँखें नीचे कर) क्यों नहीं ?··· आप इतने रोज गायब रहे !···मुझे आप पर मन-ही-मन बड़ा गुस्सा आ रहा था !···

सतीश : (आश्चर्यपूर्वक) अच्छा ? (फिर मन-ही-मन सँभलकर, किंचित् व्यंग्य-पूर्वक)·· तुम्हारे पास कैसे आया जा सकता है ? (वह दोनों हथेलियों को कुर्सी की बाँहों से रगड़ता है।)

[सुनीता सतीश की बातों की ध्वनि से मन ही मन सतर्क हो जाती है। वह विनय के पास जाकर सतीश के सामने की कुर्सी पर बैठ जाती है। उसकी आँखों से कुछ दर्प और जागरूकता झलकने लगती है। परदे पर स्त्री की छाया उसके मन के चढ़ाव-उतार दिखाती हुई धीरे-धीरे धुँधली हो जाती है। सुनीता जल्दी से विनय की ओर दृष्टि फेंकती है, वह जैसे सतीश की बात का ठीक-ठीक अर्थ न समझकर कहता है।]

विनय : (बायें हाथ से सिर के बालों को ऐंठता हुआ) सुनीता रोज आपका इंतजार करती थी कि आपके साथ पिक्चर देखने चलेंगे।

सतीश : (दुखी होकर) ओह ! सुनीता, मैं बिल्कुल ही भूल गया था। मुझे इस बीच अपने संघ के सम्बन्ध में काफी दौड़-धूप करनी पड़ी, कई लोगों से मिलना था। यह शहर तो (और कुछ न सूझने पर) शैतान की आँत की तरह इस तरह दूर-दूर बसा हुआ है कि दिन भर में दो-एक जगह से ज्यादा जाया ही नहीं जा सकता ! (कुर्सी पर बाँहों पर कुहनी टेककर हाथ के इशारे से अपनी बात स्पष्ट करता है।) और उफ (सुनीता की ओर देखकर) दिन को अभी से कितनी सख्त गरमी पड़ने लगी है···तांगे पर बैठे-बैठे दचके खाते इंसान यों ही थक जाता है। आज भी दिन भर चक्कर काटता, (सुनीता के मुख पर कठोर व्यंग्य तथा उपहास का भाव देखकर) धूल फाँकता अभी लौट रहा हूँ।

[सुनीता सिर हिलाकर समर्थन करती है। वह सतीश की कैफियत देने की आदत पर मन ही मन हँस रही है एवं उसकी आँखों से हँसी टपकना ही चाहती है। वह मन का भाव छिपाने के लिए हँसती हुई कहती है।]

सुनीता : बेचारे !

विनय : चाय पीजिएगा ?

सतीश : क्या हर्ज है ? (अन्यमनस्क भाव से फर्श पर पड़े हुए तस्वीरों के एल-बम को उठाने के लिए झुकता है) वही तो एकमात्र भारतीय पेय है !

विनय : (हँसता हुआ उठता है और सिर हिलाकर कहता है) भारतीय पेय !

[विनय अन्दर जाकर नौकर को चाय बनाने का आदेश देता

है। पीछे से बरामदे में उसको आवाज सुनाई देती है। सतीश एलबम को लेकर उसके पन्नों को खोलता है। सुनीता तटस्थ दृष्टि से एक ओर देख रही है। सहसा उसकी आँखों से शून्यता का भाव विलीन हो जाता है, और प्रच्छन्न स्नेह झलक उठता है। जैसे उसके हृदय ने अनुभव किया हो कि सतीश उसकी प्रसन्नता और स्नेह प्राप्त करने के लिए ही लम्बी चौड़ी कैफियत दिया करता है। वह स्नेह-स्निग्ध, किंचित् दर्पभरी दृष्टि से सतीश की ओर देखती है, फिर अंचल का कोना पकड़कर उनके किनारों पर हाथ फेरती है। दोनों स्नेहद्रवित दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखकर निरर्थक मुस्कराते हैं। परदे पर पड़ी हुई छाया अधिक स्पष्ट होकर ललित चेष्टा करती है। सतीश सन्तोषपूर्वक अपनी आँखें सुनीता के मुख से हटा लेता है और गोद पर रखे हुए एलबम को बीच में खोलकर देखता है।]

सतीश : (आश्चर्य से) आह, यह तुम्हारा एलबम है! (फिर से उसे बन्द कर शुरू से देखता है।)

सुनीता : (उसी स्वर में) आपने क्या आज तक नहीं देखा था? (वह कुर्सी से सटकर सतीश की बाई ओर खड़ी हो जाती है।)

सतीश : (नकारात्मक सिर हिलाकर ध्यानपूर्वक देखता हुआ) यह शायद तुम्हारे बिल्कुल छुटपन का चित्र है! (सुनीता की आकृति से चित्र को मिलाता है।)

सुनीता : (सिर हिलाकर हँसती हुई) हाँ।

सतीश : (अर्धदृष्टि से उसकी ओर देखकर बनावटी स्वर में) दूज की कला अब पूनो का चाँद बनकर स्नेह मधुर चाँदनी बरसाने लगी है!

सतीश : (दबे हुए क्षुब्ध स्वर में) और उसमें कलंक की छाया पड़ गई है।

सतीश : (बिना उसकी ओर देखे) कहीं नहीं!··· (साँस छोड़कर) यह शायद तुम्हारी गुड़िया है! (चित्र के ऊपर अँगुली रखता है)

[सुनीता चुपचाप खड़ी रहती है। सतीश उसकी ओर देखकर बात बदलने के लिए मुस्कराकर कहता है।]

सतीश : मुझे तो तुम्हारी छुटपन की तस्वीर और गुडिया में अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। (सुनीता उसकी ओर देखकर आधे मन से मुस्कराती है। सतीश धीरे-धीरे पन्ने उलटता है) तुम्हारे पापा···ममी ··हूँ··पापा। और ममी···तुम्हारी ममी मुझ पर कितना स्नेह रखती थीं!···(सुनीता एक साँस छोड़ती है। विनय पीछे की ओर से एलबम पर दृष्टि डालता है और मुस्कराता हुआ अपने कमरे में चला जाता है।) (पन्ना उलटकर) यह कौन है? मैंने इन्हें नहीं देखा।

सुनीता : यह मेरी मौसी हैं। शायद आपने उन्हें नहीं देखा है।

सतीश : (पन्ना उलटकर) यह शायद तुम्हारी तब की तस्वीर है जब मैंने तुम्हें पहली बार देखा था। तुम चौदह साल की रही होगी। (सुनीता सकारात्मक सिर हिलाकर स्निग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखती है।)

सतीश : **(उसके मुख पर दृष्टि गड़ाकर)** तब तुम नेवी ब्लू रंग के सर्ज का फ्राक पहने थीं, शायद यह वही फ्राक है। **(हँसती हुई उसकी गोद में सिर झुकाकर चित्र को देखती है।)**

सुनीता : **(दर्प भरी दृष्टि से)** अच्छा, अभी तक याद है ? **(हँसती है)** बेचारे !

सतीश : क्यों नहीं ? **(उसकी नकल उतारता हुआ)** बेचारे !···तुम्हारे रेशमी रिबन से बँधे घुँघराले बाल तब बहुत अच्छे लगते थे।

सुनीता : और ? **(हँसती है)**

सतीश : और **(परदे पर एक युवती की छाया युवक की बाँहों में दिखाई देती है : पहली स्मृति से द्रवीभूत होकर सुनीता अपनी स्नेहस्निग्ध दृष्टि सतीश की आँखों में डालती है।)**

सतीश : **(गम्भीर होकर)** सब कुछ···जैसे आज ही की घटना हो···अभी की ···जैसे मैं आज ही तुमसे पहली बार मिला हूँ।

[दोनों निस्पंद दृष्टि से देखकर एक दूसरे के मन का भाव जानना चाहते हैं। परदे पर युवती की छाया छोटा-बड़ा आकार धारण कर निकट और दूर आती-जाती है। सुनीता धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ हो जाती है।]

सतीश : **(विरक्ति को दबाकर)** ठीक ता है···जैसे मैं आज पहली ही बार तुमसे मिला हूँ। **(शून्य में हाथ हिलाता हुआ)** इसे चाहे चिर परिचय कहो या अपरिचय !···पिछली पहचान कहो या हम एक दूसरे को आज नहीं पहचानते ? **(सुनीता का शरीर तन जाता है, वह एक ओर मुँह फिरा लेती है)** आज इस एलबम के चित्रों में पिछला जीवन जैसे अज्ञात, असफल अतीत की तरह हमारी ओर ताक रहा है !··· तुम असफल के बदले उसे निर्बल भी कह सकती हो !···**(वह अनमने भाव से पन्ने उलटता हुआ यकायक रुककर कहता है)** अहा, यह तुम्हारा और प्रमोद का शादी का चित्र है ! **(सुनीता का चेहरा कठोर पड़ जाता है। जल्दी से मुँह फिरा लेती है।)**

सतीश : **(उसी तरह चित्र को देखता हुआ)** यह मेरे पास भी है।

सुनीता : **(विरक्ति से)** होगा !

सतीश : इस शादी के घूँघट ने तुम्हें बिलकुल ही छिपा लिया है। **(सुनीता बिजली की तरह घूमकर उसे देखती है। सतीश उसकी तीक्ष्ण दृष्टि से चकित होकर कहता है)** तुम्हें याद है···प्रमोद से मैंने ही तुम्हें मिलाया था। उसे टेनिस खेलने का बड़ा शौक था···गेंद की तरह वह जीवन से भी खेला है।··**(यकायक)** और तुम्हें भी तो उसने खेल ही खेल में जीत लिया।

[सुनीता का क्रोध विषाद में बदलकर धीरे-धीरे गायब हो जाता है। उसका शरीर कोमल पड़ने लगता है, जैसे उसका हृदय द्रवीभूत हो रहा हो। वह जैसे अपने आप कह उठती है]

सुनीता : अब आप जो कुछ भी समझे !

[**वह कुर्सी से सटकर उसके पास बैठ जाती है, जैसे वह उसे किसी प्रकार अप्रसन्न नहीं करना चाहती हो। दोनों कुछ देर तक चुपचाप बैठे रहते हैं। सतीश एलबम के पन्ने उलट-पुलट रहा है। परदे पर स्त्री की छाया शोक मुद्रा में बैठी धुँधली पड़ जाती है।**]

सुनीता : (**चित्र देखकर**) यह मेरा लड़का है।

सतीश : लड़के के रूप में तुम्हारा ही बचपन साकार हो उठा है ! (**सुनीता मुस्कराने का प्रयत्न करती है। बार-बार खुले हुए शब्दों में अपनी प्रशंसा सुनकर उसका उत्साह मन्द पड़ जाता है।**)···तुमने शायद इसे कॉन्वेंट भेज दिया है ?

सुनीता : और क्या करती, घर मे खराब हो रहा था।

सतीश : अच्छा तो है, कुछ साल वही रहने दो···हमारे यहाँ बाल-शिक्षा के अच्छे केन्द्र हैं भी तो नहीं। कॉन्वेंट मे अधिक रहने से लड़कों पर अलबत्ता विदेशी सस्कृति का भूत सवार हो जाता है।

सुनीता : यही तो···और अपने यहाँ की बातो मे घिन करने लगते है। खासकर लड़कियाँ तो, भइया, बिलकुल बिगड़ ही जाती है। हमारे कछुए की चाल से आगे बढ़ते समाज तथा मध्यवृत्ति के गृहस्थो के लिए किसी काम की नही रह जाती।

सतीश : (**पन्ना उलटकर**) विनय·· अच्छा चित्र आया है ! (**समाज से विरक्ति प्रकट करते हुए**) हाँ···लेकिन गृहस्थ तथा समाज ही क्या, हमारी सभी सस्थाओ का यही हाल है ! आज तो सभी समाज, सस्कृतियों एव मानव-सभ्यता को नए रूप मे ढलना है !···तब तक चलने दो !·· (**पन्ना उलटकर**) यह शायद तुम्हारे छोटे भाई अजय का बचपन का चित्र है !·· अब बिलकुल ही बदल गया है !

सुनीता : (**चित्र पर झुककर हँसती हुई**) कैसा चुपचाप बैठा है, गोबर-गणेश-सा !···विनय से किसी बात में झगडा हो गया था, इसी से मुँह फुलाये हुए है !···

सतीश : (**पन्ना उलटकर**) यह तुम्हारा कुत्ता ···'राजा' ! तब तुम्हारे साथ देखा था···मर गया शायद !

सुनीता : (**सिर तिरछाकर 'हाँ' कहती हुई**) बेचारा···

सतीश : एक बेचारा तुम्हारा कुत्ता और दूसरा मै ! (**दोनों हँसते हैं। सतीश दूसरे पन्ने को गौर से देखता हुआ**) और यह किसका चित्र है ?

सुनीता : (**चित्र को देखकर जल्दी में उसके ऊपर हाथ रखकर जोर से हँसती हुई**) उसे मत देखिए—उसे मत देखिए !

[**सतीश कुछ उत्सुकतावश और कुछ उसे छेड़ने के इरादे से चित्र को देखने का प्रयत्न करता है। सुनीता दोनों हाथों से उसे छिपा लेती है और कहती है**] नहीं, नहीं।

सतीश : आखिर इस चित्र मे ऐसी क्या खास बात है ?

सुनीता : सतीश भइया, आपके हाथ जोड़ती हूँ, आप उसे मत देखिए, उसे मत

देखिए !

सतीश : **(सनीता के हाथ हटाकर एक झलक देखकर)**
(परिहासपूर्वक) ओफ, जैसे किसी महाशोक की छाया हो !·· प्रेत के समान·· एकदम अपरूप—अमानुषी।

[सुनीता चित्र के ऊपर अपना मुंह रखकर उसे एकदम छिपा लेती है और जैसे हिस्टीरिया में हँसने लगती है]

सुनीता : **(सतीश के हाथ पर एलबम के ऊपर सिर रखे)** ओह ! न जाने उस समय मैं किस मूड में थी ?·· विनय ने न जाने कब तसवीर उतार ली !···वह बिलकुल ही आउट आफ फोकस।···और उसे एलबम में भी लगा लिया·· मैं···

सतीश : **(एलबम को मजबूती से पकड़े हुए)** अच्छा, तो यह तुम्हारा चित्र है ? तब तो मैं इसे जरूर देखूंगा।

सुनीता : **(उसी तरह)** नहीं-नहीं—**(जोर से हंसती है)** यह मेरी शादी के रोज का चित्र है···सतीश·· भइया·· मैं इसे चुपचाप एलबम से निकाल कर फाड़कर फेंक देना चाहती थी···लेकिन भूल गई——

सतीश : आखिर खराब चित्र आया है तो क्या हुआ ?—क्या चाँद पर बादलों के धब्बे नही छा जाते ?

सुनीता : **(अनसुनी कर)** आप बहुत बुरे है ! **(उसी तरह आवेश से)** नही कभी नही—आप उसे नही देखेंगे !

[वह उसी तरह जैसे हिस्टीरिया में हँसती है। सुनीता की परेशानी देखकर सतीश की उत्सुकता और भी बढ़ जाती है। सुनीता मानो क्षण भर के लिए अपने को भूलकर अपना सिर सतीश की गोद में एलबम के ऊपर चिपकाये अनिमेष दृष्टि से उसकी ओर देखती है। उसके ओंठ काँप रहे हैं। सतीश सुनीता के आवेश से घबड़ाकर कुर्सी पर से उठना चाहता है, किन्तु सुनीता उसे दबाए हुए है।]

सतीश : अच्छी बात है··· नही देखूँगा, बस !

[परदे पर एक अस्त-व्यस्त-कुंतला युवती की छाया दिखाई देती है। वह दोनों हाथों से अपने बाल खींच रही है। उसका बदन ऐंठ रहा है। वह छिन्न लता की तरह गिरकर जमीन पर लेट जाती है।·· विनय अपने कमरे से बाहर निकलता है। वह सतीश और सुनीता की ओर देखकर नजर नीची कर लेता है और कुर्सी पर बैठ कर हिचकिचाता हुआ पूछता है।]

विनय : क्या बात है ?

[सुनीता उठकर खड़ी होती है। सतीश भी कुर्सी के पीछे खड़ा हो जाता है और ऊँचे उठे हुए हाथ में एलबम को लेकर चित्र को देखता हुआ सुनीता को चिढ़ाने के अभिप्राय से परिहासपूर्वक कहता है।]

सतीश : **(विनय से)** यह सुनीता की शादी के रोज का चित्र है !··बिलकुल

आउट आफ फोकस ! ''मूड का पता नहीं ! ''बाल बिखरे हुए। — साड़ी मे जगह-जगह सलवटें पड़ी हैं ''सिर का पल्ला पछाड़ खाकर जमीन पर लोट रहा है ! — आँखें जैसे लगातार रोने से सूजी हुई हैं !···

(सुनीता उसके हाथ से एलबम छीनना चाहती है। वह एड़ियों के बल उठकर हाथ और भी ऊँचा किए कुर्सी के चारों ओर घूमता हुआ कहता जाता है) ओठ, नाक और गाल, सब फूलकर, जैसे एक दूसरे मे मिल गये हो !··· (विनय सतीश की व्याख्या के ढंग पर हँसता है)···जैसे जीवन का कोई भयानक आवेग ''करुणा और व्यथा की निर्मम दारुण छाया'''मन के गहरे अन्धकार से बाहर निकलकर साकार हो उठी हो।

[विनय ठहाका मारकर हँसता है। सुनीता दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा लेती है। प्रकाश मन्द पड़ जाता है। परदे पर पड़ी हुई छाया बार-बार उठने का प्रयत्न कर ''जैसे वह अपने से लड़ रही हो,'''आँधी में लता की तरह ''थर-थर कांपकर जमीन पर ढेर हो जाती है। प्रकाश यथावत्। परदे पर एक धुंधली छाया रह जाती है। सुनीता मुँह पर से हाथ हटा लेती है। उसके मुँह का रंग स्याह पड़ गया है। ओठ फड़क रहे हैं। उसके मुँह से यकायक एक दूरस्थ, पराजित, घृणा, क्षोभ तथा विरक्ति से भरी चीख निकल पड़ती है।]

सुनीता : (स्वप्नग्रस्त की तरह) ओह,'''छिः छिः छि'''(अलबम की ओर उँगली उठाकर) वह भयानक छाया मैं ही हूँ। सतीश, जीवन की वह भयानक छाया मैं ही हूँ ! जो जीवन के रूप मे न जाने कब से दारुण मृत्यु तथा आत्म-हनन का भार ढो रही हूँ !

[वह अपना आँचल पकड़कर खींचती है, जो करीब-करीब फटने लगता है। उसकी भर्राई हुई आवाज और चीख को सुनकर सतीश के हाथ से एलबम छूटकर कुर्सी के ऊपर गिर पड़ता है। वह सुनीता की दशा देखकर क्षण भर के लिए स्तब्ध रह जाता है और दोनों हाथों से कुर्सी की पीठ पकड़कर सिर झुका लेता है। तुरन्त ही वह अपने को सँभालकर सिर उठाता है, और शान्त, निर्विकार दृष्टि से सुनीता की ओर देखकर दृढ़ गंभीर शासन के स्वर में कहता है।]

सुनीता : कभी नहीं ! ····

[सुनीता आँचल को छोड़कर बाँह लटकाकर पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी रहती है। सतीश दोनों हाथ ठुड्डी के नीचे जोड़कर चुपचाप देखता रह जाता है।]

सतीश : (स्वप्नाविष्ट की तरह शांत स्थिर-स्वर में शून्य को अपनी दृष्टि से भेदता हुआ कहता है और विनय उसकी ओर आँखें फाड़कर देखता है।) तुमने यह बात पहले मुझसे कभी नहीं कही सुनीता ! लेकिन मैं जानता हूँ, तुम्हारा मुँह बन्द था ''सदियों से बन्द '' तुम हमारे समाज में नारी के मूक दयनीय जीवन की एक करुण उदाहरण भर हो !··· जिसके हृदय की प्रत्येक धड़कन में युग-युग से नारी की निःशब्द व्यथा

छटपटाती रही है।···कुछ साल पहले मैं शायद तुमसे विद्रोह करने को कहता·· किन्तु अब मैं उसे ठीक नहीं समझता !·· नारी समाज को दूसरा रास्ता खोजने की आवश्यकता नही है···केवल हमारी स्त्रियों और विशेषकर नवयुवतियों को घर से बाहर इस बड़े सामाजिक जीवन में भी अपना स्थान बना लेना है !···उनके बिना हमारा समाज एकदम अधूरा है ! ··उन्हें पुरुषों के साथ नवीन लोक-जीवन तथा मानव का निर्माण करने में हाथ बँटाना है।···केवल इसी प्रकार हमारा गृहस्थ-जीवन परिपूर्ण तथा आनन्द-मंगलमय बन सकता है ! ·· हम दाम्पत्य प्रेम तथा घरों में विभक्त पारिवारिक जीवन को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देते हैं !···और अपने असली बड़े परिवार को और उस सामाजिक जीवन को भूल गए हैं, जिसकी पसलियों के भीतर हमारे गृहस्थ-जीवन का हृदय धड़कता है, जहाँ से उसकी नाड़ियों में स्वस्थ रक्त का संचार होता है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ सुनीता, और चाहता हूँ कि तुम लोक-निर्माण में इस महान कार्य को अपना सको !— हमारे देश में शिक्षित-अशिक्षित स्त्रियों की दो पीढ़ियों के बीच एक बहुत बड़ी खाई है !···तुम्हारी पीढी का यही काम है कि तुम नई पीढ़ी के लिए रास्ता बनाओ ! अपने बाल-बच्चों के लिए सुन्दर, स्वस्थ सामाजिक जीवन का निर्माण करो !···(**सुनीता चित्रस्थ-सी होकर अपने समस्त अस्तित्व से सतीश की घन-गंभीर वाणी सुनती है**) सतीश हाथ की घड़ी देखकर कहता है···अच्छा अभी मुझे एक जगह और जाना है, नमस्कार !···

[और दोनों हाथ जोड़कर दृढ़ कदम रखते हुए दरवाजे की ओर बढ़ते हैं। विनय अभ्यर्थना के भाव से खिचकर उसके पीछे जाता है। सामने के दरवाजे से सुनीता के पिता आते हुए दिखाई देते हैं।]

सुनीति कुमार : (**मुस्कराते हुए**) जा रहे हो ? अच्छा···?···(**हाथ के पुलिंदे को दिखाकर**) सुनीता के लिए ऊन खरीद लाया हूँ ! (**सतीश हाथ उठाकर नमस्कार करता हुआ प्रस्थान करता है। सुनीता के पिता कमरे में घुसकर क्षण भर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाकर असन्तुष्ट स्वर में कहते हैं**) मैं सतीश का अपने घर में आना पसन्द नहीं करता !···

[विनय अवाक् होकर अपने पिता की ओर देखता है। उसके चेहरे पर घृणा मिश्रित विरक्ति के भाव हैं। सुनीता एकदम गर्दन उठा कर अपने पिता की ओर मुड़ती है। परदे पर ह्रास युग के दर्पबलिष्ठ मनुष्य की कठोर छाया पड़ती है, जो अपने सीने के ऊपर दोनों बाँहें मोड़कर उद्धत भाव से खड़ा है। सुनीति कुमार ऊन के पुलिन्दे को कुर्सी पर फेंककर अन्दर चले जाते हैं। परदे पर लोकनिर्माण में निरत नर-नारियों की, भव्य चित्र-मैत्री में सुसज्जित छाया झूलती है। सुनीता आशा-विस्फारित नेत्रों से मानो भविष्य का आवरण उठाकर निर्निमेष दृष्टि से देखती हुई स्वप्नाविष्ट की तरह दुहराती है···'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ सुनीता···और चाहता हूँ कि तुम लोक-निर्माण के इस महान कार्य को अपना सको।']

[यवनिका पतन]

□□